॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

वृन्दाविपिनविहारिणे नमः

ज्ञाननलिनविकाशिने नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* एकादशोऽध्यायः *

ॐ प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(ऋ० मं० १ अ० २१ सू० १५४ मं० २)

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अजन्मा सर्वेषामधिपतिरमेयोपि जगता-
मधिष्ठाय स्वीयां प्रकृतिमिव देही स्फुरति यः ।
विनष्टं कालेन द्विविधममृतं धर्ममनघम्
पुनः प्राहेशं तं विमलशुभदं नौमि परमम् ॥

अहा ! आज आकाशमें सूर्य्य , चन्द्र तथा तारागण एकही समय क्यों उदय होरहे हैं ? आज वायु क्यों अद्भुतरूपसे लहराती हुई बहरही है ? जिधर देखता हूं उधरहीसे एक घोर अन्धड झक्कड तथा झंझावात (तूफान)से समां बंधाहुआ देखपडता है ऐसा बोध होता है, कि उनचासों पवन एक संग मिलकर न जाने किस ओर चले जारहे हैं ? आज समुद्रमें वडवानल क्यों भडक उठा है ? अग्नि-होत्रियोंके अग्निदेव आपसे आप कुण्डोंमें क्यों प्रज्वलित होगये हैं ? दशों दिशाओंमें ज्योति ही ज्योति क्यों दीख पडती है ? नद नदियोंके जल लहरें लेलेकर और उछल२ कर आकाशकी ओर क्यों जानेकी इच्छा कररहे हैं ? आज पृथ्वी क्यों डगमगा रही है ? पुष्पवाटिका-ओंके पुष्पोंकी कलियां चटक चटक कर क्यों आपसेआप कुसु-मय खिलरही हैं ? आज विश्वमात्र (पृथ्वीभर) के वृक्ष अपने फूल

फलोंको लिये हुए किसको अर्पण करनेके लिये तयार हैं ? आज इन्द्रके नन्दनवनमें कल्पवृक्ष सर्वप्रकारकी ऋद्धि सिद्धियोंको लिये क्यों खडा है ? आज ब्रह्मा अपने पद्मासनको छोड क्यों उठ खडे हुए हैं ? शिवकी समाधि क्यों टूटगई है ? इन्द्रदेव सहस्रनेत्र खोलेहुए एक ओर टकटकी लगाये क्या देख रहे हैं ? आज अप्सराएं अपनी अँगुलियोंको दाँतोंसे क्यों दबाये हुई हैं ? आज योगी, यति, तपस्वी, ऋषि, मुनि इत्यादि दोनों हाथोंको जोडे किसे आवाहन कर-रेहे हैं ? हो न हो आज कोई अद्‌भुत घटना होनेवाली देख पडती है ।

सच है वह देखो! महाभारतकी रणभूमिमें अर्जुनकी ओर देखो! जहां अर्जुन सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रसे अपनी सर्व-प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त अपने विराट्स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना कररहा है अनुमान होता है, कि अब थोडीही देरमें भगवान् अपने विश्वरूपको प्रकटकर अर्जुनकी अभिलाष पूर्ण करेंगे ।

चलो ! देखो ! हमलोग भी उसी रथके समीप उपस्थित होकर इधर महाभारतके युद्धकोभी देखें और उधर जगदभिराम घनश्यामके अद्‌भुत विराट्स्वरूपकाभी दर्शन करें कहावत है, कि ' एकपन्थ दो काज ' किसीने कहा है, कि ' चलो सखी तहँ जाइये जहां बसैं व्रजराज । दधि वेचतमें हरि मिले एक पन्थ दो काज ''

गुणमन्दिर सुन्दर दामोदर भवजलधिमथनमन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्दने दशम अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन किया और अब अर्जुनकी प्रार्थना करनेसे उनहीं विभूतियोंके सहित अपने

विराट्स्वरूपका दर्शन करावेंगे । इतना पढकर पाठकोंको परम विस्मय हुआ होगा और चित्तमें घोर शंका उत्पन्न होनेका अंकुर उदय हो-आया होगा तथा वे अपने मनमें यों विचार करते होंगे, कि पहलेसे तो इस गीताशास्त्रके प्रकरणकी यों रचना कीगयी है, कि इसके छः२ अध्यायोंके तीन षट्क किये गये हैं और बार बार यही दिखलाया-गया है, कि प्रथम षट्कमें भगवान्‌ने कर्मकाण्ड, दूसरे षट्कमें (७—से १२ तक) उपासना और तीसरे षट्कमें (१३—से १८ तक) ज्ञानका वर्णन किया है । इस नियमके अनुसार भगवान्‌को इन (१० और ११) दोनों अध्यायोंमें भी केवल उपासनाका ही भेद वर्णन करना चाहिये था तो भगवान्‌ने क्यों अपनी विभूतियोंका वर्णन किया ? जिस कारणसे उन्हें अर्जुनके प्रति अपने विराट्स्व-रूपको दिखलानेकी आवश्यकताहुई ? यह तो नियम और प्रकरण दोनोंके विरुद्ध है और असंगत है भगवानने ऐसा क्यों किया ?

प्रिय पाठको ! यहां शंकाका तनकभी स्थान नहीं है भगवान इन दोनों अध्यायोंमें भी उपासनाकाही अंग वर्णन कररहे हैं जो विद्वज्जन शास्त्रोंके मर्मोको तथा भगवद्वाक्यके रहस्योंको पूर्णरूपसे समझ रहे हैं वा समझनेकी शक्ति रखते हैं वे तो अवश्य जानते होंगे, कि अधिकारीकी अपेक्षासे उपासनाके अनेक भेद हैं विश्वमात्रके उपासकोंके लिये उपासना एकही नहीं वरु इस उपासना की भी चार श्रेणियां हैं चारोंके चार प्रकारके अधिकारी हैं पर ये चारों एक ही स्थानके पहुंचने वाले हैं चार श्रेणियोंसे उनके चारे स्थान वा चार प्रकारके उपास्य हैं ऐसा नहीं समझना चाहिये । इसी

लिये भगवान्को विभूतियों और विराट्मूर्त्तिके दर्शन करानेकी परम आवश्यकता है। क्योंकि न जाने अपनी-अपनी रुचि अनुसार भगवान् की किस विभूति और किस मूर्तिकी ओर उपासकके चित्तका आकर्षण होजावेगा ? क्योंकि उपासनाके लिये उपास्यके गुण, रूप, लीला और धामके जाननेकी आवश्यकता है इसलिये भगवानने इन दोनों अध्यायोंमें पहले अपने गुण और रूपको अर्जुनके प्रति दिखलाया है क्योंकि उपासकोंको उपासना आरंभ करते ही इन दोनोंकी आवश्यकता पडती है इसलिये उपासनाके प्रकरणके अन्तर्गत भगवान्का अपनी विभूतियोंका वर्णन करना तथा अपने विराट्रूपका दर्शन कराना असंगत तथा प्रकरण विरुद्ध नहीं है अतएव आशा है, कि विद्वान किसी प्रकारकी शंका नहीं करेंगे।

अर्जुन उवाच—

मू०— मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥१॥

पदच्छेदः— [हे भगवन् !] मदनुग्रहाय (ममशोकनिवृत्त्युपकाराय) त्वया, यत् परमम् (अतिशयं परमार्थनिष्ठं तथा शोकमोहनिवर्त्तकत्वेनोत्कृष्टम्) गुह्यम् (गोप्यम् यस्मैकस्मैचिद्वक्तुमनर्हम्) अध्यात्मसंज्ञितम् (आत्मानात्मविवेकविषयम्) वचः (वाक्यम्) उक्तम् (कथितम्) तेन, अयं, मम, मोहः (अविवेकबुद्धिः) विगतः (अपगतः । विनष्टः) ॥ १ ॥

पदार्थः— अब अर्जुन बोला हे भगवन् ! (मदनुग्रहाय) मेरे उपकारकेलिये (त्वया) आपके द्वारा (यत्, परमम्) जो परमश्रेष्ठ परमात्मनिष्ठ (गुह्यम्) अत्यन्तगोपनीय (अध्यात्मसंज्ञितम्) आत्मा अनात्माके विवेक करनेके विषय (वचः) वचन (उक्तम्) कहागया (तेन) तिससे (अयं, मम) यह मेरा (मोहः) अज्ञान (विगतः) नष्ट होगया ॥ १ ॥

भावार्थः— अर्जुनको भगवानने दशवें अध्यायमें जो अपनी नाना प्रकारकी विभूतियोंका परिचय करातेहुए अन्तमें यह कहा, कि " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् " मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी विभूतियोंके महान् सागरस्वरूपके एक अंशसे अर्थात् एक बूंदसे धारणकर स्थित हूं यह सुनकर अर्जुनके हृदयमें जो अपने बान्धवोंके बध करनेका शोक वा मोह होरहा था वह तो नष्ट होगया और एकाएक भगवत्के ऐसे महान् स्वरूपके दर्शन करनेकी अभिलाषा होआयी अर्थात् किस प्रकार भगवत्ने इस सम्पूर्ण जगतको अपने एक अंशमें धारण कररखा है ऐसे स्वरूपके देखनेकी इच्छा उत्पन्न होआयी । भगवान्से अपने विश्वधारण करनेवाले स्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना करताहुआ कहता है, कि [मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्] हे भगवन् ! केवल मुझपर अनुग्रह करनेके तात्पर्य्यसे अर्थात् मुझको जो अपने बान्धवोंको सम्मुख देखकर इस युद्धके सम्पादनमें परम शोक उत्पन्न हुआ था उसके दूर करनेके लिये जो यह रहस्य जिसको बडे २ ज्ञानी तथा

ऋषि महर्षियोंने अनधिकारियोंके प्रति गुप्त रखा किसीसे भी प्रकट नहीं किया उसे आपने मुझ दीन अर्जुनपर प्रकट किया है ॥ १ ॥

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो वार्ता अध्यात्म सहित है अर्थात् जिसमें आत्मा और अनात्माके जाननेके रहस्य भरेहुए हैं जिसे केवल वे ही प्राणी समझ सकते हैं जो जिज्ञासु हैं मुमुक्षु हैं, जिनकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता है, जो द्वन्द्वातीत हैं, विमत्सर हैं, सिद्ध, असिद्ध, मान, अपमान, जय और अजयमें समबुद्धि हैं, कामक्रोधवियुक्त हैं, मोक्षपरायण हैं, अनन्यचेतस हैं अर्थात् जो भगवत्स्वरूपके अतिरिक्त क्षणमात्र भी किसी अन्य विषयकी ओर चित्त को नहीं लेजाते ऐसे गुणोंसे युक्त प्राणीको इस गुप्त विद्याको कहना चाहिये । पर हे भगवन् ! यद्यपि मुझमें इन गुणोंमेंसे एक गुण भी नहीं पायाजाता तथापि तुमने कृपा करके मुझे इस रहस्यका उपदेश किया और अपने मुखसे नवें अध्यायके आरम्भमें यह कहा, कि "इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे" अर्थात मैं तुझ असूया-दोषरहित अर्जुनके लिये यह रहस्य कहूंगा सो हे भगवन् ! जैसी तुमने प्रतिज्ञा की वैसी ही मेरे ऊपर कृपाकर यह गुप्त आत्मसंज्ञित वार्ता मुझसे कही इसलिये हे भगवन्! [यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम] जो वार्ता तुमने मुझसे कही उससे मेरा मोह नाश को प्राप्त हुआ ।

अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि यद्यपि इस आत्मसंज्ञित गुप्त रहस्यका मैं अधिकारी नहीं था तथापि दयासागरने मुझे परम

दुखिया देख अपनी ओरसे दया करके इस आत्म अनात्मके विचारसे भराहुआ गुप्त वचन मेरे लिये कथन किया ॥ १ ॥

भगवान्‌ने कौन-कौनसी वार्ताएं कहीं सो अर्जुन अगले श्लोक में कहता है—

मू०--- भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥
॥ २ ॥

पदच्छेदः-- [हे] **कमलपत्राक्ष !** (कमलस्य पत्रे इव सुप्रसन्ने विशाले परममनोरमे अक्षिणी नेत्रे यस्य सः तत्सम्बुद्धौ हे कमलपत्राक्ष !) **भूतानाम्** (अकाशादिकार्य्याणाम् तथा चराचराणाम) **भवाप्ययौ** (उत्पत्तिप्रलयौ) **हि**, **त्वत्तः**, **मया** (अर्जुनेन) **विस्तरशः** (पुनः-पुनः विस्तरेण) **श्रुतौ**, **अव्ययम्** (न विद्यते व्ययो नाशः यस्य तत् अक्षयम्) **माहात्म्यम्** (महदैश्वर्य्यम्) **अपि**, **च** [मया श्रुतम्] ॥ २ ॥

पदार्थः— (**कमलपत्राक्ष !**) हे कमलनयन ! (**भूतानाम्**) आकाशादि पञ्च भूतोंका तथा चराचर जीवोंका (**भवाप्ययौ**) उत्पत्ति और प्रलय (**हि**) निश्चयरूपसे (**त्वत्तः**) तुम्हारे द्वारा (**मया**) मुझसे (**विस्तरशः**) विस्ताररूपसे (**श्रुतौ**) सुनेगये तथा तुम्हारा (**अव्ययम**) नाशरहित (**माहात्म्यम्**) परम ऐश्वर्य (**अपि, च**) भी मुझसे (**श्रुतम्**) सुनागया । अर्थात तुमने जो विस्तारपूर्वक भूतोंकी उत्पत्ति तथा अपने महान् ऐश्वर्योंको मुझसे कहा उनको मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर श्रवण किया ॥ २ ॥

भावार्थ— अब अर्जुन भगवान्‌के रूपके दर्शन करनेकी अभिलाषासे प्रेमपूर्वक भगवानके सौन्दर्यका संकेत करताहुआ जो उनको (कमलपत्राक्ष) कहकर पुकारता है तिसके अनेक भाव हैं. जो भक्तोंके प्रेमकी वृद्धि निमित्त यहां वर्णन करदिये जाते हैं—

प्रथम भाव— जैसे सरोवरोंमें खिलेहुए कमलपत्र प्राणियोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं और अपनी-अपनी अरुणाईसे परम मनोहर देखपडते हैं इसी प्रकार भगवान्‌के अरुण नेत्र भी परम सुहावने और मनके हरण करनेवाले देखपडते हैं । अर्थात् जैसे कमलपत्रकी तिरछौंही नोकीलीसी काट जडमें कुछ वर्तुलाकार होकर दोनों ओरसे तिरछी होतीहुई एक नोकीलीसी बनी हुई देखपडती है इसी प्रकार भगवान्‌के नेत्रोंकी तिरछौंही काट बनती हुई जिसके हृदयमें जा चुभी वह रूपमकरन्दकी गंध लेने वाला भगवत्प्रेममें अहर्निश मग्न होगया ।

द्वितीय भाव— जैसे कमलपत्र एक ओर उठेहुएसे ऊंचे रहते हैं इसी प्रकार भगवानके सुन्दर नेत्र भी कुछ ऊपरको उठेहुए और ऊंचे हैं क्योंकि कमलपत्रको छोडकरे अन्य किसी पत्रमें ऐसी विचित्रता नहीं पायी जाती ।

तृतीय भाव— यदि शंका हो, कि श्यामसुन्दरके तो अंग २ नाना प्रकारके सौन्दर्यसे भरेहुए हैं फिर अर्जुनने अन्य किसी अंगका नाम न लेकर केवल नेत्रहीकी शोभा क्यों वर्णन की ? तो उत्तर इसका यह है, कि शरीरमें जितने अंग हैं सब शोभायमान तो हैं पर चेतनताका सूचन करने वाला केवल एक नेत्र ही है । अन्य सब अंग जडवत् शान्त पडे रहते हैं उनमें हिलने डोलनेकी शक्ति नहीं है । जैसे केश, कान,

नाक, कपोल, भ्रू, अधर, चिवुक, ग्रीव, हृदय, कटि इत्यादि । यदि इन्हींके समान नेत्र भी निश्चेष्ट और गतिहीन होजावें तो प्राणी मृतक समझाजावेगा । केवल दोनों नेत्र ही शरीरमें चल हैं । नेत्रोंसे ही प्राणियोंके हृदयकी गति जानी जाती है और जीवित रहनेका संकेत प्राप्त होता है । करुणा, दया, क्रोध, प्रसन्नता, अप्रसन्नता और प्रेम इत्यादिकी गति नेत्रसेही लखपडती है कान, नाक, केश इत्यादिसे मनोगति लखनेमें नहीं आती । तथा अनेक प्रकारके अद्भुत २ दृश्य इन्हीं नेत्रोंसे देखनेमें आते हैं अतएव अर्जुनने भगवानके कमल नयनोंकी अपूर्व शोभाका वर्णन किया ।

जब किसीको किसीसे प्रेम होता है तो यही कहा जाता है, कि अमुक २ प्राणियोंकी आंखें परस्पर लडगयी हैं, कान लडगये अथवा नाक लडगयी ऐसा नहीं कहा जाता । फिर ऐसा भी कहते हैं, कि अमुक प्राणीके नेत्रोंमें अमुकके नयन प्रवेश करगये हैं । जैसे किसी प्रेमीका वचन है, कि " पडी कंकडी नैनमें नैन भये बेचैन । वे नैना कैसे जिवैं जिन नैननमें नैन " । इसी कारण अर्जुनने सब अंगोंको छोड पहले पहल भगवान्‌के नेत्रहीकी स्तुतिकी ।

चौथा भाव— जैसे कमलपत्र दिवसके आगमनसे खिलजाता है और रात्रिके आगमनसे संपुटित होजाता है अर्थात् कमलके पत्रोंका खिलना दिवसका आगमन और संपुटित होना रात्रिका आगमन सूचित करता है इसी प्रकार भगवत्‌के नेत्र खुलनेसे सृष्टिरूप दिवसका आगमन और संपुटित होनेसे प्रलयरूप रात्रिका आगमन सूचित करते हैं ।

पांचवां भाव– अर्जुन अपने मनहीमन भयसे कम्पित होरहा है, कि मैं भगवान् त्रिलोकीनाथके सम्मुख, कि जिनके भयसे तीनों लोक कम्पायमान होरहे हैं ढिठाईकर रूप दिखला देनेकी प्रार्थना कैसे करूं। क्योंकि लक्ष्मी जो साथ२ निवास करती है सनत्कुमार, नारद, च्यवन, अंगिरा, वशिष्ठ, गोकुलनिवासी गोप, गोपी, नन्द, यशोदा, प्रह्लाद, ध्रुव इत्यादि जो भगवान्के परम प्रिय होचुके हैं इनमेंसे भी किसीको ऐसे गुप्त स्वरूपको प्रकट कर दिखलानेके लिये प्रार्थना करनेका साहस न पडा फिर मुझमें क्या विशेषता है, कि मैं आज इस घोर आपत्तिके समय श्रीआनन्दकन्दसे गुप्त विश्वरूपको दिखलानेकी प्रार्थना करूं। भगवान् मेरी ऐसी ढिठाई देख कहीं कुपित न होजावें इसी कारण भगवानके नेत्रोंकी ओर देखने लगा और विचारने लगा, कि भगवान जो अन्तर्यामी सबके हृदयकी गति जाननेवाले हैं अवश्य मेरे हृदयकी गति भी जानगये होंगे। एवम्प्रकार भगवत्के नेत्रोंकी ओर देखते ही समझ गया, कि इस समय भगवान् बडी कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखरहे हैं। जैसे कमलपत्र सूर्य निकलते ही बडी प्रसन्नताको सूचित करता हुआ खिलखिलाकरे हंस पडता है ऐसे ही भगवतके नेत्र मेरी ओर बडी प्रसन्नताको प्रकट कररहे हैं। ऐसा विश्वास होता है, कि भगवान मेरी अभिलाषा अवश्य पूर्ण करेंगे इसीलिये अर्जुन अपनी दृष्टिको भगवान्की दृष्टिसे क्षणमात्र मिलाकर प्रेमसे प्रफुल्लित हो झट ' कमलपत्राक्ष ' कहकर सम्बोधन करता है।

छठाभाव– अर्जुन मनहीमन यह विचाररहा है, कि भगवान् जो अपने मुखारविन्दसे ऐसा कहचुके हैं, कि " यच्चापि सर्वभूतानां बीजं

तदहमर्जुन । न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ”
(अ० १० श्लो० ३९) अर्थात् विश्वमात्रका बीज मैं ही हूं मेरे
बिना कुछभी नहीं है । फिर कहा है, कि “ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमे-
कांशेन स्थितो जगत् ” (अ० १० श्लो० ४२) अर्थात् मैं अपनी
महान् अनन्त विभूतियोंके एक अत्यन्त छोटे अंशमें इस सम्पूर्ण
जगत्को धारणकर स्थितहूं । एवम्प्रकार भगवानके वचनोंको सुन
अर्जुनको अभिलाषा उत्पन्न होआयी है, कि जिन महान् ऐश्वर्य्योंके
विषय भगवानने मुझसे स्वयं कहा है और मैंने केवल श्रवणगोचरही
किया है तिनके स्वरूपोंका तो इन नेत्रोंसे दर्शन नहीं किया और
विना उस रूपके देखे चित्तको चैन नहीं है यदि नहीं देखूँगा तो इसी
समय मेरे शरीरकी दुर्दशा होपडेगी । भगवान् अर्जुनके चित्तकी ऐसी
दशा जान जैसे कमलोंकी विकसित छटासे प्रसन्नता प्रगट होती है
ऐसे अन्तर्यामी अपने प्रफुल्लित कमलनेत्रोंसे अर्जुनकी ओर देख अपनी
प्रसन्नता प्रगट करने लगे । मानों नेत्रोंकी चालसे अर्जुनके हृदयमें
ऐसा सूचित करदिया, कि जो कुछ तेरी अभिलाषा है उसे मैं अवश्य
पूर्ण करूंगा इसलिये अर्जुन नेत्रोंकी ऐसी प्रसन्नमयी छटा देखकर झट
कमलपत्राक्ष कहपडा ।

सातवांभाव— कमलपत्राक्ष कहनेका यह है, कि ‘कः’
कहिये आत्माको इसलिये (कः) जो आत्मा तिस आत्माको (अलति)
भूषित करता है अर्थात् ज्ञान करके जो सुशोभित करता है उसे कहिये
‘ कमल ’ सो कमल अर्थात् आत्मज्ञान जिस कागदपर लिखाजावे
उसे कहिये ‘ कमलपत्र ’ और पत्र शब्दका अर्थ यह है, कि (पात्यते

स्थानात् स्थानान्तरं समाचारोऽनेनेति पत्रम) एक स्थानसे दूसरे स्थानको जो समाचार लेजावे उसे कहिये पत्र। सो भगवान्‌के जो नेत्र हैं वे मानो आत्मज्ञानके पत्र हैं जो ज्ञानतत्त्वरूप समाचारोंको भक्तोंके हृदयमें लेजाते हैं अर्थात् भगवान् जिसकी ओरे एकबार भी अवलोकन करते हैं उसके हृदयमें संपूर्ण आत्मज्ञानका प्रकाश होजाता है मानो वह प्राणी भगवत्‌के नेत्रसे ही सर्व निगमागमादिको पढलेता है सो अर्जुनके लिये तो ये नेत्र इस युद्धके समय आत्मज्ञानके पत्र ही होरहे हैं। इसी कारण भगवान्‌को अर्जुनका कमलपत्राक्ष कहकर पुकारना सांगोपांग उचित है।

भगवान्‌के नेत्रोंकी शोभा उक्त प्रकार सूचित करताहुआ अर्जुन कैसे बोलउठा, कि [**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया । त्वत्तः कमलपत्राक्ष !**] हे कमलपत्राक्ष ! मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और विनाश दोनों विस्तारपूर्वक तुमसे सुने। क्योंकि हे जगत्-सुन्दर! तुमने मुझे अपना प्रिय सखा जानकर मुझसे कुछ भी गुप्त नहीं रखा। जो-जो वार्त्ताएं मैंने तुमसे पूछीं तुमने उन्हें बिलग-बिलग कर पुनः पुनः बडी श्रद्धा और रुचिसे मुझे सुनादी। जैसे धुनेरा रुईको तनक-तनक कर बिलग-बिलग धुनडालता है ऐसे हे भगवन ! तुमने प्रत्येक विषयोंको बिलग-बिलग धुन-धुनकर मुझे सुनादिया और मैंने पूर्णप्रकार ध्यान देकर एकाग्रचित्त हो श्रवण किया है। हे भगवन! जैसे सर्वसाधारण किसी उपदेशको श्रवण कर इस कानसे सुन दूसरे कानसे निकाल देते हैं ऐसा मैंने नहीं किया। हे केशव ! मुझे तो तुम्हारे वचन एक-एक कर स्मरण हैं और वे मेरे हृदयमें ऐसे चुभगये हैं, कि युग-युगान्तरमें भी निकाले न निकलेंगे। तुमने जो मुझे "**न जायते म्रियते**

त्रा" तथा "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" (देखो अ० २ श्लो० २०, २३) कहकर आत्माकी नित्यता तथा अविनाशित्व बतलाया फिर "स्वधर्ममपि चावेद्य" तथा "सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ !" (देखो अ० २ श्लो० ३१, ३२) कहकर क्षत्रियोंके परम धर्मका उपदेश किया फिर "योगस्थः कुरु कर्माणि" संगं त्यक्त्वा धनंजय !" कहकर मुझे निष्कामकर्मोंके सम्पादन करनेकी आज्ञा दी फिर जब मैंने तुमसे यह पूछा, कि 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' (देखो अ० २ श्लो० ५४) तब तुमने मुझे "प्रजहाति यदा कामान्" इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः" (देखो अ० २ श्लो० ५५से ५८ तक) इत्यादि वचनोंको कहकर स्थितप्रज्ञोंका लक्षण उपदेश किया, फिर "ज्यायसी चेत् कर्मणास्ते" (देखो अ० ३ श्लो० १) इस प्रश्नके पूछनेपर तुमने कर्म और सन्न्यासयोगका वर्णन विस्तारपूर्वक किया और जब दोनोंकी स्तुति सुनकर शंका हुई तो फिर तुमसे पूछा, कि "सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि" (देखो अ० ५ श्लो० १) तब तुमने "सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति" तथा "यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्" फिर "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि" और "विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे" (देखो अ० ५ श्लो० ४, ५, १०, १८) इन वचनोंको कहकर मुझे सांख्य और योगका अभेद दिखलाया और मेरी बुद्धि स्थिर करदी। फिर तुमने "अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" "मत्तः परतरं नान्यत्" "रसोऽहमप्सु" "बीजं मां सर्वभूतानाम्" (देखो अ० ७ श्लो० ६, ७, ८, ११, १८) इत्यादि वचनोंसे अपनी अतुल महिमा वर्णनकी।

फिर हे भगवन् ! तुमने जो मुझे अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञका उपदेश किया (देखो अ० ८) तथा देवयान और पितृयान इत्यादि मार्गोंका उपदेश किया (देखो अ० ८ श्लो० २४ से २६ तक) और हे भगवन् ! जो तुमने मुझे गुह्यतम राजविद्याका उपदेश किया (देखो अ० ६) फिर हे भगवन् ! मेरे इस प्रश्नपर, कि " वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः" तुम अपनी विभूतियोंको मुझे पूर्णरूपसे कहो तिसके उत्तरमें तुमने " अहमात्मा गुडाकेश " से " विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम " (अ० १० श्लो० २० से ४२ तक) इत्यादि वचनोंतक अपनी दिव्य विभूतियोंका उपदेश किया ।

अब अर्जुन कहता है, कि [**माहात्म्यमपि चाव्ययम्**] तुमने अपने अव्यय माहात्म्यको अर्थात् अक्षय महा ऐश्वर्योंका वर्णन किया है सो मैंने विस्तारपूर्वक श्रवण किया ।

शंका— भगवान्ने तो अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि हे अर्जुन ! मैंने अपने महान ऐश्वर्योंको तुझसे अत्यन्त संक्षिप्तकरके कहा है क्योंकि भगवान् अ० १० के अन्तमें अर्जुनसे कहचुके " एष तूद्देशतः प्रोक्तः " (अ० १० श्लो० ४०) अर्थात् मैंने अपनी विभूतियोंके विस्तारके कारण संक्षेपकरके तुझसे कहा और इस श्लोकमें अर्जुन कहता है, कि "श्रुतौ विस्तरशो मया" मैंने विस्तारपूवक सुना। तोकहनेवाला कहता है, कि मैंने संक्षेपसे कहा और सुननेवाला कहता है, कि मैंने विस्तारसे सुना ये दोनों बातें परस्पर टकराती हैं और इनसे गीताशास्त्रमें अन्योन्य विरोधका दोष लगता है ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवान्की दृष्टिमें तो अपना वचन संक्षिप्त ही है पर अर्जुनके लिये तो बहुतही विस्तार है क्योंकि गंगा और यमुना इत्यादि सरिताओंमें तो अमोघ जल राशिका प्रवाह चलरहा है पर प्यासेकी पिपासा (प्यास) शान्त करनेकेलिये तो उनमेंसे एक कमण्डल ही बहुत है । स्वातिकी वर्षामें तो अनगिनत बूंदें आकाशसे पृथ्वीपर पडती हैं पर चातक (पपीहा) के लिये तो दोचार बूंद ही बहुत हैं । फिर किसीने कहा है— " हस्तीमुखसे कण गिरै घटै न तासु अहार। सो लेचली पिपीलिका पालनको परिवार " अर्थात् हस्तीका जो मनों अन्न आहार है उसमेंसे एक कणमात्र जो उसके मुखसे गिरा तो उसे चींटी अपने परिवार पालन निमित्त लेचली।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे हस्तीके मुखका एक कणमात्र अन्न चींटीके लिये बहुत है इसी प्रकार भगवतके मुखारविन्दसे एक कणमात्र ब्रह्मज्ञान अर्जुनके लिये बहुत है इसलिये अर्जुनने "विस्तरशो मया" कहा इसमें शंकाका कोई स्थान नहीं है ॥२॥

अब अर्जुन डरते २ बहुतही धीमी और दबीहुई जिह्वासे कहता है—

मू०— एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ! ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [हे] परमेश्वर ! (सर्वस्वामिन् !) यथा (येन प्रकारेण) आत्मानम् (स्वस्वरूपम) त्वम्, आत्थ (कथयसि) एतत् एवम् (यथातथम। नान्यथा) [हे] पुरुषोत्तम ! (जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल !) ते, ऐश्वरम् (ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबल-

वीर्य्यतेजोभिः सम्पन्नम्) रूपम् (अद्भुतस्वरूपम्) द्रष्टुम् (अवलोकयितुम्) इच्छामि (अभिलषामि) ॥ ३ ॥

पदार्थः— [हे] (परमेश्वर !) त्रिलोकीके स्वामी (यथा) जिस प्रकार (आत्मानम्) अपनेको (त्वम्) तुम (आत्थ) कहते हो (एतत्, एवम्) यह सब ज्योंका त्यों यथातथ्य है तनक भी शंका करनेयोग्य नहीं है पर (पुरुषोत्तम !) हे जगन्नाथ ! पुरुषशार्दूल ! सर्वज्ञ ! (ते, ऐश्वरम्) तुम्हारे ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे सम्पन्न (रूपम्) अद्भुतरूपको (द्रष्टुम्) देखनेकी (इच्छामि) मैं इच्छा रखता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन मारे संकोचके भयभीत हो अपनी ढिठाईपर लज्जित हो भगवत्स्वरूपके दर्शन करनेकी इच्छासे कहता है, कि [**एवमेव यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर !**] हे परमेश्वर ! तुम अपनेको जिस प्रकार कहरहे हो वह ज्योंका त्यों अर्थात् यथातथ्य है ।

यहां परमेश्वर कहकर जो अर्जुनने भगवान्‌का सम्बोधन किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो सबोंका ईश्वर होता है उसको किसी भी अन्य देवता देवीका भय नहीं । वह तो स्वतंत्र होता है जो चाहता है करता है । जैसे कोई महाराजाधिराज एक अत्यन्त दरिद्रको अपना सर्वस्व देदेवे तो अन्य कोई उसकी इच्छामें बाधा करनेवाला नहीं है । सो अर्जुन अपने मनमें विचार कररहा है, कि जिस रूपको भगवान्‌ने बड़े-बड़े तपस्वियों और योगियोंको भी शीघ्र नहीं दिखलाया

तिस रूपको मुझ एक बालकके लिये जिसने अभीतक तपोयोगका नाम भी नहीं जाना, जिसने अपना बालकपन राज्यसुखमें बिताया और द्वादशवर्ष पर्यन्त घोर वनवासके दुःखमें नाना प्रकारके क्लेशोंको सहता रहा सो अब राज्यके लोभसे संग्राममें आपडा है तो ऐसे संस्कार-हीन अनधिकारीको विश्वम्भर यदि अपना विश्वरूप प्रकट करदिखावें तो उन्हें कौन रोकसता है ?

ऐसा विचार भगवानको **परमेश्वर** शब्दकरके सम्बोधन करता हुआ कहता है, कि जो कुछ तुमने अपने विषय मेरे प्रति कहा अर्थात् सम्पूर्ण संसारका बीज होना तथा अपनी विभूतिके एक अंशमात्रमें सम्पूर्ण विश्वको धारण करना इत्यादि वर्णन किया सो सब यथार्थ हैं उनके सत्य होनेमें तनक भी सन्देह नहीं है। मुझको तो पूर्ण विश्वास है क्योंकि ये सब बातें तुमने अपने मुखारविन्दसे मेरे प्रति कही हैं और उसीके साथ यह भी मुझे कहा है, कि ' **न मे विदुः सुरगणाः** ' (अ० १० श्लो० २) मुझे कोई देव अथवा ऋषि, महर्षि यथार्थ-रूपसे नहीं जानता । इस वचनसे सिद्ध होता है, कि हे भगवन् ! तुम अपनेको आपही जानते हो। क्योंकि व्यासदेव आदि महर्षि जब राज-महलके समीप जाकर ज्ञानकी बातें सुनाया करते थे उस समय मैं इनकी बातोंको श्रद्धापूर्वक नहीं सुनता था और न इनके वचनोंका कुछ मुझपर प्रभाव ही पडता था। क्योंकि एक तो मैं बालक था दूसरे राज्यसुखमें भूला हुआ था पर अब इस युद्धके उपस्थित होनेसे मुझे दो आंखोंके स्थानमें चार आंखें होगयी हैं और सब बातें (लौलिक-पारलौकिक) जाननेकी चिन्ता होआयी है। अब मेरा धन्यभाग

है, कि ठीक समयपर मुझे तुम्हारे ऐसे गुरुदेवका लाभ हुआ है। सच है! जब क्षेत्रमें बीज बोयाजाता है और वह कुछ उगकर पानीके लिये आकाशकी ओर देखता है तब उस समय जलकी वर्षा अधिक लाभदायक होती है सो हे भगवन्! इस स्थपर तुम्हारा यह उपदेश मुझे क्यों न लाभदायक होगा। हे जगदभिराम! घनश्याम! तुम्हारा कहना सांगोपांग यथार्थ है पर [**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम!**] हे पुरुषोत्तम! जिस प्रकारे तुमने अपने रूपका कथन किया उसे मैं अब उनही विभूतियोंके साथ देखनेकी इच्छा रखता हूं। सो कृपाकरे मुझे अपने उस अद्भुतस्वरूपका दर्शन करादो ॥ ३ ॥

अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो विचारने लगा, कि मैंने आनन्दकन्दसे रूप दिखलानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने मैं उस रूपका तेज संभाल सकूंगा वा नहीं? इसलिये मस्तक झुकाये भगवान्से फिर प्रार्थना करता है।

मू०— मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो!।
योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— [हे] प्रभो! (स्वामिन्!) यदि, तत्, मया (अर्जुनेन) द्रष्टुम् (चाक्षुषज्ञानविषयीकर्तुम्) शक्यम् (योग्यम्) इति, मन्यसे (चिन्तयसि) ततः (तर्हि) [हे] योगेश्वर! (सर्वेषामणिमादिसिद्धिशालिनां योगिनामीश्वर!) त्वम्,

मे, अव्ययम् (अक्षयम) आत्मानम् (निजस्वरूपम्) दर्शय (दृष्टिगोचरं कारय) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (प्रभो !) हे सबके स्वामी ! (यदि) जो (तत्) वह तुम्हारा स्वरूप (मया) मुझ अर्जुनसे (द्रष्टुं, शक्यम) देखेजाने योग्य है अर्थात् यह अर्जुनने तुम्हारे उस अद्भुत स्वरूपको देखनेकी शक्ति रखता है (इति, मन्यसे) ऐसा यदि तुम समझते हो (ततः) तब तो (योगेश्वर !) हे योगियोंके ईश्वर (त्वम्) तुम (मे) मेरे लिये (अव्ययम) नित्य अक्षय (आत्मानम्) अपने स्वरूपको (दर्शय) दिखलादो ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपनी ढिठाईपर लज्जित हो मस्तक झुकाये विचार करने लगा, कि मैंने श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्दसे रूप दिखानेकी प्रार्थना तो करदी है पर न जाने उस रूपको देखनेमें मैं समर्थ हूं वा नहीं। सम्भव है, कि उस रूपका तेज मैं न संभाल सकूं। जैसे सूर्यदेव यदि आकाशसे उतरकर पृथ्वीपर आजावें तो सारी पृथ्वी भस्म होजावेगी सब जीव-जन्तु तथा मनुष्य एकबारगी नष्ट होजावेंगे। विद्युत् यदि आकाशसे पृथ्वीपर उतरकर किसीके घरमें चमक उठे तो उसकी आंखें फटजावेंगी। इसी प्रकार यदि मैं भगवतस्वरूपके तेजके संभालनेयोग्य न रहूंगा तो मेरा सर्वनाश होजावेगा। इसी कारण भयभीत होकर बोलउठा, कि [**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !**] हे प्रभो ! हे जगत्-स्वामिन् ! संपूर्ण विश्वकी रक्षा करनेवाले यदि तुम मुझ अर्जुनको अपने उस विश्वरूपका तेज संभालने योग्य जानते हो अर्थात् जो

तुम ऐसा समझते हो, कि अर्जुन तुम्हारे स्वरूपके देखनेका अधिकारी है और देखसकता है तब तो [**योगेश्वर! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्**] हे योगियोंके ईश्वर! अपने सर्वयोगसिद्धिसम्पन्न अविनाशी नित्य और निर्विकार स्वरूपको दिखादो।

यहां अर्जुनने प्रभो और योगेश्वर दो सम्बोधनोंसे भगवान्‌को पुकारा है इसका कारण यह है, कि जो सबोंका प्रभु अर्थात् स्वामी होता है उसे अपने शरणागतोंकी हानिलाभकी चिन्ता अवश्य होती है. सो यदि भगवान् मेरी कुछ हानि देखेंगे तो अवश्य उस हानिको अपनी कृपादृष्टिसे मेटकर मुझे अपना स्वरूप दिखलावेंगे। स्वामियोंका यही विशेष धर्म है इसीलिये अर्जुनने " प्रभो " ऐसा शब्द प्रयोग किया है। फिर " * योगेश्वर " कहनेका भाव यह है, कि जो साधारण योगी होते हैं वे अपने योगबलसे निज शिष्योंको अद्भुत और आश्चर्य्यमयी लीला दिखादिया करते हैं। जैसे भरद्वाज योगीने जब अपने आश्रममें श्रीरघुकुलमणि रामचन्द्रके लघु भ्राता भरतजीकी पहुनाई की है तो उस समय उन्होंने अपनी सिद्धियोंके बलसे जितनी वस्तुओंकी आवश्यकता थी सब एकत्रकर दिखलायी। अर्थात् उस सघन वनको नन्दन वनके समान अनेक अपूर्व वैभवोंसे ऐसा सम्पन्न करदिया, कि अयोध्यानिवासी अवधके सारे विभव भूलगये। भला बताइयेतो सही, कि एक वनवासी योगीमें जब इतनी सिद्धिकी प्राप्ति देखीजाती है तब भगवान् जो साक्षात् योगियोंके शिरमौर,

* योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरः (शंकरः)

योगियोंके ईश्वर योगेश्वर ही कहेजाते हैं क्या अर्जुनके मनकी गति जान अपनी योगमयी विभूतियोंको न दिखलासकेंगे ? अवश्य दिखलावेंगे। क्योंकि वे तो जगत्स्वामी हैं सबपर उनकी समान दया है जिस समय उनकी दया उमडती है तो जिसे जो नहीं देना चाहिये उसेभी वे वही देदेते हैं वे तो बिना मांगे भक्तोंको उनकी इच्छासे भी अधिक देदेते हैं। देखो ! सुदामा ब्राह्मणको बिना मांगे स्वर्गके सदृश सम्पत्ति प्रदान करदी। क्या स्वप्नमें भी कभी सुदामाने भगवान से इतनी सम्पत्तिकी अभिलाषा की थी ? कदापि नहीं। देखो! उत्तानपादका पुत्र ध्रुव जिसने केवल पिताकी गोदमें बैठतेहुए अपनी सौतेली माता द्वारा उठादिये जानेपर वनमें जा भगवान्की शरण ली तो उसे भगवान्ने अटल स्थान प्रदान किया जो आजतक ध्रुवलोकके नामसे प्रसिद्ध है।

देखो ! विभीषणको रावणके रहते लंकाके अधिपति होनेका तिलक देदिया। इसी कारण तो शास्त्रोंने आपका नाम 'वाञ्छातिरिक्तप्रद' कहा अर्थात् जो इच्छासे भी अधिक देवे।

प्रिय पाठको ! श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीकी उदारताका उमडना मेघमालाके समान है, अर्थात् जब भगवत्का हृदयाकाश दयासे उमडने लगता है तब सर्वत्र एक समान सबोंके लिये विपुल दयाकी वारिधारा बहाकर अनगिनत प्राणियोंका शुष्क हृदयक्षेत्र बिनामांगे भर देता है। अरे ! औरोंको तो कौन पूछे जो अपने सम्मुख आयेहुए विरोधियोंको दीन और अज्ञानी जानकर

मोक्षकी पदवी प्रदान करता है । जैसे पूतना राक्षसी जो स्तनमें विष लगाकर आपको मारने आयी तथा तृणावर्त्त, अघासुर, बकासुर, इत्यादि राक्षस जो आपके मारनेके तात्पर्यसे आये उन्हें भी आपने मुक्ति प्रदान की । शिशुपाल जिसने मध्य सभामें आनन्दकन्दको सैकडों गालियां सुनायी उसे भी मोक्षपद प्रदान किया । कहां तक कहूं कहांतक गिनाऊं धन्य है आपकी भक्तवत्सलता । क्यों न हो वाहरे भक्तवत्सल ! आपकी भक्तवत्सलता ऐसी उमडी, कि यहां भी अर्जुनके प्रति यों कह पडे ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्रार्जुन !) नानाविधानि (अनेकप्रकाराणि) नानावर्णाकृतीनि (नीलपीतादिप्रकारा वर्णा विलक्षणास्तथाकृतयोऽवयवसंस्थानविशेषा येषां तानि) च, दिव्यानि (अलौकिकानि अप्राकृतानि) शतशः (अनेकशः) अथ, सहस्रशः (अपरिमितानि) मे, रूपाणि, पश्य (अवलोकय) ॥ ५ ॥

पदार्थः—(पार्थ !) हे पृथापुत्र अर्जुन ! (नानाविधानि) अनेक प्रकारके (नानावर्णाकृतीनि) नीले, पीले, अरुण, श्वेत इत्यादि अनेक वर्ण, मोटी, पतली अनेक आकृतिवाले (च,

दिव्यानि) और अलौकिक (शतशः) सैकडों (सहस्रशः) हजारों (मे रूपाणि) मेरे रूपोंको (पश्य) देख ! ॥ ५ ॥

भावार्थः-- अहा ! वह देखो ! श्रीभक्तवत्सल भगवान्की ओर देखो ! रथके ऊपर अर्जुन ऐसे अपने परमप्रिय भक्तको अति नम्रता तथा अपने विश्वरूपके दर्शनका परमअभिलाषी जान जब आपकी भक्तवत्सलता उमडी है तो कैसे झट बोलउठे हैं, कि [पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू मेरे अद्भुत रूपोंको देख! वे सैकडों वरु हजारों हैं । एवम्प्रकार भगवान्ने अर्जुनसे ऐसा स्नेहमय वचन बोलकर जनादिया, कि जिन रूपोंको मैंने अपनी मैया कौशल्याको पक्वान्न खातेहुए और यशोदाको मिट्टी खातेहुए खेलकूदमें दिखलादिया उन रूपोंको तुझे क्यों न दिखलाऊंगा ।

यहां ' रूपाणि ' बहुवचन कहनेका तात्पर्य यही है, कि मेरा कोई एक विशेष स्वरूप अथवा विशेष प्रकारकी आंख, कान वा नाक नहीं हैं ये अनेक प्रकारके हैं। यदि कोई इनकी गणना किया चाहे तो नहीं करसक्ता क्योंकि " शतशोऽथ सहस्रशः " वे सैकडों वरु हजारों हैं अर्थात् अनगिनत हैं । तात्पर्य्य यह है, कि उस महापुरुषके रूपोंकी संख्या नहीं है असंख्य हैं । इसी वार्त्ताको वेदने पहलेही कहदिया है, कि " ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " (पुरुषसूक्त मं० १) वह पुरुष सहस्रों अर्थात् अनगिनत शिर तथा अनगिनत आँखें और अनगिनत पांववाला है । वे आंख, पांव इत्यादि भी ऐसे

नहीं हैं, कि एकही रंग वा एकही डौलवाले हों। जैसे एक वट वा अश्वत्थके वृक्षमें एकही प्रकारके फल अनेक होते हैं ऐसे नहीं हैं। कैसे हैं सो भगवान स्वयं कहते हैं [**नानाविधानि दिव्यानि नाना-वर्णाकृतीनि च**] अनेक प्रकारसे दिव्य और अनेक वर्णोंके हैं। अर्थात भिन्नप्रकारकी ज्योतिसे प्रकाशित हैं और इनमें कोई नीला, कोई पीला, कोई काला, कोई लाल, कोई धानी, कोई आसमानी, कोई धूसर, कोई हरा, कोई पाटल (गुलाबी) और कोई धूम्रवर्ण हैं। फिर ऐसा नहीं, कि ये मेरे सब रूप रंग रंगरेजोंके रंगेहुए कपडोंके समान लौकिक रंगवाले हैं वरु ये तो रंग दिव्य हैं अर्थात् जैसे इन्द्र-धनुषमें अथवा किसी स्फटिक काचमें नाना प्रकारके रंग देखेजाते हैं पर वे साधारण रंगोंके समान स्पर्शकरने योग्य नहीं होते केवल दृष्टि मात्रसे ही देखपडते हैं ऐसे वे मेरे रूप नानाविध दिव्य वर्णवाले हैं जो दृष्टिगोचर तो हैं पर यथार्थमें वे न स्पर्श योग्य हैं और न ग्रहण करने योग्य हैं अर्थात् वे स्थूल नहीं सूक्ष्म हैं इसी कारण भगवानने अपने रूपोंको " **दिव्यानि** " कहा क्योंकि वे तेजही तेज हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि ऐसा मत समझो, कि इनमें केवल वर्णहीका भेद है वरु इनकी आकृति (डौल) में भी विचित्रता है कोई त्रिकोण तो कोई चौकोण, कोई पंचकोण तो कोई षट्कोण, कोई पीन (मोटा) तो कोई क्षीण, किसीमें एक भुजा है तो किसीमें दो हैं, किसीमें चार हैं तो किसीमें आठ हैं और किसीमें सहस्रों भुजाएं हैं तो किसीमें अनगिनत हैं एवम्प्रकार अनन्त मुखोंसे युक्त महा विकराल रूप धारण कियेहुए कोई हँसता खिलखिलाता है तो कोई चीखता चिल्लाता है, कोई क्रोधभरे

नेत्रोंसे तिलमिलारहा है तो कोई स्नेह और प्रेमभरे नेत्रोंसे देखरहा है, तो कोई तडक-भडककर घोर गर्जना कररहा है तो कोई उछल कूद-कर मधुर शब्दोंको अलापरहा है; कोई अत्यन्त सुन्दर है तो कोई अत्यन्त कुरूप है, कोई जगा है तो कोई सोया है, कोई शस्त्ररहित है तो कोई विजलीके समान चमकनेवाले असंख्य शस्त्रोंसे युक्त है और कोई समाधिस्थ है तो कोई चञ्चल है एवम्प्रकार ये मेरे नाना प्रकारके रूप हैं अर्जुन ! तू जी भरके देख और अपनी अभिलाषा पूर्ण करले ॥५॥

अब भगवान् जिन विशेष देवता पितरोंको अपने रूपमें दिखलावेंगे उनका संकेत पहलेहीसे अर्जुनके प्रति संक्षेपरूपसे करदेते हैं।

मू०—पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशप्रसुत !) आदित्यान् (१. विवस्वान्, २. अर्य्यमा, ३. पूषा, ४. त्वष्टा, ५. सविता, ६. भगः, ७. धाता, ८. विधाता, ९. वरुणः १०. मित्रः, ११. शक्रः १२. उरुक्रमः एतान् द्वादशादितिसुतान) वसून् (धरः, ध्रुवः, सोमः, विष्णुः, अनिलः अनलः, प्रत्यूषः, प्रभासः, एतानष्टसंख्यकान् वसून्) रुद्रान् (अजः एकपात्, अहिर्बुध्न्यः, पिनाकी, अपराजितः, त्र्यम्बकः, महेश्वरः, वृषाकपिः, शम्भुः, हरः, ईश्वरः एतान् एकादशरुद्रान्) अश्विनौ (द्वौ अश्विनीकुमारौ देववैद्यौ) तथा, मरुतः (एकोनपञ्चाशन्मरुद्गणान्) पश्य (अवलोकय) बहूनि (अनेकानि) अदृष्टपूर्वाणि (मनुष्यलोके त्वया अन्येन वा पूर्वं

न दृष्टानि) आश्चर्य्याणि (अद्भुतानि । अभिनवरूपाणि) पश्य (विलोक्य) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! (आदित्यान्) द्वादश आदित्योंको (वसून्) आठों वसुओंको (रुद्रान्) एकादश रुद्रोंको (अश्विनौ) अश्विनीकुमार दोनों भाइयोंको (तथा) फिर (मरुतः) उनचाशों वायुओंको (पश्य) अवलोकन कर फिर (बहूनि) इनसे इतर अनेकानेक (अदृष्ट-पूर्वाणि) पहले किसीसे नहीं देखेगये (आश्चर्य्याणि) परम आश्चर्यमय रूपोंको (पश्य) देख ॥ ६ ॥

भवार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द नटनागर दयासागर प्रथम संक्षिप्त करके उन-उन देवताओंके नाम सुनारहे हैं जिनको थोडी ही देरमें अपने स्वरूपके अन्तर्गत अर्जुनको दिखलावेंगे । कारण यह है, कि जब कोई किसीको कुछ वस्तु दिखलाता है तब उस वस्तुके दिख-लानेसे पहले यदि उसे कर्णगोचर करदेता है तो देखनेवाला सावधान होजाता है सो भगवानका आन्तरिक अभिप्राय यह है, कि जिन-जिन वस्तुओंको मैं दिखलाऊंगा उनसे अर्जुन सावधान होजावे ।

इसी कारण संक्षेपसे कहते हैं, कि [**पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा**] हे अर्जुन ! तू देख मैं तुझे बारहों सुर्योंको, आठों वसुओंको, ग्यारेहों रुद्रोंको, दोनों भाई अश्विनीकुमा-रोंको तथा उनचासों वायुओंको एकसाथ एकरूपमें दिखलाता हूं अर्थात्

विवस्वान, अर्यमा, पूषा इत्यादि द्वादश आदित्योंको और (वसून्) धर, ध्रुव, सोम इत्यादि आठों वसुओंको और अज, एकपाद अहिर्बुध्न्य, इत्यादि एकादश रुद्रोंको तथा अश्विनी और कुमार दोनों भाइयोंको और ४६ वायुओंको देख। फिर इतनाही नहीं वरु [**बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत !**] हे भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन! उन बहुतेरे आश्चर्य्यमय रूपोंको भी जिनको इस लोकमें न तो तुमने और न किसी दूसरेने इससे पहले देखा तिन्हें भी तू देख।

अर्थात् हे भारत! तू भरतकुलमें शिरोमणि परमपुरुषार्थी मेरा भक्त है इस कारण मैं इन सब रूपोंको दिखलाता हूं तू आनन्दपूर्वक स्थिरचित्त होकर देख।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यहँ है, कि हे भारत! तू सचेत रह, देख कहीं घबडा न जाना। भयभीत होकर रथसे गिर न जाना और मारे भयके कहीं प्राण न छोडदेना। क्योंकि ये जो देवताओंके नाम तुझसे मैंने कहे हैं उन्हें तो तू मेरे एकरूपमें देखेगा, कि मेरी आँखोंके खुलनेसे ये बारहों आदित्य प्रकट होते हैं और मेरे पलकोंके संपुट लगनेसे ये बारहों नष्ट होजाते हैं फिर मेरे मुखके खुलनेसे जो वाष्प उत्पन्न होता है उससे अग्नि इत्यादि आठों वसु उत्पन्न होते हैं और मेरे अधरोंके सम्पुट लगजानेसे ये नष्ट होजाते हैं। इसी

टि०— द्वादश आदित्य तथा उनंचासों मरुतोंके नाम अ० १० श्लो० २१ में दियेहुए हैं देखलेना।

एकादश रुद्र तथा आठो वसुओंके नाम अ० १० श्लो० २४ में दिये हुए हैं देखलेना

प्रकार मेरी भौंहोंके उठने और गिरनेसे ग्यारहों रुद्र उत्पन्न होते हैं और नष्ट होजाया करते हैं फिर मेरे चिबुकसे अमृत टपकता है जिससे अनेक अश्विनीकुमारोंकी उत्पत्ति होरही है तत्पश्चात् तू मेरे श्वासोच्छ्वाससे उनचासों मरुतोंको उत्पन्न होतेहुए देखेगा। सो इन सबोंको तो तू मेरे रूपके किसी एक अंशमें देखेगा इनसे इतर जो मेरे अनेक प्रकारके अनगित आकार हैं उनमें न जाने तू कैसे २ आश्चर्य्योंको शान्त, शृंगार, वीभत्स, रौद्र इत्यादि नवों रसोंमें देखेगा सो मैं तुझे इसी कारण चेत करादेता हूं, कि तू इनको देखकर व्याकुल और भय-भीत न होजाना सचेत रहना तू वीर है, पराक्रमी है, साहसी है, दृढ है, शान्तचित्त है और परमचतुर है ॥ ६ ॥

अब भगवान् अर्जुनको यह सूचना करते हैं, कि तू मेरे रूपके अंशमें इतना ही नहीं देखेगा वरु सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचनाओंको देखेगा।

मू०— इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥

पदच्छेदः— [हे] गुडाकेश ! (जितनिद्र !) मम, इह (अस्मिन) देहे (शरीरे) एकस्थम् (एकस्मिन अवयवे नखाग्र-मात्रे वर्त्तमानम्) सचराचरम (चरन्ति ते चराः जंगमादयः न चरन्ति ते अचराः स्थावरादयः चराश्च अचराश्च चराचराः तैः चरा-चरैः सहितम्) कृत्स्नम (सम्पूर्णम्) जगत (त्रैलोक्यम्) च (तथा) यत्, अन्यत (जगदाश्रयभूतं कारणस्वरूपमतीतमनागतं विप्रकृष्टं व्यवहितं स्थूलसूक्ष्मं तथा जयपराजयादिकम) द्रष्टुम्, इच्छसि, अद्य (अधुनैव) पश्य (विलोकय) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (गुडाकेश !) हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! (मम) मेरे (इह) इस (देहे) शरीरके (एकस्थम) किसी एक स्थानमें स्थित (सचराचरम्) जंगम स्थावर भूतोंके सहित इस (कृत्स्नम) सम्पूर्ण (जगत) त्रिलोकीको तथा (यत्) जो कुछ (अन्यच्च) दूसरेभी जगतके कारण हों अथवा इस महाभारतयुद्धमें तू जीतेगा वा तेरे शत्रु जीतेंगे इन सब विषयोंको यदि (द्रष्टुम्) देखनेकी तू (इच्छसि) इच्छा करता है तो ले (अद्य) आजही अभी (पश्य) देखले ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब भगवान सम्पूर्ण जगतको अपने एक—एक रोममें दिखला देनेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**इहैकस्थं जगत्र कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्**] हे निद्राका जीतनेवाला अर्जुन ! तू एक-एक रोममें सम्पूर्ण संसारको चराचरके सहित एकठौरमें एक-साथ सिमटा हुआ आज अभी इसी समय देख। जैसे किसी सागरकी लहरमें सहस्रों बुदबुद बनते विनशते देखेजाते हैं जैसे कमलकी कर्णिकाके एक अंशमें परागके सहस्रों परमाणु उडते देख पडते हैं ऐसे तू मेरे शरीरके एक नखके अग्रभागमें अथवा मेरे एक-एक रोममें करोडों ब्रह्माण्डोंका उत्पन्न होना और विनाश होजाना देखले। फिर [**मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि**] मेरे इस शरीरमें तुझे जो कुछ अन्य वार्ताओंके भी देखनेकी इच्छा हो अर्थात इस जगतका मूलकारण, अहंकार, महत्तत्त्व प्रकृतिके तीनों गुणोंकी अभिव्यक्ति अथवा अन्य किसीसृष्टिकी विशेष अवस्था तथा उत्पत्ति प्रलय इत्यादि कैसे होतेरहते हैंदेखनेकी इच्छा हो तो मेरे प्यारे अर्जुन ! अभीदेखले

देखनेमें आलस्य मत कर ! देख ! मैं तुझे उन सृष्टियोंको भी दिखाता हूं जो कईबार होकर विनश गयीं। फिर उनको भी दिखलाता हूं जो आगे बनकर विनश जानेवाली हैं। फिर मैं तुझे उन वस्तुओंको भी दिखलाता हूं जो अत्यन्त विस्ताररूपसे फैली हुई हैं तथा उनको भी दिखलाता हूं जो एकबारगी एक ठौर सिमटकर अन्त होरही हैं। फिर हे अर्जुन! यदि तुझे महाभारत युद्धका वृत्तान्त देखना हो, कि तू जयको प्राप्त होगा अथवा भीष्म, द्रोण, दुर्योधन इत्यादि जय प्राप्त करेंगे तो उसे भी पूर्णरूपसे देखले ॥ ७ ॥

इतना कहकर भगवान् अन्तर्यामी जानगये, कि बिना दिव्यचक्षुओंके यह देखनेको समर्थ नहीं होगा अतएव उसे दिव्यचक्षु प्रदान करनेकी इच्छासे बोले—

मू०— न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— अनेन (प्राकृतेन) स्वचक्षुषा (चर्मावृतेन नयनेन) एव, तु, माम् (मम महेश्वरस्य स्वरूपम्) द्रष्टुम्, न, शक्यसे * (शक्नोषि । शक्तो न भविष्यसि) [अतः] ते, दिव्यम् (दिव्यरूपदर्शनक्षामममप्राकृतम्) चक्षुः (नयनम्) ददामि (यच्छामि) [तेनैव] मे, ऐश्वरम् (ईश्वरसम्बन्धिनम्) योगम्

* पदविकर्णव्यत्यये आर्षः— भौवादिकस्यापि शक्नोतेर्दैवादिकः श्यन् छान्दस इति वा दिवादौ पाठोवेत्येव साम्प्रदायिकम् ।

(विश्वाश्रयत्वलक्षणसामर्थ्यम् । अघटनघटनासामर्थ्यातिशयम्) पश्य (विलोकय) ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन ! तू (अनेन, स्वचक्षुषा) अपने इस प्राकृतिक चर्मचक्षुसे (एव, तु) निश्चय करके (माम्) मेरे दिव्यस्वरूपको (द्रष्टुम्) देखनेको (न, शक्यसे) समर्थ नहीं है अर्थात् इन नेत्रोंमें तू मुझे नहीं देखसकता इसलिये (ते) तेरे निमित्त (दिव्यम्) दिव्य (चक्षुः) नेत्रको (ददामि) देता हूं इस दिव्य नेत्रसे (मे) मेरे (ऐश्वरम्) परम ऐश्वर्ययुक्त (योगम्) संसारकी रचना करनेवाली अद्भुत योगकलाको (पश्य) देखले ॥८॥

भावार्थः— अर्जुन ! भगवान्से प्रथम ही कहचुका है, कि " मन्यसे यदि तच्छक्यं मयाद्रष्टुमिति प्रभो " हे प्रभो ! यदि तुम मुझको अपने रूपके देखने योग्य मानते हो तो मुझे अपना दिव्य रूप दिखलादो और ' प्रभो ' ऐसा सम्बोधन करके यह भी सूचित करचुका है, कि जो प्रभु अर्थात् स्वामी होता है वह अपने असमर्थ सेवकको भी समर्थ बनालेता है । इसी कारण भगवान् अर्जुनको चर्म-चक्षुओंसे देखनेके लिये समर्थ न जानकर कृपापूर्वक कहते हैं, कि हे मेरे परम प्रिय अर्जुन ! देख [**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा**] तू अपने इन स्वाभाविक मानुषी प्राकृत चर्मके नेत्रोंसे मुझे नहीं देखसकता यह निश्चय है । क्योंकि चर्मचक्षुओंसे केवल प्राकृत रचना देखीजाती है और जहांतक इन पंचभूतोंका विस्तार है उन्हींके देखने योग्य मैंने उतनी ही शक्ति चौरासी लक्ष

जीवोंके नेत्रोंमें प्रदान की है । कोई प्राणी इन चक्षुओंसे किसी दिव्य पदार्थको देखनेमें समर्थ नहीं होसकता परन्तु तू मेरा परम भक्त है इसलिये [दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्] आज मैं अपनी ओरसे तुझे वह दिव्य चक्षु प्रदान करता हूं जिसके द्वारा तू आज मेरी परम ऐश्वर्यमयी योगकलाकी अघटित घटना को देख।

प्रिय पाठकोंके हृदयमें यहां अवश्य यह जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी होगी, कि इन चर्मचक्षुओं और दिव्यचक्षुओंमें क्या अन्तर है ? इसलिये उनके कल्याणार्थ दोनों प्रकारकी चक्षुओंका भेद संक्षिप्तरीतिसे वर्णन कियाजाता है और कई प्रकारके दृष्टान्तोंसे समझाया जाता है ।

अब जानना चाहिये, कि जैसे जन्मान्ध अर्थात् जन्मसे ही चक्षुहीन और आंखवालोंमें जितना अन्तर है उतनाही वरु उससे भी कुछ अधिक चर्मचक्षु और दिव्यचक्षुमें अन्तर है । जो प्राणी जन्मसे अन्धा है उसे इस सृष्टिकी न कुछ रचना, न कुछ शोभा और न इस सृष्टिकी विचित्र वस्तुओंके देखनेका कुछ सुख ही उसे अनुभव होता है इसलिये सृष्टिमात्र के देखने के सुखसे वह वंचित रहता है । वह नहीं देख सकता, कि प्रातःकाल ऊषाके उदय होनेकी कैसी शोभा है फिर सूर्यदेव किस विचित्रताके साथ उदय होतेहुए तप्त स्वर्णके सदृश अपनी किरणोंको फैलातेहुए संसारियोंको अपने २ व्यवहारोंमें लगानेकी सहायता करते हैं । उनके निकलनेसे सरोवरोंमें कमल किस शोभासे खिलआते हैं ? आकाशमें सर्वत्र

उजियाली किस प्रकार छाजाती है ? चन्द्रदेव किस सजधजके साथ आकाशमें उदय होतेहुए प्रेमियोंके हृदयको गद्गद करते हैं ? शरदृतुकी पौर्णमासीकी रात्रिमें चन्द्रिकाचर्चितआकाश मंडल किस विचित्र शोभासे भरारहता है! और हरएक पौर्णमासीको समुद्र अपनी ऊंची २ लहरोंसे उमंगमें आताहुआ चन्द्रदेवसे मिलनेको कितनी छान तोडता है मानो प्रलय करदेग, वसन्तऋतुमें चैतकी चांदनीका कैसा आनन्द होता है ? वाटिकाओंमेंचित्तविचित्र, हरे, नीले, अरुण, श्वेत इत्यादि रंगोंसे रंगीहुई भगवत की विचित्र रचनाओंकी कलाओंको प्रकट करतीहुई किस शोभाके साथ मन्द-मन्द वायुके लगनेसे अनेक प्रकारकी कुसुमलतिकाएं दायें बायें लदीहुई मुसकाते हुए कुसुमोंसे झूमती रहती हैं ? कोयल, पिक इत्यादि पक्षी अपने हृदययन्त्रके तारोंको एक सुरमें मिलाकर किस मधुर स्वरसे रागनियोंको अलापते हुए पथिकोंके हृदयको अपनी ओर खींच रहे हैं ? जलसे भरेहुए श्यामघन किस प्रकार बिजलीकी तरज लरजसे युक्त होकर उमड घुमड रहे हैं जिनको देख सारंग (मयूर) कैसे आनन्दमें मग्न हो अपने चित्रविचित्र रंगोंसे रंगेहुए पत्तोंको उठा चारों ओर छत्रके सदृश बना नृत्य करते हैं ? गंगा, यमुना इत्यादि नदियां किस प्रकार अपनी उत्ताल तरंगोंसे लहरें लेतीहुई बहरही हैं ? अधिक कहांतक कहूं जन्मान्धको तो किसी स्वरूपवानकी परम मनोहर छविका भी कुछ बोध नहीं होता फिर जब उसे छवि और शृंगार ही का बोध नहीं है तो वह क्या जाने, कि प्रेम किस पशुका नाम है ? वह तो जन्मसे मरण पर्यन्त प्रेम हीन सर्वप्रकारके लौकिक आनन्दों से वंचित रहजाता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितना अन्तर इस संसारके सुखों के देखनेमें अन्धे और आंखवालोंमें है ठीक-ठीक ज्योंका त्यों इतना ही अन्तर भगवतशोभा देखनेमें चर्मचक्षु और दिव्यचक्षु वालोंको है। चर्मचक्षुसे ब्रह्मानन्दका स्वरूप वा सुख कुछ भी नहीं देखाजासकता और न अनुभव किया जासकता है। वह केवल दिव्यचक्षु ही है जिससे ब्रह्मसुखका बोध होता है । दिव्यचक्षुवालोंको प्रत्यक्ष होता है कि ब्रह्म क्या है ? आत्मा क्या है ? प्रकृति कैसी है ? मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार इत्यादिके स्वरूप कैसे हैं ? हृदयके आकाशमें शान्तिकी ऊषा किस शोभाके साथ उदय होती है फिर आत्मज्ञानका सूर्य किस प्रकार उदय होकर सहस्रों जन्मोंके पिछले सब वृत्तान्तोंको तथा भविष्यतको करतलगत करदेता है अर्थात दिव्यचक्षुवाला किस प्रकार त्रिकालदर्शी होजाता है ? फिर इस आत्मज्ञानके सूर्यकी किरणोंके छिटकनेसे अन्तःकरणके सरोवरमें वेद, वेदांग इत्यादि नाना प्रकारके कमल किस प्रकार आपसे आप प्रफुल्लित होजाते हैं । हृदयमें सर्वत्र उजियाली होजाती है । सब पारलौकिक वार्तायें दृष्टिगोचर होने लगजाती हैं । तो जैसे चर्मचक्षुवाले नाना प्रकारके व्योमयान इत्यादि वाहनोंपर चढकर दशों दिशाओंके नगरोंको देखआते हैं इसी प्रकार दिव्य दृष्टिवाला क्षणमात्रमें देवलोक, वृहस्पतिलोक, ब्रह्मलोक इत्यादि लोकोंकी हवा खा आता है । प्रेमके निर्मल पूर्ण चन्द्रकी शोभा उसे प्रत्यक्ष देखपडती है । तुरीयावस्थाकी वाटिकामें विवेक, विराग, योग, जप, तप इत्यादि पुष्पोंकी टहनियां बडी शोभासे झूमती दीखपडती हैं ? जिनपर धारणा, ध्यान, समाधिके पक्षी कैसे चहचहे माररहे हैं? परम

पुरुषार्थके घनघोर बादल षट्सम्पत्तियोंकी वर्षा कैसे करते हैं ? तथा अष्टसिद्धियां उसके सम्मुख किस प्रकार नृत्य करने लगती हैं ? ये सब बातें स्वच्छरूपसे देखनेमें आजाती हैं, पिंगला ईडाकी गंगा और यमुना लहरें लेतीहुई सुषुम्ना रूप सरस्वतीसे मिलकेर त्रिकुटीके प्रयागराजमें पहुंच अपनेमें स्नान करनेवालोंको किस प्रकार समाधिस्थ करदेती है ? अधिक कहांतक कहूं साक्षात श्यामसुन्दरकी परम मनोहर अलौकिक दिव्य मूर्त्ति परम श्रृंगारयुक्त प्रत्यक्ष दीखने लगजाती है और वह प्राणी उनसे मिल परम प्रेममय वार्ताओंको करने लगजाता है । जैसे ऐह लौकिक नेत्रवाले किसी लोहेके अथवा कपडेके कलघर (Mill) में जाकर प्रत्यक्ष देख लेते हैं, कि नाना प्रकारके यन्त्रों में किस प्रकार मनो लोहे एक मुहूर्तमात्रमें गलाये जाते हैं और उनके नाना प्रकारके कीलकांटे झट कैसे बनजाते हैं तथा सहस्रों मन रूई एक प्रहरमें धुनधुनाकर उनके सूत बनकर किसप्रकार कपडे बुनते चलजाते हैं । इसी प्रकार दिव्य दृष्टि वालोंको प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि यह सारी सृष्टि प्रकृतिके कलघरमें किस प्रकार पल मारते बनजाती है और उस महेश्वरकी माहेश्वरी माया किस प्रकार अपने रजोगुणी, सत्वगुणी तथा तमोगुणी अहंकारसे करोडों सृष्टिकी रचना, पालन और संहार करती रहती है देखो! यही दिव्यदृष्टि आज अर्जुनको भगवानने प्रदान की है जिससे वह उपर्युक्त सर्व वार्ताओंको अवलोकन करेगा ।

यदि कोई किसीसे यह कहे, कि इस दिव्यचक्षुका स्वरूप और सुख लिखकर वा कहकर मुझे जनादो तो ऐसा कदापि नहीं होसकता । यदि कोई

कल्पपर्य्यन्त इसका स्वरूप और सुख जनानेके लिये लिखता ही चलाजावे और बकता ही चलाजावे तो दूसरेको रंचकमात्रभी समझमें न आवेगा।

अभिप्राय यह है, कि पतिसे मिलीहुई कन्याओंको दाम्पत्यप्रेमका सुख उन कन्याओंको जिनको पतिकी प्राप्ति नहीं हुई है कदापि अनुभव नहीं होसकता।

इसी प्रकार जबतक भगवत्की उपासना चिरेकाल पर्य्यन्त न कीजावे तबतक दिव्यचक्षु नहीं मिलसकता। इसकी प्राप्ति निमित्त उपासनाकी नितान्त आवश्यकता है। इसी कारण भगवान्ने इस उपासनाके षट्कमें उपासनाकी ही शिक्षा अर्जुनको देते हुए इस उपासनाकाण्डमें इस दिव्यचक्षुका विषय छेडा है और अर्जुनको प्रदान किया है।

प्रिय पाठको! यदि दिव्यदृष्टि प्राप्त करना चाहते हो तो भगवत्की उपासनामें जी लगाओ क्योंकि संसारके प्रपंचोंमें रहते हुए इस चक्षुकी प्राप्ति असम्भव है।

शंका— आयु थोडी है शारीरिक व्यवहार, भोजन, शयन इत्यादिमें समय बहुत व्यय होता है ऐसी दशामें क्या हमलोगोंसे इतनी उपासना बनसकती है, कि दिव्यचक्षुके अधिकारी होसकें?

समाधान— ऐसा विचार कर निराश हो आलसी बन चुप मत बैठे रहो टिट्टिभ पक्षीका इतिहास अ० ६ श्लो० २३ में वर्णन करचुका हूं उसे देखलो! किसी दिन जो उस दयासागरको दया आजावेगी तो आप ही दिव्यचक्षु प्रदान करदेगा ॥ ८ ॥

जब भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु प्रदानकर अपना रूप प्रकट करदिया तब सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

सञ्जयउवाच—

मू०— एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— [हे] राजन् ! (धृतराष्ट्र !) महायोगेश्वरः (योगिनामीश्वरः योगेश्वरः महान् सर्वोत्कृष्टश्चासौ योगेश्वरश्चेति महा योगेश्वरः। अचिन्त्यः। घटनापटुः) हरिः (संसारदुःखं हरतीति) एवम् (यथोक्तप्रकारेण) उक्त्वा (दिव्यम ददामि ते चक्षुरित्यनुग्रह॰ वाक्यमुच्चार्य) ततः (दिव्यचक्षुः प्रदानानन्तरम्) पार्थाय (पृथा-पुत्राय। अर्जुनाय) परमम् (परमोत्कृष्टम्) ऐश्वरम (ईश्वरसम्बन्धि) रूपम (विश्वरूपम्) दर्शयामास (दर्शितवान्) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (राजन्) हे राजा धृतराष्ट्र ! सुनो ! (महायोगेश्वरः) योगियोंके ईश्वर जिनकी योगमायाकी कलाएं चिन्ता करने योग्य नहीं हैं ऐसे जो (हरिः) भक्तोंके दुःखोंके हरनेवाले श्रीकृष्णचन्द्र हैं उन्होंने (एवम) इस प्रकार (उक्त्वा) कहकर, कि हे अर्जुन ! तुझे मैं दिव्यचक्षु प्रदान करता हूं (ततः) पश्चात् शीघ्र ही (पार्थाय) पृथाकेपुत्र अर्जुनके लिये अपना (परमम) परम उत्कृष्ट (ऐश्वरम) ईश्वरता संयुक्त (रूपम) रूपको (दर्शयामास) दिखलादिया ॥९॥

भावार्थः- भगवान्ने दर्शनाभिलाषी अर्जुनको जब दिव्य-चक्षु प्रदान कर इधर महाभारतकी रणभूमिमें रथपर अपना विश्व-रूप दिखलाया तब ही सञ्जय जिसे व्यासदेवने दिव्यदृष्टि प्रदानकर धृतराष्ट्रको महाभारतका वृत्तान्त सुनाते रहनेकी आज्ञा प्रदान की थी

बोलउठा, कि [**एवमुक्त्वा ततो राजन् ! महायोगेश्वरो हरिः**] हे राजा धृतराष्ट्र! अर्जुनके प्रति इतना कहकर, कि मैं तुझे अपने अलौकिक रूपके देखने निमित्त दिव्यचक्षु प्रदान करता हूं सर्व प्रकार योगोंके जो ईश्वर हैं अर्थात् अघटित घटनाके साधनमें जो परम चतुर हैं अपनी योगमायासे सम्पूर्ण विश्वको निज आज्ञामें रखतेहुए बडे-बडे बुद्धिमानों तथा ब्रह्मा इत्यादि देवताओंको भी जो मोहमें डालनेवाले हैं ऐसे महायोगेश्वर हरिने [**दर्शयामास पार्थाय परमं रूप-मैश्वरम्**] पृथापुत्र अर्जुनकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये अपना परम उत्कृष्ट ईश्वरीय रूप दिखलादिया।

संजय महाभारतके अनेक वृत्तान्तोंको कहताहुआ धृतराष्ट्रको एक साधारण शब्द राजन् ! कहकर सम्बोधन करके जो भगवत्की आश्चर्य्यमयी लीला और महिमाका वर्णन सुनाने लगा है उसके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि हे धृतराष्ट्र! देखो प्रत्यक्ष विश्वम्भर अजय अर्जुनकी सहायताके लिये उसका रथवान् बनकर तैयार हैं इतना जानकर भी तुम सन्धि नहीं करते और अपने पुत्रोंको युद्ध करनेसे नहीं रोकते अतएव एक साधारण बुद्धिवाले राजा हो। क्योंकि जैसे एक साधारण राजा लोभग्रस्त होकर हानिलाभका विचार न करके अपनेसे प्रवल नरेशोंके साथ युद्धादि कर पीछे पछताता है ऐसे ही तुम भी लोभमें फंसकर जिसकी सहायता करनेवाले साक्षात् श्रीआनन्दकन्दने स्वयं रथपर घोडोंकी बागडोरोंको थाम रखा है ऐसे प्रतापी प्रवलशत्रुके साथ लडनेको तैयार हो तो इसका परिणाम पश्चात्तापके अतिरिक्त अन्य कुछभी हाथ नहीं आवेगा। अतएव

उचित है, कि सन्धि करलो । इतना संकेत करनेपर भी जब धृत-राष्ट्र ने हां वा ना कुछ नहीं कहा और न मस्तक ही हिलाया पाषाणकी मूर्तिके समान चुप सुनता रेहा तब ऐसा जानकर, कि चर्म-चक्षु और विचारचक्षु इन दोनों प्रकारके चक्षुओंसे अंधे राजाकी दशा लोभमें पडकर वैसी ही होगी जैसी कीर (सुआ) और मर्कट (वानर) की होती है । ये जीव अज्ञानतावश एक तुच्छ पदार्थोंको हाथमें पकडेहुए नहीं छोडते और बांधलियेजाते हैं ऐसे ही इस राजाकी भी दशा होरही है। ऐसा विचार फिर सोचने लगा, कि इसे कुछ भगवत्स्वरूपकी महिमा तो सुनादूं जिससे सम्भव है, कि कदाचित् इस जन्मान्ध लोभग्रस्त राजाकी बुद्धि कुछ पलट जावे ॥ ६ ॥

ऐसा विचार सञ्जयने भगवत्की महिमाका कहना आरम्भ किया—

मू०— अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

पदच्छेद— अनेकवक्त्रनयनम् (अनन्तानि मुखानि नेत्राणि यस्मिन् रूपे तत्) अनेकाद्भुतदर्शनम् (अपरिमितानि विस्मायकानि दर्शनानि यस्मिन् तत) दिव्यानेकोद्यतायुधम् (भक्तसंरक्षणार्थं दिव्यान्यलौकिकानि उद्यतानि बहूनि आयुधानि चक्रादीन्यस्त्राणि यस्मिन् तत) दिव्यमाल्याम्बरधरम् (दिव्यानि पुष्पमयानि माल्यानि तथा दिव्यानि वस्त्राणि ध्रियन्ते येन तत्) दिव्यगन्धानुलेपनम् (दिव्यचन्दनैः

अनुलेपनं यस्य) सर्वाश्चर्यमयम् (सर्वाश्चर्याणां प्राचुर्यं यस्मिन तत्) देवम् (द्योतनात्मकम्) अनन्तम् (अपरिच्छिन्नम्) विश्वतो- मुखम् (सर्वतो दृश्यमानं वा सर्वतो मुखानि यस्मिन् तत्) ॥

॥ १०, ११ ॥

पदार्थः— भगवान्ने कैसा रूप दिखालाया सो संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि (अनेकवक्त्रनयनम्) अनन्त मुख और नयन हैं जिसमें, (अनेकाद्भुतदर्शनम्) फिर नाना प्रकारकी विस्मयजनक वस्तु देखनेमें आती हैं जिसमें (अनेकदिव्याभरणम्) अंग–अंगमें दिव्य आभूषण सजेहुए देखपडते हैं जिसमें (दिव्याऽनेकोद्यतायुधम्) तथा जिसने अनेक प्रकारके दिव्य अस्त्रशस्त्रोंको उठारक्खा है (दिव्यमाल्याम्बरधरम्) फिर जिसने अनेक प्रकारकी दिव्य मालाओं और वस्त्रोंको धारण कररक्खा है (दिव्यगन्धाऽनुलेपनम्) और जिसके अंगोंमें दिव्य चन्दनका अनुलेपन कियाहुआ है एवम्प्रकार (सर्वाश्चर्यमयम) विविध आश्चर्योंसे युक्त (देवम्) देवस्वरूप (अनन्तम्) जिसका कहीं भी अन्त नहीं है और (विश्वतोमुखम्) सब ओर जिसके मुख हैं ऐसे आश्चर्यमय स्वरूपको अर्जुनके प्रति (दर्शयामास) दिखलाया ॥ १०, ११ ॥

भावार्थः— इन १० और ११ श्लोकोंके पदोंको नवें श्लोक के पद " दर्शयामास पार्थाय " के साथ अन्वय करना चाहिये अर्थात् संजय राजा धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! भगवान् ने अर्जुनके लिये कैसा रूप दिखलाया सो तुमसे कहता हूं एकाग्र

चित्त हो सुनो ! सञ्जयके चित्तमें यह वार्ता आसमायी है, कि जब राजा धृतराष्ट्र भगवानकी अद्भुत महिमा सुनेगा तो कदाचित् इसकी बुद्धि जो लोभग्रस्त है कुछ सात्विक होजावे तथा कुछ भयभीत होकरे अपने पुत्रोंको तथा भीष्म और द्रोणको बुलाकर सन्धि करलेनेका विचार करे । इसी कारण भगवान्के अलौकिक रूपका वर्णन करता हुआ कहने लगा, कि हे राजा धृतराष्ट्र ! उस सर्वशक्तिमान् पर-ब्रह्म जगदीश्वरने अर्जुनको कैसा अद्भुत रूप दिखलाया सो श्रवण करो ! [**अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्**] भगवान्ने अपने अद्भुत विश्वरूपमें अनेकानेक अनगिनत मुख और नयन तथा अनेक विस्मय-जनक दृश्य (तमाशे) दिखलाये अर्थात् जैसे किसी वाटिकामें पाटल [गुलाव] पुष्पकी पंक्तियोंकी टट्टी लगी हो अथवा किसी विशाल सरमें सहस्रों लावण्ययुक्त कमलोंकी पंक्तियां खिलरही हों ऐसे मुख और नयनोंकी सहस्रों पंक्तियां भग-वानने दिखलायीं सो कैसी सुन्दर हैं, कि जिनसे लावण्यरसकी बूँदें टपक-टपक कर एकत्र हो सरिताओंकी धार बनकर शृंगारके समुद्रमें जामिलती हैं । असंख्य नेत्रोंकी शोभा मानो करोडों सूर्योंके तेजोंको लज्जित कररही है और ऐसी शोभा देरही है मानो अनन्त कोटि सूर्योंकी पंक्तियोंके मध्य असंख्य चन्द्र आबैठे हों और तिन चन्द्रोंके बीचोंबीच राहुओंने एक ठौर सिमट कर स्थान पकडा हो तिनके ऊपर भौंहें कैसी शोभा देरही हैं मानो कामदेवने अपने अपरिमित कमानोंकी हाट बनाकर एक पंक्तिमें सज दी हों ।

अब संजय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि हे राजन् ! इतना ही मत समझो, कि भगवान्‌ने अर्जुनको केवल शृंगाररसमें अपने बहुतेरे मुख और नयन दिखलादिये । नहीं ! नहीं ! भगवान्‌ने तो ऐसे-ऐसे मुख और नयनोंको रौद्र वीभत्स इत्यादि नवों रसोंमें अनगिनत रूपसे दिखलाना आरम्भ करदिया ।

अब अर्जुन जो शूरतामें इन्द्रके समान, स्थिरतामें हिमालयके समान और सहनशीलतामें पृथ्वीके समान था एकबारगी घबडा उठा क्योंकि एकाएक भयानक रससे भरेहुए अनेक मुख और नेत्र देखपडे । वे कैसे भयंकर हैं, कि जिनको देख कालका भी कलेजा स्थिर नहीं रहता, जिनको देख ब्रह्मादि देवभी आंखें मूँद२ कर पलायमान होरहे हैं, और जिनकी अनगिनत लम्बी-लम्बी लाल-लाल जिह्वाएं कई सहस्र हाथ नीचे लटकी हुई ऐसी भयंकर देख पडती हैं, मानो ! कालाग्नि अपनी सप्तजिह्वाओंको कई सहस्र बनाकर सम्पूर्ण विश्वको निगलजानेके लिये तयार है । फिर संजय कहता है, कि इतना दिखलाकर भगवान्‌ने " अनेकाद्भुतदर्शनम् " अपने अन्य अंगोंमें अनेक अद्भुत दृश्य दिखलाये जिन्हें देख अर्जुन विस्मयसागरकी लहरोंमें ऊब-डूब होने लगगया । न तो अब वह रथ हांकनेवाले श्यामसुन्दरको कहीं देखता है, न उसे कहीं कुरुक्षेत्रकी रणभूमि ही दीखपडती है, न वह अपने पिछले स्वरूपको देखता है और न अपनी सेनाओंको देखता है । अबतो वह केवल बोधमात्र बनाहुआ अपनी दिव्यदृष्टिसे सहस्रों सूर्य और चन्द्रोंको * त्रसरेणुओंके समान दशों दिशाओंमें इधर—उधर उडतेहुए देखरहा

* जालान्तर्गते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः । प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुः प्रचक्षते ॥ (मनु० अ० ८ श्लोक १३१)

है । जैसे एक क्षुद्र मत्स्य किसी बडे अथाह सागरमें तैरताहुआ जिधर देखता है उधर केवल जल ही जल देखता है इसी प्रकार अर्जुन अद्भुतरसके समुद्रमें अपनेको मग्न देखरहा है जैसे दीपक सूर्य की ज्योतिके सम्मुख मलिन होजावे ऐसे करोडों सूर्योंकी ज्योति इस अद्भुत प्रकाशके सम्मुख उसे मलिन दीखपडती हैं । एवम्प्रकार अद्भुत रचनाओंको देखताहुआ अर्जुन विचारने लगा, कि जिस आनन्दकन्दके मुख और नयनोंको मैं अभी देखरहा था, कि मानो छवियोंकी हाटसी लगीहुयी थी वे किधर गये और उनके अन्य अंग किधर हैं ऐसा विचार करते ही उसकी दृष्टिमें फिर भगवतकी वही लावण्यता दीखनेलगी और मुखोंके साथ अन्य अंग कैसे देखपडे, कि [अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्] अनेक अलौकिक आभूषणोंसे विभूषित तथा अत्यन्त प्रकाशमान अनेक अस्त्रोंको उठायेहुए हैं। अभिप्राय यह है, कि चारों प्रकारके दिव्य आभरण भगवानके अंग२में सुशोभितहैं। अर्थात् जो आपके असंख्य कर्ण देखपडते हैं उन प्रत्येक कर्णोंमें सहस्रों रवि की प्रभाको लज्जित करनेवाले दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं नासिकामें नासामणि लटकतेहुए जो अरुण अधरोंपर आगिरते हैं तो ऐसा

१. आवेध्यम्—जो अंगोंको बेधकर पहनायाजावे । जैसे कुंडल, नासामणि, इत्यादि । २. बन्धनीयम्— जो अंगोंमें बांधकर पहनायाजावे । जैसे, कंकण, कटकांगद (बाजू) इत्यादि । ३. क्षेप्यम्— जो अंगोंमें खैंचकर डालदियेजावें, जैसे नूपुर मुद्रिका इत्यादि । ४. आरोप्यम्– जो अंगोंमें विना बेधे वा बांधे आरोपण करदिये जावें, जैसे मणियोंकी माला इत्यादि।

बोध होता है मानों सहस्रों भृंग बिंबाफलके ऊपर अपना बसेरा लेनेका विचार कररहे हैं। पर यहां ऐसा विचार होता है, कि इन भृंगोंने अपना हृदय छिदवाडाला है इस कारण भगवानके अधरों तक आपहुंचे हैं और सर्वसाधारणको यह उपदेश कररहे हैं कि जो प्राणी इसी प्रकार भगवतके निमित्त अपना कलेजा छिदवाडालेगा वह भगवानके अंगोंके स्पर्शका आनन्द अनुभव करेगा। इसी प्रकार अंगुलियोंमें रत्न जटित मुद्रिकाएं, कलाइयोंमें मणिकांचनमय कंकण तथा भुजाओंमें कटकांगदों (बाजूबन्दों) की शोभा अर्जुनके चित्तको हरलेती है। अधिक क्या कहूं इन आभूषणोंसे जो विश्वरूप भगवान्की भुजाएं सुशोभित होरही हैं उनमें और क्या विशेषता देखपडती है, कि "दिव्यानेकोद्यतायुधम" उनसे अनेक प्रकारके अस्त्र उठाये गये हैं अर्थात् भक्तोंकी रक्षा निमित्त चक्र, गदा, त्रिशूल, खड्ग, शतघ्नी, मुसल, परिघ धनुर्बाण इत्यादिको धारण कियेहुए हैं वेद भी जिनकी स्तुति यों करता है, कि—

"ॐ नम इषुमद्भ्यो धन्वायि-भ्यश्चवो नमः" (शु० यजुर्वेद रुद्राध्याय मं० २२ में देखो)

अर्थ— भक्तोंकी रक्षानिमित्त हस्तकमलोंमें बाण और धनुष धारण करनेवालेके लिये नमस्कार है। फिर अर्जुन क्या देखता है, कि [दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्] भगवान् अलौकिक माला और वस्त्रोंको धारण कियेहुए हैं जिनपर अनेक प्रकारके परिमलपूर्ण चन्दन अनुलेपन किये हुए हैं अर्थात् उनके गलेमें जो दिव्यमालाओंकी श्रेणियां लटकरही हैं उनको ऐसी नहीं समझना चाहिये जैसी, कि इस संसारमें मणि, माणिक इत्यादिको गूँथकर माला बनालेते हैं

वरु ये मालाएं तो दिव्य हैं । ऐसा बोध होता है मानो ध्रुव, सप्तर्षि तथा अन्य नक्षत्रोंने अपना हृदय छिदवाकर एकठौर सिमट मालाकार बन चन्द्र-देवको सुमेरु बना भगवत्के गलेमें आलटके हैं। फिर भगवान् दिव्य वस्त्र अर्थात् दिव्य पीताम्बरको धारण किये हुए हैं सो पीताम्बर ऐसा मत समझो जैसा, कि इस संसारमें रेशमी कीड़से रेशम निकालकर काशीके वा हस्तिनापुरके कलघरमें बुना लेतेहैं वरु भगवानने जो अपने विश्व-रूपमें पीताम्बर धारण किया है वह सहस्रों सूर्यरूप रेशमीकीटोंसे उनकी रश्मियोंका रेशम निकाल स्वर्गलोकके कलघरमें विश्वकर्माने मानो स्वयं अपने हाथोंसे बुनकर भगवत्के अंगोंमें पहना दिया है। ऐसी दिव्य माला और दिव्य अम्बरोंको धारण किये हुए विश्वरूपभगवान्को अर्जुनने देखा। फिर वे अंग कैसे हैं? " **दिव्यगन्धानुलेपनम्** " जिनमें सुगन्धमय सुरसित चन्दन घिसकर अनुलेपन करदियागया है। अर्थात् साक्षात् उस परमशक्तिने मानो अपने हाथोंसे सहस्रों दिव्य मलयगिरियोंको पीसकर अंगोंमें लेपन करदिया है । सो देखकर कैसी शोभा होती है जैसे सम्पूर्ण हिमाचल शृंगसे जड़तक हिमसे लिपटाहुआ हो अथवा सहस्रों शरदृतुकी पौर्णमासीकी चांदनी एकत्र सिमटकर भगवत्के अंगोंमें लिपटगयी हों जिसकी सुगन्धि ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त फैलतीहुई चौदहों भुवनोंको सौरभमय कररही है। एवम्प्रकार [**सर्वाश्चर्य्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्**] सर्वथा चकित करनेवाले अद्भुत रचनाओंसे रचित अन्तरहित दिव्य विश्वतो-मुख रूपको देखा। अर्थात् इस प्रकार विश्वरूपको दशों दिशाओंमें अवलोकन किया, कि दृष्टिको तिलमात्र भी कोई जगह दिव्यमूर्तियोंसे

वंचित नहीं मिली। क्योंकि जिधर अर्जुन देखता है उधर ही उसे आश्चर्य-मय महाभयंकर स्वरूप देखपड़ते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दायें, बायें, ऊपर, नीचे तथा चारों कोण जिधरही अर्जुनकी दृष्टि जाती है उधर ही अन्तरेहित भगवान्‌को ही देखता है कहीं किसी ओर चित्त विश्वरूपसे शून्य नहीं देखता । जैसी श्रुति भगवत्‌स्वरूपकी व्याख्या करती है ।

प्रमाण श्रु०— " ॐ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदम्वरिष्ठम् "

अर्थ—यह ब्रह्म जो अमृतस्वरूप ही है वह आगे है, पीछे है, दक्षिण है, उत्तर है, नीचे है और ऊपर है। यही एक ब्रह्म सर्वत्र जिधर देखो उधर फैला हुआ है। यह ब्रह्म विश्वरूप है अर्थात् यह सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड़को सब ओरसे घेरेहुआ है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुनने मानों ठीक २ इसी श्रुतिका अर्थ भगवत्‌के साकाररूपमें दशों दिशाओंकी ओर देखा और ऐसा देख आश्चर्य्यसे हक्का बक्कासा होरहा अर्थात भगवान्‌ने जब उसे दिव्यचक्षु प्रदानकर अपना स्वरूप दिखाना आरम्भ किया तभीसें वह आश्चर्यसागरमें निमग्न होने लगा ॥ १०, ११ ॥

अब आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने जो अपना अलौकिक स्वरूप अर्जुनके प्रति दिखलाया है तिसकी निर्मल प्रभाका वर्णन करताहुआ सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

मू०— दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— दिवि (अन्तरिक्षे) सूर्य्यसहस्रस्य (असंख्यसूर्यसमूहस्य) भा (दीप्तिः) यदि, युगपत् (एकसमयावच्छेदेन) उत्थिता (उत्पन्ना उदिता वा) भवेत्, सा (दीप्तिः) तस्य, महात्मनः (विश्वरूपस्य) भासः (प्रकाशस्य) सदृशी (तुल्या) स्यात् (भवेत) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (दिवि) आकाशमें (सूर्य्यसहस्रस्य) अनगिनत सूर्य्योंकी (भा) दीप्ति अर्थात् ज्योति (यदि युगपत्) यदि एकही समय (उत्थिता भवेत्) उदय होजावे तो (सा) सो एककालमें उदय हुई ज्योति (तस्य महात्मनः) तिस विश्वरूपके (भासः) प्रकाशके (सदृशी) समान (स्यात) होवे तो होवे [इसमें भी सन्देह नही है] अर्थात् विश्वरूपके अंगोंकी प्रभाकी बरोबरी असंख्य सूर्य्योंके प्रकाशका समूह भी नहीं करसकता ॥ १२ ॥

भावार्थः— प्रत्येक अंगकी शोभा विलग २ कहकर अब सम्पूर्ण अंगोंकी प्रभाका वर्णन करताहुआ सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [दिवि सूर्य्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता] यदि एकही समय एकही बारे असंख्य सूर्य्योंकी प्रचण्डदीप्ति अर्थात् प्रदीप्त तेजोंका समूह आकाशमें उदय होजावे तात्पर्य्य यह है, कि असंख्य सूर्य यदि एकसाथ मिलकर आकाशको इस प्रकार आच्छादन करलेवें जैसे अनन्त तारकचय

असंख्यरूपसे विस्तृत गगनकी छातीपर पडे हैं तब कहीं [यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन:] एकसाथ मिलीहुई वह ज्योति तिस महायोगेश्वर विश्वरूपके परमप्रकाशके तुल्य होवे तो होवे । अर्थात् तब भी उस महापुरुषके प्रकाशके तुल्य होनेमें शंका है । जिस भगवान्की ' भा ' प्रकाश और दीप्तिके विषय सञ्जयने सहस्रों सूर्य्योंके तेजसमूहकी उपमा देकर धृतराष्ट्रसे कहा है उसी प्रभाके विषय श्रुति भी यों कहती है– " ॐ न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकन्नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः "

(कठो० अ० २ व० २ मं० १५ में देखो)

अर्थ— जिस भगवानकी दीप्तिके सम्मुख जाकर यह सूर्य मलिन होजाता है, चन्द्र और तारागण प्रकाशहीन होजाते हैं तहां इस बेचारी आगकी क्या गणना है ॥ १२ ॥

लो और सुनो—

मू०— तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

पदच्छेद:— तदा (तस्मिन् समये) पाण्डवः (पाण्डोः अपत्यमर्जुनः) तत्र (तस्मिन्) देवदेवस्य (द्योतनस्वभावानां देवस्य श्रीकृष्णस्य) शरीरे (लीलाविग्रहे विश्वरूपे) एकस्थम् (एकस्मिन् स्थितम्) अनेकधा (देवपितृमनुष्यादिभेदैरनेकप्रकारेण) प्रविभक्तम् (भेदेनावस्थितम् । विभागयुक्तम्) कृत्स्नम (सम्पूर्णम) जगत (सचराचरं ब्रह्माण्डम्) अपश्यत् (दृष्टवान) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (तदा) तिस समय (पाण्डवः) अर्जुनने (देवदेवस्य) सब देवोंके देव श्रीकृष्णके (तत्र शरीरे) तिस विश्वरूप शरीरमें (एकस्थम्) एकस्थानमें स्थित (अनेकधा) अनेक प्रकारकी भिन्न २ रचनाओंसे (प्रविभक्तम्) विभागकियेहुए (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (जगत्) ब्रह्माण्डको (अपश्यत्) देखा ॥ १३ ॥

भावार्थः— भगवानके अनुपम विश्वरूपमें अर्जुनने क्या अद्भुत चमत्कार देखा ? सो सञ्जय राजा धृतराष्ट्रसे यों कहता है, कि [तत्रैकस्थं जगत् कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा] सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अनेक प्रकारकी भिन्न २ रचनाओंमें विभाग कियाहुआ एक किसी ठौरमें स्थित देखा । अभिप्राय यह है, कि भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकादि ऊपरके सातों लोकोंके तथा अतल, वितल इत्यादि नीचेके सातों लोकोंके अन्तर्गत मनुष्य, देवता, पितर, गन्धर्व इत्यादिके स्वरूपोंको फिर अनेक प्रकारके जम्बु, क्रौंच इत्यादि द्वीपोंको, सुमेरु, हिमालय, नीलगिरि इत्यादि पर्वतोंको, क्षारसागर, क्षीरसागर, इत्यादि सागरोंको, नन्दनवन, वृन्दावन इत्यादि बनोंको और सूर्य, चन्द्र इत्यादि ग्रहोंको अनेक प्रकारसे भिन्न भिन्न विभागोंमें बटेहुए एकठौर स्थित देखा । किसने कब और कहां देखा ? सो सञ्जय कहता है, कि [अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा] अर्जुनने सब देवोंके देव जो साक्षात् सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके विश्वरूप शरीरमें उसी क्षण अर्थात् दिव्यचक्षु पानेके अनन्तर ही शीघ्र देखा । जैसे आंवलेके वृक्षमें आंवलेके गुच्छे लटक

रहे हों अथवा उदुम्बरों (गुल्लरों) के गुच्छोंसे जैसे उदम्बरवृक्ष शोभायमान होरहा हो अथवा किसी महासागरमें बुदबुदोंकी पंक्तियां तैररही हों ऐसे कई ब्रह्माण्डोंको भगवत्के रोम-रोममें लटकते देखा ॥ १३ ॥

अब ऐसे विश्वरूपका दर्शन पातेही अर्जुनने क्या किया ?

सो सञ्जय कहता है—

मू०— ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— ततः (विश्वरूपदर्शनानन्तरम्) विस्मयाविष्टः (अदृष्टपूर्वालौकिकदर्शनप्रभवेनात्यन्ताश्चर्य्येण व्याप्तः) हृष्टरोमा (पुलकितानि रोमाणि यस्य सः रोमाञ्चितगात्रः) सः, धनञ्जयः (राजसूयमिषेण दिग्विजये सर्वेभ्यः राजेभ्यः धनञ्जयति यः सोऽर्जुनः) देवम् (द्योतनात्मकम् । श्रीकृष्णस्य विश्वरूपम्) शिरसा (मस्तकेन) प्रणम्य (अभिवन्द्य) कृताञ्जलिः (सम्पुटीकृतहस्तो भूत्वा) अभाषत (उक्तवान्) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (ततः) विश्वरूपका दर्शन पाकर (विस्मयाविष्टः) आश्चर्यसे भराहुआ तथा (हृष्टरोमा) रोमांचितगात्र होकर (सः धनञ्जयः) सो अर्जुन (देवम्) भगवानको (शिरसा) मस्तकसे (प्रणम्य) चरणोंमें गिरकर (कृताञ्जलिः) हाथोंको जोडेहुए (अभाषत) बोला ॥ १४ ॥

भावार्थः— सञ्जय कहता है, कि हे राजा धृतराष्ट्र! [**ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः**] जैसे ही धनञ्जय अर्थात्

वीर अर्जुनने भगवान्के विश्वरूपका दर्शन पाया वैसे ही उसी क्षण आश्च-र्यसे भरगया अर्थात् आश्चर्यने उसको एकबारगी काठका पुतलासा बना-दिया। सब अंगशिथिल होगये न तो अब वह कुछ देखता है, न सुनता है और न विचारसकता है। उसके कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरणने उसके पांचभौतिकशरीरको एकबारगी त्यागदिया। जैसे इन्द्रजालके मन्त्रसे बहताहुआ पानी एकठौर जमजाता है ऐसे उसकी सब इन्द्रियां अन्तः-करणके साथ मिल एकीभूत होगयीं। जैसे योगी समाधिस्थ होकर बैठजाता है तो शरीरकी सुधि कुछ भी नहीं रहती ऐसे अर्जुन समा-धिस्थसा होगया है अब तो उसे कहीं कुछ सूझता ही नहीं है एकटक-लगाये चुप खडा है । पर जैसे महा अन्धकारमयी यामिनीमें मार्ग भूलेहुए पथिकको प्रातःकाल ही सूर्यकी सहायता मिलनेसे चारों ओर उजियाली होजाती है और मार्ग दीखने लगजाता है इसी प्रकार अर्जुनको इस आश्चर्य्यमयी रात्रिमें उसके दिव्यचक्षुने सूर्यके सदृश जब सहायता की तो फिर उसे कुछ चेत हुआ और चेत होते ही शरीर रोमावलियोंसे पुलकायमान होगया। जैसे वर्षाकालमें पृथ्वीपर तृणके अंकुर सर्वत्र उगआते हैं ऐसे सारे शरीरपर रोंगटे खडे होगये। फिर तो उस समय उसे दूसरी कोई बात न सूझी केवल नम्रताने उसे श्रीकृ-ष्णके चरणोंपर गिरनेकी आज्ञा दी। जैसे यमुनातटके वृक्षकी डालियां नवपल्लवोंसे जब झुकजाती हैं और झुककर यमुनाजलको स्पर्शकरती हैं इसी प्रकार अर्जुन भगवत्स्वरूपको देखतेही आठों प्रकारके × सात्विक-

× १. रोमांच, २. अश्रुपात, ३. कम्प, ४. स्तम्भ, ५. प्रलय, ६. स्वेद, ७. मुखविवर्ण और ८. स्वरभंग।

भावोंके फलोंसे लदकर [प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत] श्रीकृष्णके चरणकमलोंपर मस्तक झुका बद्धांजलि होकर नम्रभावसे यों बोला ॥ १४ ॥

अर्जुन उवाच ।

मू॰— पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे,
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— [हे] देव ! तव, देहे (विश्वरूपे शरीरे) सर्वान्, देवान (इन्द्रादीन्) तथा, भूतविशेषसंघान् (चतुर्विधा जरायुजादयस्तेषां समूहान्) कमलासनस्थम् (भगवन्नाभिकमलासनस्थम्) ईशम् (प्रजानामीशितारम्) ब्रह्माणम (चतुर्मुखम) सर्वान्, ऋषीन् (वशिष्ठादीन) च (तथा) दिव्यान (दिविभवान) उरगान् (उरसा वक्षसा गच्छन्ति ये तान् । वासुकिप्रभृतीन) च, पश्यामि (उपलभे । चाक्षुषज्ञानविषयीकरोमिति वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (देव !) हे देव ! (तव देहे) तुम्हारे शरीरमें (सर्वान देवान) इन्द्रादि सब देवताओं (तथा) और (भूतविशेषसंघान) अण्डज, पिण्डज इत्यादि चारों प्रकारके भूतोंके समूहोंको अथवा आकाश, वायु इत्यादि पांचों भूतोंको फिर (कम-

लासनस्थम) भगवत्की नाभिसे निकलेहुए कमलपर आसन लगाये हुए (ईशम) सम्पूर्ण विश्वके उत्पन्न करनेमें समर्थ अतएव सबके ईश (ब्रह्माणम्) चार मुखवाले ब्रह्माको और (सर्वान् ऋषीन्) वशिष्ठादि सब ऋषियोंको (च) भी फिर (दिव्यान्) परम दिव्य (उरगान्) नाग, वासुकि इत्यादि सर्पोंको (च) भी (पश्यामि) देखता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन अपने दिव्यचक्षुसे जो कुछ देखरहा है उसका वर्णन करताहुआ भगवान्की स्तुति करता २ यह कहता है, कि [पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्] हे देव ! तुम्हारे शरीरमें मैं इन्द्रादि सब देवोंको देखरहा हूं और जितने भूतविशेष हैं उनके समूहोंको भी देखरहा हूं । अर्थात् जितने देव हैं उन सबोंको मैं तुम्हारे एकएक रोममें लटकाहुआ देखता हूं ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि अर्जुनने वसु, रुद्र, आदित्य इत्यादि को असंख्य रूपमें देखा । पहले जो कह आये हैं, कि विश्वरूपके एक २ रोममें करोडों ब्रह्माण्डोंको इस प्रकार लटका देखा जैसे उदुंबरके

टि०—प्रमाण श्रुतिः "ॐ यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति" (वृह० अ० १ ब्रा० ४ श्रु० १२)

अर्थ— देवगणोंकी कितनी जातियां हैं उन्हें गणभेदसे कथन करता हूं— ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १० विश्वदेव और ४९ मरुत । जो पहले भी दिखलादिये गये हैं ।

वृक्षमें असंख्य उदुम्बरोंके गुच्छ लटके हुए रहते हैं। सो उन्हीं असंख्य ब्रह्माण्डोंमें भिन्न २ देवताओंको अर्जुनने देखा।

अब अर्जुन आश्चर्य्यमें मग्न हो कहता है, कि हे देव! आपके रूपमें मैं सब देवोंको ही नहीं वरु " सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् " जितने भूतविशेष हैं उन सबोंको भी मैं देखता हूं अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, स्थावर इन चारों प्रकारके प्राणियोंके समूहोंको तुम्हारे ही स्वरूपसे उत्पन्न होहो कर तुम्हीमें लय होते देख रहा हूं।

अब अर्जुन कहता है, कि हे महाप्रभो! इतना ही नहीं वरु [ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्] संपूर्ण जीवोंके ईश ब्रह्माको पद्मासन लगाये हुए और वशिष्ठ आदि ऋषियोंको तथा वासुकी इत्यादि रूपोंको तुममें देख रहा हूं।

किसी-किसी टीकाकारेने " ब्रह्माणमीशम् " वाक्यका यों अर्थ किया है, कि ब्रह्मा और शिव दोनोंको आपमें देखता हूं। दोनों अर्थोंमें किसी प्रकारकी हानि नहीं है क्योंकि उस ब्रह्मस्वरूपसे कोटानकोटि ब्रह्मांड क्षणभरमें उपजते और विनशते देखपडते हैं और उस प्रत्येक ब्रह्मांडमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश देखेजाते हैं जो उसकी रचना, पालन और संहार में तत्पर हैं। अर्थात जितने ब्रह्माण्ड हैं उतने ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश देख पडते हैं इसी कारण दोनों अर्थोंका यहां समावेश होसकता है।

फिर अर्जुन क्या कहता है, कि " ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् " मैं वशिष्ठ, कश्यप, अंगिरा इत्यादि सब ऋषियोंको तथा

वासुकि इत्यादि दिव्य सर्पोंको शेषनागके सहित हे भगवन् ! तुम्हारे अंगमें देखता हूं । जैसे केदार पर्वतके ऊपर सहस्रों जलके झरने लटके देख पडते हैं ऐसे मैं तुम्हारे अंगोंमें लटके हुए सर्पोंको देखता हूं पर ये जितनी रचनाओंको मैं देखरहा हूं सब दिव्य अर्थात् अलौकिक और अद्भुत हैं लौकिक एक भी नहीं है ॥ १५ ॥

अर्जुन भगवान्के जिस विश्वरूपमें नाना प्रकारकी अद्भुत रचनाओंको देखरहा है उस रूपकी अनेक विशेषणोंसे स्तुति करता हुआ कहता है—

मू०— अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्,
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्,
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— [हे] विश्वेश्वर ! (विश्वस्य ईश ! विश्वात्मन् !) विश्वरूप ! (विश्वमूर्ते !) अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम (अपरिमितानि वाहूदरवक्त्रनेत्राणि यस्मिन् तम) सर्वतः (चतुर्दिक्षूपर्यधश्च) अनन्तरूपम् (अपरिच्छिन्नं रूपं यस्य तम्) त्वाम्, पश्यामि, पुनः, तव, अन्तम (अवसानम) न, मध्यम (उत्पत्त्यन्तयोः अवस्थानम) न, आदिम् (उत्पत्तिम) न, पश्यामि ॥ १६ ॥

पदार्थः— अर्जुन कहता है, कि (विश्वेश्वर !) हे सम्पूर्ण जगतके स्वामी ! तथा (विश्वरूप) हे विश्वमूर्ति ! विराट्स्वरूप !

मैं (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्) अनगिनत भुजा, उदर, मुख और नेत्रवाले तुमको तथा (सर्वतः) सब ओर सब दिशाओंमें (अनन्तरूपं त्वाम्) तुम अनन्तस्वरूपको (पश्यामि) देखता हूं (पुनः) फिर ऐसा भी देखता हूं, कि (तव) तुम्हारा (अन्तम्, न) अन्त कहीं नहीं है और (मध्यम्, न) मध्य भी नहीं है तथा (आदिम्, न) आदि भी कहीं नहीं है अर्थात् न तो तुम कभी उत्पन्न होते हो और न नाश होगे तुमतो जन्ममरणसे रहित हो ॥ १६ ॥

भावार्थः-- अब अर्जुन अनेक प्रकारसे भगवानके विराट्स्वरूपकी स्तुति करताहुआ कहता है, कि [**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्**] हे विश्वेश्वर ! मैं अनगिनत भुजाओंको, अनेक उदरोंको असंख्य मुखोंको, और सहस्रों नेत्रोंको सर्वत्र तुम्हारे अनन्तस्वरूपमें देखता हूं अर्थात् वेदने जिस प्रकार तुमको " **ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्** " कहकर स्तुति की है सो मैं ठीक २ वैसा ही देखता हूं । तात्पर्य्य यह है, कि ८४ लक्ष योनियोंके तथा तेतीस कोटि देव और ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि अनेक देवोंके मुखोंको और इनसे इतर अन्य भी कई प्रकारके अद्भुत मुखोंको जिनको किसीने कभी न देखा और न सुना तिनको मैं आज तुम्हारे अनन्तरूपमें देखरहा हूं । ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्ड अ० ३ में लिखा है, कि " प्रत्येकं लोमकूपेषु विश्वानि निखिलानि च । तस्यापि तेषां संख्या च कृष्णो वक्तुं न हि क्षमः । संख्याचेद्रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन । ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते । प्रतिविश्वेषु सन्त्येव ब्रह्माविष्णु-

शिवादयः " (अर्थ स्पष्ट है) फिर ' सर्वतः ' सब ओरसे तुमहीको देखता हूं अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, नैऋत्य इत्यादि दशोंदिशा विदिशाओंमें जिधर मेरी दृष्टि मुडती है उधर ही तुम्हारे स्वरूपको देखता हूं। हे भगवन ! इस समय तो आकाश और पाताल एक होरहे हैं । अर्थात् ऊपरको जब दृष्टि करता हूं तो जहां तक दृष्टि दौडाता चला जाऊं तुम्हारे ही स्वरूपको देखता चलाजाता हूं फिर नीचेको जहांतक दृष्टि जाती है वहांतक तुम ही तुम देखेजाते हो न तो ऊपर ही कहीं अन्त मिलता है और न नीचे ही कहीं थाह मिलती है । इसी कारण अब मुझको पूर्ण-रीतिसे विश्वास और निश्चय होगया, कि तुम्हारे निज मुखारविन्दसे निसरे हुए वचन ज्योंके त्यों सत्य हैं, कि तुम विश्वतोमुख हो विश्वरूप हो और अनन्त हो फिर [**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप !**] हे विश्वेश्वर सम्पूर्णजगतके स्वामी ! हे विराट्स्वरूप! मैं तुम्हारा न अन्त देखता हूं न मध्य देखता हूं और न आदि देखता हूं। हे भगवन्! चाहे कोटान्कोटि, युगयुगान्तर क्यों न बीतते चलेजावें पर तुम्हारी समाप्ति कभी भी नहीं होसकती इसी कारण वेदने तुम्हें सनातन कहकर पुकारा है । स्वयं सरस्वती भी जहां यह नहीं कहसकती, कि तुम्हारी उत्पत्तिकी कौनसी मिति है ? सो हे भगवन् ! तुम्हारा आदि, मध्य और अन्त कुछ भी नहीं है । तुम तो अनादि, अमध्य और अनन्त हो । इसी कारण श्रुतियोंने तुम्हें " नित्योऽनित्यानाम् " " न जायते म्रियते वा " " न मृत्युः प्रविशति यत्र " इत्यादि पदों करके गान किया है और इसी कारण

" सदानन्दं परमानन्दं शाश्वतं शान्तं सदाशिवं ब्रह्मादि वन्दितम् " (नृसिंता० अ० ८ श्रु० २) कहा है अर्थात् तुम अनित्योंमें नित्य हो, न जनमते हो, न मरते हो, तुम तो सदा एक रस हो, तुम तो सदा आनन्दस्वरूप, परमानन्दस्वरूप, नित्य, शान्त, सदाशिव-मूर्त्ति और ब्रह्मादि देवोंसे बन्दना कियेजाने योग्य हो । क्योंकि अन्य सब देव देवियोंके आदि * मध्य और अन्त हैं पर तुम इन कालों करके अवच्छिन्न नहीं हो ॥ १६ ॥

फिर अर्जुन कहता है–

मू०— किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च,
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ॥
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्,
दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

पदच्छेदः– किरीटिनम् (शिरोभूषणविशेषवन्तम्) गदिनम् (गदापाणिम्) चक्रिणम् (चक्रहस्तम्) च, तेजोराशिम् (तेजःपुञ्जम्) सर्वतः (दशसु दिक्षु) दीप्तिमन्तम् (प्रकाशस्वरूपम्) दुर्निरीक्ष्यम् (निरीक्षितुमशक्यम्) दीप्तानलार्कद्युतिम् (दीप्ताग्निसूर्ययोः कान्तिरिव कान्तिर्यस्य तम्) अप्रमेयम् (निश्चयितुमशक्यम् । प्रमाणीकर्तुमयोग्यम्) त्वाम्, समन्तात् (सर्वत्र) पश्यामि ॥ १७ ॥

* यदि शंका हो, कि भगवान्‌का आदि अन्त तो नहीं है पर मध्य भी नहीं है ऐसा क्यों कहा तो इसका समाधान आगे श्लोक १९ में देखो ।

पदार्थः- (किरीटिनम्) मस्तकपर किरीट धारण करनेवाले (गदिनम्) एक हाथमें गदा तथा (चक्रिणम्) दूसरे हाथमें चक्र धारण करनेवाले (च) फिर (तेजोराशिम्) तेज समूहके धारण करनेवाले (सर्वतो दीप्तिमन्तम्) चारों ओरसे ऐसा प्रज्वलित कि (दुर्निरीक्ष्यम्) नेत्रोंसे न देखेजानेवाले (दीप्तानलार्कद्युतिम्) जलतीहुई आग तथा प्रकाश करतेहुए सूर्यके समान द्युतिवाले (अप्रमेयम्) प्रमाण रहित (समन्तात्) सर्वत्र दशों दिशाओंमें (त्वाम्) तुमको मैं (पश्यामि) देखरहा हूं ॥ १७ ॥

भावार्थः- अब भगवतस्वरूपके विशेष अलंकरणोंका वर्णन करताहुआ अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! [**किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।**] मैं तुमको मस्तकपर किरीट धारण किये हुए, हस्तकमलोंमें गदा और चक्र धारण किये हुए तथा चारों ओर प्रकाशमान तेजका देदीप्यमान भण्डार देखता हूं । पर यह किरीट जो तुम्हारे मस्तकपर सुशोभित होरहा है वह वैसा नहीं है जैसा, कि इस संसारमें प्राकृत नरेशोंके मस्तकमें धारण करनेके लिये स्वर्ण, मणि, माणिक इत्यादिसे बनाया जाता है अथवा ये जो गदा और चक्र तुम्हारे हस्तकमलोंमें विराजमान हैं ये वैसे नहीं जैसे, कि इस संसारमें युद्धादिक्रियासम्पादनके निमित्त लौह अथवा काष्ठका बनालेते हैं । क्योंकि प्राकृत शरीरमें धारण करनेके लिये ये प्राकृत वस्तु-तस्तु हैं पर तुम प्राकृत पुरुष नहीं तुम तो दिव्य हो। इसलिये तुम्हारे ये अलंकरण भी दिव्य हैं सो कैसे

दिव्य और किस प्रकार दीप्तिमान हैं, कि "तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्" तेजोराशि अर्थात् सम्पूर्ण विश्वका तेज सिमटकर एकठौर होगया है अथवा तेजका कोई भण्डार है जो सब ओर जाज्वल्यमान होरहा है ऐसे तुम्हारे दीप्तिमान् स्वरूपको दिव्य अलंकरणों और आयुधोंके साथ देखता हूं पर अब हे भगवन्! अधिक देखा नहीं जाता क्योंकि मैं सर्वत्र अप्रमेय अग्नि और सूर्यके तेजसेयुक्तुम्हारे दुर्निरीक्ष्य स्वरूपको देखता हूं अर्थात तुम्हारा तेज [**पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्तात् दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्**] दुर्निरीक्ष्य है देखतेही चकाचौंध लगजाती है नेत्रोंको इतनी शक्ति नहीं, कि तुम्हारे इस तेजकी ओर देखसकें। क्योंकि सब ओरसे प्रज्वलित अग्नि तथा सहस्रों सूर्योंकी ज्योति एकत्र होजावे तो नेत्र उस ज्योतिको देखनेमें समर्थ नहीं होसकता। क्योंकि न तो तुम्हारे स्वरूपका और न तेजका कहीं प्रमाण है। जैसे तुम्हारा स्वरूप अप्रमेय (प्रमाण करने योग्य नहीं) है ऐसेही तुम्हारा तेज भी प्रमाण रहित है तहां आश्चर्य्य यह है, कि मेरी दिव्य दृष्टिको चकाचौंध लगी चली जारही है फिर लौकिक दृष्टि अर्थात् इन चर्मचक्षुओंकी क्या दशा होगी? तात्पर्य्य यह है, कि इस परम तेजोराशिको तो संसारी मनुष्य कदापि देखही नहीं सकते। इसी कारण श्रुति कहती है, कि '**ॐ न तत्र चक्षुर्गच्छति**' तिस भगवान्के यथार्थ तेजोमय स्वरूपको यह आंख नहीं देखसकती।

शंका—पहले तो 'पश्यामि त्वाम्' कहा अर्थात् हे भगवन! मैं तुमको देखता हूं फिर 'दुर्निरीक्ष्य' कहा अर्थात् तुम नहीं देखेजाते ये दोनों विरुद्ध बातें एक ही ठौर कैसे बनें?

समाधान—यहां दुर्निरीक्ष्य शब्दका अर्थ अनिरीक्ष्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदानकर इस योग्य करदिया है, कि उसकेलिये भगवान्‌का ज्योतिःस्वरूप अनिरीक्ष्य तो नहीं पर दुर्निरीक्ष्य है। अनिरीक्ष्य उसे कहते हैं जो एकबारगी नहीं देखाजावे सो भगवान्‌का ज्योतिःस्वरूप चर्मचक्षुसे तो (अनिरीक्ष्य है) देखा ही नहीं जाता पर दिव्य चक्षुसे दुर्निरीक्ष्य है अर्थात् जो बहुत क्लेश करके देखाजावे। सो अर्जुन दिव्यचक्षुद्वारा भगवत्‌के अलौकिक तेजःपुञ्जको देखताहुआ कहता है, कि हे भगवन्! तुम्हारा ज्योतिःस्वरूप दुर्निरीक्ष्य है जिसे मैं देख तो रहा हूं पर अब देखा नहीं जाता देखते २ नेत्रोंको चकाचौंध लगगयी है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे चर्मचक्षुवाले मनुष्योंको प्रातःकाल सूर्य्योदयके समय जबतक बालरवि रहता है और आंखोंकी पुतलियोंसे उसकी ज्योति तिर्यक् (तिरछी) पडती है तबतक तो सूर्यकी ओर मिनट आधा मिनट पलकें ठहर सकती हैं पर जैसे २ सूर्य ऊपरको चढताजाता है और उसकी ज्योति नेत्रोंकी पुतलियोंकी सीधमें सम्यक्‌रूपसे पडने लगजाती है तब बडे कष्टसे देखाजाता है पलकें उस ज्योतिपर नहीं ठहर सकतीं। इसी प्रकार अर्जुनके दिव्यचक्षु भगवानकी ज्योतिको देखते २ अब देख नहीं सकते अतएव अर्जुनने कहा, कि हे भगवन्! जो तुम्हारा ज्योतिःस्वरूप मैं देखरहा हूं वह अब मेरे इस दिव्यचक्षुसे भी दुर्निरीक्ष्य होरहा है अर्थात् अब अधिक मैं इस तेजःपुञ्जको नहीं देख सक्ता। आंखोंमें तिमिरी लगती चली जाती हैं पलकें रुकती चलीजारही हैं बस यहां इतना ही तात्पर्य है। शंका मत करो ॥ १७॥

अर्जुन फिर कहता है—

मू०— त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्,
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता,
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

पदच्छेदः—त्वम्, परमम् (श्रेष्ठम्) अक्षरम् (नाशरहितम्) वेदितव्यम् (स्वभक्तैर्ज्ञातव्यम्) त्वम्, अस्य, विश्वस्य (जगतः) परम् (प्रकृष्टम्) निधानम् (लयस्थानम् आश्रयो वा) त्वम्, अव्ययः (नित्यः) शाश्वतधर्मगोप्ता (सनातनधर्मरक्षकः) त्वम्, सनातनः (चिरन्तनः) पुरुषः [इति] मे (मम) मतः (अभिमतः) ॥ १८ ॥

पदार्थः – अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! (त्वम्) तुम (परमम्) सबसे श्रेष्ठ तथा (अक्षरम्) नाशरहित (वेदितव्यम्) अपने भक्तोंसे जानने योग्य हो फिर (त्वम्) तुम (अस्य विश्वस्य) इस संसारके (परम्) सबसे श्रेष्ठ और उत्तम (निधानम्) आश्रय हो फिर (त्वम्) तुम (अव्ययः) नाशरहित, नित्य तथा (शाश्वतधर्मगोप्ता) सनातनधर्मकी रक्षाकरनेवाले हो और (त्वम्) तुम (सनातनः पुरुषः) सनातन पुरुष हो अर्थात् सदासे हो और सदा रहोगे [इति] (मे मतः) यही मेरा मत है अर्थात मैं ऐसा ही मानता हूं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुन भगवत्के अद्भुत विश्वरूपका दर्शन पाकर अपनी सम्मति प्रकट करताहुआ भगवानकी स्तुति करता है, कि [त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्]

हे भगवन् ! तुम सर्वोपरि श्रेष्ठ हो तथा नाशरहित हो और तुम इस संसारके परम आश्रय हो मुमुक्षुओंके द्वारा जाननेके योग्य हो अर्थात् जिन प्राणियोंके हृदयमें तुमको जाननेकी अभिलाषा है वे इस अभिलाषासे महापुरुषोंकी शरण जाकर उनकी सेवा द्वारा प्रसन्नकर तुम्हारे जाननेके विषय प्रश्नादि करके पूर्ण श्रद्धासे तुमसे मिलनेका मार्ग ढूंढते हैं। क्योंकि तुम उन्हीं महात्माओंके द्वारा जानने योग्य हो। तुमने तो स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि " तं विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया " हे भगवन् ! ऐसे मुमुक्षुओंके अतिरिक्त कोई भी तुमको नहीं जानसकता है।

यहां अर्जुनने भगवान्को सबसे पहले तीन विशेषणोंसे संयुक्त किया " परमम्, अक्षरम् और वेदितव्यम् " अर्थात् ' सर्वोत्कृष्ट ' ' अविनाशी ' और ' जानने योग्य '। तहां अर्जुनका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवानका जो निराकार और निरुपाधि स्वरूप है वही सबसे अर्थात् अन्य ब्रह्मादि देवोंसे परम (श्रेष्ठ) है इसलिये चतुर प्राणी तथा ज्ञानियोंको चाहिये, कि ऐसे श्रेष्ठका आश्रय पकड़े, उसीकी शरण हो, उसीमें अनन्यता धारणकरे " अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता " नारदका सूत्र है, कि अन्य सब आश्रयोंका त्याग करदेना ही " अनन्यता " है। सो अनन्यता तुम्हारे ही परमश्रेष्ठस्वरूपसे करना चाहिये। अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है, कि हे भगवन् ! अब मैं तुमको परम जानकर तुम्हारा ही आश्रय लेता हूं और तुम्हारेमें मेरी गति होवे यही मेरी अभिलाषा है। यहां परम कहकर अर्जुनने अपने मनकी इतनी अभिलाषा प्रकट करदी।

अब " अक्षरम् " कहनेका तात्पर्य यह है; कि यदि कोई प्राणी ऐसे पुरुषकी शरण लेवे जो परम अर्थात् श्रेष्ठ हो पर नाशवान् हो तो शरण जानेवालोंको अन्तमें पछताना पडेगा। जैसे किसीने किसी प्रबल नरेशकी शरण लेली पर जब वह नरेश मृत्युको प्राप्त होजावेगा तब तो शरण लेनेवाला निराश्रय होजावेगा इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम श्रेष्ठ भी हो और अक्षर अर्थात् अविनाशी भी हो अतएव तुम्हारी शरण लेना सर्वथा उचित है क्योंकि तुम्हारी शरण लेनेवाले कभी निराश्रय नहीं होसकते।

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम वेदितव्य हो अर्थात् वेदान्त द्वारा मुमुक्षुओंकरके जानने योग्य हो। यहां अर्जुनका अभिप्राय यह है, कि यदि कोई किसी अविनाशी श्रेष्ठ पुरुषकी शरणलेवे पर उसके गुणोंको न जाने तौ भी शरण लेनेवालेको कोई लाभ नहीं है जैसे किसी मूर्खके घरमें हीरा रहे और वह उस हीराके न पहचाननेके कारण भूखों मरता रहे इसी प्रकार जबतक शरणवाला जाना न जाय तबतक शरण लेनेवालेको सुखकी प्राप्ति नहीं होसकती सो अर्जुन कहता है, कि तुम भक्तों करके जाननें योग्य हो इसलिये तुम्हारी ही शरण सदा उचित है।

शंका— स्वयं भगवान्‌ने अपने मुखसे कहा है, कि " नाहं प्रकाशः सर्वस्य " " मान्तु वेद न कश्चन " (अ० ७ श्लो० २५, २६) " न मे विदुः सुर गणाः " (अ० ७ श्लो० २) अर्थात् मेरा प्रभाव वेद इत्यादि किसीपर प्रकट नहीं है और मुझको किसीने नहीं जाना

देवगण तथा महर्षियोंने भी नहीं जाना । फिर श्रुति भी कहती है, कि " न विद्मो न विजानीमः " अर्थात न मैं जानती हूं और न जनासकती हूं ऐसी दशामें अर्जुनने जो ' वेदितव्यम् ' कहकर भगवानकी स्तुति की सो तो भगवानके वचनसे तथा श्रुति इत्यादिसे भी विरुद्ध है ऐसा क्यों ?

समाधान— इसमें तो तनक भी सन्देह नहीं है, कि उस महाप्रभुको ब्रह्मादि देवोंने भी नहीं जाना पर इतना स्मरण रहे, कि जो प्राणी उस महाप्रभुका भक्त है वह तो उसे अवश्य जानसकता है जैसे नट (बाजीगर) की नाना प्रकारकी अद्भुत कलाओंको बडे २ बुद्धिमान नहीं जानसकते पर जो उस बाजीगरकी झोलीको कन्धेपर ढोनेवाला उसका सेवक है वह बाजीगरकी सकल कलाओंको जानलेता है इसी प्रकार भगवतकी सब कलाओंको उसका अन्तरंग सेवक जान- लेता है । अर्जुन भगवानका परमप्रिय सेवक है इसलिये कहता है, कि हे भगवन् ! तुम भक्तों करके वेदितव्य हो अर्थात् मैंने तुम्हारे स्वरूपका दर्शन पाकर तुम्हें जानलिया । शंका मत करो !

अब अर्जुन कहता है, कि " त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् " तुम इस संसारके परम आश्रय हो अर्थात् जहांसे ये सब भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, पालेजाते हैं और फिर लय होजाते हैं सोही स्थान तुम हो ।

इसी वार्त्ताको ब्रह्मसूत्रमें कहा है, कि " जन्माद्यस्य यतः " अर्थात् इस विश्वमात्रके जन्म, पालन और संहार जहांसे होते रहते

हैं वही ब्रह्म है। श्रुति भी कहती है, कि " ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति " (तैत्ति॰ भृगुव॰ श्रु॰ १)

अर्थ— वरुण अपने पुत्र भृगुसे कहता है, कि जहांसे ये सब जीव उत्पन्न होते हैं फिर जिसके द्वारा जीते हैं और फिर जिसमें प्रवेश करजाते हैं सो ही ब्रह्म है उसीको जानो। इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! तुम इस विश्वमात्रके परमनिधान अर्थात् आश्रय हो। फिर तुम कैसे हो, कि [त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे] तुम अविनाशी हो सनातनधर्मके रक्षक हो और सनातन हो ऐसा मैं मानता हूं। सो भगवान्ने अपने मुखारविन्दसे भी कहा है, कि " यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् " (अ॰ ४ श्लो॰ ७) अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान होता है तब तब मैं अपनेको सनातन धर्मकी रक्षाकेलिये सिरजता हूं। इस वचनसे यह भी सिद्ध होता है, कि भगवान् ही सबके आश्रय हैं।

अब अर्जुन कहता है, कि " सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे " हे भगवन्! तुम सनातन पुरुषहो ऐसा मैं मानता हूं अर्थात् तुम कबसे हो कहां और कैसे उत्पन्न हुए? यह कोई भी नहीं कहसकता है तथा तुम कबतक रहोगे यह भी कोई नहीं जानता तात्पर्य यह है, कि तुम आदि अन्तसे रहित सदासे हो और सदा रहोगे इसी कारण तुम सनातन पुरुष कहेजाते हो ॥ १८ ॥

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं इतनाही नहीं देखता वरु मैं तो इससे भी अधिक आश्चर्यमय तुम्हें देखरहा हूं, कि—

मू०— अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— अनादिमध्यान्तम् (आदिश्च मध्यञ्चान्तश्च न विद्यते यस्य तम् । उत्पत्तिस्थितिविनाशरहितम) अनन्तवीर्यम् (अपरिमित पराक्रमम्) अनन्तबाहुम् (अनन्ता बाहवो यस्य तम्) शशिसूर्यनेत्रम् (चन्द्रादित्यनयनम) +दीप्तहुताशवक्त्रम (प्रज्वलितवह्निरिव वक्त्राणि यस्य तम अथवा दीप्तहुताशः वक्त्रेषु यस्य) स्वतेजसा (स्वांग कान्त्या । मुखाग्नि दीप्त्या । चैतन्यज्योतिषा वा) इदम्, विश्वम् (सचराचरं जगत) तपन्तम् (सन्तापयन्तम । प्रकाशयन्तम वा) त्वाम्, पश्यामि (अवलोकयामि) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (अनादिमध्यान्तम्) आदि, मध्य और अन्तसे रहित (अनन्तवीर्यम्) अमित पराक्रमवाले (अनन्तबाहुम्) अनगिनत बाहुवाले (शशिसूर्यनेत्रम) चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रवाले (दीप्तहुताशवक्त्रम) प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमय मुखवाले और (स्वतेजसा) अपने तेजसे (इदं विश्वम्) इस संसारको

+ हुतमश्नातीति हुताशो वह्निः

(तपन्तम्) तपायमान करतेहुए अथवा प्रकाश करतेहुए (त्वाम् पश्यामि) तुमको मैं देखता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! मैं तुम को कैसे देखता हूं, कि [**अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्**] आदि, मध्य और अन्तसे रहित देखता हूं और अनन्तबाहुयुक्त तथा सूर्यचन्द्र रूप तुम्हारे नेत्रोंको देखता हूं हे भगवन्! न कहीं तुम्हारी उत्पत्ति है, न स्थिति है और न नाश है। फिर तुम कैसे हो, कि अनन्त वीर्य हो अर्थात् तुम्हारा पराक्रम अमित है तुम्हारे पराक्रमका अन्त ब्रह्मादिने भी आज तक नहीं पाया।

शंका— अर्जुनने जो ऐसा कहा, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है स्थिति भी नहीं है ऐसा क्यों कहा ? हां आदि अन्त तो नहीं है अर्थात् उत्पत्ति और नाश नहीं है पर मध्य अर्थात् स्थिति तो अवश्य है फिर ऐसा कहना, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है अयोग्य देख-पडता है ? ।

समाधान— जिस वस्तु-तत्तुमें आदि अन्त नहीं है उसका मध्य भी नहीं होता क्योंकि यह तो एक साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भी समझ सकता है, कि मध्य उसीका नाम है जो आदि अन्तके बीचमें हो फिर जब आदि अन्तका निश्चय ही नहीं है तो मध्य कहना कैसे बन सकता है ? जैसे आकाश जिसका ऊपरे भी अन्त नहीं है और नीचे भी अन्त नहीं है अर्थात् आदि अन्तसे रहित है इसलिये कोई भी यह नहीं बता सकता, कि आकाशका मध्य अर्थात्

बीच कहां है वरु सर्वत्र उसका मध्य कहो तो कह सकते हो पर कोई विशेष स्थान उस मध्यके लिये नियत नहीं होसकता ।

इसी प्रकार उस ब्रह्मके मध्यको भी समझो ! जिसके मध्य के लिये कोई काल वा स्थान निश्चित नहीं है उसको अमध्य ही कहना चाहिये । दूसरी बात यह है, कि " **कालेनानवच्छेदात** " इस योगसूत्रके अनुसार वह ब्रह्म कालसे अवच्छिन्न नहीं है वरु काल ही उसके अन्तर्गत है और काल ही की उत्पत्ति, स्थिति तथा अन्त उसके स्वरूपमें है वह कालमें नहीं है क्योंकि वह स्वयं कालस्वरूप है भगवान्‌ने निज मुखारविन्दसे कहा है, कि " **कालः कलयतामहम्** " (अ० १० श्लोक ३०) यदि करोडों कल्पोंके समयको एक साथ एकत्र करके गणना कीजावे तो वे भी उस भगवत्‌के सामने ऐसे हैं जैसे हम लोगोंका एक पल वरु इससे भी न्यून कहाजावे तो कहना अयोग्य नहीं होगा । इस कारण अर्जुनका मध्यरहित कहना उचित है हां यदि मध्यका अर्थ स्थिति कीजावे तो कह सकते हैं, कि सदाके लिये है । शंका मत करो ।

फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम तो अनन्तवीर्य अर्थात् अपरिमित पराक्रमयुक्त हो । जिसके बल और तेजके वर्णन करनेमें शेष और शारदाकी भी जिह्वाऐं रुकी हुई हैं । वेद भी जिसके पराक्रमके विषय नेति नेति कहकर चुप होजाते हैं । इसी कारण तुम्हारे अपरिमित पराक्रमको देखकर सब देव, देवी तथा मुमुक्षुगण तुम्हें नमस्कार करते हैं । अतएव तुम्हारा नाम ' नमामि ' है जैसा, कि श्रुति

कहती है " ॐ कस्मादुच्यते नमामीति यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च " (नृसिंता० द्वितीयोपनित् श्रुति० ४ में देखो) उस प्रभुका नाम 'नमामि' इसलिये है, कि सब देव, ब्रह्मवेत्ता तथा महर्षिगण उसे नमन करते हैं।

फिर अर्जुन कहता है, कि " अनन्तबाहुं शशिसूर्य्य-नेत्रम " हे भगवन्! मैं तुमको असंख्य भुजावाला देखता हूं तथा ऐसा देखता हूं, कि चन्द्र और सूर्य्य तुम्हारे नेत्र हैं।

फिर अर्जुन कहता है, कि [पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम] हे भगवन्! मैं तुम्हारे मुखसे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाएं धधकती हुई देखता हूं। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि हे भगवन्! तुम्हारा मुख सुन्दर आगके भभूकाके समान सुशोभित देख रहा हूं फिर कैसा देखता हूं? कि अपने तेजसे तुम सम्पूर्ण विश्वको तपायमान कररहे हो अर्थात सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारे तेजको नहीं संभल सकता वरु उस तेजके सम्मुख ब्रह्मादि किसी भी देवकी दृष्टि नहीं ठहरती और न उस तेजके समीप पहुंचकर उसके तापको संभाल सकते हैं। इसलिये मैं तो ऐसा ही देखता हूं, कि सारे विश्वमात्रकी रचना तुम्हारे तेजसे तपायमान होरेही है।

फिर विश्वमिदं तपन्तम' कहनेका दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि हे भगवन्! तुम अपनी चैतन्यज्योतिसे इस सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशमान् कररहे हो। अर्थात इस सम्पूर्ण विश्वमें तुमने जब आत्मज्योति डाली है तभी यह विश्व चेतन हुआ है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भगवन् ! तुमने प्रथम जब इस सृष्टिकी रचना आरम्भकी तब सबसे पहले अपने तेजको स्वीकार कर उस तेजसे ही रचना करना आरम्भ किया। प्रमा० श्रु०—"ॐ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेऽति तत्तेजोऽसृजत तत्तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" अर्थात् उसने देखा और इच्छाकी, कि मैं बहुत रूपसे उत्पन्न होऊँ इस प्रकार इच्छा करके प्रथम तेजको सिरजन किया फिर उसे देख इच्छा हुई, कि मैं बहुरूप होजाऊँ।

इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं तुमको अपने सम्पूर्ण तेजद्वारा सारे ब्रह्माण्डको प्रकाशमान करते हुए देखरहा हूं। जिससे मैं ऐसा अनुमान करता हूं, कि तुम्हारी आत्मज्योतिसे ही यह ब्रह्माण्ड चैतन्यमय है नहीं तो सब मृतकके समान देख पडते ॥ १६ ॥

एवम् प्रकार भगवान्के तेजको सर्वत्र व्यापक देखकर अर्जुन अब भगवान्की व्यापकताका वर्णन करता है—

मू०— द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि,
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं,
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

पदच्छेदः—(हे) महात्मन ! त्वया (विश्वरूपेण) एकेन, हि (निश्चयेन) द्यावापृथिव्योः (ब्रह्माण्डकपालयोः) इदम्, अन्तरम् (मध्यावकाशः । अन्तरिक्षम्) व्याप्तम् [तथा] सर्वाः (पार्श्ववर्त्तिन्यः) दिशः, च [व्याप्ता] तव, इदम, अद्भुतम (अभिनवम ।

अब " अक्षरम् " कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि यदि कोई प्राणी ऐसे पुरुषकी शरण लेवे जो परम अर्थात् श्रेष्ठ हो पर नाशवान हो तो शरण जानेवालोंको अन्तमें पछताना पड़ेगा। जैसे किसीने किसी प्रबल नरेशकी शरण लेली पर जब वह नरेश मृत्युको प्राप्त होजावेगा तब तो शरण लेनेवाला निराश्रय होजावेगा इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम श्रेष्ठ भी हो और अक्षर अर्थात् अविनाशी भी हो अतएव तुम्हारी शरण लेना सर्वथा उचित है क्योंकि तुम्हारी शरण लेनेवाले कभी निराश्रय नहीं होसकते।

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम वेदितव्य हो अर्थात् वेदान्त द्वारा मुमुक्षुओंकरके जानने योग्य हो। यहां अर्जुनका अभिप्राय यह है, कि यदि कोई किसी अविनाशी श्रेष्ठ पुरुषकी शरणलेवे पर उसके गुणोंको न जाने तौ भी शरण लेनेवालेको कोई लाभ नहीं है जैसे किसी मूर्खके घरमें हीरा रहे और वह उस हीराके न पहचाननेके कारण भूखों मरता रहे इसी प्रकार जबतक शरणवाला जाना न जाय तबतक शरण लेनेवालेको सुखकी प्राप्ति नहीं होसकती सो अर्जुन कहता है, कि तुम भक्तों करके जानने योग्य हो इसलिये तुम्हारी ही शरण सदा उचित है।

शंका— स्वयं भगवानने अपने मुखसे कहा है, कि " नाहं प्रकाशः सर्वस्य " " मान्तु वेद न कश्चन " (अ० ७ श्लो० २५, २६) " न मे विदुः सुर गणाः " (अ० ७ श्लो० २) अर्थात मेरा प्रभाव वेद इत्यादि किसीपर प्रकट नहीं है और मुझको किसीने नहीं जाना

देवगण तथा महर्षियोंने भी नहीं जाना । फिर श्रुति भी कहती है, कि " न विद्मो न विजानीमः " अर्थात न मैं जानती हूं और न जनासकती हूं ऐसी दशामें अर्जुनने जो ' वेदितव्यम ' कहकर भगवानकी स्तुति की सो तो भगवानके वचनसे तथा श्रुति इत्यादिसे भी विरुद्ध है ऐसा क्यों ?

समाधान— इसमें तो तनक भी सन्देह नहीं है, कि उस महाप्रभुको ब्रह्मादि देवोंने भी नहीं जाना पर इतना स्मरण रहे, कि जो प्राणी उस महाप्रभुका भक्त है वह तो उसे अवश्य जानसकता है जैसे नट (बाजीगर) की नाना प्रकारकी अद्भुत कलाओंको बडे २ बुद्धिमान नहीं जानसकते पर जो उस बाजीगरकी झोलीको कन्धेपर ढोनेवाला उसका सेवक है वह बाजीगरकी सकल कलाओंको जानलेता है इसी प्रकार भगवतकी सब कलाओंको उसका अन्तरंग सेवक जान-लेता है । अर्जुन भगवानका परमप्रिय सेवक है इसलिये कहता है, कि हे भगवन ! तुम भक्तों करके वेदितव्य हो अर्थात् मैंने तुम्हारे स्वरूपका दर्शन पाकर तुम्हें जानलिया । शंका मत करो !

अब अर्जुन कहता है, कि " **त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम** " तुम इस संसारके परम आश्रय हो अर्थात् जहांसे ये सब भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, पालेजाते हैं और फिर लय होजाते हैं सोही स्थान तुम हो ।

इसी वार्त्ताको ब्रह्मसूत्रमें कहा है, कि " **जन्माद्यस्य यतः** " अर्थात् इस विश्वमात्रके जन्म, पालन और संहार जहांसे होते रहते

हैं वही ब्रह्म है। श्रुति भी कहती है, कि " ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति " (तैत्ति० भृगुव० श्रु० १)

अर्थ— वरुण अपने पुत्र भृगुसे कहता है, कि जहांसे ये सब जीव उत्पन्न होते हैं फिर जिसके द्वारा जीते हैं और फिर जिसमें प्रवेश करजाते हैं सो ही ब्रह्म है उसीको जानो। इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! तुम इस विश्वमात्रके परमनिधान अर्थात् आश्रय हो। फिर तुम कैसे हो, कि [त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे] तुम अविनाशी हो सनातनधर्मके रक्षक हो और सनातन हो ऐसा मैं मानता हूं। सो भगवान्ने अपने मुखारविन्दसे भी कहा है, कि " यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् " (अ० ४ श्लो० ७) अर्थात् जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका उत्थान होता है तब तब मैं अपनेको सनातन धर्मकी रक्षाकेलिये सिरजता हूं। इस वचनसे यह भी सिद्ध होता है, कि भगवान् ही सबके आश्रय हैं।

अब अर्जुन कहता है, कि " सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे " हे भगवन्! तुम सनातन पुरुषहो ऐसा मैं मानता हूं अर्थात् तुम कबसे हो कहां और कैसे उत्पन्न हुए ? यह कोई भी नहीं कहसकता है तथा तुम कबतक रहोगे यह भी कोई नहीं जानता तात्पर्य यह है, कि तुम आदि अन्तसे रहित सदासे हो और सदा रहोगे इसी कारण तुम सनातन पुरुष कहेजाते हो ॥ १८ ॥

अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं इतनाही नहीं देखता वरु मैं तो इससे भी अधिक आश्चर्यमय तुम्हें देखरहा हूं, कि—

मू०— अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम्
अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रम्
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— अनादिमध्यान्तम् (आदिश्च मध्यञ्चान्तश्च न विद्यते यस्य तम् । उत्पत्तिस्थितिविनाशरहितम) अनन्तवीर्यम् (अपरिमित पराक्रमम्) अनन्तबाहुम् (अनन्ताः बाहवो यस्य तम्) शशिसूर्यनेत्रम् (चन्द्रादित्यनयनम) +दीप्तहुताशवक्त्रम (प्रज्वलितवह्निरिव वक्त्राणि यस्य तम् अथवा दीप्तहुताशः वक्त्रेषु यस्य) स्वतेजसा (स्वांग कान्त्या । मुखाग्नि दीप्त्या । चैतन्यज्योतिषा वा) इदम्, विश्वम् (सचराचरं जगत) तपन्तम् (सन्तापयन्तम । प्रकाशयन्तम वा) त्वाम्, पश्यामि (अवलोकयामि) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (अनादिमध्यान्तम्) आदि, मध्य और अन्तसे रहित (अनन्तवीर्यम्) अमित पराक्रमवाले (अनन्तबाहुम्) अनगिनत बाहुवाले (शशिसूर्यनेत्रम) चन्द्र और सूर्यरूप नेत्रवाले (दीप्तहुताशवक्त्रम) प्रज्वलित अग्निके समान दीप्तिमय मुखवाले और (स्वतेजसा) अपने तेजसे (इदं विश्वम्) इस संसारको

+ हुतमश्नातीति हुताशो वह्निः

(तपन्तम्) तपायमान करतेहुए अथवा प्रकाश करतेहुए (त्वाम् पश्यामि) तुमको मैं देखता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! मैं तुम को कैसे देखता हूं, कि [**अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्**] आदि, मध्य और अन्तसे रहित देखता हूं और अनन्तबाहुयुक्त तथा सूर्यचन्द्र रूप तुम्हारे नेत्रोंको देखता हूं हे भगवन् ! न कहीं तुम्हारी उत्पत्ति है, न स्थिति है और न नाश है। फिर तुम कैसे हो, कि अनन्त वीर्य हो अर्थात तुम्हारा पराक्रम अमित है तुम्हारे पराक्रमका अन्त ब्रह्मादिने भी आज तक नहीं पाया।

शंका— अर्जुनने जो ऐसा कहा, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है स्थिति भी नहीं है ऐसा क्यों कहा ? हां आदि अन्त तो नहीं है अर्थात् उत्पत्ति और नाश नहीं है पर मध्य अर्थात् स्थिति तो अवश्य है फिर ऐसा कहना, कि तुम्हारा मध्य भी नहीं है अयोग्य देख-पडता है ? ।

समाधान— जिस वस्तु-तत्तुमें आदि अन्त नहीं है उसका मध्य भी नहीं होता क्योंकि यह तो एक साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भी समझ सकता है, कि मध्य उसीका नाम है जो आदि अन्तके बीचमें हो फिर जब आदि अन्तका निश्चय ही नहीं है तो मध्य कहना कैसे बन सकता है ? जैसे आकाश जिसका ऊपरे भी अन्त नहीं है और नीचे भी अन्त नहीं है अर्थात आदि अन्तसे रहित है इसलिये कोई भी यह नहीं बता सकता, कि आकाशका मध्य अर्थात

बीच कहां है वरु सर्वत्र उसका मध्य कहो तो कह सकते हो पर कोई विशेष स्थान उस मध्यके लिये नियत नहीं होसकता ।

इसी प्रकार उस ब्रह्मके मध्यको भी समझो ! जिसके मध्य के लिये कोई काल वा स्थान निश्चित नहीं है उसको अमध्य ही कहना चाहिये । दूसरी बात यह है, कि " कालेनानवच्छेदात " इस योगसूत्रके अनुसार वह ब्रह्म कालसे अवच्छिन्न नहीं है वरु काल ही उसके अन्तर्गत है और काल ही की उत्पत्ति, स्थिति तथा अन्त उसके स्वरूपमें है वह कालमें नहीं है क्योंकि वह स्वयं कालस्वरूप है भगवानने निज मुखारविन्दसे कहा है, कि " कालः कलयतामहम् " (अ० १० श्लोक ३०) यदि करोडों कल्पोंके समयको एक साथ एकत्र करके गणना कीजावे तो वे भी उस भगवत्‌के सामने ऐसे हैं जैसे हम लोगोंका एक पल वरु इससे भी न्यून कहाजावे तो कहना अयोग्य नहीं होगा । इस कारण अर्जुनका मध्यरहित कहना उचित है हां यदि मध्यका अर्थ स्थिति कीजावे तो कह सकते हैं, कि सदाके लिये है । शंका मत करो ।

फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! तुम तो अनन्तवीर्य अर्थात् अपरिमित पराक्रमयुक्त हो । जिसके बल और तेजके वर्णन करनेमें शेष और शारदाकी भी जिह्वाऐं रुकी हुई हैं । वेद भी जिसके पराक्रमके विषय नेति नेति कहकर चुप होजाते हैं । इसी कारण तुम्हारे अपरि- मित पराक्रमको देखकर सब देव, देवी तथा मुमुक्षुगण तुम्हें नमस्कार करते हैं । अतएव तुम्हारा नाम ' नमामि ' है जैसा, कि श्रुति

कहती है " ॐ कस्मादुच्यते नमामीति यस्माद्य सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च " (नृसिंता० द्वितीयोपनित् श्रुति० ४ में देखो) उस प्रभुका नाम 'नमामि' इसलिये है, कि सब देव, ब्रह्मवेत्ता तथा महर्षिगण उसे नमन करते हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि " अनन्तबाहुं शशिसूर्य्यनेत्रम " हे भगवन्! मैं तुमको असंख्य भुजावाला देखता हूं तथा ऐसा देखता हूं, कि चन्द्र और सूर्य्य तुम्हारे नेत्र हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि [**पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्**] हे भगवन्! मैं तुम्हारे मुखसे प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाएं धधकती हुई देखता हूं । अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि हे भगवन्! तुम्हारा मुख सुन्दर आगके भभूकाके समान सुशोभित देख रहा हूं फिर कैसा देखता हूं ? कि अपने तेजसे तुम सम्पूर्ण विश्वको तपायमान कररहे हो अर्थात सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तुम्हारे तेजको नहीं संभल सकता अरु उस तेजके सम्मुख ब्रह्मादि किसी भी देवकी दृष्टि नहीं ठहरती और न उस तेजके समीप पहुंचकर उसके तापको संभाल सकते हैं । इसलिये मैं तो ऐसा ही देखता हूं, कि सारे विश्वमात्रकी रचना तुम्हारे तेजसे तपायमान होरही है ।

फिर 'विश्वमिदं तपन्तम्' कहनेका दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि हे भगवन्! तुम अपनी चैतन्यज्योतिसे इस सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशमान् कररहे हो । अर्थात इस सम्पूर्ण विश्वमें तुमने जब आत्मज्योति डाली है तभी यह विश्व चेतन हुआ है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे भगवन् ! तुमने प्रथम जब इस सृष्टिकी रचना आरम्भकी तब सबसे पहले अपने तेजको स्वीकार कर उस तेजसे ही रचना करना आरम्भ किया। प्रमा० श्रु०—"ॐ तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेऽति तत्तेजोऽसृजत तत्तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति" अर्थात् उसने देखा और इच्छाकी, कि मैं बहुत रूपसे उत्पन्न होऊँ इस प्रकार इच्छा करके प्रथम तेजको सिरजन किया फिर उसे देख इच्छा हुई, कि मैं बहुरूप होजाऊँ।

इसी कारण अर्जुन कहता है, कि हे भगवन ! मैं तुमको अपने सम्पूर्ण तेजद्वारा सारे ब्रह्माण्डको प्रकाशमान करते हुए देखरहा हूं। जिससे मैं ऐसा अनुमान करता हूं, कि तुम्हारी आत्मज्योतिसे ही यह ब्रह्माण्ड चैतन्यमय है नहीं तो सब मृतकके समान देख पडते ॥ १९ ॥

एवम् प्रकार भगवान्के तेजको सर्वत्र व्यापक देखकर अर्जुन अब भगवान्की व्यापकताका वर्णन करता है—

मू०— द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि,
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं,
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

पदच्छेदः—(हे) महात्मन ! त्वया (विश्वरूपेण) एकेन, हि (निश्चयेन) द्यावापृथिव्योः (ब्रह्माण्डकपालयोः) इदम्, अन्तरम् (मध्यावकाशः । अन्तरिक्षम्) व्याप्तम् [तथा] सर्वाः (पार्श्ववर्तिन्यः) दिशः, च [व्याप्ता] तव, इदम, अद्भुतम (अभिनवम ।

विचारकर, कि इस युद्धसे संसारका नाश न होजावे नाना प्रकारके उत्पातोंके दूर करनेके तात्पर्यसे जगत्के कल्याण निमित्त वेदोंके मन्त्रोंसे तथा अन्यान्य नाना प्रकारकी स्तुतियोंसे तुम्हारी जय मनारहे हैं अर्थात रक्ष ! रक्ष ! पाहि ! पाहि ! त्राहि ! त्राहि ! ऐसे अनेक प्रकारके कल्याणसुचक वाक्योंका उच्चारण करतेहुए तुम्हारे सम्मुख खडे हैं। इसी अर्थकी छाया लेकर नीलकण्ठ, मधुसूदन, श्रीधर इत्यादि टीकाकारोंने भी इस श्लोककी टीका करदी है। फिर आनन्दगिरिने यहां पाठ बदलकर यों अर्थ किया है, कि "अमी हि त्वामसुरसंघाः" अर्थात ये जो दुर्योधनादि असुरोंके अवतार संसारको नाना प्रकारके क्लेशदेनेकेलिये मनुष्यरूपमें प्रकट हुए हैं ये सबके सब हे भगवन् ! तुममें प्रवेश करते चले जारहे हैं ॥ २१ ॥

अब अर्जुन अगले श्लोकमें यह दिखलाता है, कि हे भगवन् ! ये देवगण केवल भयभीत होकर स्तुतिही नहीं करते हैं वरु तुम्हारे स्वरूपको देखकर आश्चर्यान्वित हो दाँतोंसे अंगुलियां काट रहे हैं। वे कौन२ हैं सो सुनो !

मू०— रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

पदच्छेदः— ये, रुद्रादित्याः (एकादशरुद्रास्तथा द्वादशादित्याः) वसवः (अष्टौ वसुनामकदेवगणाः) च, साध्याः

(द्वादशसाध्यदेवाः) विश्वे (विश्वेदेवशब्देनोच्चार्यमाणा देव-गणाः) अश्विनौ (द्वौ अश्विनीकुमारौ) मरुतः (ऊनपञ्चाशत् मरुद्गणाः) च, उष्मपाः (उष्णान्नं पिबन्ति भक्षयन्ति ये ते पितृगणाः) च (तथा) गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघाः (चित्ररथादयो गन्धर्वाः कुबेरा-दयो यक्षास्तथा विरोचनादयोऽसुराः कपिलादयः सिद्धा एतेषां समु-दायाः) सर्वे, एव, * विस्मिताः (विस्मयान्विताः । विगतः स्मयो गर्वो येषां ते नष्टगर्वा देवाः) [सन्तः] त्वाम् (विश्वरूपिणम्) वीक्षन्ते (मौनेन पश्यन्ति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (ये रुद्रादित्याः) ये जो एकादश रुद्र तथा द्वादश आदित्य हैं फिर (वसवः) आठों जो वसु हैं (च) और (+ साध्याः) द्वादश जो साध्य नामक देवगण हैं (विश्वे) संपूर्ण विश्वमें जितने देव हैं तथा (अश्विनौ) दोनों जो अश्विनी और कुमार हैं (मरुतः) उनचासों जो वायुदेव हैं (च उष्मपाः) उष्ण अन्नके भोजन करनेवाले जो पितृगण हैं (च) और (गन्धर्व-यक्षासुरसिद्धसंघाः) चित्तरथादि गन्धर्व, कुबेरादि यक्ष, विरोचनादि

* विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु । विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
(साहित्यदर्पणम्)

+ मनो मन्ता तथा प्राणो नरोऽपानश्च वीर्यवान् । विनि-र्भयो नयश्चैव दंसो नारायणो वृषः । प्रभुश्चेति समाख्याता साध्या द्वादश पौर्विकाः । (वह्निपुराण भेदनामाध्यायमें देखो)

असुर और कपिलादि सिद्धोंके समुदाय (सर्वे एव) ये सबके सब निश्चय करके (विस्मिताः) आश्चर्यसे भरेहुए (त्वाम्) तुम्हारे स्वरूपको (वीक्षन्ते) एक टक लगाये देख रहे हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन इस श्लोकमें यह दिखलाता है, कि जैसे मैं विस्मयसे भराहुआ तुम्हारे अद्भुत स्वरूपको देखरहा हूँ इसी प्रकार ये देवगण भी केवल भयभीत होकर तुम्हारी स्तुति ही नहीं करते हैं वरु आश्चर्यसे भरहुए तुम्हारे स्वरूपको टकटकी लगाये देख रहे हैं । एवम्प्रकार अपने मनके भावको प्रगट करेताहुआ अर्जुन भगवानके सम्मुख कह रहा है, कि [रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च] ग्यारहों रुद्रनामके देव, बारहों आदित्यनामके देव आठों वसु नामके देव, बारहों साध्यनामके देव फिर संपूर्ण विश्वके देव, दोनों अश्विनी कुमार, उनचासों वायु और उष्ण अन्नके भोजन करनेवाले पितृगण तथा [गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे] गन्धर्व, यक्ष और असुरोंके जो समुदाय हैं ये सबके सब आश्चर्यभरी दृष्टिसे तुम्हारी ओर देखरहे हैं ।

अब यहां " गन्धर्व " शब्दकी व्याख्या कीजाती है—
" गन्धं संगीतवाद्यादिजनितप्रमोदं अर्व्वति प्राप्नोतीति गन्धर्वः " अर्थात गाने बजानेसे जो आनन्द अर्थात हर्षको प्राप्त करे उसे कहिये गन्धर्व । सो इनके प्रथम दो भेद हैं— मनुष्यगन्धर्व और देवगन्धर्व ।

प्रमाण श्रुतिः— " ॐ ते ये शतं मानुषानन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः स देवगन्धर्वाणामानन्दः ॥ " (तैत्ति० श्रु० ३२)

अर्थ— मनुष्योंमें १०० चक्रवर्त्तीका जो आनन्द है सो एक मनुष्यगन्धर्वका आनन्द है फिर जो १०० मनुष्य गन्धर्वोंका आनन्द है वह एक देवगन्धर्वका आनन्द है । और वेदभी कहता है, कि देवलोकमें जो दिव्यगानसे देवगणोंको आनन्द देवे उसे देवगन्धर्व कहते हैं—

प्रमाण ऋग्वेद— " ॐ विश्वावसुरभि तन्नो गृणातु दिव्यो गन्धर्वो रजसो विमानः " १० । १३९ । ५ इन देव गन्धर्वोंके ग्यारह गण हैं— " अभ्राजोऽङ्घारिवम्भारी सूर्य्यवर्चास्तथा कृधुः । हस्तः सुहस्तः स्याच्चैव मूर्द्धन्वाश्च महामनाः । विश्वावसुः कृशानुश्च गन्धर्वैकादशगणाः " (इति पद्मपुराणे गणभेदनामाध्याये)

१. अभ्राज, २. अंघारि, ३. वंभारी, ४. सूर्य्यवर्चा, ५. कृधु, ६. हस्त, ७. सुहस्त, ८. मूर्द्धन्वा, ९. महामना, १०. विश्वावसु और ११. कृशानु ये ग्यारह गन्धर्वोंके गण हैं । इन गन्धर्वोंमें जो प्रसिद्ध और श्रेष्ठ गन्धर्व हैं उनके नाम लिखेजाते हैं । हाहा, हूहू, चित्ररथ, हंस, विश्वावसु, गोमायु, तुम्बुरु और नन्दी ये गन्धर्वोंमें श्रेष्ठ गन्धर्व हैं ।

अर्जुनका मुख्य तात्पर्य यह है, कि हे भगवन् ! वसु रुद्र इत्यादि देवगण जिनका सांगोपांग वर्णन (अ० १० श्लोक २२, २३ में) कर

आये हैं वे तथा चित्ररथ, हंस इत्यादि गन्धर्व, दैत्यराज, बाणासुर, वृत्रासुर, बकासुर, विरोचनादि असुर और गौतम कपिलादि सिद्ध एकटक लगाये तुम्हारे ध्यानमें मग्न होकर हे भगवन्! "वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे" ये सबके सब विस्मित होकर तुम्हारे उग्रस्वरूपकी ओर देखरहे हैं अर्थात् ये जितने देव हैं इनके अपने २ देवत्व, प्रभुत्व, बल इत्यादिकी शक्ति तुम्हारे स्वरूपके देखते ही दूर होगयी जैसे कर्पूरकी डली वायुके लगते ही उडजाती है ऐसे इन देवगणोंका वैभव एकबारगी जाता रहा अतएव ये सबकेसब पत्थरकी मूर्त्तिके समान एकटक लगाये दाँतोंसे अंगुलियोंको दबाये तुम्हारी ओर चुप हो देखरहे हैं।

भगवानके जिस अद्भुत और उग्ररूपको देखकर ये सब देवगण भयभीत और विस्मित होरहे हैं अब अर्जुन उस रूपका वर्णन पूर्ण-प्रकार करता हुआ कहता है—

मू०— रूपं महत्ते वहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो वहुबाहूरुपादम्।
वहूदरं वहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥

पदच्छेदः— [हे] महाबाहो ! (महान्तः निग्रहानुग्रहकरणे समर्था बाहवो यस्य तत्सम्बुद्धौ महाबाहो!) ते (तव) वहुवक्त्रनेत्रम् (बहूनि अपरिमितानि वक्त्राणि मुखानि नेत्राणि नयनानि यस्मिन् तत्) वहुबाहूरुपादम् (वहवः बाहव उरवः पादाश्चरणाश्च यस्मिन् तत्) वहूदरम् (बहूनि उदराणि यस्मिन् तत्) वहुदंष्ट्रा-

करालम् (बहुभिः दंष्ट्राभिः करालम् भयानकम) महत् (अप-रिच्छिन्नम । अति प्रमाणम । आदिमध्यान्तरहितम) रूपम (विश्वरूपम) दृष्ट्वा (अवलोक्य) लोकाः (चतुर्दशभुवनस्थाः प्राणिनः) तथा, अहम्, प्रव्यथिताः (प्रकर्षेण दुःखं प्राप्ताः । भयेन प्रचलिता वा) ॥ २३ ॥

पदार्थः– (महाबाहो !) हे विशालभुजावाले ! (ते) तुम्हारे (बहुवक्त्रनेत्रम्) अनेक मुख और आंखवाले तथा (बहुबाहूरुपादम्) असंख्य भुजा, जंघा और चरणवाले (बहूदरम्) बहुतेरे उदरवाले, (बहुदंष्ट्राकरालम्) असंख्य दांतोंसे भीषणताको प्राप्त (महत) बहुत विशाल (रूपम) विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (लोकाः) चौदहों भुवननिवासी प्राणी (प्रव्यथिताः) मारे भयके कांपरहे हैं (तथा) उसी प्रकार (अहम्) मैं भी कांप रहा हूं ॥ २३ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन अतुल पराक्रमी और अनन्त ऐश्वर्य्य-शाली भगवानके उस भयानक और रौद्र रससे भरेहुए रूपके वर्णनका पूर्ण प्रकार उपसंहार करता हुआ कहता है, कि [रूपं महत्ते बहुवक्त्र-नेत्रं महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम्] हे महाबाहो ! अर्थात् प्राणियोंके निग्रह तथा उनपर अनुग्रह करनेके निमित्त विशाल भुजाओंके धारण करनेवाले मेरे परमरक्षक ! तुम्हारे असंख्य मुख, असंख्य नेत्र, असंख्य जंघे, असंख्य भुजाएं और असंख्य चरणोंसे युक्त [बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्] बहुत

बडे-बडे उदर और विकराल कालके समान दांतवाले भयंकर स्वरूपको देखकर संपूर्ण विश्वमात्रके जीव प्रकम्पित होरहे हैं और मैं भी थर्रा रहा हूं ।

इस महाविकराल भयंकर स्वरूपको देखकर चौदहों भुवनके निवास करने वाले देव, गन्धर्व, किन्नर, नाग, नर, सिंह, व्याघ्र इत्यादि सबही चीख मारमारकर मारे भयके न जाने किधर भागनेकी इच्छा कररहे हैं इनको ऐसा बोध होरहा है, कि आजही महाप्रलय होनेवाला है । आपके लम्बे २ दातोंके बीच जो बडी—बडी फैलीहुई रक्तवर्ण जिह्वाएं लटकरही हैं उनसे ऐसा भान होता है, कि कालने सम्पूर्ण विश्वको भूनकर कलेवा करनेके निमित्त जहां तहां अनगिनत चूल्हे बाल दिये हैं जिनसे बलतेहुए ईंधनकी ज्वालाओंकी लपट निकली चली आरही है । हे भगवन् ! यदि यह कहो, कि मेरे इस रौद्रस्वरूपको देखकर सारा ब्रह्माण्ड तो पलायमान होरहा है पर तू तो शान्त और निर्भय होरहा है सो हे नाथ ! यद्यपि तुम्हारा पूर्ण अनुग्रह मुझपर है तथापि जैसे तुमसे सब भयभीत होरहे हैं ऐसे मैं भी इस स्वरूपको देखकर कांप रहा हूं । तुम्हारे भयके कारण एडीसे चोटीतक सर्वांग शरीर पसीनोंसे लथपथ होरहा है, आंखें मिची चलीजारही हैं, यहां तक, कि देखा भी नहीं जाता, मुखका रंग विकृत होरहा है, हृदय कांपरहा है, गला रुंधरहा है और अन्तःकरण अपने स्थानपर नहीं है सो मेरी भी दशा इनसे किसी भी प्रकार न्यून नहीं है ॥ २३ ॥

और अब कैसी दशा होरही है सो सुनो—

मू०— नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं,
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो ! ॥
॥ २४ ॥

पदच्छेदः— [हे] विष्णो ! (वेष्टयति व्याप्नोतीति विष्णुः तत्सम्बुद्धौ हे विष्णो ! हे व्यापनशील !) नभस्पृशम् (अन्तरिक्षव्यापिनम् । आकाशसंचारितम्) दीप्तम् (तेजोमयम्) अनेकवर्णम् (बहवः वर्णाः यस्य तम् नानासंस्थानयुक्तम्) व्यात्ताननम् (विवृतानि मुखानि यस्मिन् तम्) दीप्तविशालनेत्रम् (प्रज्वलितविस्तीर्णचक्षुषम्) त्वाम् (अभिनवरूपम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) हि (निश्चयेन) प्रव्यथितान्तरात्मा (प्रभीतान्तरात्मा) अहम्, धृतिम् (धैर्य्यम्) शमम् (शान्तिम् । मनस्तुष्टिम्) च, न, विन्दामि (लभे) ॥ २४ ॥

पदार्थः— (विष्णो !) हे सर्वत्रव्यापनशील विष्णुभगवान् (नभःस्पृशम्) आकाशसे छूताहुआ (दीप्तम्) प्रज्वलित (अनेकवर्णम्) नाना प्रकारके रंगोंसे युक्त (व्यात्ताननम्) फैले हुए हैं मुख जिसमें और (दीप्तविशालनेत्रम्) आग बभूकाके समान बलतेहुए विशाल-विशाल नेत्र हैं जिसमें ऐसे (त्वाम्) तुम्हारे रूपको (दृष्ट्वा) देखकर (हि) निश्चय करके (प्रव्यथितान्तरात्मा) मैं जो व्यथा पाया हुआ अर्थात् अन्तःकरणसे कंपायमान एक जीवात्मा हूं

सो (धृतिम्) धैर्य्यको तथा (शमम्) शान्तिको (च) भी (न विन्दामि) नहीं पाता हूं अर्थात् इस रूपको देखकर मेरा मन घबरा रहा है और शरीरकी सुधि नहीं है ॥ २४ ॥

भावार्थः---अब अर्जुन भगवान्के जिस भयंकर स्वरूपको देखकर कंपायमान हुआ है उस स्वरूपका वर्णन करता हुआ कहता है, कि [नभस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्] हे भगवन् ! तुम्हारे विस्तृत और परम विशाल मुखके ऊपरका होंठ आकाशको और नीचेका होंठ पातालको स्पर्श कररहा है तात्पर्य्य यह है, कि जहांतक आकाशसे पाताल पर्य्यन्त मेरी दृष्टि जाती है तहांतक तुम्हारेही मुखको फैला हुआ देखता हूं मानो ! कालके काल महाकालको भी ग्रसनेके लिये आज तुमने न जाने क्यों इस प्रकार मुखको फैला रखा है तिसमें भी आश्चर्य्य यह है, कि यह तुम्हारा मुख दीप्त है अर्थात् जिसकी ज्वालासे तीनों लोक तप्त होरहे हैं तथा जिसमें अनेक वर्ण हैं जैसे अग्निमें अरुण, श्वेत, पीत, नील, श्याम इत्यादि अनेक वर्ण प्रकाशित देख पडते हैं ऐसे तुम्हारे मुखके भीतर अग्निकी प्रदीप्त ज्वालाका पूर्ण प्रकाश अनेक प्रकारके वर्णोंके साथ देख पडता है । इसी प्रकार तुम्हारे लाल-लाल नेत्र अग्निज्वालासे भरे हुए परम विशाल हैं मानो ! त्रिलोकीको भस्म करदेनेके लिये आज तुमने अपने नेत्र खोल दिये हैं । तथा---

[दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो !] हेविष्णो ! तुम्हें देखकर मैं जो प्रव्यथित जीवात्मा अर्जुन सो शान्ति और धृतिको प्राप्त नहीं करता हूं अर्थात्

हे विष्णो ! हे सर्वत्र व्यापनेवाले ! मैं इस समय भीतरसे अर्थात् अन्तःकरणसे (प्रव्यथित) कंपायमान और व्याकुलात्मा होरहा हूं अतएव चाहता हूं, कि तुम्हारे अनुग्रहको स्मरण करके धीरज धरूं। क्योंकि मुझे अभीतक स्मरण है, कि तुम वही हो जो मन्द २ मुसकाते हुए मुझे बार बार अपना सखा और अपना प्रिय कहकर रथपर पुकारते थे पर इन बातोंके स्मरण रहतेहुए भी यह तुम्हारा भयानक और रौद्रस्वरूप ऐसा डरावना कालके समान देख पडता है, कि मैं लाख ढाढस बांधकर धीरज धर तुम्हारे सम्मुख खडा रहना चाहता हूं परे क्या करूं न तो मुझे धैर्य्य ही है और न शान्तिहीकी उपलब्धि है। जी चाहता है, कि आंखे बन्दकर यहांसे किसी ओर भाग जाऊं पर आंख मींचनेपर भीतर भी तुम्हारा यही स्वरूप मुझे देख पडता है और जिधर भागनेके लिये पांव उठाना चाहता हूं उधर ही तुमको देखता हूं इसी कारण मैं इस समय 'प्रव्यथितान्तरात्मा' होरहा हूं अर्थात न आगे पांव उठता है, न पीछे पांव हटता है और न खडा ही रहनेका साहस है मैं तो किंकर्तव्य विमूढ होकर बहुतही घबडा रहा हूं।

अर्जुनने जो भगवानको यहां 'विष्णो' कहकर पुकारा है इसका यही अभिप्राय है, कि भगवान्का स्वरूप व्यापक है जिधर देखता है ऊपर-नीचे, दायें-बायें, आगे-पीछे आंख खोलनेपर भी और आंख बन्द करनेपर भी सर्वत्र बाहर भीतर वही स्वरूप देखपडता है इसीलिये अर्जुनने 'विष्णो' कहकर उस महाप्रभुकी व्यापकताकी सुचना दी है ॥ २४ ॥

अब अर्जुन भगवान्के इस उग्र स्वरूपका वर्णन समाप्त करेता-

हुआ अपनी व्याकुलदशाको स्पष्टरूपसे दिखलाताहुआ भगवान्‌से यों प्रार्थना करता है—

मू०— दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि,
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म्म
प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥ २५ ॥

पदच्छेदः— [हे] देवेश ! (देवानामीश !) हे जगन्निवास ! (जगतां स्थितिस्थानं यस्मिन् अथवा जगति निवासो यस्य सः तत्सम्बुद्धौ) दंष्ट्राकरालानि (विकटदंष्ट्राभिः भयानकानि) [तथा] कालानलसन्निभानि (प्रलयकालाग्निसदृशानि जाज्वल्यमानानि) ते (तव) मुखानि (वक्त्राणि) च, दृष्ट्वा (अवलोक्य) एव, दिशः (दिग्विभागम) न, जाने (जानामि) शर्म (सुखम्) च, न, लभे (प्राप्नोमि) [तस्मात] प्रसीद (प्रसन्नो भव) ॥ २५ ॥

पदार्थः— अर्जुन व्याकुल होकर कहता है, कि (देवेश !) हे देवताओंके ईश महादेव ! तथा (जगन्निवास !) हे सम्पूर्ण जगत्‌के निवासस्थान अथवा सम्पूर्ण जगतमें निवास करनेवाले (दंष्ट्राकरालानि) विकट और बडे-बडे भयंकर दांतोंसे युक्त तथा (कालानलसन्निभानि) कालाग्निके समान जाज्वल्यमान (ते मुखानि च) तुम्हारे असंख्य मुखोंको (दृष्ट्वा) देखकर (एव) निश्चय करके (दिशः) दिशाओंको (न जाने) मैं नहीं जान सकता हूं और (शर्म्म च) सुखको भी (न लभे) नहीं प्राप्त कर-

सकता हूं इसलिये हे नाथ ! (प्रसीद) मुझपर प्रसन्न हो जाओ ॥ २५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन विकट स्वरूपको देखते-देखते अत्यन्त व्याकुल हो भगवतकी प्रसन्नता निमित्त प्रार्थना करता हुआ कहता है, कि [**दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि**] बडे-बडे भयंकर डाढोंसे युक्त तथा प्रलयकालकी आगके समान धधकते हुए तुम्हारे मुखको देखकर मेरी कैसी बुरी दशा होरही है सो सुनो ! अर्थात् मैं (अर्जुन) जिसने कभी कालकाभी भय नहीं किया, बडे-बडे भयंकर और धुरन्धर राक्षसोंको तृणके समान जाना, निवातकवच नाम भयावह राक्षसकी तीन करोड विकट राक्षस सेनाओंसे मैं तनकभी व्याकुल नहीं हुआ । इतना बलिष्ट हृदय और अन्तःकरण रहनेपर भी आज हे भगवन् ! तुम्हारे इस भयंकर स्वरूपको देखकर अत्यन्त ही व्याकुल होरहा हूं और मैं यहांतक घबरागया हूं, कि [**दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !**] हे सम्पूर्ण जगत्में निवास करनेवाले स्वामिन् ! मुझे इस समय न तो दिशाओंका ज्ञान है और न सुखकी ही प्राप्ति है सो तुम मुझपर प्रसन्न होजाओ ! अर्थात् मुझे पूर्व, पश्चिम इत्यादि दिशाओंकी कुछभी सुधि नहीं है । मैं यह भी नहीं जानता, कि मैं किस मुख हूं, कहां हूं, कौन हूं और कैसे हूं ! सो हे भगवन् ! इस समय मुझे किसी प्रकारकी कुछभी सुधि नहीं है यद्यपि सहस्रों युक्तियोंसे मैं अपने मनको सन्तोष दिया चाहता हूं और सुखी किया चाहता हूं पर मेरा मन किसी प्रकार भी परितुष्ट

नहीं होता। कहां जाऊँ? किससे अपने मनकी व्यथा कहूं? कौन मुझको इस व्यग्रतासे स्थिर करसकता है? मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता। इस कारण "प्रसीद देवेश! जगन्निवास!" हे देवोंके देव महेश्वर! सम्पूर्ण जगतमें व्यापक तथा संपूर्ण जगतको अपने एक रोममें लटकानेवाले! अब तुम मेरी इस व्याकुलतासे परिपूर्ण दशाको देख हे मेरे परम स्वामी! मेरी ओर प्रसन्न होकर मुझपर दयादृष्टि करो! और मेरी व्यथाका नाश करो! ॥ २५ ॥

यदि कहो, कि हे अर्जुन! तू व्याकुल क्यों होता है मैं तो तुझपर प्रसन्न ही हूं जभी तो मैंने तुझको अपना विश्वरूप दिखलाया है तो हे भगवन्! इस तुम्हारे विश्वरूपको देखकर अधिक व्याकुल और भयभीत होनेका कारण क्या है? सो सुनो!

मू०— अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः,
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ,
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति,
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनांतरेषु,
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— अवनिपालसंघैः (शल्यजयद्रथादिराज्ञां समूहैः) सह (सहितः) अमी, धृतराष्ट्रस्य, सर्वे, पुत्राः (दुर्योधनादयः) च, एव, तथा, भीष्मः (पितामहः। भीष्माचार्य्यः)

द्रोणः (द्रोणाचार्य्यः) असौ, सूतपुत्रः (कर्णः) अपि, अस्मदीयैः (अस्माकम) योधमुख्यैः (शिखंडि धृष्टद्युम्नादि भटानां प्रधानैः) सह, त्वरमाणाः (त्वरायुक्ताः धावन्तः) ते, दंष्ट्राकरालानि (दंष्ट्राभिः विकृतानि) भयानकानि (भयंकराणि) वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति (प्रवेशं कुर्वन्ति) [तेषां मध्ये] केचित्, चूर्णितैः (चूर्णीकृतैः) उत्तमांगैः (मस्तकैः) [तव] दशनान्तरेषु (दंष्ट्राणां संधिषु) विलग्नाः (भक्षितमांसमिव विशेषेण संश्लिष्टाः) संदृश्यन्ते (उपलभ्यन्ते) ॥ २६, २७ ॥

पदार्थः— (अवनिपालसंघैः) शल्य तथा जयद्रथादि राजाओंके समूह (सह) सहित (अमी) ये (धृतराष्ट्रस्य) धृतराष्ट्रके (पुत्राः) दुर्योधनादि सौ पुत्र (च) भी (एव) निश्चय करके (त्वाम्) तुम्हारेमें प्रवेश कररहे हैं (तथा) और (भीष्मः) भीष्मपितामह (द्रोणः) गुरु द्रोणाचार्य्य और (असौ) यह (सूतपुत्रः) सुतका बेटा राजा कर्ण (अपि) भी (अस्मदीयैः) हमलोगोंको अपने (योधमुख्यैः सह) शिखंडी और धृष्टद्युम्नादि प्रधान योद्धाओंके सहित (त्वरमाणाः) बडी शीघ्रताके साथ दौडतेहुए (ते दंष्ट्राकरालानि) तुम्हारे विकट दांतोंसे भरेहुए (भयानकानि) भयंकर (वक्त्राणि) मुखोंमें (विशन्ति) घुसते चले जारहे है इनमेंसे (केचित्) कोई-कोई (चूर्णितैः) चूर्ण हुए अर्थात् कुचलेहुए (उत्तमांगैः) मस्तकोंके साथ तुम्हारे (दशनान्तरेषु) दांतोंके बीच-बीचमें (विलग्नाः) लगेहुए (संदृश्यन्ते) देखेजाते हैं ॥ २६, २७ ॥

भावार्थः— भगवत्के प्रसन्न रहते हुए भी अर्जुनने जो पिछले श्लोकमें कहा, कि हे जगन्निवास ! मुझपर प्रसन्न होवो तिसका कारण इन २६, २७ दोनों श्लोकोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन करता है, कि [अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः] ये जो धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र हैं ये सबके सब शल्य, जयद्रथादि बडे-बडे नरपतिसमूहके साथ तुम्हारे स्वरूपमें प्रवेश करते जारहे हैं। मैं ऐसा देख रहा हूँ, कि केवल ये ही नहीं वरु इनसे इतर अन्य जो [भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः] पितामह भीष्म और गुरु द्रोण और मेरा परम विद्वेषी " सूतपुत्र " (राजा कर्ण) मेरे कटकके प्रधान-प्रधान वीर शिखंडी और धृष्टद्युम्न इत्यादि [वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि] बडी शीघ्रताके साथ दौडते हुए तुम्हारे मुखमें घुसे चले जारहे हैं जिसके अन्तर्गत तुम्हारे विकराल और भयानक दांत लगे हुए हैं। जैसे किसी बडे अन्धड झक्कडके झोकोंसे मारे हुए छोटे-छोटे पतंगे किसी पर्वतकी कन्दराओंमें बडी शीघ्रतासे भागे हुए प्रवेश करते जाते हैं ऐसे ये सबके सब वीरगण तुम्हारे महा-झंझावात कालरूप मुखमें घुसते चले जारहे हैं। वह तुम्हारा मुख कैसा है ? कि जिसमें बडे-बडे विकट डरावने अर्थात् विकराल कालको हंसते-हँसते चबेनाके समान चबाने वाले परम कठोर और बडे-बडे डाढवाले दांत हैं जो अत्यन्त भयको उपजाने वाले हैं।

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! ऐसी दशा देख मुझेतो पूर्ण भय होरहा है क्योंकि मैं तो यह समझ रहा था, कि महा-

भारतकी रणभूमिमें सेनाओंके किलकिला शब्द, शंख और भेरीकी ध्वनि, वीरोंका सिंहनाद, धनुषकी प्रत्यंचाओंकी टंकार, हथियारोंकी झंकार और रथोंकी वज्रतुल्य घरघराहटसे आकाश मंडल गूंज उठेगा और सब दिशाएं भर जांयगी एवम्प्रकार धनुष बाण, तलवारें, गदा, शक्ति इत्यादि सैकडों प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सजेहुए दोनों सेनादल ऐसे दीखेंगे जैसे प्रलय होनेके समय सैकडों प्रकारके उन्मत्त मगर आदि जीवोंसे युक्त उछलते हुए दो समुद्र मालूम हों परन्तु मैं तो यहां कुछ और ही अभिनय देख रहा हूं, कि इनमेंसे [**केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमांगैः**] कोई-कोई तो तुम्हारे दाँतोंके नीचे चूर्ण होकर इस प्रकार खण्ड-खण्ड होरहे हैं जैसे चक्कीमें नाज पिसजानेसे उस नाजकी गुद्दी अलग निकल कर चूर २ होजाती है और कितनोंके **उत्तमांग** जो मस्तक हैं वे तुम्हारे दाँतोंसे चूर २ होगये हैं और उनसे मज्जा निकल-निकल कर तुम्हारे दांतोंकी सन्धियोंमें लटकरही हैं जैसे मांसभोजी सिंह अथवा व्याघ्रादि पशुओंके दांतोंकी संधियोंमें, अथवा मांसहारी मनुष्योंके दाँतोंके रन्ध्रोंमें मांसके लच्छे अटकेहुए और लटकेहुए देखपडते हैं ऐसे ही इन वीरोंके मस्तककी गुद्दियां तुम्हारे दांतोंमें, होठोंमें तथा रन्ध्रोंमें लटकी हुई दीख पडती हैं अर्थात् तुमने इस समय बडीही डरावनी मूर्त्ति धारण की है तुम्हारे इस स्वरूप रूप महाभारतकी भूमिमें असंख्य वीरोंके हाथ पैर, रुण्ड मुण्ड, अनगिनत हाथीघोडोंके लोथ, बहुमूल्य घंटीदार रथ, चित्रविचित्र सोनेके कवच इत्यादि पडेहुए हैं। बचेखुचे वीरोंके शरीर सुन्न हो रहे हैं और कोई डरसे चिल्लाचिल्लाकर प्राण छोडरहे हैं।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब इस महाभारतके सब योद्धाओंके मस्तक (चाहे वे मेरे दलके वा मेरे शत्रुके दलके हैं) तुम्हारे मुखमें चूर्ण—चूर्ण देखपडते हैं तो क्या आश्चर्य है, कि इनहीमें कहीं मेरा भी मस्तक न हो। यदि कहो, कि तेरा मस्तक होता तो तू खडा कैसे रहता तू तो अपनेको पिसाहुआ देखता, सो हे भगवन ! ऐसा मैं कैसे मानूं ? क्योंकि जिनजिनके मस्तकोंको मैं तुम्हारे मुखमें चूर्ण हुआ देखता हूं वे भी तो विचारे इस युद्धमें खडेही हैं उनको भी कुछ भान नहीं होता है इसी प्रकार मुझको भी अपने मस्तकके चूर्ण होनेका भान नहीं होता। अतएव मैं मारे भयके कांपरहा हूं और परम व्यथासे व्यथित होरहा हूं सो हे भगवन् ! मैं तुमसे बार-बार प्रार्थना करता हूं, कि हे देवोंके ईश ! जगन्निवास! मुझपर प्रसन्न होओ ॥ २६, २७ ॥

अब अर्जुन अगले दो श्लोकोंमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकारके वीरोंको भगवनमुखमें प्रवेश करनेका उदाहरण देताहुआ कहता है—

मू०— यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशंति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) नदीनाम् (अनेकमार्गे प्रवृत्तानां गंगाद्यानाम्) बहवः (अनेकाः) अम्बुवेगाः (उदकानां प्रवाहाः) अभिमुखाः (आभिमुख्येन प्रवर्त्तमानाः) [सन्तः] समुद्रम (सागरम्। लवणार्णवम्) एव, द्रवन्ति (विशन्ति) तथा

अमी, नरलोकवीराः (मनुष्यलोकशूराः) अभिविज्वलन्ति (आसमन्तात् विशेषेण प्रदीप्यमानानि सर्वतो जाज्वल्यमानानि) तव, वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति ॥ २८ ॥

पदार्थः—(यथा) जैसे (नदीनाम्) गंगा इत्यादि नदियोंकी (बहवः) बहुतेरी (अम्बुवेगाः) जलकी धाराएं (अभिमुखाः) किसी सागरके सन्मुख होतीहुई (समुद्रम्) उस सागरमें (एव, निश्चय करके (द्रवन्ति) जा मिलती हैं (तथा) तैसे ही (अमी) ये (नरलोकवीराः) मनुष्यलोकके बडे-बडे वीर (अभिविज्वलन्ति) जाज्वल्यमान (तव वक्त्राणि) तुम्हारे मुखोंमें (विशन्ति) प्रवेश कर रहे हैं [ऐसा मैं देखता हूं] ॥ २८ ॥

भावार्थः— भगवत्के विराट्स्वरूपमें जिस प्रकार ये महाभारतकी रणभूमिके जुरेहुए योद्धागण प्रवेश कररहे हैं उसका दृष्टान्त देकर अर्जुन कहता है, कि ये प्रवेश करनेवाले वीर दो प्रकारके हैं। प्रथम वे जिनको भगवच्चरणोंमें स्नेह है और इस रणभूमिमें भगवद्दर्शन पातेहुए भगवत्मुखारविन्दके सन्मुख प्राण देना अपना अहोभाग्य समझरहे हैं। जैसे भीष्म द्रोण तथा अनेक अन्यान्य नरेश। और दूसरे वे जो भगवत्के स्वरूपको न पहचानकर द्वेषभावसे मरने मारने के लिये उपस्थित हैं।

इनमें प्रथम श्रेणीके भगवद्भक्त वीरगण किस प्रकार भगवत् में प्रवेश करते हुए देखे जाते हैं उनका उदाहरण देता हुआ अर्जुन कहता है, कि [यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवा-

भिमुखा द्रवन्ति] जैसे गंगा, यमुना, नर्मदा, गोदावरी इत्यादि पवित्र नदियोंके जलकी धाराएं समुद्रके सन्मुख होते ही बडी शीघ्रता से दौडती हुई समुद्रमें जामिलती हैं अर्थात् सब नदियोंका स्वभाव है, कि पर्वत फोडकर निकलती हैं और धीरे-धीरे पृथिवीमंडल पर प्रवाहित होती हुई सबकी सब किसी समुद्रके सन्मुख पहुंचती हैं जैसे गंगा, ब्रह्मपुत्र गोदावरी इत्यादि बंगालसागरके सम्मुख, सिंध, नर्म्मदा, तापती इत्यादि पश्चिम सागरके सम्मुख ओबी, जनाश्री, लीवा इत्यादि उत्तर सागरके सम्मुख पहुँचकर बडी शीघ्रतासे समुद्रमें जा मिलती हैं [तथा तवामी नरलोकवीराः विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति] इसी प्रकार इस महाभारतकी रण-भूमिमें युद्धके तात्पर्यसे इस पृथ्विमंडलके बडे—बडे योद्धा पराक्रमी और ज्ञानी वीर तुम्हारे विश्वरूपके सम्मुख होते ही तुम्हारे जाज्वल्यमान ज्योतिर्मय मुखमें लय होते चले जाते हैं अर्थात् उनकी अपनी ज्योति उनके शरीरसे निकलकर तुम्हारे परम प्रकाशस्वरूपमें लय होती जाती है ।

अर्जुनके कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे नदियां जलरूप ही हैं और समुद्र भी जलस्वरूप ही है अतएव जलको जलमें मिल जानेसे किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती इसी प्रकार ज्ञानियों और भक्त योद्धाओंको भगवत्स्वरूपमें मिलनेसे तनक भी कष्ट नहीं देख रहा हूँ । क्योंकि वे ज्ञान और भक्ति से अपने शरीराभिमान को प्रथमही त्यागकर भगवत्के सम्मुख होचुके हैं फिर उनको परमप्रकाशके साथ मिलनेमें कष्ट ही क्या होवे और विलम्बही क्या लगे ? ॥ २८ ॥

अब अर्जुन ! उन प्राणियोंके भगवत्स्वरूपमें लय होनेका दृष्टान्त देता है जो अज्ञानी हैं और अभक्त हैं ।

मू०— यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) समृद्धवेगाः (तीव्रो वेगो येषां ते) पतंगाः (शलभाः) नाशाय (मरणाय) प्रदीप्तम् (प्रकर्षेण जाज्वल्यमानम्) ज्वलनम् (अग्निम्) विशन्ति, तथा, एव, समृद्धवेगाः, लोकाः (प्राणिनः । उभये च भूस्थाः शूरा वा) अपि, नाशाय (मृत्यवे) तव, वक्त्राणि (मुखानि) विशन्ति (प्रवेशं कुर्वन्ति) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (यथा) जैसे (समृद्धवेगाः) बडी शीघ्रतासे दौडनेवाले (पतंगाः) पतंगे (नाशाय) मरनेके लिये (प्रदीप्तम्) बलतीहुई (ज्वलनम्) अग्निशिखामें (विशन्ति) पडजाते हैं (तथा एव) तिसी प्रकार निश्चय करके (समृद्धवेगाः) बडे वेगसे दौडते हुए (लोकाः) लोकलोकान्तर निवासी प्राणी तथा दोनों दलों के योद्धा (अपि) भी (नाशाय) मृत्युको प्राप्त होनेके लिये (तव) तुम्हारे (वक्त्राणि) मुखोंमें (विशन्ति) प्रवेश कररहे हैं [ऐसा मैं देखता हूं] ॥ २९ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें अर्जुन जो नदियोंका उदाहरण देचुका है वह उन प्राणियोंके विषयमें है जो भगवतस्वरूपमें सुख-पूर्वक जामिलते हैं ।

अब इस श्लोकमें अर्जुन उन प्राणियोंके मिलनेका उदाहरण देता है जो अज्ञानी और अभक्त हैं और भगवत्से विमुख हैं इसी कारण जिनके लिये भगवत्का स्वरूप महाकालके समान दुःखदायी भान होता है अतः वे किस प्रकार भगवत्के भयानक स्वरूपमें मिलते हैं सो अर्जुन कहता है, कि [**यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः**] जैसे छोटे-छोटे पतंगे जो वर्षा-कालमें अधिक होजाते हैं और जहां-तहां बलतीहुई अग्निशिखाओंमें अर्थात दीपककी लोमें दौड पडते हैं और भस्म होते चलेजाते हैं [**तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः**] इसी प्रकार हे भगवन ! जो अज्ञानी और अभक्त हैं चाहे वे किसी लोकमें क्यों न निवास करते हों वे सबके सब तथा इस महा-भारतकी रणभूमिमें युद्धके तात्पर्यसे उपस्थित जो दुर्योधन इत्यादि हैं और जो तुम्हारे स्वरूपको महा भयंकर कालके समान तथा प्रलयाग्निके समान जाज्वल्यमान देखरहे हैं वे भी बडे वेगके साथ दौडतेहुए तुम्हारे मुखमें जाकर ऐसे भस्म हुए चलेजाते हैं जैसे दीपकमें पतंगे जलमरते हैं ।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है कि जैसे दीपकमें भस्महोते समय पतंगे परम दुःख पाते हैं । उनमें कुछ तो एकबारगी भस्म होजाते

हैं और कुछ अधजलेसे रहकर अधकच्चे रहजाते हैं जिन्हें प्राण निकलते-निकलते तक अत्यन्त क्लेश होता है उस समय कोई उपाय अपने प्राण बचानेका नहीं देखते और व्याकुल होकर तडफडाते और फडफडाते जलते हुए चलेजाते हैं। इसी प्रकारे भिन्न-भिन्न लोकोंके निवास करनेवाले जो भगवद्विमुख प्राणी हैं तथा इस महाभारतके कटकमें जो भगवद्विमुख वीर हैं, जिनको आयुभरमें कभी भगवत् का नाम नहीं सुहाता, जो भगवत्का नाम सुनते ही नाक सिकोडते हैं, निशिवासर मद्य वेश्या इत्यादि अन्यान्य विषयोंमें तथा निर्दोष जीवोंकी हिंसा करनेमें रत रहते हैं और जिनके लिये भगवत् काल-स्वरूप ही हैं उन्हींको भगवत्के जाज्वल्यमान मुखारविंदमें अर्जुन पतंगोंके समान जलकर भस्मीभूत हुए देखरहा है।

शंका— जहां-तहां अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है, कि जो भगवत्के सन्मुख होता है उसके सर्व पाप नष्ट होजाते हैं और वह महाप्रभु उसको अपना स्वरूप बनाकर अपनालेता है फिर यहां अर्जुन ऐसा क्यों कहता है, कि बहुतेरे प्राणियोंको मैं पतंगोंके समान तुम्हारे सम्मुख दौडकर तुम्हारे जाज्वल्यमान मुखमें पडकर भस्म होते हुए देखरहा हूं जिससे वे अत्यन्त क्लेश पारहे हैं। फिर जो भगवत्के सम्मुख हुआ उसे क्लेश कैसा ?

समाधान— इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि जो प्राणी भगवत्के सम्मुख होता है वह सर्व प्रकारके क्लेशोंसे छूटजाता है। तहां सम्मुख होनेका अर्थ यह नहीं है, कि इस पांचभौतिक देहको भगवत्के

मुँहके सामने करना वरु शास्त्रोंका प्रयोजन सम्मुख होनेसे यह है, कि जो प्राणी अपने मनको संसृतिव्यवहारोंसे मोडकर भगवत्के स्मरण पूजन भजन इत्यादिमें लगाता है उसीको यथार्थरूपसे सम्मुख होना कहते हैं । सो इस रणभूमिमें अथवा इससे इतर कहीं भी किसी लोकलोकान्तरमें जो भगवत्के सम्मुख मनसे हैं वे ही दुःखसागरसे पार हैं । जैसे किसी महाराजाधिराजके सम्मुख उसकी प्रिया महारानी अथवा उसका कोई परम स्नेही सामने खडा है और उसका शत्रु तथा एक डाकू लुटेरा भी न्यायके निमित्त सम्मुख खडा है तो अब विचारने योग्य है, कि शरीरसे तो महारानी, मित्र, शत्रु तथा डाकू सब महाराजके सम्मुख हैं पर मनसे इनकी गति भिन्न है अतएव सम्मुख होनेका जो यथार्थ सुख है वह केवल महारानी और मित्रको ही प्राप्त है, शत्रुको और डाकूको सो सुख प्राप्त हो नहीं सकता । क्योंकि ये दोनों सम्मुख होनेपर भी सम्मुख नहीं समझे जावेंगे और दुःख ही भोगेंगे इसी प्रकार जो भगवत्के सन्मुख मन, वचन और कर्म तीनोंसे है वही यथार्थमें भगवत्के सन्मुख है ।

इस रणभूमिमें तथा अन्य किसी भी स्थानमें जो प्राणी यथार्थ सम्मुख है वह तो पूर्वश्लोकमें कथन कियेहुए नदी और समुद्रकी उपमाके अनुसार है और जो यथार्थ सम्मुख नहीं है वह दीपक और पतंगकी उपमाके अनुसार है । शंका मत करो !

शंका—यदि मन वचन कर्मसे भगवत्के सम्मुख होना सम्मुख समझा जाता हो तो रावण, कुंभकरण इत्यादिका अन्तःकरणसे सम्मुख

होकर मुक्त होना सिद्ध नहीं होता । क्योंकि वे मन, वचन और कर्मसे सम्मुख नहीं हुए वरु शत्रु होकर सम्मुख हुए थे। फिर भी भगवत्‌ने उनको मुक्त करदिया इसलिये किसी भी प्रकारसे भगवत्‌के सम्मुख होना सम्मुख ही होना सिद्ध होता है शरीरसे हो वा मन वचन कर्मसे हो ।

समाधान—नहीं ऐसा मत कहो! रावण, कुंभकरण इत्यादिके विषय जो तुमने कहा सो ये भी अन्तःकरणसे भगवत्‌के सम्मुखही थे पर केवल अपने उद्धारनिमित्त इन्होंने अविधि-भक्ति स्वीकार की थी क्योंकि भक्ति दो प्रकारकी है विधि और अविधि—

विधि-भक्ति वह है जो अन्तर और बाहर दोनों ओरसे सात्विक रीति द्वारा सम्पादन कीजावे और अविधि-भक्ति वह है जो अन्तःकरणसे तो भगवत्‌में प्रेम रखे पर बाहरसे तामसी स्वभाव होनेके कारण सात्विकरीतिद्वारा अपना निर्वाह न जानकर तामसीरीतिसे शत्रुता अथवा अन्य किसी विरुद्धभाव द्वारा भगवत्‌के सम्मुख आजावे । देखो! रावणने अपने मुखसे कहा है—

होइ भजन नहिं तामस देहा, मन क्रम वचन मंत्र दृढ येहा ।
खरदूषण मोसम बलवन्ता, तिन्हकों मारे बिनु भगवन्ता ॥
सुररंजन भंजन महि भारा, जो जगदीश लीन्ह अवतारा ।
तौ मैं जाय वैर हठि करिहौं, प्रभु शर प्राण तजे भव तरिहौं ॥

(तुलसी)

फिर कुम्भकरण रावणके प्रति कहता है—

" अहह बन्धु तैं कीन्ह खुटाई, प्रथमन मोहि जगायहु भाई ।

कीन्हेहु प्रभु विरोध तेहि देवक। शिव विरंचि सुर जाके सेवक
नारद मुनि मोहिं ज्ञान जो कहेऊ। कहतेउँ तोहि समय नहिं रहेऊ
अब भरि अंक भेंटु मोहिं भाई। लोचन सफल करौं मैं जाई
श्यामगात सरसीरुहलोचन। देखौं जाय तापत्रयमोचन॥"

(तुलसी)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि रावण और कुंभकरणकी अविधि भक्ति थी इसलिये वे अन्तःकरणसे तो भगवतके सम्मुख थे केवल शरीरसे ही सम्मुख नहीं हुए थे।

इसी प्रकार इस महाभारतमें भी भीष्म, द्रोण, शल्य इत्यादि अनेक योद्धागण अन्तःकरणसे भगवान्‌के सम्मुख थे अर्जुनने इनका उदाहरण नदी तथा समुद्रसे और विमुखोंका उदाहरण ज्वाला और पतंगोंसे दिया है। शंका मत करो!

शंका— यदि किसी प्राणीको यह भी शंका हो, कि पतंग तो सर्वप्रकार मन, वचन और कर्मसे आसक्त है इसीलिये जलमरता है फिर पतंग और दीपककी उपमा भगवद्विमुख प्राणियोंके लिये अर्जुनने क्यों दी?

समाधान— पतंग और दीपककी उपमा जो प्रेमके विषय दी जाती है वह सिद्धान्त नहीं है वह तो कवियोंका विचारमात्र है। यथार्थमें तो वे पतंग ऐसा समझते हैं, कि कोई खानेकी वस्तु है इसलिये भोजनके लोभसे उस दीपकपर अथवा किसी जलतीहुई

शिखापर दौडपडते हैं प्रेमसे नहीं दौडते इन पतंगोंमें प्रेम दिखलाना यह कवियोंका एक अनुमानमात्र काव्योंकी शोभा देनेके निमित्त है जहां-जहां ग्रन्थोंमें पतंग और दीपकका दृष्टान्त आया है सो केवल प्रेमके उदाहरणमें नहीं वरु विरुद्ध उदाहरण नाशादि तथा मरणादिके उदाहरणमें शत्रुभावसे आया है। जैसे " अलक्षितोऽग्नौ पतितः पतंगमो यथा नृसिंहौजसि सोऽसुरस्तदा " (श्रीमद्भाग० स्कन्ध ७ अ० ८ श्लोक २४) अर्थात हिरण्यकश्यप राक्षस दौडता हुआ नृसिंह भगवान्के तेजमें इस प्रकार अंधेके समान जा गिरा जैसे पतंग अंधा होकर दीपकके तेजमें जागिरता है।

यहां व्यासदेवने पतंग और दीपककी शत्रुताको लेकर दृष्टान्त दिया है मित्रता वा प्रेममें नहीं दिया। इसी कारण विमुखोंके लिये अर्जुनका पतंग और अग्निशिखासे उदाहरण देना अनुचित नहीं है।

यदि थोडी देरकेलिये यह मान भी लियाजावे, कि पतंगे आसक्त ही होकर दीपकपर गिरते हैं और भस्म होजाते हैं तो भी इतना तो अवश्य कहना पडेगा, कि दीपक जड होनेके कारण उनके प्रेमको न जानकर उनकी रक्षा नहीं करसकता और न अपना रूप बना सकता है पर भगवत् तो चैतन्य है कोई भी प्राणी प्रेमासक्त होकर उसपर गिरेगा तो वह भगवत उसकी रक्षा अवश्य करेगा और अपना रूप बनालेगा। शंका मत करो ॥ २९ ॥

अब इसी दृष्टान्तको अर्जुन और भी अधिक स्पष्टकर कहता है—

मू०— लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्,
लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं,
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

पदच्छेदः— [हे] विष्णो ! (व्यापनशील !) ज्वलद्भिः (दीप्यमानैः) वदनैः (मुखैः) समग्रान् (समस्तान्। निरवशेषान) लोकान्, समन्तात् (समन्ततः) ग्रसमानः (संहरमाणः) [सन] लेलिह्यसे (भूयोभूयोऽतिशयेन वा आस्वादयसि) [तथा] तव, उग्राः (अत्युल्वणाः। तीव्राः) भासः (मुखदीप्तयः) तेजोभिः (ज्वालाभिः) समग्रम् (समस्तम्) जगत (विश्वम्) आपूर्य्य (व्याप्य) प्रतपन्ति (प्रकर्षेण सन्तापमाप्नुवन्ति) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (विष्णो !) हे सर्वत्र व्यापनेवाले (ज्वलद्भिः) तुम अपने प्रकाशमान (वदनैः) मुखोंसे (समग्रान्) सर्व (लोकान्) लोकोंको (समन्तात) सब ओरसे (ग्रसमानः) भक्षण करतेहुए (लेलिह्यसे) अपनी जिह्वा द्वारा चाटरहे हो तथा (तव) तुमअपने (उग्राः) अत्यन्त प्रचण्ड (भासः) मुखके प्रकाश द्वारा (तेजोभिः) अपनी ज्वालासे (समग्रं जगत) सारे ब्रह्माण्डमें (आपूर्य्य) व्यापकर (प्रतपन्ति) उसे तपयमान कररहे हो ॥ ३० ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुन पतंग और अग्निशिखाका दृष्टान्त देचुका है उसीको और भी अधिक स्पष्टकर कहता है, कि

[लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वद-नैर्ज्वलद्भिः] हे भगवन् ! मैं तो प्रत्यक्ष देख रहा हूं, कि तुम अशेष लोकोंको दशों दिशाओंसे अपने जाज्वल्यमान मुखद्वारा भक्षण करतेहुए अपनी लम्बी लम्बी जिह्वाओंको फैलाकर चाट रहे हो। अर्थात् जैसे कोई प्राणी चटनी बनाकर खाते समय जिह्वाको चारों ओरसे फिरा-फिराकर चाटता है ऐसे तुम भक्षण करतेहुए संसारी जीवोंको तथा इस युद्धमें उपस्थित वीरोंको चटनी बनाकर चाट-रहे हो। जैसे किसी ग्राममें जब प्रचण्ड अग्निका कोप होता है और बस्तीके घर भस्म होने लगजाते हैं उस समय अग्निकी ज्वालाएं बडे बेगसे बढना आरंभ करती हैं और एक घर वा घास फूसोंको अपनी तीव्र लपटसे जलातीहुई आगे बढती जाती हैं तब उन लहकती और भभकतीहुई ज्वालाओंको देख बडे-बडे वीरोंका साहस छूटजाता है ऐसेही तुम्हारी धू धू धधकतीहुई जिह्वाओंकी लपट चारों ओरसे महाभारतके ग्राममें उपस्थित वीररूप घरोंको चटाचट चाटतीहुई अर्थात् भस्म करतीहुई चली जारही है तहां ऐसा अनुमान होता है, कि प्रलयकालकी अग्निने अपनी काली, कराली इत्यादि सप्त जिह्वाओंकी सप्त सहस्र जिह्वाएं बनाली हैं फिर किसीका भी साहस नहीं पडता जो इन प्रलयंकरी ज्वालाओंसे किसी ओर प्राण बचाकर भागसके। जैसे लंकामें आग लगनेसे हाहाकार मचगया, बडे-बडे वीरोंको प्राण बचानेका साहस नहीं पडा और कितने अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाओंमें जलते और भस्म होते चलेगये इसी प्रकार चारों ओरसे प्राणियोंकी दशा होरही है वे किधर भागें? जिधर निकलनेको साहस करते हैं उधर ही तुम्हारे

परम प्रकाशमान मुखमें बडी-बडी लम्बी जिह्वायें घूमतीहुई देखपडती हैं आज तो मैं ऐसा देख रहा हूं, कि करोडों ब्रह्माण्ड तुम्हारी जिह्वाकी नोक परे लटकेहुए भस्म होरहे हैं । हे भगवन् ! न जाने तुम कितने दिनके भूखे हो ? जैसे बरषोंके भूखे प्राणीके चित्तमें ऐसी अभिलाषा होजाती है, कि आकाशके सम्पूर्ण बादलोंकी रोटी बनाकर तथा सातों सागरोंकी दाल और सब तारागणोंको मक्केकी चबेनी (लावा) बनाकर एकही बार मुंहमें डाललूँ ऐसी ही मैं इस समय तुम्हारी दशा देखरहा हूं । फिर क्या देख रहा हूं, कि [**तेजोभिरापूर्य्य जगत् समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो !**] हे विष्णो भगवन् ! तुम्हारा नाम इसी कारण विष्णु है, कि तुम सब ओर सब ठौर व्यापनेवाले हो सो तुम्हारा परमप्रकाशमय तेज बडी प्रचण्डतासे सम्पूर्ण जगत्में व्यापकर तृणसे ब्रह्मा पर्य्यन्तको तपायमान कररहा है अर्थात् तुम्हारे इस उग्र तेजकी ज्वालाओंको कोई भी संभाल नहीं सकता । अतएव सबके सब सन्तप्त हो रहे हैं । जो कोई प्राणी चाहता है, कि मैं अपने प्राण बचाकर किसी ओर भागूँ तो भाग नहीं सकता । क्योंकि जिधर ही भागनेको मुँह करता है उसी ओर तुम्हारे भयंकर तेजोमय भभकतेहुए मुखमण्डलको व्यापक देखता है । कहां जावे ? किधर जावे ? हे भगवन् ! सब त्राहि त्राहि पुकार रहे हैं और मैं ऐसा भी देखता हूँ, कि महाभारतके बहुतेरे वीर तो तुम्हारे सम्मुख इस प्रकार नाश होतेजाते हैं जैसे किसी तपेहुए लोहेके कडाहपर पानीकी बूँदें छनाछन जलती चलीजाती हैं ऐसा देखकर मैं अत्यन्त व्याकुल होरहा हूं ॥ ३० ॥

अब अर्जुन व्याकुल होकर भगवानके विश्वरूपको मस्तक झुकाताहुआ कहता है—

मू०— आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो,
नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं,
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

पदच्छेद:—भवान्, उग्ररूपः (भयंकरं रूपं यस्य सः) कः [इति] मे, आख्याहि (कथय) [हे] देववर! (देवानां श्रेष्ठ!) ते (तुभ्यम्) नमः (नमस्कारः) अस्तु, प्रसीद (प्रसन्नो भव) हि (यस्मात्) तव, प्रवृत्तिम् (अभिप्रायम् । चेष्टाम्) नहि, प्रजानामि [तस्मात्] भवन्तम्, आद्यम् (आदिरूपम्) विज्ञातुम् (विशेषेण ज्ञातुम्) इच्छामि ॥ ३१ ॥

पदार्थ:—(भवान्) तुम (उग्ररूपः) परम भयंकर रूपवाले (कः) कौन हो ? सो तुम (मे) मुझसे (आख्याहि) कहो (देववर!) हे देवोंके प्रधान ! (ते) तुम्हारे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे (प्रसीद) तुम मुझपर प्रसन्न होवो (हि) जिस कारण मैं (तव) तुम्हारी (प्रवृत्तिम्) चेष्टा अर्थात् तुम क्या करना चाहते हो (नहि, प्रजानामि) नहीं जानता हूं इस कारण (भवन्तम्) तुम्हारे (आद्यम्) आदिस्वरूपको (विज्ञातुम्) भली भांति जाननेकी (इच्छामि) इच्छा करता हूं ॥ ३१ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानके भयंकर कालस्वरूपको देख- कर परम व्यथासे घबडाता हुआ बोलता है, कि [आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद] हे भगवन् ! तुम मुझे यह तो बतादो, कि तुम कौन हो ? जिस भयंकर स्वरूपके देखने से मेरी तो कौन पूछे ? बडे-बडे ब्रह्मादि देवोंकी आंखे मिची जाती हैं, शरीर थर्रा रहे हैं, मन ठिकाने नहीं है और बुद्धि व्याकुल होरही है । हे देवताओंमें श्रेष्ठ महेश्वर ! सब देवोंके गुरु मैं तुम्हें बार—बार मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूं । मेरा तुमको बार-बार नमस्कार है । तुम मुझपर प्रसन्न होवो ! इस भयंकर रूपकी शान्ति करो । इतना कहकर अर्जुन उसी प्रकार इस रुद्ररूपको नमस्कार करनेलगा जैसे रुद्राध्यायमें भगवतके रुद्ररूपको वेदने नमस्कार किया है । जैसे अर्जुनने भगवानके रुद्रस्वरूपको यहां रथपर देखा है, कि " दिव्यानेकोद्यतायुधम् " (श्लो० १०) अनेक दिव्य शस्त्रोंसे युक्त है तथा शत्रुओंका नाश कर- नेमें उद्यत है इसी प्रकार वेदने भी इस रौद्रस्वरूपको बार-बार नमस्कार किया है, कि " ॐ नमो विसृजद्भ्यो विद्ध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः " (शु० यजु० अ० १६ मं २३) अर्थात शत्रुओंपर बाण चलानेवाले तथा शत्रुओंको ताडना करनेवाले तुम्हारे लिये मेरा नमस्कार है ! नमस्कार है !! फिर उसी वेदने उसी अध्यायमें यों नम- स्कार किया है, कि "ॐ आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो नम उगणाभ्यस्तृꣳहतीभ्यश्च वो नमो नमः " (शु० यजु० अ० १६ मं० २४) अर्थात 'आव्याधिनी' जो चारों ओरसे वेधन करने- वाली और 'विविध्यन्ती' जो सब ओर विशेषकर छेदन करनेवाली

तुम्हारी परम भयंकरी शक्ति है उसे नमस्कार है ! नमस्कार है !! फिर जो " उग्रगाभ्यः " ब्रह्माणी आदि तुम्हारी आदि शक्ति हैं तथा " तृऽहती " जो एक बारगी प्राणको हरण करनेवाली तुम्हारी परम विकराला मृत्युरूपा शक्ति है उसके लिये बार-बार नमस्कार है ।

फिर जैसे अर्जुनने बार-बार भगवान्‌के भयंकर स्वरूपको तात्पर्य्यसे नमस्कार किया, कि भगवान् मुझपर प्रसन्न होवेंगे । इसी प्रकार वेदने भी इस भयंकर रूपसे बचनेके लिये भगवत्‌को बार-बार नमस्कार किया है । प्रमाण श्रु०— " ॐ सहस्राणि सहस्रशो बाहुवोस्तव हेतयः । तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि "

(शु० यजु० अ० १६ मं० ५३)

अर्थ—हे ईशान ! हे भगवन् ! बहुत प्रकार संहार करनेवाले आपकी सहस्रों भुजाओंके जो 'हेतयः' शस्त्र हैं सो इन शस्त्रोंके मुखोंको 'पराचीना" हमसे दूर करो अर्थात् प्रसन्न होकर मेरे प्राण बचाओ ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस भगवान्‌के रौद्रस्वरूपसे भय मानकर थर्राता हुआ वेद भी भगवान्‌के प्रसन्न करनेके लिये लाखों बार नमस्कार कररहा है उसी रौद्रस्वरूपको आज रथपर अर्जुन देखकर अपने प्राणके भयसे बार—बार नमस्कार करता हुआ बोलता है, कि हे भगवन् ! हे देववर ! 'प्रसीद' प्रसन्न होवो ! प्रसन्न होवो !!

अब अर्जुन कहता है, कि [विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्] मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको जाननेकी इच्छा करता हूं क्योंकि मैं तुम्हारे अभिप्रायको नहीं जानता

तात्पर्य्य यह है, कि हे भगवन् ! तुम सबोंसे पहले सबके आदिकारण कहे जाते हो सो तुम्हारा स्वरूप आदिमें कैसा था अर्थात् ऐसा ही था वा किसी अन्य प्रकारका था ? सो तुम कृपा करके मुझको जनादो ! मुझे तुम्हारे आदिस्वरूपके जाननेकी उत्कट आकांक्षा है।

किसी-किसी टीकाकारने यहां " भवन्तमाद्यम् " का ऐसाभी भावार्थ किया है, कि अर्जुनका तात्पर्य यह है, कि यह भयंकर स्वरूप बडा ही भयदायक है मैं देखते-देखते व्याकुल होगया हूं इसलिये अब मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको अर्थात् कृष्णरूप को जो सारथी बनकर मेरे रथ पर शोभायमान था देखना चाहता हूं। जो हो इस अर्थका भी यहां समावेश होसकता है।

अब अर्जुन कहता है, कि मैं तुम्हारे आदिस्वरूपको जानना चाहता हूं। अर्थात् पहलेपहल तुम्हारा क्या तात्पर्य था ? सो जानना चाहता हूं। क्योंकि परम अज्ञानी होनेके कारण " नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् " मैं तुम्हारी चेष्टाको अर्थात् तुम्हारे अभिप्रायको नहीं जानता हूं, कि तुम ऐसे भयंकर रूपसे क्या करना चाहते हो ? क्या प्रलय करनेकी इच्छा हुई है ? क्या संसारको चूर-चूर कर वायुमें उडादेनेकी इच्छा है ? अथवा जैसे कोई अपने घर आंगनको झाडुओंसे बुहारी देकर स्वच्छ करदेता है ऐसेही क्या आज इन सूर्य्य चन्द्र तथा तारागणोंको बुहार कर आकाशको स्वच्छ करदेनेकी इच्छा है ? अथवा जैसे बच्चे दूधके कच्चे प्यालेको पीकर फोडदेते हैं ऐसे क्या आज तुम सातों समुद्रोंको एक घोंटमें पीकर ब्रह्माण्डको कहीं पटककर फोडदिया चाहते हो ? ऐसे महाकालका भी कालस्वरूप बनाकर मै

जाने तुम क्या करना चाहते हो? सो हे नाथ! कृपाकर मुझपर प्रसन्न होजाओ! जैसे अपना विश्वरूप दिखलाया है ऐसे अपना अभिप्राय भी मुझे बताओ, कि तुम कौन हो और क्या चाहते हो? ॥ ३१ ॥

अर्जुनके मुखसे इतना वचन सुनकर भगवान् बोले—

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो,
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— लोकक्षयकृत् (लोकानां नाशं करोतीति) प्रवृद्धः (वृद्धिंगतः) इह (अस्मिन् समये) लोकान् (उभयकटकस्थान वीरान्) समाहर्त्तुम् (नाशयितुम्) प्रवृत्तः (उद्यतः) कालः (सर्वस्य संहारकर्त्ता अन्तकः) अस्मि, प्रत्यनीकेषु (प्रतिपक्षसैन्येषु । उभयसैन्येषु सैन्यसमुदायेषु वा) ये, योधाः (योद्धारः) अवस्थिताः (उपस्थिताः,) [ते] सर्वे, त्वां ऋते (विना) न, भविष्यन्ति ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (लोकक्षयकृत्) प्रलयकालमें लोकोंके नाश करनेके निमित्त (प्रवृद्धः) अपनी बहुल बढीहुई अभिलाषाके साथ उद्यत तथा (इह) इस समय (लोकान्) युद्धमें उपस्थित सब लोकोंको (समाहर्त्तुम्) संहार करनेमें (प्रवृत्तः) समर्थ (कालः) महा कालस्वरूप (अस्मि) मैं हूं (प्रत्यनीकेषु) तेरे अथवा शत्रुओंके

दलमें (ये योधाः) जितने युद्ध करनेवाले वीर (अवस्थिताः) आकर एकत्र हुए हैं इनमेंसे (सर्वे) सबके सब (त्वां ऋतेऽपि) तेरे बिना मारनेपर भी (न भविष्यन्ति) जीवित नहीं रहेंगे क्योंकि मैं सबको पहले ही संहार करचुका हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अर्जुनके व्याकुल होकर पूछनेपर भगवान बोले- हे अर्जुन! देख मैं तुझे निश्चय कर कहता हूं, कि [कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः] मैं साक्षात् काल ही हूं और इस लोकके क्षय करनेकी मेरी प्रबल इच्छा बढरही है तथा अन्य लोकोंको मैं इसी समय भक्षण करनेमें प्रवृत्त हूं। अर्थात् मेरी पूर्ण इच्छा यही है, कि सबोंको नाश कर-डालूं और प्रलय करडालूं। इसी कारण दशों दिशाओंमें जिह्वाको फैलाकर सबोंको चाटजाने चाहता हूं। आज इस समय मेरी इस भयंकर मूर्त्तिसे कोई भी नहीं बचेगा अब सब मेरे मुंहमें ऐसे प्रवेश करजावेंगे जैसे पर्वतकी कन्दराओंमें टिड्डियां प्रवेश करजाती हों अथवा जैसे कर्पूरकी डली देखते-देखते वायुमें लुप्त होजाती है इसी प्रकार इन लोकोंकी दशा तू अब अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखेगा।

हे अर्जुन! तूने जो अत्यन्त शोक कर मुझसे बारम्बार यों कहा, कि "एतान्न हन्तुमिच्छामि" इनको मैं मारना नहीं चाहता "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव!" हे माधव! अपने बन्धुवर्गोंको मारकर हमलोग कैसे सुखी होसकते हैं? (अ० १ श्लो० ३५, ३६)।

ऐसी २ बातें कहकर तूने जो अपनेको इनका मारनेवाला निश्चय करलिया है सो हे अर्जुन! सुन [ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति

सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः] तेरेको छोडकर भी अर्थात् यदि तू इनको न मारे रणछोडकर चला भी जावे तो भी जितने वीर तेरे शत्रुदलमें उपस्थित हैं ये सबके सब मारेजावेंगे इनमेंसे कोई भी नहीं बचेगा। क्योंकि ये सबके सब पहलेही से मरे पडे हैं इनको मैं पूर्व ही मारचुका हूं। क्या तू इनके मस्तकोंको अभी मेरे मुखमें लटकाहुआ नहीं देखता है? यह लीला देखकर भी तू नहीं समझता है, कि कालरूप होकर मैं पहले ही इनको मारचुका हूं इसलिये तू इनके मारनेका अहंकार मत कर॥ ३२॥

भगवान् यह विचारकर, कि अर्जुन कहीं ऐसी शंका न करबैठे, कि जब मेरे बिना मारेही ये सब मरे हुए हैं तो फिर मुझे इस घोर कर्ममें क्यों प्रवृत्त करते हो? इसके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं—

मू०—तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व,
जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव,
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥ ३३॥

पदच्छेदः—तस्मात् (पूर्वोक्तकारणात्) त्वम्, उत्तिष्ठ (उद्यतो भव) यशः (कीर्त्तिम) लभस्व (प्राप्नुहि) शत्रून् (दुर्योधनादीन् रिपून) जित्वा, समृद्धम् (पूर्णविभवसंयुतं निष्कण्टकम्) राज्यम्, भुंक्ष्व (भोग्यत्वेन सम्पादय) एते, पूर्वम् (प्रागेव) एव, मया, (मत्कालरूपेण) एव (निश्चयेन) निहताः (मृतप्रायाः) [हे] सव्यसाचिन्! (वामपाणिना बाणप्रक्षेपणासमर्थ। संधातुं शील वा) [त्वम्] निमित्तमात्रम् (कारणमात्रम्) भव॥ ३३॥

पदार्थः— (तस्मात्) इसी कारणसे (त्वम्) तू अर्जुन (उत्तिष्ठ) युद्धके लिये उद्यत हो जा! और (यशः) भीष्मादि वीरोंको रणमें जीतनेका यश (लभस्व) प्राप्तकर और (शत्रून्) दुर्योधनादि शत्रुओंको (जित्वा) जीतकर (समृद्धम्) पूर्ण विभवयुक्त अकण्टक (राज्यम्)राज्यको (भुंक्ष्व) भोगकर क्योंकि (एते) ये भीष्म, द्रोण,दुर्योधनादि (पूर्वमेव) निश्चय करके पहलेही (मया एव) निस्सन्देह मेरे द्वारा (निहताः) मारे जाचुके हैं इसलिये (सव्यसाचिन्!) हे बायें हाथसे भी तीर और बाणोंके चलानेमें कुशल अर्जुन! तू तो इनके नाशका (निमित्तमात्रम्) कारणमात्र (भव) होजा अर्थात् मैं इनको पहले ही मारचुका हूं तुझको तो एक निमित्तमात्र बनाकर पूर्ण यश देनेकी मेरी इच्छा है ॥ ३३ ॥

भावार्थः— भगवान् भक्तवत्सल हैं, प्रणतपाल हैं अर्थात् जैसे गैया अत्यन्त स्नेहसे अपने बच्चेका पालन करती है एक क्षणभी उसे नेत्रोंसे विलग होना नहीं संभाल सकती। ऐसे भगवान् अपने भक्तोंको प्यार करनेवाले हैं जो उनके चरणोंकी सेवामें निशिवासर तत्पर रहता है उसकी सदा ही रक्षा करते हैं। चाहे किसी समय प्रलय करनेके निमित्त भी भगवान् क्रोधसे भरे हुए अपने कालस्वरूपको धारणकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके नाश करनेको क्यों नहीं तत्पर होजावें पर जैसे हम प्राकृतमनुष्योंको क्रोधित होनेके समय अन्य कृपा, दया, क्षमा इत्यादि गुणोंका लोप होजाता है तो क्रोधान्ध होकर अपने स्वभावको भूल जाते हैं कुछ भी स्मरण नहीं रहता भला बुरा कुछ नहीं सूझता। ऐसे भगवान् नहीं हैं वे चाहे कितना ही क्रोधसे भरे क्यों

न हों पर उनको अपनी भक्तवत्सलता कभी भी विस्मरण नहीं होती। क्योंकि भगवत्में यह गुण स्वाभाविक है, प्रत्यक्ष देखनेमें आरहा है, कि एक ओर तो अपना परम भयंकर महाकालस्वरूप उसे दिखारहे हैं और दूसरी ओर उसी समय अर्जुनपरे जो पहली कृपादृष्टि थी अर्थात् जैसे पहले रथपर दयायुक्त हो उसे अपना सखा, प्रिय, शिष्य इत्यादि शब्दोंसे पुकारा था और परम स्नेह दिखलाया था वे सबकी सब बातें भगवान्को इस दशामें भी स्मरण हैं इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि [तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम्] इसलिये हे अर्जुन ! तू युद्धके लिये उठखड़ा हो और सबोंको जीतकर यश लाभ कर तथा स्वच्छन्दता पूर्वक राज्य कर ! तू विचार कर देख, कि मैंने तुझको पहले ही इन उपस्थित वीरोंको अपने मुंहमें दिखलाया है ये तो मरे हुए हैं। मैं तुझको संसारमें केवल वीरताका यश दिलानेके लिये यत्न कररहा हूं अर्थात् भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ इत्यादि बडे—बडे वीरोंको जब तू इस रणभूमिमें जीतेगा तो तीनों लोकोंमें तेरा यश किस प्रकार फैलेगा सो तू भली भांति अनुमान करसकता है इसलिये तू युद्धके लिये उठ और यश प्राप्त कर।

यदि तुझको शंका हो, कि इनके मारनेमें बहुत विलम्ब होगा और नाना प्रकारके क्लेश झेलने पडेंगे सो ऐसा मत समझ ! क्योंकि [मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्] ये सबके सब योद्धा पहले ही मुझसे मारे जाचुके हैं। मैं इनका पहले ही संहार करचुका हूं । इसलिये हे बायें हाथसे तीर धनुष

चलानेमें कुशल अर्जुन ! तू निमित्तमात्र ही इनके नाशका कारण होजा । इनको मारडालनेमें तुझको तनक भी कष्ट नहीं होगा । क्योंकि इनके बलको मैंने पहले ही खैंचकर इन्हें निर्बल करडाला है फिर अब ये तेरे ऐसे वीरका क्या सामना करसकते हैं ? ।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जैसे काष्ठ और कपडे की बनी हुई पुतलियां नाचतीहुई, युद्ध करतीहुई तथा उछलती कूदती हुई देख पडती हैं पर इन सब चेष्टाओंका कारण पुतली नचानेवाला हो बाजीगरही होता है । जिसकी अंगुलियोंमें इन पुतलियोंकी डोरी बंधी रहती है वह नचानेवाला जैसे-जैसे उलटी सीधी अंगुलियोंको करता है तैसे-तैसे वे नाचती हैं पर यदि बाजीगर अपनी अंगुलियोंसे उस डोरीको तोडकर विलग करदेवे तो सब पुतलियां निश्चेष्ट होकर गिर पडेंगी फिर उनके उलट-पुलट करदेनेके लिये एक छोटे बालकमात्रकी आवश्यकता है । इसी प्रकार ये जितने वीर रणभूमिमें उपस्थित हैं सबका बल-रूप डोर मैंने अपनी अँगुलियोंसे तोडडाला है इसलिये ये सब निर्जीव पुतलियोंके समान मरे पडे हैं तू इनको उलटपुलटकर रण-भूमिकी धूरमें मिलादे । जैसे सूत्रकार, चित्रकार, लोहकार, स्वर्णकार इत्यादिके लिये आरा, बसूला, रुखानी, नेहाई, हथौडी, घन तथा बांसकी नली, घडिया तथा लेखनी, रंग कागद वा वस्त्र इत्यादि विशेष-विशेष कार्योंके सम्पादन करनेके लिये निमित्तमात्र हैं इसी प्रकार इस महा-भारत युद्धको सम्पादन करनेके लिये तू निमित्तमात्र है यथार्थ सम्पादन करनेवाला तो मैं हूं ॥ ३३ ॥

इस रणभूमिमें जो प्रसिद्ध वीर हैं वे भी तुझसे मारे जावेंगे। सो कौन-कौन हैं और क्यों मारे जावेंगे? सुन! तथा तेरे मनमें जो इनके मारनेमें शंका होरही है सो छोडदे और दृढ होजा।

मू०— द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च,
कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा,
युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४॥

पदच्छेदः— द्रोणम् (कुरुपांडवानां आचार्यम्। भरद्वाजस्य पुत्रम्) च, भीष्मम् (कुरुवंशशिरोमणिशान्तनुपुत्रम्) च, जयद्रथम् (सिन्धुराजम्) च, कर्णम् (सूतपुत्रम्) च, तथा, मया (रौद्ररूपेण) हतान् (युद्धसामर्थ्याद् वियोजितान्। मृतप्रायःकृतान्) अन्यान्, योधवीरान् (युद्धसमर्थान् शूरान्) अपि, त्वम्, जहि (घातय। मारय) मा, व्यथिष्ठाः (व्यथां चिन्ताम् मा शंकिष्ठाः) रणे (संग्रामे) सपत्नान् (शत्रून्) जेतासि (जेष्यसि) [अतः] युद्धयस्व (युद्धाय सन्नद्धो भव) ॥ ३४ ॥

पदार्थः—(द्रोणञ्च) द्रोणाचार्यको भी (भीष्मञ्च) भीष्मपितामहको भी (जयद्रथञ्च) जयद्रथको भी (कर्णञ्च) कर्णको भी (तथा) और (मया हतान्) मुझसे मारेहुए (अन्यान्, योधवीरान्) दूसरे २ वीरोंको (अपि) भी (त्वम्) तू अर्जुन (जहि) हनन करडाल तथा (मा व्यथिष्ठाः) इनके मारनेमें वृथा व्यथाको मत प्राप्त हो अर्थात् चिंता मत कर क्योंकि तू (रणे) रणमें (सपत्नान्) अपने शत्रुओंको (जेतासि) जीतेगा इसलिये (युद्धयस्व) तू युद्धकर ॥ ३४॥

भावार्थः—भगवानने जो पूर्वश्लोकमें अर्जुनसे कहा है, कि " तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व " इसलिये तू उठ और बडे-बडे पराक्रमी वीरोंको मारकर यश लाभ कर और फिर राज्यसुखोंका भोग कर। इसे सुन अर्जुनको बडी चिन्ता प्राप्त हुई और मनही मन विचारने लगा, कि ये वीर भला मुझसे कैसे मारे जावेंगे ? । इन वीरोंमें सबसे पहले तो महान् पराक्रमी द्रोणाचार्य्य जो धनुर्वेदके आचार्य्य तथा हमलोगोंके गुरु हैं फिर भीष्मपितामह हैं जिनको इच्छामरणकी शक्ति प्राप्त है अर्थात् जब चाहें तब ही मरें किसीके मारनेसे न मरें और जिनसे परशुरामजी भी युद्धमें न जीतसके लज्जित होकर लौट गये । फिर जयद्रथ है जिसके पिता वृद्धक्षत्रने इसलिये तप किया है, कि जो कोई मेरे पुत्रका शिर पृथ्वीपर गिरावेगा उसका शिर आपसे आप पृथ्वीपर कटकर गिरजावेगा । इसी प्रकार कर्ण जो साक्षात् सूर्य्यहीके समान है जिसने सूर्य्यदेवकी आराधना करके महान् पराक्रम और वीरता उत्पन्न की है तथा इन्द्रदेवने जिसे एक " पुरुषघातिनी " नामकी महाघोर शक्ति प्रदानकी है । इनसे अतिरिक्त जो कृपाचार्य, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा इत्यादि हैं ये सबके सब दुर्जेय हैं भला मैं इनको कैसे मारूंगा ? । अर्जुन थोडी देरतक मस्तक झुकाये हुए इसी चिन्तामें मग्न रहा ।

सबके हृदयके जाननेवाले भगवान् जानगये, कि अर्जुन वीरोंका पराक्रम स्मरण कर व्यथाको प्राप्त होरहा है । ऐसा जानते ही कृपामय, दयासागर, भक्तवत्सल, करुणानिधान श्रीभगवान् अर्जुनको चिन्तारहित करनेके तात्पर्यसे बोले, कि [द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं

तथाऽन्यानपि योधवीरान्] हे अर्जुन ! ये जो महान पराक्रमी दिव्य शस्त्रोंसे सम्पन्न युद्धकलामें चतुर तथा अपने प्राणोंके बचानेके लिये नाना प्रकारका यत्न कियेहुए जो द्रोणाचार्य हैं तिनको पश्चात् भीष्मको, जयद्रथको, कर्णको तथा इनसे भी इतर जो कृपाचार्य, अश्वत्थामा इत्यादि बडे-बडे वीर युद्ध करनेमें महा कुशल हैं [**मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्धयस्व जेतासि रणे सपत्नान्**] तिन्हें तू पहले ही देखचुका है, कि ये सबके सब मुझसे मारेहुए हैं इसलिये तू व्यथाको मत प्राप्त हो किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर! तू युद्ध कर ! तू अवश्य इस घोर संग्राममें अपने शत्रुओंको जीतेगा यह निश्चय जान ।

इतना सुनकर अर्जुन फूला न समाया उसकी वीरता चौगुणी होगयी, युद्ध करनेका साहस उसके हृदयमें पूर्णरूपसे जग आया ॥ ३४ ॥

अब सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है—

संजय उवाच । संजय बोला ।

मू०— एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य,
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं,
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

पदच्छेदः— किरीटी (अर्जुनः) केशवस्य ! (कृष्णस्य) एतत् (उक्तप्रकारम्) वचनम् (वाक्यम्) श्रुत्वा (निशम्य) कृतांजलिः (बद्धांजलिपुटः) वेपमानः (सर्वा-

गेषु कंपमानः) कृष्णम् (वासुदेवम्) नमस्कृत्वा (चरणयोः मुकुटयुक्तं शिरो निधाय) भीतभीतः (अतिशयेन भीतः) भूयः एव (प्रणम्य) सगद्गदम् (बाष्पयुक्तेन कण्ठेन स्खलिताक्षरम्) आह (वक्ष्यमाणप्रकारेण उक्तवान्) ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(किरीटी) किरीटका धारण करनेवाला अर्जुन (केशवस्य) कृष्णभगवान्‌के (एतत्) इतने (वचनम्) वचनको (श्रुत्वा) सुनकर (कृतांजलिः) दोनों करोंको संपुट कर अंजलि बना (वेपमानः) कांपताहुआ (कृष्णम्) श्री वासुदेवको (नमस्कृत्वा) नमस्कार करके (भीतभीतः) बहुत डराहुआ (भूयः, एव) फिर भी बारम्बार (प्रणम्य) प्रणाम करके (सगद्गदम) गद्गदवचनसे (आह) यों बोला ॥ ३५

क्या बोला सो अगले श्लोकसे जानना—

भावार्थः— भगवानने जो अर्जुनसे यह कहा, कि तू किसी प्रकारकी चिन्ता मत कर ! द्रोण, भीष्मादि वीरोंको मार ! क्योंकि ये सब पहलेहीसे मरे पडे हैं । सञ्जयके मुखसे इतना सुनते ही धृतराष्ट्र एकेबारगी चौंकपडा और घबराकर बोला, कि जब ऐसे-ऐसे वीर मारेजावेंगे तो मेरे दुर्योधनादि पुत्रोंकी क्या गिनती है ? इसलिये सञ्जयसे चौंककर पूछा, कि भाई आगे फिर क्या हुआ ? कहो तो सही ! संजय अपने मनमें विचारने लगा, कि धृतराष्ट्र अब ऐसे घबरागया है तो अवश्य कुछ सन्धि करनेका उपाय करेगा । ऐसा विचार सञ्जय यों बोला— [एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी] भगवान्‌के इतने वचनको सुनकर दोनों हाथोंको जोडकर सहमकर

किरीटधारी अर्जुन विचारने लगा, कि मैं इस समय क्या करूं? भगवान्‌ने तो मुझपर अत्यन्त प्रसन्न होकर मुझ ऐसे अधम और नीचपर बडी कृपा की है पर मैंने ऐसे त्रिलोकीनाथको साक्षात् जगदीश्वर न जानकर जो अपना साधारण सखा वा भ्राता तथा अपना प्रिय और संगी समझकर बातचीत इत्यादि करनेमें कभी-कभी बडी ढिठाइयां की हैं सो बडा ही अनुचित किया है। ऐसा न हो, कि भगवान्‌को इस समय वे सब बातें स्मरण होआवें तो मेरी बडी दुर्दशा हो। इसलिये भगवद्भयसे कांपता हुआ अपने किरीटको झुका अर्थात् भगवत्के विश्वरूपकी ओर मस्तक नवा कर [नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं * भीतभीतः प्रणम्य] बार-बार श्रीकृष्ण भगवान्‌को प्रणाम कर बहुत डरताहुआ गद्गद कण्ठसे बोला ॥ ३५ ॥

मू०— *स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या,
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति,
सर्व्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६

* "प्रेम्णाकुलतया वाष्पावरुद्धकंठेनोक्तमऽनिर्व्यलीकवचनम्" अर्थात् जब मनुष्यके हृदयमें एक ऐसी हृदयको द्रवीभूत करनेवाले वचन वा किसी प्रेमीके संयोग वियोगके समय मनकी जो अति व्यग्र दशा होजाती है और वार्त्तालाप करते समय वाक्योंको उच्चारण करनेमें बडी असुविधा होती है तब उस दशाको **गद्गददशा** बोलते हैं।

* यह श्लोक मंत्रशास्त्रमें रक्षोघ्नमंत्रके नामसे प्रसिद्ध है तथा इसको नारायणाक्षर और सुदर्शनास्त्रमंत्रसे संपुटित जानना चाहिये।

पदच्छेद:— [हे] हृषीकेश ! (हृषीकाणां इन्द्रियाणाम ईश ! सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक !) तव, प्रकीर्त्या (प्रकृष्टया कीर्त्या माहात्म्यसंकीर्त्तनेन । यशःश्रवणेन) जगत् (संसारमात्रम्) प्रहृष्यति (प्रकर्षेण हर्षं प्राप्नोति) अनुरज्यते (रतिं करोति। अनुरागमुपेति) च, भीतानि (भयाविष्टानि) रक्षांसि (राक्षसाः । नास्तिकाः) दिशः (सर्वासु दिक्षु) द्रवन्ति (पलायन्ते । गच्छन्ति) सर्वे (समस्ताः) सिद्धसंघाः (कपिलादि सिद्धानां समूहाः) च, नमस्यन्ति (नमस्कुर्वन्ति) [इति] स्थाने (युक्तम्) ॥ ३६ ॥

पदार्थ:—(हृषीकेश) हे सब इन्द्रियोंके ईश सबोंकी प्रेरणा करनेवाले सर्वान्तर्यामी ! (तव प्रकीर्त्या) तुम्हारे माहात्म्ययुक्त कीर्त्तनोंके करनेसे और यशोंके गान करनेसे (जगत्) संसारभर (प्रहृष्यति) आनन्दको प्राप्त होता है और (अनुरज्यते च) अनुरागको भी लाभ करता है । अर्थात् तुममें रतिकी प्राप्ति करता है पर (भीतानि) तुम्हारे भयसे डरते हुए जो-जो (रक्षांसि) राक्षसोंके समूह हैं वे (दिशः) जिधर-तिधर दशों दिशाओंमें (द्रवन्ति) भागे चले जाते हैं और (सर्वे सिद्धसंघाः) कपिलादि जो समस्त सिद्धोंके समूह हैं (नमस्यन्ति च) वे भी तुमको नमस्कार करते हैं ये सब बातें (स्थाने) युक्त ही हैं अर्थात् तुम्हारे योग्यही हैं इनमें आश्चर्य्य क्या है ? कुछ भी नहीं ॥ ३६ ॥

भावार्थ:— अर्जुन यहांसे लेकर ११ श्लोकों तक भगवानकी स्तुति करता हुआ कहता है, कि [स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च] हे हृषीकेश ! सर्व इन्द्रियोंके

'प्रभु' अर्थात् चेतनमात्रके अन्तःकरणादिके साथ जो जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियां हैं सबोंको अपने वशमें रखे हुए अपनी इच्छानुसार यत्र-तत्र भिन्न-भिन्न कार्य्योंमें प्रेरणा करनेवालोंमें हो इसी कारण तुम सबके अन्तर्यामी कहे जाते हो अर्थात् सबके अन्तर्हृत्को संयमन करनेवाले जो तुम हृषीकेश हो सो यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हारे महत्त्व तथा आश्चर्य्यसे भरे हुए कार्य्योंका बार-बार स्मरण तथा तुम्हारे यशोंका गान करता हुआ तुम्हारे संकीर्त्तनमें मग्न है। चारों पहर तुम्हारी ओर टक लगाकर तुम्हारा ही नाम स्मरण करते-करते परम हर्षको प्राप्त होकर तुम्हारे ही आनन्दमयस्वरूपमें अनुरागको प्राप्त करता है और जो ऐसा नहीं करता वह राक्षसस्वरूप है उसे सुख कदापि नहीं होसकता। यह वार्त्ता युक्त है अर्थात् ऐसा होना ही चाहिये।

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति। तम्पीठं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्" (गोपालपूर्वता० उप० श्रु० २)

अर्थ— वह जो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र सबोंको अपने वशमें रखने वाला, सर्वव्यापक और सबोंसे स्तुति किये जानने योग्य है वह एकही है पर एक होनेपर भी जो बहुत होजाता है ऐसे 'पीठम्' अर्थात् स्वर्णासन कृष्णको जो धीरलोग मुक्तजन सदा भजते हैं उन्हींको निरन्तर सुखकी प्राप्ति है। पर इनसे इतर जो अभक्त हैं और अज्ञानी हैं अर्थात् राक्षसस्वभाव हैं वा राक्षस ही हैं उनको किसी भी प्रकार के सुखकी प्राप्ति नहीं है।

इसलिये अर्जुन कहता है कि [रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः] राक्षस लोग तुम्हारे स्वरूपसे डरतेहुए मारे भयके जहां-तहां भागे जाते हैं पर सिद्धोंके समूह तुम्हें नमस्कार कररहे हैं। क्योंकि भक्तोंके लिये तो तुम्हारा स्वरूप अत्यन्त सुन्दर, कोमल, मधुर तथा करुणा इत्यादि रसोंसे भराहुआ परममनोहर मन्द २ मुसकानके साथ चित्तका चुरालेनेवाला है और तुम्हारा वही परम मंगलमयशान्तस्वरूप दुःखोंको शमन करनेवाला है पर राक्षसोंके लिये तो महाभयंकर परमविकराल कालस्वरूप है। इनको तुमसे किसी प्रकारका सुख प्राप्त नहीं होसकता। क्योंकि ये तुमसे विमुख हैं। सो हे हृषीकेश ! तुमसे डरकर भागना भी 'स्थाने' इन लोगोंके लिये युक्त ही है ऐसा होना ही चाहिये ॥ ३६ ॥

अब ये सिद्धगण क्यों नमस्कार करते हैं ? तिसका कारण अर्जुन अगले श्लोकमें वर्णन करता है—

मू०— कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्,
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त! देवेश! जगन्निवास !,
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

पदच्छेदः— [हे] महात्मन्! (अपरिच्छिन्न स्वरूप! परमात्मन्) [हे] अनन्त [हे] (+ त्रिविधपरिच्छेदशून्य!) [हे] देवेश! (महेश्वर!) [हे] जगन्निवास! (विश्वाधार! जगतामालयभूत!

+ देश, काल और वस्तु

जगदधिष्ठान!) ब्रह्मणः (हिरण्यगर्भस्य) अपि, गरीयसे (गुरुतराय) आदिकर्त्रे (ब्रह्मणोऽपि जनकाय) च, ते (तुभ्यम्) कस्मात् न, नमेरन् (नमस्कुर्युः) सत् (विधिमुखेन प्रतीयमानम् व्यक्तम कार्य्यम) असत (निषेधमुखेन प्रतीयमानम) परम (सदसद्भ्यामतीतम) यत्, अक्षरम् (शुद्धब्रह्म) तत्, त्वम् [असि] ॥ ३७ ॥

पदार्थः— (महात्मन् !) हे परमात्मन्! (अनन्त!) हे अन्त रहित! देश, काल और वस्तुके परिच्छेदोंसे रहित! (देवेश!) हे सब देवताओंके ईश महेश्वर! (जगन्निवास!) हे सम्पूर्ण जगतके आधारे! (ब्रह्मणः अपि) ब्रह्मासे भी (गरीयसे) गुरुतरके लिये अर्थात (आदिकर्त्रे च) ब्रह्मासे भी पहले सम्पूर्ण जगतके आदिकर्त्ता (ते) तुम्हारे लिये कपिलादि सिद्धगण (कस्मात्) क्यों (न नमेरन) नहीं नमस्कार करेंगे ? अर्थात अवश्य करेंगे क्योंकि (सत्) जो अव्यक्तमूर्त्ति सम्पूर्ण जगतका कारण तथा (असत्) जो व्यक्तमूर्त्ति यह संपूर्ण जगत इन दोनोंसे (परम) परे (यत् अक्षरम) जो अविनाशी स्वरूप ब्रह्म है (तत्) सो भी तो (त्वम) तुम ही हो तुमसे इतर अन्य कोई भी नहीं है ॥ ३७ ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुन भगवान्के सम्मुख कहचुका है, कि संपूर्ण जगत् अर्थात् देव, गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, मनुष्य इत्यादि तथा कपिलादि सिद्धपुरुष तुमको नमस्कार कररहे हैं अब इसी नमस्कार करनेका कारण इस श्लोकमें दिखलाताहुआ कहता है, कि

[कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् ! गरीयसे ब्रह्मणो-प्यादिकर्त्रे] हे परमात्मन् ! ये जगन्निवासी प्राणी तथा सिद्ध-गण तुमको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे ? क्योंकि तुम ब्रह्मदेवको उत्पन्न करनेवाले हो इसीलिये श्रेष्ठ आदिकर्त्ता कहेजातेहो वे तुम्हें अवश्य नमस्कार करेंगे उनको करनाही योग्य है । यदि वे तुमको नमस्कारें करें तो इससे तुम कुछ बडे नहीं होजाते हो । तुमको इनके नमस्का-रादिकी इच्छा भी नहीं है तुम तो स्वयं सर्वकामनापूर्ण हो तुमको भला इनके नमस्कारोंसे क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं ! ये तो स्वयं अपने प्रयोजनसे अपनी उन्नति तथा रक्षा निमित्त कल्याण और सुखके हेतु तुमको नमस्कार करते हैं सो इनको करना ही योग्य है । यदि न करें तो इनकी अपनी हानि है, तुम्हारी कुछ हानि नहीं । क्योंकि वे कैसे पुरुषके लिये नमन करते हैं— " गरीयसे ब्रह्मणो-प्यादिकर्त्रे " तुम जो गुरुसे भी गुरुतर हो और ब्रह्मा (हिरण्य-गर्भ) के भी उत्पन्न करनेवाले हो तिसी आदिकर्त्ताके लिये ये लोग नमन करते हैं ।

यहां जो अर्जुनने " ब्रह्मणोप्यादिकर्त्रे " वाक्य कहकर भगवान्की स्तुति की है उसे योगसूत्र भी सिद्ध करता है— प्र० " स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० १ सू० १६) अर्थात् ये ब्रह्मादि देव सबोंसे पूर्व हैं तिनका भी वह परब्रह्म गुरु हैं क्योंकि कालसे अनवच्छिन्न है अर्थात् रहित है इसी कारण सबके सब उसे नमस्कार करते हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि [**अनन्त! देवेश! जगन्निवास! त्वमक्षरं सदसत तत् परं यत्**] हे अनन्त ! हे सब देवताओंके ईश ! हे संपूर्ण जगत्के आधार ! तुम जो अनन्त कहे जाते हो इसका दूसरा कारण यह भी है, कि अनगिनत प्रलय होजावें तो होजावें पर तुम्हारा कभी भी नाश नहीं होगा । इसीलिये तुम अनन्त कहेजाते हो अर्थात् कालकरके तुम अवच्छिन्न नहीं हो । इसी प्रकार किसी देश करके भी तुम अवच्छिन्न नहीं हो अर्थात् यदि कोई पूर्वकी ओर तुम्हारा अन्त लेने जावे तो करोडों वर्ष पर्य्यन्त चलता ही रहजावे पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं मिलेगा जहां तुम्हारी व्यापकताकी समाप्ति होजावे । इसी प्रकार पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशा विदिशा तथा ऊपर स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक इत्यादि नीचे अतल, वितलादि किसी भी लोकोंतक दौडता चला जावे पर किसी ओर तुम्हारा अन्त नहीं पासकता । इसलिये देश करके भी तुम अवच्छिन्न (बद्ध) नहीं हो । इसी कारण तुम अनन्त कहे जाते हो । फिर तुम वस्तुकरके भी अवच्छिन्न नहीं हो । अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, सूर्य्य, चन्द्र, वृक्ष, फल, फूल इत्यादि जहांतक वस्तुओंकी गणना की जावे कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जहां तुम न हो वरु सर्वत्र, सब ठौर सब वस्तुओंमें व्यापक हो । इसलिये तुम वस्तु करकेभी अवच्छिन्न नहीं हो । इसी कारण तुम अनन्त कहे जाते हो।

फिर हे भगवन् ! तुम जो देवेश कहेजाते हो इसका कारण यह है, कि ब्रह्मा तथा इन्द्रादि जितने देव हैं सबोंके तुम प्रभु

हो, सबोंपर तुम्हारी आज्ञा है, सब तुम्हारे ही वशमें हैं तुम किसीके वशमें नहीं हो। फिर 'देव' कहिये इन्द्रियको सो तुम सब इन्द्रियोंके भी ईश और प्रेरक हो इसलिये भी तुम 'देवेश' कहेजाते हो। फिर देव शब्दका अर्थ दाता, द्योतयिता और दीपयिता भी है इसलिये जितने देनेवाले दानी तथा क्रीडा करनेवाले और प्रकाश करनेवाले हैं सबोंके अधिपति तुम ही हो।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" अर्थ स्पष्ट है।

(बृहदा० ब्रा० ४ श्रु० २)

हे भगवन्! फिर तुमको मैं जगन्निवास कहकर इसलिये पुकारता हूं कि तुम संपूर्ण जगत्के निवासस्थान हो अर्थात् सारा ब्रह्माण्ड तुममें स्थित है तुम सबके अधिष्ठानहो। हेभगवन्! तुम 'सदसत्तत्परंयत्' अर्थात्' सत् हो फिर असत हो तथा दोनोंसे परे भी तुमही हो। सत जो यह विधिमुख करके प्रतीयमानहै अर्थात जिसकी स्थिति साक्षात नेत्रोंसे देखनेमें आती है जैसे सूर्य्य, चन्द्र, जल, पृथ्वी इत्यादि अर्थात् नाम और रूप करके जो संसार कह आया है तात्पर्य्य यह है, कि यह जगत् जो व्यक्तरूप है और जिसके भिन्न-भिन्न अवयव सर्वत्र सब ठौर प्रत्यक्ष देखे जाते हैं वही सत कहा जाता है सो भी हे भगवन! तुम ही हो और इस जगतसे पूर्व जो असत्रूप ब्रह्म जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती क्योंकि "न तत्र चक्षुर्गच्छति" इत्यादि श्रुतियोंके प्रमाण से भी सिद्ध है, कि जिसे आंखें नहीं देख सकतीं और जो निषेधमुखकरके भी अप्रतीयमान हैं, जिसे "न विद्मो न विजानीमो" करके श्रुति पुकारती है कि न मैं जानती हूं और न जनासकती हूं ऐसे असत भी हे भगवन्! तुमही हो।

प्रमाण श्रु०—" असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत तदात्मानꣳस्वयमकुरुत तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति "

(तैत्ति० व० २ अनु० ७)

अर्थ— इस संसारके दृश्यमान होनेसे पहले असत् ब्रह्म था जो किसीके द्वारा नहीं जाना जावे उसे कहिये असत् सो जो ऐसा असत् था तिससे सत् उत्पन्न हुआ अर्थात् यह जो सम्पूर्ण जगत प्रतीत होरहा है सो उत्पन्न हुआ । क्या यह जगत ऐसे उत्पन्न हुआ जैसे पितासे पुत्र उत्पन्न होता है ? तो कहते हैं नहीं ! ऐसे नहीं उत्पन्न हुआ । तो फिर कैसे उत्पन्न हुआ ? तो कहते हैं, कि उस असत् ब्रह्मने अपने आपही सत् करदिया अर्थात् असत से सत् होगया । तात्पर्य्य यह है, कि स्वयं ही अपने निराकार (निरवयवस्वरूप) से साकार 'सावयवस्वरूप' बन गया । न कोई दूसरा था और न कोई हुआ इसी कारण उसको सुकृत नामसे भी पुकारते हैं ।

फिर अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! इन सत् और असतसे भी परे अर्थात विलक्षण भी तुमही हो । अर्थात् जिसे न तो सत् कहसकते हैं और न असत कहसकते हैं सो तुम ही साक्षात् अक्षर ब्रह्म हो अर्थात अविनाशी हो ।

अर्जुनके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि सत, असत तथा इन दोनोंसे परे जो अक्षर ब्रह्म कहाजाता है सो भी तुम ही हो तुम से इतर कोई दूसरा नहीं है इसलिये ये ऋषि, मुनि, योगी, सिद्धगण तुमको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे ? अवश्य करेंगे ॥ ३७

फिर तुम कैसे हो ? सो सुनो—

मू०— त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम,
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥ ३८ ॥

पदच्छेदः—[हे] अनन्तरूप ! (अन्तो न विद्यते यस्य रूपाणामसौ अपरिच्छिन्नमूर्त्ति !) त्वम्, आदिदेवः (जगतः- स्रष्टृत्वात् ब्रह्मादिदेवानामादिः) पुरुषः (सर्वशरीरेशायी) पुराणः (चिरन्तनः) त्वम्, अस्य, विश्वस्य (चराचरस्य) परम् (श्रेष्ठम्) निधानम् (प्रलयकाले लयस्थानम्) [तथा] वेत्ता (सर्वस्यैव वेदजातस्य वेदिता ' ज्ञाता ') असि, वेद्यम्, (सर्वै- र्वेदैः प्रतिपादयितुं योग्यम्। वेदार्हम) च [असि] परम्, (उत्कृष्टम्) धाम (स्थितिकाले सर्वेषां निवासस्थानम्। वैष्णवं- पदम्) च [असि] त्वया (चिद्रूपेण) विश्वम् (ब्रह्माण्डम्) ततम् (सत्तास्फूर्त्तिभ्याम् व्याप्तम्) [एतैश्च सप्तभिर्हेतुभिस्त्वमेव नमस्कार्य्यः)

पदार्थः— (अनन्तरूप !) हे अनन्तस्वरूप भगवन् ! (त्वम्) तुम (आदिदेवः) सृष्टिके आदिकारण होनेसे ब्रह्मादि- देवोंसेभी पूर्व तथा (पुरुषः पुराणः) पुराण पुरुष हो अर्थात् बहु- कालीन हो फिर (त्वम्) तुम (अस्य विश्वस्य) इस ब्रह्माण्डके (परं निधानम्) सबसे उत्कृष्ट लय होनेका स्थान हो तथा तुम

(वेत्ता) सबके जाननेवाले (असि) हो और (वेद्यम् च) जानने योग्य भी तुम ही हो और (परं धाम च) वैष्णवपद भी तुम ही हो (त्वया) तुम्हारे ही चिद्स्वरूपसे (विश्वम) यह संसार (ततम्) व्याप्त है अर्थात् तुम्हारी ही सत्ता और तुम्हारी ही स्फूर्त्ति सर्वत्र व्यापरही है ॥ ३८ ॥

भावार्थः—— अब अर्जुन भगवानकी सात उत्तम विशेषणोंसे विभूषित कर स्तुति करता हुआ कहता है, कि [**त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्**] हे भगवन् ! आदिदेव और पुराणपुरुष तुम ही हो तथा इस संसारका परम श्रेष्ठ लयस्थान भी तुमही हो अर्थात् यह संसार तुम हीसे उत्पन्न होता है और तुमहीमें लय होजाता है । फिर हे भगवन् ! [**वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप!**) सबके ज्ञाता अर्थात् सर्वज्ञ फिर सबोंसे जानने योग्य भी तुम ही हो .. परम धाम जो सबसे श्रेष्ठ स्थानवाला विष्णुपरमपद सो भी तुम ही हो । हे अनन्त ! अर्थात् जिसका अन्त किसीने भी कभी नहीं पाया सो तुम्हारे चिद्रूपसे अर्थात् चेतनस्वरूपसे यह सारा ब्रह्माण्ड व्यापरहा है ।

इस श्लोकमें अर्जुनने १. आदिदेव, २. पुराणपुरुष, ३ परंनिधान, ४. वेत्ता, ५. वेद्य ६. परमधाम और ७. अनन्तरूप इन सातों विशेषणोंसे युक्त करके भगवानकी स्तुति की है ।

इन सातों विशेषणोंका सांगोपांग वर्णन कतिपय श्लोकोंमें पुनः पुनः किये जाचुके हैं अतएव यहां संक्षिप्त कर कहागया ॥ ३८ ॥

अब अर्जुन भगवान्की उन विशेष-विशेष विभूतियोंकी स्तुति करता है जिन्हें भगवान् अपने मुखारविन्दसे अध्याय १० में कह आये हैं—

मु०— वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः,
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः,
पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

पदच्छेदः— त्वम्, वायुः (जगत्प्राणः) यमः (यमयति यथाकर्मसर्वप्राणिनः दमयतीति यः) अग्निः (पावकः। अनलः) वरुणः (अपां पतिः) शशांकः (चन्द्रः) प्रजापतिः (वैराजपुरुषः। अथवा कश्यपादि-हिरण्यगर्भान्तः) प्रपितामहः (पितामहस्य ब्रह्मणोऽपि पिता) ते (तुभ्यम) सहस्रकृत्वः (सहस्रवारम) ⊛ नमः नमः अस्तु, च (तथा) ते, पुनः (भूयोपि) अपि, भूयः (अधिकम्। वारम्बारम्) नमः नमः (नमस्कारः नमस्कारः) [अस्तु] ॥३९॥

पदार्थः— हे भगवन् ! (त्वम) तुमही (वायुः) पवन हो तुम ही (यमः) यम हो तुम ही (अग्निः)अग्नि हो तुम ही (वरुणः) जलके पति वरुण हो तुम ही (शशांकः) चन्द्रमा हो तथा (प्रजापतिः) विराट्पुरुष अथवा कश्यपसे लेकर हिरण्यगर्भ पर्य्यन्त तुम ही हो फिर (प्रपितामहः, च) ब्रह्माके भी पिता हो (ते) तुम्हारे लिये

⊛ नमः आदरे वीप्सा नाम द्विरुक्तिः ।

(सहस्रकृत्वः) सहस्रों बार (नमः नमः अस्तु) नमस्कार हो नमस्कार हो (ते) तुम्हारे लिये (पुनः अपि) फिर भी (भूयः) बारंबारे अनगिनत (नमः नमः अस्तु) नमस्कार होवे ! नमस्कार होवे ! अर्थात् जैसे तुम अनन्तरूप हो तैसे मेरा भी अनन्त बार तुमको नमस्कार होवे ॥ ३६ ॥

भावार्थः— पहले जो अर्जुनने भगवानको मुख्य सात विशेषणोंसे विभूषित करके अन्तमें ' हे अनन्त ! ' ऐसा कहकर पुकारा सो इस अनन्त ऐसे विशेषणको सबसे विशेष मानकर अनन्तत्वके दिखानेके तात्पर्य्यसे कहता है, कि [**वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च**] हे भगवन् ! उनचासों वायु तुम ही हो तथा जीवमात्रके उत्पन्न होने तथा जीवित रहनेका मुख्य कारण जो प्राणवायु सो भी तुम ही हो क्योंकि तुम प्राणरूप वायु होकर यदि शरीरोंमें प्रवेश न करो तो कोई शरीर ही न उत्पन्न होवे और न स्थिर रहसके । मृतकके समान पडा रहजावे सब इन्द्रियां शिथिल और निरर्थक होजावें । प्रमाण श्रु०— " ॐ प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते प्राणेन जातानि जीवन्ति " (तैति० भृगुवल्ली) इस श्रुतिसे सिद्ध है, कि जीवमात्र इस संसारमें प्राणही द्वारा उत्पन्न होकर स्थिर रहते हैं सो प्राणवायु हे भगवन ! तुमही हो । फिर **यम** भी हो अर्थात् प्राणियोंके कर्मानुसार उनको स्वर्ग नरकके प्रदान करनेवाले तुम ही हो तथा **सप्तजिह्व** अग्नि भी तुमही हो । **गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, दक्षिणाग्नि, सभ्य, अवसथ्य** और **औपासन** ये छवों प्रकारकी अग्नि भी तुम ही हो तथा प्रसिद्ध

जो उनचास प्रकारकी वायु हैं सो सब भी तुमही हो। गृहप्रवेशादिके समय पावक नाम अग्नि तथा गर्भाधानके समय मारुत, पुंसवनके समय चन्द्र, शुंगाकर्मके समय शोभन, सीमन्तके समय मंगल, जात-कर्मके समय प्रगल्भ, नामकरणके समय पार्थिव, अन्नप्राशनके समय शुचि, चूडाकरणके समय सत्य, उपनयनके समय समुद्भव, गोदान के समय सूर्य, केशांत अर्थात् समावर्त्तनसंस्कारके समय अग्नि, विसर्ग के समय (जो एक विशेष अग्निकर्म है) वैश्वानर, विवाहके समय योजक, चतुर्थीके समय शिखी, अन्य होमादिके समय धृति, प्रायश्चित्त के समय विधु, पाकयज्ञ वृषोत्सर्ग अर्थात् गृहप्रतिष्ठाके समय साहस, एक लक्ष्य होमके समय वह्नि, कोटि होमके समय हुताशन, पूर्णा-हुतिके समय मृड, शान्तिपाठके समय वरद, पौष्टिकके समय बलद, वश करनेके समय शमल, वरदानके समय अभिदूषक, कोष्ठमें जठर और अमृत भक्षणके समय क्रव्य इत्यादि जो अग्निके नाम हैं सो सब अग्नि हे भगवन्! तुम ही हो। फिर वैदिक मन्त्रसे जो भौम, दिव्य और औदर्य ये तीन प्रकारकी अग्नि हैं सो भी तुम ही हो।

ऐसे तुम्हारे अग्निरूपकी स्तुति ऋग्वेदने प्रथम मन्त्रमें "ॐ अग्नि-मीळे पुरोहितम्" करके किया है।

फिर जल तथा जलदेवता वरुण भी तुमही हो। मुख्य अभि-प्राय यह है, कि आग पानी सब तुम ही हो।

फिर शशांक जो चन्द्रमा सो भी तुमही हो। कश्यप और दक्ष से हिरण्यगर्भ पर्यन्त जो प्रजापति कहेजाते हैं सो सब भी तुम ही हो।

फिर प्रपितामह अर्थात् पितामह जो ब्रह्मा तिनके भी पिता अर्थात् उत्पन्न करनेवाले तुम ही हो।

सो हे भगवन्! तुम्हारा जो ऐसा अनन्त स्वरूप है तिस तुम्हारे स्वरूपको [नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते] सहस्रोंबार नमस्कार होवे और पुनः अनेकोंवार नमस्कार होवे। इतना कहकर अर्जुनने भगवान्को मस्तक झुका नमस्कार किया और सहस्रों बार नमस्कार किया अथवा सहस्रोंवार नमस्कारका फल केवल एक-एक नमस्कारमें लाभ किया फिर अर्जुनके चित्तमें ऐसा अनुभव हुआ, कि ऐसे अनन्तस्वरूप भगवान्के लिये यदि सहस्रों ही नमस्कारे कियेजावें तो यह भी मानों! समुद्रको एक अंजलि जलसे सन्तोषित करना है। और एक प्रकारका बावलापन है। भला जिसके अनन्तस्वरूपको सारा विश्व नमस्कार कररहा है। चन्द्र, सूर्य, तारागण तथा कोटानकोटि ऋषि, मुनि, देव, गन्धर्व, नाग किन्नर, मनुष्य इत्यादि सभी अहर्निश न जाने कितनी बार नमस्कार कररहे हैं उनको केवल एकबार नमस्कार से कैसे सन्तोष होसकता है? ऐसा मनमें आते ही अर्जुन फिर एकबार भगवान्की मूर्त्तिकी ओर नीचेसे ऊपर तक देखकर मस्तक झुका बोला, कि " पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते " हे भगवन्! एक ही बार नहीं वरु फिर भी बारम्बारे अनेकानेक नमस्कार तुम्हारे लिये होवें अर्थात् मैं अनगिनत बार तुम्हारे अनन्तस्वरूपको नमस्कार करता हूं। इतना कहकर अर्जुनने भगवान्के अनन्तस्वरूपका आदरमात्र किया। क्योंकि जहां आदर और वीप्सा करनेकी आवश्यकता होती है तहां " नमः नमः " बारम्बार कहाजाता है ॥ ३९ ॥

अब अर्जुन भगवान्‌के अनन्तस्वरूपकी स्तुति करनेके पश्चात् उनकी व्यापकताकी स्तुति करता है—

मु०— नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते,
नमोऽस्तु ते सर्व्वत एव सर्व्व ।
अनन्तवीर्य्यामितविक्रमस्त्वं
सर्व्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व्वः ॥ ४० ॥

पदच्छेदः— [हे] सर्व्व ! हे अनन्तवीर्य्य ! (अमित सामर्थ्यशालिन्) पुरस्तात् (पूर्वस्यां दिशि अग्रभागे वा) अथ, पृष्ठतः (पृष्ठभागे । प्रतीच्यां दिशि) नमः (नमस्कारः) अस्तु (भवतु) ते, सर्व्वतः (सर्वासु दिक्षु) एव, नमः (अस्तु) त्वम् अमितविक्रमः (अपरिमितपराक्रमः) सर्व्वं समस्तम् समाप्नोषि (अन्तर्बहिर्व्याप्य तिष्ठसि । सम्यगेकेन सद्रूपेणाप्नोषि । सर्वात्मना व्याप्नोषि) ततः (तस्मात् कारणात्) सर्वः (सर्वरूपः) असि ॥ ४०

पदार्थः—(सर्व्व !) हे सर्वव्यापिन्! सर्वस्वरूप! तथा (अनन्तवीर्य) हे असीम सामर्थ्यवाले (ते) तुम्हारे लिये (पुरस्तात्) आगेकी ओर । (अथ) और (पृष्ठतः) पीछेकी ओर (नमः) नमस्कार होवे फिर (ते) तुम्हारे लिये (सर्वतः) चारों ओरसे तथा सब ओर से (एव) निश्चय करके बारम्बार (नमः) नमस्कार होवे (त्वम्) तुम (अमितविक्रमः) अपरिमित पराक्रमवाले हो तथा (सर्वम्) सम्पूर्ण विश्वमें (व्याप्नोषि) व्याप रहे हो सबके अन्तर और बाहर तुमही हो (ततः) इसलिये (सर्व्वः) तुम सर्वस्वरूप (असि) हो ॥ ४०॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले ३८ वें श्लोकमें कहा है, कि " त्वया ततम् विश्वम् " तुमसे विश्वमात्र व्याप्त है इसी विषयको इस श्लोकमें पूर्णप्रकार स्पष्टरूपसे दिखलाताहुआ कहता है, कि [**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः**] हे भगवन् ! इस मेरे शरीरसे आगे तथा पीछेकी ओर नमस्कार होवे इतना ही नहीं, वरु हे सर्वस्वरूप ! तुम्हारे लिये मेरा सर्व ओरसे नमस्कार होवे तात्पर्य यह है, कि मैं अर्जुन इस अपने शरीरका बद्ध हूं और इसी शरीरकी अपेक्षा अग्रभाग और पृष्ठभागका बोध होता है सो यदि मैं अपना मस्तक आगेको झुकाता हूं तो पृष्ठभाग (पीठकी ओर) रहजाता है इसलिये मैं पृष्ठभागमें भी तुमको नमस्कार करता हूं क्योंकि तुम तो जिस रूपसे आगे हो उसी रूपसे पीछे भी हो पर मैं मनुष्य एकदेशीय मस्तक रखनेके कारण चारों ओर एकही बार नमस्कार करनेमें असमर्थ हूं इसलिये तुम अन्तर्यामी भक्तवत्सल सबके हृदयकी गति तथा सबके हृदयकी शक्ति जाननेवाले मेरे नमस्कारको आगे पीछे दोनों ओर स्वीकार करोगे ! इसकारण " नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वः " हे सर्वस्वरूप ! तुम्हारे लिये सब ओरसे नमस्कार होवे अर्थात् आगे पीछे, दायें, बाएं, ऊपर, नीचे, जिधर देखिये उधर ही तुम हो ।

प्रमाण श्रु०— " ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् "

(मुं० २ खं० २ श्रु० ११)

अर्थ— यह जो अमृतस्वरूप ब्रह्म है सो आगे भी वही ब्रह्म है, पीछे भी वही ब्रह्म है, दक्षिण और उत्तर अर्थात् दाएं बाएं भी वही ब्रह्म है। नीचे भी और ऊपर भी अर्थात् जिधर देखो उधर वही ब्रह्म फैलाहुआ है। अभिप्राय यह है, कि वही ब्रह्म इस सम्पूर्ण विश्वमें वर्तमान है।

इसी कारण अर्जुन अपनी भक्तिको तथा हृदयके प्रेमको प्रकट करताहुआ भगवत्के विश्वरूपके सम्मुख खडा सब ओरसे नमस्कार करताहुआ और भगवानकी सर्वव्यापकता सिद्ध करताहुआ कहता है, कि हे सर्व स्वरूप। तुम्हें सब ओरसे मेरा नमस्कार पहुंचे। हे नाथ! तुम कैसे हो? कि [**अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम् सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः**] तुम अनन्त वीर्यवाले और चराचरमात्रके भीतर बाहर व्यापरहे हो तुम्हारे अतुल पराक्रम की कहीं भी सीमा नहीं है। तुम्हारी जिस रचनाकी ओर दृक्पात होता है उसी ओरसे बुद्धि थकथकाकर ढीली होजाती है कहीं भी तुम्हारी असीम शक्तिकी सीमा नहीं पाती। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि तुम्हारी अनन्त शक्तिका कहीं भी अन्त नहीं है। तुम चाहो तो करोडों ब्रह्माण्डोंको पल मारते-मारते एक छोटीसी सूईकी नोंक पर ऐसे नचादो जैसे बालक एक छोटीसी घिरनीको नचाया करते हैं। तुम चाहो तो एक सूईके रन्ध्र होकर सहस्रों हिमाचल सदृश पर्वतोंको पैठाल लो और निकाललो। कहांतक कहूं? तुम्हारे अपरिमित पराक्रमका अन्त न तो आजतक किसीको मिला और न मिलेगा। चाहें असंख्य ब्रह्माण्डोंके अनगिनत योद्धा गण क्यों न एकत्र होजावें पर तुम्हारे

वीर्य (सामर्थ्य) के सम्मुख उन सबोंकी वीरता एक समुदाय होकर ऐसे है जैसे महासागरकी अनन्त जलराशिके सम्मुख एक अत्यन्त लघुतर जलसीकर (छोटी बूंद)। इसलिये हे भगवन् ! मैं तुम्हें अनन्तवीर्य कहकर सम्बोधन करता हूं।

शंका—अब यहां बहुतेरे विद्वानोंके चित्तमें यह शंका उत्पन्न होगी कि अनन्तवीर्य्य और अमितविक्रम इन दोनों पदोंके तो समान ही अर्थ हैं । फिर अर्जुनने एक ही अर्थके दो विशेषणों को कहकर भगवान की स्तुति क्यों की ? क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं है ? ।

समाधान— यहां भगवान्की स्तुति करतेहुए यदि कोई भक्त प्रेमविभोर होकर भगवत्के एक ही गुणको सहस्त्रों बार कहकर स्तुति करे तो उसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते । वरु एवम् प्रकार बार-बार पुकारनेसे प्रेम और भक्तिरसकी वृद्धि होती है । जैसे " हरे राम २ राम राम हरे हरे हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । " यहां भक्तने भगवान् को बार-बार कृष्ण कृष्ण और राम राम कहकर पुकारा है इसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते इसे भक्तिरस कहते हैं । किन्तु बहुतेरे शुष्क विद्वान् जो पठनपाठनमें तथा न्याय इत्यादि दर्शनोंमें तो परम प्रवीण हैं पर भक्तिसे एकबारगी शून्य हैं वे यों कहपडेंगे, कि नहीं यह तो तुम ने भक्तिपक्ष लेकर उत्तर दिया यथार्थ शब्दोंके अर्थसे उत्तर देकर शंकाका समाधान करो ! तो लो साहब ! अब मैं ऐसे विद्वानोंके बोध निमित्त समाधान करता हूं ।

अब जानना चाहिये, कि वीर्य्य और विक्रम यहां दो शब्द हैं. सो वीर्य्य कहते हैं प्रभाव पराक्रम और बल विक्रम कहते हैं शौर्य्य विद्याकी निपुणताको अर्थात् शस्त्रोंके प्रहारमें तथा बाणोंके संधानमें और भिन्न-भिन्न युद्धकलाओंमें निपुण होना । प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि बहुतेरे पुरुष शारीरिक बलमें तो पर्य्याप्त हैं पर शस्त्रों के प्रहारादिमें कुशल नहीं है । जैसे भीम जो शारीरिक ओजस्वितासे तो युक्त था अर्थात् बलमें तो बहुत विशेषता रखता था पर शस्त्र-कलामें उतनी कुशलता नहीं थी । इसीके उलटा बहुतेरे वीर शस्त्रादि प्रहार तथा युद्धकलामें तो परम प्रवीण होते हैं पर शरीरसे उतने बलवान् नहीं होते जैसे युधिष्ठिर ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि कोई शरीरका बलवान् और कोई शस्त्रकलामें विद्वान् होता है इसलिये यहां अर्जुनके कहनेका तात्पर्य यह है हे भगवन्! तुम तो अनन्तवीर्य्य भी हो और अमितविक्रम भी हो । तुममें बल और शस्त्रविद्या दोनों पूर्ण हैं ।

इसी अर्थको शंकराचार्य्यने अपने भाष्यमें यों कहा है, कि—
"वीर्यवानपि कश्चिच्छस्त्रादि विषये न पराक्रमते" अर्थात् वीर्यवान् भी कोई शस्त्रादिमें पराक्रमी नहीं होता ।

फिर मधुसूदनने भी ऐसा ही अर्थ किया है, कि "एकं वीर्याधिकं मन्य उतैकं शिक्षयाधिकम् त्वं तु अनन्तवीर्यश्चामितविक्रमश्च" यहां अमितविक्रम और अनन्तवीर्य दोनों पदोंका एक साथ अर्थ किया है और दोनों मिलाकर एक पद किया है ।

किसी-किसी भाष्यकारने अनन्तवीर्य्य पदको अलग करके सम्बोधनमें रक्खा है। अर्थात् हे अनन्तवीर्य ! तुम जो अमित पराक्रम-वाले हो सो मैं तुमको बारं-बार नमस्कार करता हूं।

अब अर्जुन कहता है, कि " सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व्वः" हे भगवन् ! तुम सब चराचरके अन्तर और बाहर व्यापरहे हो। एक पिपीलिका तथा एक तृण (तिनका) से लेकर ब्रह्मा तथा सुमेरु पर्वत पर्य्यन्त जितने पदार्थ इस तुम्हारी रचनामें हैं सबके बाहर भीतर व्याप रहे हो। श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि "ॐ दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मुं० खं० १ श्रु० १)

अर्थ— सो जो अमूर्त्तिमान् दिव्य पुरुष है और अजन्मा है वह सर्वत्र बाहर भीतर व्याप रहा है।

अब अर्जुन कहता है, कि एवम् प्रकार तुम सर्वत्र सब ठौर सब जड तथा चेतनमें तद्रूप होकर व्यापरहे हो इसी कारण तुम 'सर्व' कहेजाते हो ॥ ४० ॥

एवम्प्रकार भगवान्को बारं-बार नमस्कार कर अब अर्जुन अपनी उन ढिठाइयोंको तथा अपराधोंको जो उसने बचपनमें श्याम-सुन्दरको सखा और सम्बन्धि समझकर उनके साथ कियेथे क्षमा करानेके तात्पर्य्यसे कहता है—

मू०— सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं,
हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं,
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि,
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं,
तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः— [हे] अच्युत ! (न च्यवते स्वरूपतो यः तत्सम्बोधने हे अच्युत ! हे नित्यस्वरूप ! सर्वदा निर्विकार !) तव (ते) इदम् (दृश्यमानम्) महिमानम् (माहात्म्यम् येन चतुर्दशभुवनानि तवोदरे वर्त्तन्ते) अजानता (अनभिज्ञेन) मया (अर्जुनेन) प्रमादात् (विक्षिप्तचित्ततया अनवधानतया वा) प्रणयेन (प्रणयो नाम स्नेहस्तन्निमित्तो विश्रम्भस्तेन कारणेन) अपि, सखा (मित्रम् । समानवयाः । सहचरः ।) इति, मत्वा, यत्, हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! (मित्र ! सहचर !) इति, प्रसभम् (स्वोत्कर्षविष्करणपूर्वकम् । हठात्) उक्तम् (अभिभाषितम्) [तथा] विहारशय्यासनभोजनेषु (विहारः क्रीडा । शय्या तूलिकाद्यास्तरणविशेषः । आसनं सिंहासनादि भोजनम् अदनमित्येतेषु) एकः (एकान्ते) अथवा, तत्समक्षम् (तेषां मित्राणां परिहसतां समक्षम्) अपि, अवहासार्थम् (परिहासप्रयोजनाय) यत्, असत्कृतः (तिरस्कृतः) असि, तत्, अहम् अप्रमेयम् (प्रमाणातीतम्) त्वाम्, क्षामये (क्षमयामि) ॥ ४१,४२॥

पदार्थः—(अच्युत !) अपने स्वरूपसे नहीं च्युत होनेवाले-हे नित्यस्वरूप अच्युत ! (तव) तुम्हारे (इदम्) इस विश्वरूपके व्यापक (महिमानम्) महात्म्यको (अजानता) नहीं जाननेवाले (मया) मुझ अर्जुनसे (प्रमादात्) अनवधानता अथवा चित्त विक्षेपके कारण (वा) अथवा (प्रणयेन) प्रेमके कारण (अपि,) भी (सखा) तुम हमारे मित्र हो (इति मत्वा) ऐसा जानकर जो मैंने (हे कृष्ण) हे कृष्ण ! (हे यादव !) हे यदुवंशी ! (हे सखे !) हे हमारे मित्र ! (इति) इतने वचन (यत्) जो (प्रसभम्) हठात् बड़े घमंडके साथ (उक्तम) तुम्हारे विषय मेरे मुंहसे वारम्वार उच्चारण होचुकेहैं तथा (विहारशय्यासनभोजनेषु) नाना प्रकारसे खेल कौतुकके समय, एक शय्यापर लेटनेके समय, एकआसनपर बैठनेके समय और एक संग भोजन के करने समय जो नानाप्रकारकी मुझसे ढिठाइयां हो चुकी हैं (एकः) अकेलेमें अथवा (तत्समक्षम्) तिन अपने मित्रोंके सामने (अपि) भी (अवहासार्थम्) केवल हंसी ठट्ठाके तात्पर्य्यसे (यत्) जो कुछ (असत्कृतः असि) मेरे द्वारा तुम निरादर किये गये हो (तत्) तिन सब अपनी ढिठाइयों और अपराधोंके लिये (अहम्) मैं (अप्रमेयम्) अनन्तस्वरूप (त्वाम्) तुमको दोनों कर जोड़-कर (क्षामये) क्षमा करनेकी प्रार्थना करता हूं ॥ ४१, ४२ ॥

भावार्थः— अर्जुनको जो भगवान्‌ने दिव्यदृष्टि प्रदान करके अपने विश्वरूपका दर्शन कराया सो दर्शन पाते ही अर्जुन भगवत् माहात्म्यको पूर्णप्रकार जानगया । क्योंकि भगवत्‌ने अपने विश्वरूपमें विलग-विलग तीनों गुणोंको दिखलादिया । रजोगुण अर्थात्

अपनी रचनात्मकशक्तिको पूर्णप्रकार प्रत्यक्ष करनेके लिये प्रथम ब्रह्माके स्वरूप का दर्शन कराया जिसका दर्शन पातेही अर्जुन बोल उठा, कि हे भगवन् ! तुम्हारी देहमें " ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम् ," (श्लो० १५) जगत्के ईश ब्रह्माको कमलासन अर्थात् पद्मासनमें बैठे हुए देखता हूं। एवम्प्रकार भगवान्का प्रथम रजोगुण भगवान् का दर्शन करा फिर सत्त्वगुणका अर्थात् पालनात्मकशक्तिका दर्शन कराते हुए अपने विष्णुरूपका दर्शन कराया जिसे देख अर्जुन बोला, कि हे भगवन् ! मैं तुम्हारे शरीरमें " किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च " (श्लो० १७) किरीट, गदा और चक्रधारी विष्णुको देखरहा हूं। पश्चात् भगवान्के तमोगुण (संहारात्मकशक्ति) अर्थात् विश्वका संहार करनेवाली प्रलय-कालकी भयंकर शक्तिका दर्शन कराते हुए रुद्ररूपका दर्शन कराया तब अर्जुन कांपताहुआ, भयभीत होताहुआ परम व्यथासे व्यथित बोल उठा था कि " दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि " (श्लोक २५) हे भगवन् ! तुम्हारे बडे २ दांतोंसे युक्त भयानक और ज्वलित प्रल-याग्निके समान तुम्हारे ज्योतिर्मय मुखसमूहोंको देखकर मैं ऐसा डरा हूं, कि दिशाओंका भी मुझे इस समय बोध नहीं है ! तथा सम्पूर्ण राजमंडल के सहित ये धृतराष्ट्रके पुत्र गण तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण इत्यादिवीरगण तुम्हारे दांतोंकी संधियोंमें लटके हुए देखपडते हैं अर्थात् इनसे युक्त मैं तुम्हारे रुद्ररूपकोदेखरहा हूं।

एवम्प्रकार त्रिगुणमय भगवान्के विश्वरूपको देखकर अर्जुन परम विस्मयको प्राप्त हुआ और ऐसे महत्वको देख अर्जुनको भगवान्

की पूर्ण महिमाका बोध होगया तब उसे वह समय स्मरण होआया, कि जब वह बचपनमें अपने सखाओंके संग श्यामसुन्दरके साथ नाना प्रकारका विहार करताहुआ खेलता और कूदता फिरता था ऐसा स्मरण होते ही वह बहुत लज्जित हुआ और संकोच खाताहुआ बोला, कि भगवन्! [सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति] मैंने तुमको अपना सखा समझकर जो बातें बलात्कार उत्कर्षतासे भरीहुई तुमसे कही हों और हे कृष्ण! हे यदुवंशी! हे सखा! इत्यादि वचनोंसे तुमको बारम्बारपुकारा हो। अर्थात् जब तुम कभी किसी अन्य सखाओंके संग बातोंमें लगजाते थे वा उनके संग खेलमें फँसकर मुझसे विलग हो कहीं दूर चलेजाते थे तो मैं तुमको अपने समीप बुलानेके लिये अहंकारयुक्त ऊँचे स्वरसे पुकार बैठता था, कि अरे ओ कृष्ण! वा ओ यादव! ओ मित्र! इधर आ, सुन तू मेरी बातें सुन! देख तू मेरे संग खेल और देख तो, कि मैं अबकी बार तुझे कैसी हारमें डालता हूं। देख! अब मैं तुझे एक पल्ला भी जीतने नहीं दूंगा। एवम्प्रकार बडी असावधानतासे जो हे भगवन्! मैं तुमको पुकारा करता था तिसका मुख्य कारण यही था, कि [अजानता महिमानं तवेदम् मया प्रमादात् प्रणयेन वापि] मैं तुम्हारी महिमाको जिसे अब जाना है तिसे तब कुछभी नहीं जानता था। मैं तो ऐसा ही जानता था, कि तुम मेरे भाई हो सखा हो, मित्र हो! और अपने हो। इसी अज्ञानतासे ऐसे चित्तके भ्रमके कारण अथवा प्रेमके कारण जो मुझसे ढिठाइयां होचुकी हैं वे इस समय जब स्मरण

होजाती हैं तब चित्तको बडी भारी ग्लानि होती है तथा बहुत शोक होता है, कि हा ! हे भगवन् ! मैंने यह क्या किया ? परन्तु हे नाथ ! यदि तनिककभी उस समय तुम्हारे यथार्थस्वरूपका मुझे बोध होता और मैं जानता होता, कि तुम साक्षात् पूर्णब्रह्म जगदीश्वर हो तो उस बचपनमें भी मैं तुम्हारे कमलसदृश कोमल चरणोंकी सेवा करता, नेत्रोंमें लगाता और तुम्हारी नखमणियोंको चूमता। तुमको हे कृपालु ! हे दीन-दुखहरण ! हे अशरणशरण ! हे भक्तवत्सल कहकर पुकारता। दोनों बेला तुम्हारी आरती उतारता ! जूठन भोजन करता ! पर हा हन्त ! क्या करूं। "अब पछताये सेर न कछु यह अवसर चूक कठोर" अब तो वह बाल्यावस्था जाती रही वह अपार सुषमा जाती रही। जो-जो सेवाएँ मुझे बचपनमें करनी थी उन सबोंको मैंने नहीं कीं। जैसे किसी के हाथसे मुट्ठीभर मोती, हीरे, लाल गिरजावें ऐसे तुम्हारे बचपनके समयकी सेवा मेरी मुट्ठीसे जाती रही। अब क्या करूं ? प्रभु ! जैसे कोई एक पात्र भरे लाल वा मोतियोंको चिडियोंके उडानेमें जंगलमें फेंकदेवे ऐसे मैंने तुम्हारी समीपताका आनन्द खेलकूदमें गँवा दिया। इतना ही नहीं वरु मैंने समय-समयपरें तुमसे अनुचित कार्य्य भी लिया ! भला देखो तो सही मैंने तुमको वशीठी बनाकर कौरवोंके पास भेजा था। हा ! कैसा अनुचित ? कैसी असावधानता ? यह कितना बडा असीम अप-राध है, कि समुद्रमें भी नहीं समासकता।

हे त्रिभुवनपति ! अधिक क्या कहूं ? ये सब प्रमादवश अथवा प्रेमवश जो मैंने तुम्हारे साथ बर्ताव किया और इनसे अतिरिक्त भी

[यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु] जो केवल हँसी ठट्ठेके तात्पर्य्यसे एक संग आसन, अशन और शयन के समय तुम्हारा निरादर कियागया सो [एकोऽथवाप्यच्युत! तत् समक्षं तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम्] हे अच्युत! हे अनन्तस्वरूप! अकेले तथा और सखाओंके संग की हुई इन सब ढिठाइयोंके लिये तुम्हारे समक्ष दोनों हाथ जोडकर क्षमाका प्रार्थी हूं।

अर्जुनका तात्पर्य्य यह है, कि कभी-कभी जो दौडकर मैंने अपनी अँगुलियोंसे हँसनेके लिये तुम्हारी कुक्षिभाग छूकर गुदगुदी लगायी जिससे तुम भी हँसते-हँसते पृथ्वी पकड बैठ जाते थे और मैं भी अन्य सखाओंके साथ तुम्हारी ओर देख-देखकर हंसता था तथा जो कभी तुम अपने मन्दिरमें बैठे रहते थे तो मैं हँसने हँसानेके तात्पर्य्यसे झट दौडकर पृष्ठभागकी ओर चुपके खडे हो अपने हाथोंसे तुम्हारी आंखें बन्द करलेता था और तुम्हारे इस मधुर वचनपर, कि कौन है ? बोल ! मैं नहीं बोलता था वरु चुप खडा रहता था। एवम्प्रकार कभी—कभी मैं तुम्हारे मोरमुकुट और पीताम्बरको स्नान करते समय चुराकर वृक्षोंपर रख आता था और तुमको उसके ढूंढनेमें व्यग्र करता था। हे अच्युत! तुम जो कभी अपने स्वरूपसे च्युत होनेवाले नहीं हो नित्य एक रस हो सो मैं तुम्हारे संग अकेले अथवा संगके सहचरोंके साथ जब कभी क्रीडास्थानमें नाना प्रकारसे विहरता हुआ भिन्न--भिन्न क्रीडा-

ओंके करनेमें आनन्दविभोर होजाता था तो मुझको ऐसा भी अहंकार उत्पन्न होआता था, कि कृष्ण मेरा संगी है आज मैं अपने खेलके जीतेहुए पल्लोंकी संख्या अधिक करके कृष्णको एक पांवपर दौडाऊँगा और जब मैं ऐसा ही करता था तब तुम अपने त्रिभुवन-पति होनेकी मर्यादा छोड मेरी आज्ञानुसार मुसकराते और हंसतेहुए एक पांवपर उछलते हुए मेरे पल्लोंको पूर्ण करते थे। हा! हे अच्युत! इस मेरी प्रगल्भताकी ओर विचारो तो सही, कि जब तुम कभी आनन्दित होकर बडे प्रेमसे मेरे गलेमें अपनी भुजा डालकर बातें करते चलते थे तो मैं अनवधानताके कारण तुम्हारी भुजाओंको अपने गलेसे हटादिया करता था फिर जब कभी तुम मेरे संग चौपड खेलते-खेलते मेरी बटिका मारलेते थे तो मैं तुम्हारे पाशाको अपनी चतुराई से झट उलटकर अपनी मारीहुई बटिकाको तुम्हारी कलाई पकडकर झटिति झटक देता था और अपनी बटिका तुम्हारे हाथसे छीन लेता था। हा! हे भगवन्! यह अपराध क्या कभी भूलने योग्य है? फिर जब कभी खेलते-खेलते मैं तुमसे रूठजाया करता था तो थोडी देरतक तुम भी मुझे रूठाहुआ देख मेरे समीप आ मेरा बहुत आदर सम्मान करते थे और चिरकालपर्यन्त मन्द मन्द मुसकानके साथ अपने पीताम्बरसे मेरा मुख बडे स्नेहके साथ पोंछतेहुए मधुर २ वचनों से मुझे मनाते थे। मानजानेपर हम दोनोंके नेत्र प्रेमके अश्रुओंसे भरजाते थे और परस्पर प्रेमालाप करते थे। हा! मेरी इन प्रगल्भताओंकी कहांतक सीमा होसकती है, कि तुम मुझे मनाओ और मैं एक तुच्छ उ

कितना कहूं, क्या कहूं और कहांतक कहूं ? हे दीनदयाल प्रणतपाल ! भक्तवत्सल ! एक शय्यापर सोतेसमय जबमेरे पांव तुम्हारे शरीरसे छू जाते थे तो उस समय मुझको तनकभी विचार न होता था कि ये मेरे तुच्छ पांव किसके शरीरसे छूरहे हैं तथा एक संग लेटे२ जब मैं तुमसे यह कहता था, कि रे कृष्ण ! तू वह गीत तो सुना जो तूने वृन्दावनमें गाया था इतना कहनेपर जब तुम गाने लगते थे तो मैं तुम्हारे होठोंको अपने हाथोंसे संपुटितकर कहता था, कि बस चुपरह ! अब मैं सुनचुका । फिर मसनद तकियोंपर एकसाथ बैठते हुए मैं कितनीबार तुम्हारी ओर पीठ फेरकर बैठ जाता था । इन अपराधोंकी कहीं गिनती भी है ? इन अपराधोंका कितना बडा दण्ड होना चाहिये । क्या कहूं भोजनके समय जब एक थालमें बैठकर हम तुम मिष्टान्न भोजन करते थे तो मैं झटककर मिष्टान्नका खण्ड तुम्हारे अधरोंसे निकालकरे आप खाजाता था ।

एवम्प्रकार हे वंशीधर ! हे गिरिधर ! हे क्षमासागर ! हे नटनागर! मैं अपने अपराधोंकी कहां तक गणना कराऊं । अब तो मेरी यही विनय है, कि " तत् क्षामये त्वामहमप्रमेयम् " हे भगवन् तुम अप्रमेय हो अर्थात् तुम्हारी कुछ थाह नहीं है आकाशकी थाह मिलजावे तो मिलजावे पर तुम्हारी कृपालुताका पता लगना बडा कठिन है । अतएव भूलसे, प्रमादसे, अहंकारसे, लडकपनसे जो कुछ भी अपराध मुझसे होचुके हैं उन सबोंको हे क्षमासागर ! मैं तुमसे क्षमा कराना चाहता हूं, अब तुम कृपाकर क्षमा करदो और मुझे बिना मूल्य अपना सेवक जानो ॥ ४१, ४२ ॥

अब अर्जुन अपने अपराधोंकी क्षमाके तात्पर्यसे भगवत्‌की स्तुति करताहुआ कहता है, कि—

मू०— पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो,
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥

पदच्छेदः— [हे] अप्रतिमप्रभाव ! (प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा । न विद्यते प्रतिमा ते यस्य असौ प्रभावो यस्य तस्य सम्बोधने) अस्य, चराचरस्य (स्थावरजंगमस्य) लोकस्य (प्राणिजातस्य) पिता (जनकः) असि [तथा] पूज्यः (पूजयितुं योग्यः) च, गुरुः (गृणाति हितमुपदिशतीति यः) [च] गरीयान् (श्रेष्ठादपि श्रेष्ठः । गुरुतरः) च (त्वम्) लोकत्रये (भूर्भुवःस्वराख्ये लोकत्रये स्वर्गमर्त्यपाताले वा) अन्यः, त्वत्समः (त्वत्तुल्यः) अपि, न, अस्ति, अभ्यधिकः (अधिकपराक्रमः) कुतः (कस्मात् हेतोः) ॥ ४३ ॥

पदार्थः—(अप्रतिमप्रभाव !) हे अनन्तपराक्रमवाले ! (त्वम्) तुम ही (अस्य चराचरस्य) इस स्थावर जँगममय (लोकस्य) लोकके (पिता) उत्पन्न करनेवाले पिता (असि) हो और (पूज्यः) पूजने योग्य हो (च) फिर (गुरुः) इसके उपदेष्टा भी तुमही हो (च) फिर (गरियान् च) श्रेष्ठोंसे भी श्रेष्ठतर हो

(लोकत्रये) इन तीनों लोकोंमें (अन्यः) दूसरा कोई (त्वत्समः) तुम्हारे समान (अपि) भी (न अस्ति) नहीं है फिर (अभ्यधिकः) तुमसे अधिक (कुतः) कब कौन होसकता है ? ॥ ४३ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगताहुआ यों कहता है, कि हे भगवन् [**पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्**] तुम इस स्थावर जंगममय लोकके उत्पन्न करनेवाले 'जनक' पिता हो और इस संपूर्ण विश्वके पूज्य हो ।

यहां ' पिता ' कहनेसे अर्जुनका अभिप्राय यह है, कि तुम पिता हो और हम लोग सब तुम्हारे पुत्र हैं फिर पिताका यह स्वाभाविक धर्म है, कि पुत्रके अपराधोंको क्षमा करता ही है इस कारण तुम भी मेरे अपराधोंको क्षमा करोगे । इतना ही नहीं, कि इस संपूर्ण जगत्का तुमसे केवल पिता पुत्रका ही सम्बन्ध है । नहीं ! नहीं ! तुम तो इस संपूर्ण विश्वके पूजनीय हो अर्थात एक छोटी पिपीलिकासे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सब तुम्हारी पूजा करते हैं और सब तुमको बारंबार सीस नवाते हैं । तुम ईश्वर हो, देवोंके भी देव हो इसलिये महेश्वर हो । सबके स्वामी और प्रभु हो.इसकारण तुमसे चराचरको स्वामी सेवकका भी सम्बन्ध है और स्वामीका स्वाभाविक धर्म है, कि भृत्यके अपराधोंको क्षमा करदेता है इस कारणसे भी तुम अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करोहीगे । यदि ऐसा कहो, कि ब्रह्मादि देव तथा वेदादि भी तो संसारके उपदेश करनेवाले गुरु हैं सो सच है पर तुमतो 'गुरुर्गरीयान् ' गुरुओंके भी गुरु हो

इसलिये यदि अन्य कोई गुरु अपने शिष्यका भी कभी दण्ड करे तो करले पर तुम तो कभी दण्ड कर ही नहीं सकते। सदा शिष्योंके अपराधोंको क्षमा करना तुम्हारा सनातन धर्म्म है। इस कारण तुम मेरे अपराधोंको अवश्य क्षमा करोगे।

यदि ऐसा कहो, कि दूसरे देव भी तो क्षमा करनेवाले हैं और मेरे समान प्रभावशाली हैं वा मुझसे अधिक हैं उनसे क्षमा करालें तो ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि एक तो मैंने अन्य किसी देव देवीका कुछ अपराध किया ही नहीं जो उनसे क्षमा कराऊँ अपराध तो तुम्हारा ही किया है फिर उस अपराधका निस्तार तुमको छोड और कौन करेगा?।

दूसरी बात यह है, कि स्वर्ग, मर्त्य और पाताल तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान कोई दूसरा है भी नहीं। तुमसे अधिक होना तो कब होसकता है? क्योंकि तुम तो अलौकिकप्रभाव वाले हो, परमपूजनीय हो, अतुलपराक्रमवाले हो अनन्त ऐश्वर्य्यवाले हो और अद्वितीय हो। [**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोन्यो लोकत्रयेप्यप्रतिमप्रभाव**] जब तुम्हारे समान ही कोई नहीं है तो तुमसे अधिक शक्ति वाला दूसरा ईश्वर कहांसे आवे इसीलिये तो हे भगवन् तुम तीनों लोकोंमें अनन्त प्रभाव वाले कहे जाते हो। प्रमाण वेद " **ॐ न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः** " (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३) अर्थ- उस महाप्रभुकी प्रतिमा अर्थात् उसके समान प्रभाववाला कहीं कोई नहीं है जिसके नामका महायश इस संसारमें फैला हुआ है।

फिर जब ऐसा सिद्ध होगया, कि तुम्हारे समान कोई भी नहीं है तो तुम ही अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करोगे ॥ ४३ ॥

इसी कारण हे भगवन् !

मू— तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्,
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः,
प्रियः *प्रियायार्हसि देव! सोढुम् ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः— देव! (नरनारायणात्मकक्रीडाभिधानेन लोकानां बुध्यावरणसमर्थ!) तस्मात् (पूर्वोक्तकारणात्) अहम् (अपराधी अर्जुनः) कायम् (शरीरम्) प्रणिधाय (दण्डवत् भूमौ निपत्य) प्रणम्य (नमस्कृत्य) ईड्यम् (स्तोतुं योग्यम्) त्वाम् ईशम् (ईशितारम् । सर्वनियन्तारम् । जगतः स्वामिनम्) प्रसादये (प्रसन्नं करोमि) [अतः] पुत्रस्य (निजबालकस्य) पिता (जनकः) इव (सदृशः) सख्युः (मित्रस्य) सखा (निरुपाधिबन्धुः) इव (सदृशः) प्रियायाः (पतिव्रतायाः भार्य्यायाः) प्रियः (भर्त्ता) [इव] सोढुम् (क्षन्तुम्) अर्हसि (योग्योऽसि) ॥ ४४ ॥

पदार्थः—(देव !) हे क्रीडा करके लोकोंकी बुद्धि पर आवरण डालने वाले (तस्मात्) पूर्व वर्णन किए हुए कारणोंसे (अहम्) मैं (कायम्) अपने शरीरको (प्रणिधाय) दण्डके समान तुम्हारे आगे गिराकर (प्रणम्य) प्रणाम करके (ईड्यम्)

* यहां छान्दससन्धि है तथा आर्षसन्धि है ।

स्तुति किये जाने योग्य (त्वाम् ईशम्) तुम ईश्वरको (प्रसादये) प्रसन्न करता हूं । तुम तो (पुत्रस्य) पुत्रके लिये (पिता इव) पिताके समान (सख्युः) सखाके लिए (सखा इव) सखाके समान तथा (प्रियायाः) पतिव्रता स्त्रीके लिए (प्रियः) उसके भर्त्ता के समान हो सो तुम मेरे (सोढुम्) अपराधोंको सहने और क्षमा करनेके (अर्हसि) योग्य हो । ॥ ४४ ॥

भावार्थः—अब अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! तुम अवश्य मेरे अपराधोंको क्षमा करने योग्य हो इसी कारण [**तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम् प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्**] मैं अपने इस शरीरको दण्डके समान तुम्हारे आगे गिराकर प्रणाम करके अर्थात् साष्टांग दण्डवत् करके हे ईश ! हे स्तुति किये जाने योग्य ! अनेक ब्रह्माण्डोंके प्रभु ? तुमको प्रसन्न करता हूं । क्योंकि जबतक किसीका स्वामी किसी अपने सेवकपर प्रसन्न न हो तबतक उसके अपराधोंको क्षमा नहीं करता । इसी कारण मैं साष्टांगकर प्रथम तुमको प्रसन्न कर लेता हूं ।

यदि यह कहो, कि केवल एकबार दण्डवत् नमन करनेसे तू मुझे ठगोंके ऐसा ठगना चाहता है तो हे भगवन् ! ऐसा न समझो ठग तो केवल अपना काम निकाल लेनेके कारण थोडी देरके लिये झूठमूठ बाहरके दिखाने के लिये दण्डवत् प्रणाम करता है यथार्थ-हृदयसे दण्डवत् प्रणाम नहीं करता सो हे भगवन् ! ऐसा ठग मुझे मत समझो । तुम तो सबके हृदयके और अन्तःकरणकी गतिके जानने

वाले हो। सहस्रों योजन समुद्रके नीचे जो एक छोटीसी रेणुका है उसे भी तुम जाननेवाले हो तो क्या तुम मेरे हृदयकी गति नहीं जानते ? अवश्य जानते हो। फिर तो मैं यही कहूंगा, कि यदि यह तुम्हारा अर्जुन सच्चे भावसे नम्रतापूर्वक अन्तःकरणसे अपने अपराधोंकी क्षमा मांगता हो तब तो तुम मेरे सर्वप्रकारके अपराधोंको जो बचपनसे आजतक मुझ से होचुके हैं क्षमा करदो। यदि यह कहो, कि एक ओर तो तू क्षमा मांगरहा है और दूसरी ओर अपने स्वार्थ-वश मुझे सारथी बनाए हुए है। क्या इसे मैं तेरी धूर्ततामें गणना नहीं करूंगा ? कि अपना कार्य्य निकालनेके लिये धूर्ततावश अपराध भी करता चलाजावे और क्षमाभी मांगता चलाजावे। सो हे प्रभो! ऐसा न समझो वरु तुमतो स्वयम् अपने मुखसे अभी कहचुके हो, कि **कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः, निमित्तमात्रं भव सव्य-साचिन्"** तक (श्लो ३२, ३३,) मैं कालस्वरूप हूं लोकोंके नाश करनेमें इस समय तत्पर हूं। तुझको एक निमित्तमात्र बनाकर इस रथपरे लाया हूं मैंही सबको मारडालूंगा तू केवल निमित्तमात्र होजा। इन तुम्हारेही वचनोंसे स्पष्ट होताहै, कि मैंने तुमको धूर्तताकरके सारथी नहीं बनाया वरु तुम ही मुझको निमित्तमात्र करके रथी (योद्धा) बना लाये हो। सो हे भगवन् ! मैं क्या कहूं ? मैं तो फिर भी यही कहूंगा, कि **[पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम्]** जैसे पिता पुत्रके अपराधको, मित्र मित्रके अपराधको और स्वामी अपनी पतिव्रता स्त्रीके अपराधको सहन करलेता हैफिर क्षमा करदेताहै. इसीप्रकार हे भगवन् ! तुम मेरे अपराधको जिस नातेसे चाहो क्षमा

करदो। क्योंकि सांसारिक पिता, मित्र वा भर्ता कहनेमात्र हैं इनको केवल दैहिक सम्बन्ध है। न जाने इस जीवके कितने जन्म होचुके और जहां जहां जिस योनिमें यह जीव गया तहां-तहां तिस२ योनिमें एक-एक पिता भ्राता, भर्ता, मित्र मिलते चलेगये अगले पिता, मित्र इत्यादिसे सम्बन्ध होतागया और पिछलेसे छूटता गया। इस प्रकार एक जीवके सहस्र प्राकृत पिता, भ्राता, सखा इत्यादि होगये पर तुम तो सदा एकरस और नित्य होनेके कारण जहां यह गया तहां तुमसे तो नित्यका सम्बन्ध बनारहा। इस कारण तुम तो सदासे इस जीवके पिता, माता, सखा इत्यादि बनेहुए हो।

यहां देव शब्द कहकर जो अर्जुनने भगवानको पुकारा है इस का मुख्य तात्पर्य यह है, कि दिवुक्रीडने धातुसे देव बना है अर्थात् नाना प्रकारकी क्रीडा करनेवालेको देव कहते हैं। सो अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! तुम तो सदा क्रीडा करनेवाले हो सो बचपनमें भी तुम ही ने नाना प्रकार मेरे साथ क्रीडा की सो अब कालस्वरूप होकर मेरे साथ रथवान बनकर क्रीडा कररहे हो इसलिये तुम स्वयं विचार कर अपनेको सब खेलोंका खिलाडी जानकर मेरे अपराधोंको क्षमा करो॥ ४४ ॥

अब अर्जुन अपने अपराधोंको क्षमा करवाताहुआ अगले दो श्लोकोंमें भगवान् को अपने पूर्वस्वरूपके दर्शन करानेकी प्रार्थना करता है—

मू०– अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा,
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव! रूपम्,
प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ ४५ ॥

पदच्छेदः— अदृष्टपूर्वम् (मया अन्यैर्वा न दृष्टपूर्वम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) हृषितः (उत्फुल्लः) अस्मि, भयेन (रौद्रशक्त्या जनितेन चित्तवैक्लव्यदेन त्रासेन) मे, मनः, प्रव्यथितम् (दुःखितम् जातम्) च [हे] देव ! (स्वयंप्रकाश !) [हे] देवेश ! (देवनियन्तः महेश्वर !) मे (मह्यम्) तव (पूर्वदृष्टम्) रूपम् (प्राचीनं मम प्राणापेक्षयापि प्रियं रूपम् धारणाविषयभूतम् । किरीटविभूषितम्) एव (निश्चयेन) दर्शय (नेत्रगोचरं कारय) [हे] जगन्निवास ! (विश्वाधार !) प्रसीद (प्रसन्नो भव) ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (अदृष्टपूर्वम्) मुझसे तथा अन्य किसीसे जो पहले नहीं देखागया ऐसे तुम्हारे विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (हृषितोस्मि) मैं परम हर्षको प्राप्त हुआ हूं तथा (भयेन) तुम्हारे रुद्रस्वरूपको देखकर त्राससे (मे मनः) मेरा अन्तःकरण (प्रव्यथितं च) परम व्याकुलताको भी प्राप्त होरहा है इसलिये (देव !) हे स्वयंप्रकाशस्वरूप (देवेश !) हे सर्वदेवोंके ईश महेश्वर ! (जगन्निवास!) हे सम्पूर्ण विश्वके आधार! (प्रसीद) प्रसन्न हो और (मे) मेरी प्राणरक्षाके निमित्त (तत् रूपम्)

वह पहला सुन्दर स्वरूप (एव) निश्चय करके (दर्शय) दिखलाओ ॥ ४५ ॥

भावार्थः— अब अर्जुन भगवानके विश्वरूपको देखते-देखते सन्तुष्ट होगया । इसलिये भगवत्की स्तुति करता हुआ पूर्वआले परम प्रिय वासुदेव स्वरूपके देखनेकी इच्छा से कहता है, कि [अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे] हे भगवन् ! जिस स्वरूपको न तो मैंने और न किसी दूसरे देव, दनुज, मनुज, किन्नर, गन्धर्वादिने कभी भी देखा ऐसे तुम्हारे स्वरूपको देखकर मैं बहुत हर्षको प्राप्त हुआ हूं फिर उसी तुम्हारे स्वरूपको देखकर मेरा अन्तःकरण परम व्याकुलताको प्राप्त हो दुखी होरहा है ।

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि अर्जुनके अन्तःकरणके सम्मुख जो भगवत्की विश्वमूर्त्ति आयी है अर्थात् विश्वरूप ने उसके अन्तःकरणपर जो आवरण डाला है सो विश्वरूप बहुरंगा है इसलिये इस समय अर्जुनके अन्तःकरणपर क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका छाप पडरहा है । अतएव हर्ष और व्यथा दोनों वृत्तियोंका एकबार स्फुरण होना संभव है । यह गुण केवल उस सच्चिदानन्दहीमें है, कि दो विरुद्ध धर्म एकसंग कार्य्य करते हैं उस महाप्रभुको छोड ऐसा अन्य कोई देव देवी नहीं है जिसमें दो विरुद्ध धर्म एकबार एकही समय पाये जावें ।

इसी कारण अर्जुनने " हृषितोस्मि " और " प्रव्यथितं मनो मे " कहा अर्थात् मैं हर्षित होरहा हूं और मेरा मन दुखी भी होरहा है । ये दोनों बातें कहना उचित है ।

दूसरी बात यह है, कि आजतक भगवत्‌ने ऐसी कृपा किसीपर नहीं की केवल अर्जुन ही पर की है. जो अपना विश्वरूप दिखला-दिया है इसी कारण भगवत्‌को अपने ऊपर कृपायुक्त जानकर अर्जुन हर्षको प्राप्त होरहा है ।

अतः प्रार्थना करता है, कि [**तदेव मे दर्शय देव ! रूपम् प्रसीद देवेश ! जगन्निवास !**] हे स्वयं प्रकाशस्वरूप ! मेरे स्वामी कृपाकर अब मुझको वही पहिला स्वरूप दिखलाओ और हे जगदाधार ! मुझपर प्रसन्न होवो । अर्थात् जिस स्वरूपको मैं बचपनसे आजतक देखता चला आरहा हूं, जिस स्वरूपमें मेरी परम प्रीति है, जिस स्वरूपको मैंने अपनी धारणा योग्य समझा वही मंजुलमूर्त्ति, वही मनोहर मूर्त्ति, वही विनोदविकसित मधुरमुख श्रीसारथीरूपमें सुशोभित अश्वोंकी बागडोरको हाथोंमें लिये हुए जो तुमने दर्शन दिया था हे भगवन् ! वैसाही सौन्दर्य्यमय और आनन्दमय रूप मुझे पुनः दिखलाओ ॥ ४५ ॥

अब किस स्वरूपको अर्जुन देखना चाहता है ? सो अगले श्लोक में स्पष्ट कर कहता है—

मू०— किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामित्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन,
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ! ॥ ४६ ॥

पदच्छेदः— [हे] सहस्रबाहो ! अहम, त्वाम (विश्वरूपम) तथा, एव (यथापूर्वमेव) किरीटिनम् (किरीटवन्तम्) गदिनम् (गदावन्तम) चक्रहस्तम (सुदर्शनं हस्ते यस्य तादृशम्) द्रष्टुम (अवलोकयितुम) इच्छामि [तस्मात् हे] विश्वमूर्त्ते, तेन (किरीटादिसहितेन) चतुर्भुजेन (चतुर्बाहुयुक्तेन) रूपेण (स्वरूपेण) एव, भव ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (सहस्रबाहो) हे अनन्त भुजावाले महाप्रभु ! (अहम) मैंने (त्वाम) तुमको (तथा एव) जिस प्रकारे पहले देखा है वैसे ही (किरीटिनम) किरीटको धारण कियेहुए (गदिनम्) एक हाथमें गदा धारण किये हुए तथा (चक्रहस्तम्) दूसरे हाथमें सुदर्शनचक्र धारण कियेहुए (द्रष्टुम्) देखनेकी (इच्छामि) इच्छा कर रहा हूँ इसलिये (विश्वमूर्त्ते) हे विश्वरूप ! (तेन चतुर्भुजेन) उसी चार भुजावाले (रूपेण) स्वरूपसे (एव) निश्चय करके (भव) प्रकट होजाओ ॥ ४६ ॥

भावार्थः— अर्जुन किस स्वरूपको दिखलानेकी प्रार्थना कररहा है ? सो कहता है, कि [किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव] हे भगवन् ! अब मैं किरीट, शर्ख

चक्र, गदा धारण किये हुए तुम्हारे चतुर्भुजी रूपको देखना चाहता हूं अतएव [**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो ! भव विश्वमूर्त्ते !**] हे सहस्रों भुजावाले अर्थात् अनन्त भुजाओंके धारण करने वाले विश्वरूप ! अब तुम मुझपर कृपाकरके उसी चारभुजावाले स्वरूपसे मेरे समीप प्रकट होजाओ ।

शंका— अर्जुनने भगवान्का स्वरूप सदा दो भुजायुक्त देखा है अब चारभुजावाला क्यों कहरहा है ? चार भुजावाला स्वरूप तो अर्जुनने कभी भी नहीं देखा फिरे ऐसा क्यों कहा ?

समाधान—इसमें सन्देह नहीं, कि अर्जुनने जो दो भुजावाले कृष्ण स्वरूपको देखा था उसमें तो उसका सखाभाव था ईश्वरभाव नहीं था इसलिये इस समय उसको दो भुजावाली मूर्त्तिके देखनेकी इच्छा नहीं वह तो भगवान्की भयंकर मूर्त्तिसे घबराकर अब उनकी सौम्यमूर्त्तिको देखा चाहता है जिसे उसने पहले कईबार ध्यानमें देखा है कबकब देखा है ? सो सुनो सर्वोपर विदित है कि अर्जुन परम पवित्र क्षत्रियवंशमें कमलके सदृश उत्पन्न हुआ था जिसने क्षात्र धर्मका पूर्णप्रकार पालन कररखा था संध्यादि कर्मोंके पश्चात् उपासनाके समय वह भगवत्की चतुर्भुजी मूर्त्तिका ध्यान किया करता था और भगवान् समय समय पर कृपा करके उसके हृदयकमलमें अपनी चतुर्भुजी मूर्त्ति दिखला-दिया करते थे इस कारण अर्जुनकी धारणा सदा चारभुजावाली विष्णु मूर्त्तिमें ही बनी रही। अतएव अर्जुन कहता है, कि हे भगवन् ! कृपा करे उसी चतुर्भुजी मूर्त्तिका दर्शन कराओ जिसे मैं संध्याके समय

उपासना करते हुए देखा करता था। क्योंकि विराट्मूर्तिके दर्शन से अब अर्जुन उनको जगदीश्वर जानरहा है। दो भुजा वालेमें तो उसे ईश्वरकी बुद्धि थी ही नहीं। वह तो अपना फुफेरा भाई वा सखा जानता था और वैसा ही वर्ताव भी रखता था जैसा, कि (श्लोक ४१-४२) में कहआये हैं और केवल संध्याके समय कभी २ चतुर्भुजी मूर्तिको देखा करता था। इसलिये उसी माधुर्यमय चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन करानेकी प्रार्थना करता है। शंका मत करो।

अभिप्राय यह है, कि भगवान् तो **अणोरणीयान् महतो महीयान्** है अर्थात् जब चाहे छोटेसे छोटा परम लघु बन जावे और जब चाहे बडेसेबडा परम विशाल बनजावे। सो भगवान्नेजो इस समय जो अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान कर 'महतो महीयान्' बडेसे बडा रूप दिखलाया है सो जैसे २ भगवान् उस दिव्यदृष्टिको आकर्षण करते चले जाते हैं वैसे वैसे अपनी मूर्तिको छोटी करते चलेजातेहैं। अर्थात् विराट्से चतुर्भुज और चतुर्भुजसे द्विभुज बनते चले जाते हैं। और अर्जुनका भय हर्षसे बदलता चला जाता है और भगवान्की दयालुता देख अपनेको कृतकृत्य समझ रहा है।

प्रिय पाठको ! तुम भी अर्जुनके समान बननेकी चेष्टा करो जिस से भगवान् तुमपर वही दृष्टि करें जो अर्जुनपरे की है। क्योंकि भगवान् समदर्शी सबोंका प्रिय है सब उसमें हैं और सबमें वही है। अर्थात् सबका वह हैं सब उसके हैं और किसीने कहा है "मैं तो दो बोल कहके हारा हूं। तुम हमारे हो मैं तुम्हारा हूँ"॥ ४६ ॥

अब भगवान् अर्जुनकी प्रार्थना दयापूर्वक स्वीकार कर अपने विश्वरूपको अन्तर्धानकर परमस्नेह भरे हुए मधुर वचनोंसे अर्जुनके प्रति कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं,
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं,
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

पदच्छेदः— [हे] अर्जुन ! प्रसन्नेन (प्रसादाभिमुखेन, कृपातिशयवता) मया, आत्मयोगात् (योगमायासामर्थ्यात्) तव (तुभ्यम् यत्, मे, इदम् (विश्वरूपात्मकम्) परम (श्रेष्ठम्) तेजोमयम् (प्रकाशबहुलम् । तेजःप्रचुरम् । सर्वप्रकाशकम्) विश्वम (विश्वात्मकम्) अनन्तम् (अपरिच्छिन्नम् । अन्तरहितम्) आद्यम् (सर्वादौ भवम्) रूपम्, दर्शितम्, [तत् रूपम्] त्वदन्येन (त्वत्तः अन्यः तेन ब्रह्मादिनापि) न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७॥

पदार्थः— (श्रीभगवानुवाच) श्रीसच्चिदानन्द आनन्द कन्द बोले, कि (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (प्रसन्नेन) बडी प्रसन्नतासे (मया) मेरे द्वारा (आत्मयोगात्) मेरी योगमायाकी शक्तिसे (तव) तेरे लिये (यन्मे) जो मेरा (इदम्) यह (परम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (तेजोमयम्) परम प्रकाशसे भरा हुआ दिव्य (विश्वम्) विश्वा-

त्मक विराट्स्वरूप (अनन्तम्) अन्तरहित (आद्यम्) सबोंसे आदि (रूपम्) स्वरूप (दर्शितम्) दिखलाया गया है सो कैसा है, कि (त्वदन्येन) तुझे छोड अन्य किसीसे (न दृष्टपूर्वम्) पहले न देखा गया अर्थात सार्वभौम विश्वरूप मैंने आजतक तुझे छोड अन्य किसी भी भक्तको नहीं दिखलाया ॥ ४७ ॥

भावार्थः—(**श्रीभगवानुवाच**) अर्जुनकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर अर्जुनको सन्तोषदेते हुए भगवान बोले, कि हे अर्जुन तू मेरे इस उग्ररूपके देखनेसे जो भयभीत होगया है सो तू भयको त्यागकर । अब मैं तुझको अपनी मधुरमूर्ति दिखलाऊंगा। क्योंकि [**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्**] हे अर्जुन ! मैं तुझपर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं तेरी शक्ति और तेरे शुद्ध अन्तःकरणको देखकर मेरी पूर्ण कृपा तुझपर हुई है ऐसा निश्चय जान ! इसी कारण मैंने अपनी योगमायाकी महान् शक्तिको अंगीकार कर अर्थात् जिस अपनी सामर्थ्यसे मैं इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचना तथा पालन और संहार बार-बार करता रहा हूं , कर रहाहूं और आगे भी करता रहूंगा उसे स्वीकार कर केवल तुझपर अनुग्रह करनेके तात्पर्यसे ही मैंने तुझको अपना यह रूप दिखलाया है मैं तो स्वयं जानता था, कि तू इस लौकिक चक्षुसे मेरे इस स्वरूपका तेज नहीं संभाल सकेगा देखते ही तेरी दोनों लौकिक आंखें फूट जावेंगी इस कारण मैंने तुझपर प्रसन्न होकर तुझे अपना स्वरूप देखनेके लिये दिव्य नेत्र प्रदान कर दिया । भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह हैं, कि जैसे कोई

शक्तिमान् योगी अपने बालकके खेलनेके लिये चन्द्रमाका गेंद बनाकर देदेवे, उसके पीनेके लिये घरमें अमृत का कुण्ड तयार करदेवे और दूध पीनेके लिये कामधेनु लाकर द्वारपर बांधदेवे इसी प्रकार भगवानने अर्जुनपर प्रसन्न होकर अपने अलौकिक योगबलसे विराट्स्वरूपका दर्शन कराया। जिसे देखकर वह भगवत् के यथार्थस्वरूपका ज्ञाता होगया। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि सो मेरा स्वरूप कैसा है, कि [**तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्**] तेजसे मय है अर्थात् परमप्रकाशस्वरूप है दिव्य है। जिस तेज के सम्मुख करोडों सूर्योंकी ज्योति मलिन होजाती है और यदि ब्रह्मा भी उसे देखे तो उसकी आंखोंमें चकाचौंध लगजावे अन्य देवोंकी तो गिनती ही क्या है? फिर वह मेरा स्वरूप कैसा है, कि 'विश्वम्' विश्वात्मक है अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जितने जड चेतन, चर, अचर, स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं सो सब मुझमें देखपडते हैं इसी कारण मेरा स्वरूप विराट् कहाजाता है।

अर्जुनने जो रूप देखाहै सो भगवानकी विराट्मूर्ति अर्थात् विश्वात्मक मूर्त्ति है। विश्वात्मकमूर्ति किसे कहते हैं? वर्णन कियाजाता है—

" **व्यूहमूर्तिर्विराट् चतुर्दशलोकात्मकस्तस्य ब्रह्माण्डकर्परपर्यन्तमाकाशः शिरः, चन्द्रसूर्यौ नेत्रे प्रागादि दिशः श्रोत्रे,**

टि०—यह मूर्ति विश्वात्मक है जिसमें सब पदार्थ शोभित होते हैं "**राजन्ते विविधानि वस्तूनि यस्मिन्निति विराट्** " जिसमें विविध प्रकारकी वस्तु शोभायमान हों उसे विराट् कहते हैं।

अन्तरिक्षलोको घ्राणम्, मेरुः पृष्ठवंशः, शिखरत्रयं भुजकण्ठाः, प्रत्यन्तपर्वताः पृष्ठपार्श्ववक्षांसि, उपपर्वताः शालमल्यादीनि, समुद्राः रक्तं, लताः स्नायूनि, तृणवृक्षाः रोमाणि, भूमिः कुक्षिः, द्वीपा वलयः भूरेखा रोमराजिः, भूमध्यप्रदेशो वस्तिः, शेषः शिश्नम् दिग्दन्तिपंक्तिर्नितम्बोरुभागः । अतलादिसप्तकं कटिपादान्तरालः कूर्मः पादौ इति " (शंकरविजय प्रकरण ६)

अर्थ—चौदहों लोकोंके समूहात्मक मूर्तिको विराट्मूर्ति कहते हैं ब्रह्मोत्पत्ति स्थान तक उसका ब्रह्माण्ड है आकाश शिर है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, पूर्वादि दिशाएं कान हैं, अन्तरिक्षलोक नासिका है, सुमेरु पर्वत पृष्ठवंश है, तीनों शिखर भुजा और कंठ हैं, छोटे पर्वत पीठ, पार्श्व और वक्षस्थल हैं समुद्र रक्त है और लताएं नस हैं, तृण और वृक्ष रोम हैं, पृथ्वी कुक्षि हैं, द्वीप कलाई हैं, भूरेखा उदरोपरि रोमपंक्ति हैं, पृथ्वीका मध्यप्रदेश बस्ति है, शेष शिश्न है, दिग्गज नितम्ब और उरु हैं, अतलादि सात नीचेके लोक कमर तथा पादत्राण है कूर्म पाद हैं यह विराट्स्वरूपका वर्णन है ।

इसी प्रकारकी मूर्तिको विराट् कहते हैं सो भगवानने अर्जुनको यह विराट्मूर्ति दिखलायी है । यहां ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि भगवानने केवल इतनी ही दिखलायी नहीं ! नहीं ! इतनी विराट्मूर्ति तो अन्य कितने भक्तोंको समय-समयपर दिखलायी है पर यहां जो अर्जुनको दिखलायी है वह इससे भी विलक्षण और विचित्रमूर्ति है । इसी कारण भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यह रूप जो तुमने देखा है वह अनन्त है और सबोंका आदिकारण है जिसका

कहीं अन्त नहीं है और जो सबोंसे आदि होनेके कारण किसीके द्वारा देखा नहीं गया इसलिये यह मेरी मूर्ति अदृष्टपूर्व है अर्थात् तुझसे पहले ऐसा रूप किसीने देखा ही नहीं ।

शंका— भगवानने इस रूपको अदृष्टपूर्व क्यों कहा ? और ऐसा क्यों कहा ? कि तेरेको छोड अन्य किसीने ऐसा रूप नहीं देखा भगवानने तो यशोदाको मिट्टी खातेहुए, कौशल्याको पकान्न भोग लगातेहुए और काकभुशुण्डको कौशल्याके आंगनमें खेलतेहुए यही विराट्मूर्ति दिखलायी थी । फिर अदृष्टपूर्व कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान— भगवानने जो यशोदा तथा काकभुशुण्ड इत्यादि को अपने मुखमें विराट्स्वरूपका दर्शन कराया था उस रूपमें केवल सत्व और रजोमयी विराट्मूर्तिका दर्शन कराया था पर भयंकर रौद्र-मूर्ति जो तमोगुणप्रधान है उसे नहीं दिखलाया था । क्योंकि यशोदा वा कौशल्या स्त्रियां थीं जिस मूर्तिके देखनेसे अर्जुन ऐसा वीर व्याकुल होकर प्राणके भयसे थर्रारहा है उस भयंकर मूर्तिको यदि वे स्त्रियां देखतीं तो घबराकर प्राण ही छोडदेतीं इसीकारण उन लोगोंको सामान्य विश्वमूर्तिका दर्शन कराया । अपनी उग्रमूर्त्ति अर्थात संहार करनेवाले तेजको गुप्त ही रक्खा । इसी प्रकार काकभुशुण्डको भी पक्षी जानकर अपनी उग्रताको गुप्तही रक्खा पर अर्जुनको तो दिव्यदृष्टि प्रदान करनेके कारण अपना भयंकर रूप भी दिखलादिया कुछभी शेष नहीं रखा और यहां उस संहार करनेवाली महा-विकराल मूर्तिके दिखलानेकी नितान्त आवश्यकता भी थी जिससे अर्जुनको यह बोध होगया, कि भगवानने महाभारत

के सब योद्धाओंको पहलेहीसे चबैना कररखाहै मैंतो केवल एक निमित्तमात्र हूं। इसी तात्पर्यसे भगवानने महा कालस्वरूपका भी दर्शन कराया। दूसरे भक्तोंको इस कालरूपके दर्शन करानेकी आवश्यकता ही नहीं थी इस लिये भगवानने अपनी इस मूर्त्तिको अदृष्टपूर्व कहा। शंका मतकरो ॥४७॥

भगवानने अपनी असीमकृपासे जो विराट् मूर्त्ति अर्जुनको दिखलायी उस मूर्त्तिका दर्शन अनेक जन्मोंके तप किये हुए और अनेक साधन करनेवाले योगियोंको भी दुर्लभ है इसी वार्त्ताको अगले श्लोकमें स्पष्टकर दिखलाते हैं—

मु०— न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः ×शक्य अहं नृलोके,
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर! ॥ ४८ ॥

पदच्छेदः— [हे] कुरुप्रवीर ! (कुरुकुलोत्पन्नवीराणां शिरोमणे !) नृलोके (मनुष्यलोके) एवंरूपः, अहम, न त्वदन्येन (त्वद्भिन्नेन केनचिदपि पुरुषेण) वेदयज्ञाध्ययनैः (चतुर्णां वेदानामध्ययनैः पठनैः तथा यज्ञस्य यज्ञविज्ञानस्य मीमांसाकल्पसूत्रादेरध्ययनैः । अथवा वेदबोधितकर्मणामध्ययनैः) द्रष्टुम (अवलोकयितुम) न, शक्यः (समर्थः) दानैः (सत्पात्रे धनार्पणैः) न, क्रियाभिः (स्मृत्युक्ताभिः पूर्त्तादिभिः वापीकूपारा-

× शक्य अहमित्यत्र विसर्गलोपश्छान्दसः ।

मादिभिः । अग्निहोत्रादिश्रौतकर्मभिर्वा) च, (तथा) न, उग्रैः (कायेन्द्रियशोषकत्वेन दुष्करैः) तपोभिः (कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासमौनादिभिः) [द्रष्टुम् न शक्यः] ॥ ४८ ॥

पदार्थः—(कुरुप्रवीर !) कुरुकुलके वीरोंमें शिरोमणि हे अर्जुन ! (नृलोके) इस मनुष्यलोकमें (एवंरूपः) इस प्रकारका रूपवाला (अहम्) मैं आजतक (त्वदन्येन) तुझको छोड किसी दूसरेसे (वेदयज्ञाध्ययनैः) वेदोंके पठन तथा यज्ञोंके जाननेपरभी तथा मीमांसा वा कल्पसूत्रादिके अध्ययन करनेपर भी (द्रष्टुम्) देखेजानेको (न शक्यः) समर्थ न हुआ अर्थात नहीं दिखला सका । फिर (दानैर्न) सत्पात्रोंको धनादि दान देनेसे भी नहीं (क्रियाभिः च न) स्मृत्युक्त इष्ट, पूर्त्त दत्तादि अथवा श्रुत्युक्त अग्निहोत्रादि क्रियाओंके करनेसे भी नहीं तथा (उग्रैः) अति प्रवल (तपोभिर्न) तपस्याओंसे भी मैं ऐसा प्रसन्न नहीं हुआ, कि ऐसा रूप दिखलाऊं । अर्थात् ब्रह्मादि यज्ञोंके साधनोंसे, तपश्चर्य्याओंसे तथा दानादि क्रियाओंके सम्पादन करनेसे भी मुझे कोई इस प्रकार प्रसन्न न करसका, कि मैं किसीको ऐसा रूप दिखलासकूं ॥ ४८ ॥

भावार्थः—— अर्जुनको छोड कोई भी दूसरा भगवान्के ऐसे विश्वरूपके दर्शनसे कृतकृत्य नहीं हुआ इस बातको स्पष्ट करते हुए भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न चक्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः**] कोई चारों वेदोंको उनके अंगोंसहित

अध्ययन कर जावे तो करजावे, यज्ञविद्याके जाननेके निमित्त मीमांसा-शास्त्रको विधिपूर्वक पूर्णप्रकार अक्षर२ पढजावे तो पढजावे, कल्प और सूत्रों का मनन कर जावे तो करजावे, गो, महिषी, हिरण्य, अन्न, वस्त्र, द्रव्य इत्यादिके दानदेनेमें पूर्ण समर्थ होजावे तो होजावे, नाना प्रकारकी उग्रक्रियाओंका साधन करलेवे तो करलेवे अर्थात् श्रुति और स्मृतियोंमें जो भिन्न २ वर्ण और आश्रमोंके लिये विधि त्यागकी आज्ञा है तिनके ग्रहण और त्यागमें पूर्णप्रकार निपुण होजावे तो होजावे तथा उग्र तपस्या कर, वनोंमें जा, सूखी पत्तियोंका अहार करके केवल जल वा वायुके आधारपर रहकर एक पांवपर खडा होवे तो वरषों मौन रहकर एकान्त वास करता हुआ केवल भजन पूजनमें समय बितावे तो बितावे तथा कृच्छ्र चान्द्रायण इत्यादिका सम्पादन करसके तो करसके पर [**एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर!**] हे कुरु-कुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! तुझको छोड पूर्वोक्तगुणोंसे परिपूर्ण महात्माओंमें किसीको भी मैं इस अपने स्वरूपको नहीं दिखलासका जैसा, कि आज तुझको दिखलाया है ।

शंका—भगवान् दूसरोंको जो नाना प्रकारके यज्ञ, दान, तप इत्यादिके करनेसे भी अपना स्वरूप नहीं दिखलाते उसे अर्जुनको राज्य करते हुए नाना प्रकारके विषयोंमें तथा युद्धादि सकामकर्मोंमें डूबे हुए रहनेपर भी दिखला दिया ऐसा पक्षापात क्यों ?

इस श्लोकके पढनेसे भगवान्का पक्षपाती होना सिद्ध होता है और शास्त्रों में भगवान् पक्षपातरहित कहेगये हैं ।

समाधान— इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि भगवान् पक्षपातरहित है, न्यायी है, समदर्शी है इसलिये न्यायपूर्वक सब जीवोंपर समानदृष्टि रखकर सबोंको कर्मानुसार फल देताहै किसीका पक्षपात नहीं करता। यहांतक, कि जब वह स्वयं किसी विशेष कार्यके साधननिमित्त कुछ ऐसा व्यवहार करता है जिससे सामान्यदृष्टि वाले उसमें कुछ दोष लगासकें तब वह स्वयं अपना दण्ड भी आप ही न्यायपूर्वक करलेता है। देवोंने बौद्धरूप धारणकर वेदोंकी निन्दा की तो आपने अपने ऊपर यह शाप अंगीकार करलिया, कि इस मुखसे मैंने वेदोंकी निन्दा की है इसलिये यह मेरा मुख कोई न देखे। रावण जो ब्राह्मण था उसको मारा तो ब्रह्महत्यासे उद्धार होनेके लिये यज्ञोंका सम्पादनकर प्रायश्चित्तसे शुद्ध हुये नारदको वानरका मुख देकर छला तो नारदका शाप अपने ऊपर अंगीकार करलिया। एक धोबी के वचनके ऊपर जानकीको बनवास देदिया। मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवानने अपने आप न्यायकी स्थितिको दृढ रखनेके लिये कभी मर्य्यादा पुरुषोत्तम कभी लीला पुरुषोत्तमका अवतार धारणकर और कभी स्वयं अपने ऊपर दण्डादि स्वीकारकर न्यायके पथको पक्षपातरहित होकर पालन किया है।

प्यारे पाठको! जो भगवान ऐसा पक्षपातरहित है भला वह कब किसीका पक्षपात करसकता है पर यह वार्त्ता भी संसारमें प्रसिद्ध है, कि "**नेमके चन्दासे कहो प्रेम भानु प्रकाश**" अर्थात ये जो नियम इत्यादि ऊपर कथन कियेगये हैं वे तबहीतक चन्द्रमाके समान स्थिर हैं और प्रकाशित हैं जबतक प्रेमके सूर्यने प्रकाश नहीं

किया है जहां प्रेमका सूर्य उदय हुआ नेमका चन्द्र मलिन होगया। इसी कारण भगवान् भक्तवत्सल जो साक्षात् प्रेमका स्वरूप ही हैं जब प्रेमके प्यालेको प्रेमियोंके हाथसे पीलेता है तब उसके नशेमें मत्त होकर भक्तोंके लिये उसे पक्षपात करना ही पडता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ब्रह्मादि देव एक ओर एक पंक्तिमें खडे करदिये जावें और एक भक्त अकेला ही दूसरी पंक्तिमें खडा करदिया जावे और बीचमें भगवान् स्वयं किसी स्वरूपको धारण कर खडा होजावे पश्चात् सब देवता हाथ जोडकर उसको अपनी ओर बुलावें और भक्त कुछ भी न करके केवल उसके प्रेममें अश्रुपात करता हुआ उसकी ओर एकटक लगाए खडा रहे तो भगवान् देवोंकी ओर कुछ भी न देखकर बिना बुलाये दौडकर उस भक्तके गलेमें जा लिपटेगा और उसके गलेका हार बनजावेगा। इसलिये यह निश्चयकर जानना चाहिये कि केवल प्रेमका पक्षपाती अन्य किसी भी महत्त्व बल, वीर्य्य वा ऐश्वर्यका पक्षपाती नहीं हैं। फिर भगवान् अपने मुखसे कहते हैं, कि "सर्वे नश्यन्ति ब्रह्माण्डे प्रभवन्ति पुनःपुनः। न मे भक्ताः प्रणश्यन्ति निश्शंकाश्च निरापदः (ब्रह्मवैवर्त्त अ० ६) इस ब्रह्माण्डमें सब देवता, देवी, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस मनुष्य बारंबार जन्मते और मरते रहते हैं पर मेरा भक्त जो सदा निःशंक और आपदारहित है कभी भी नाशको प्राप्त नहीं होता फिर "आलिंगनात् सदालापात्ते- षामुच्छिष्टभोजनात्। दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव सर्वपापात् प्रमुच्यते॥ मद्भक्तपादरजसा सद्यः पूता वसुन्धरा। सद्यः पूतानि तीर्थानि सद्यः पूतं जगत्तथा" (ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्मखण्ड १.२८ अध्याय)

अर्थात् मेरे भक्तोंके शरीरका आलिंगन करनेसे, उनके साथ वार्त्तालाप करनेसे, उनका उच्छिष्ट भोजन करनेसे, उनके दर्शनसे और उनका स्पर्शकरनेसे प्राणी सब पापोंसे छूट जाता है । मेरे भक्तके चरणोंकी धूलिसे सारी वसुन्धरा पवित्र होती है सब तीर्थ शीघ्र ही पवित्र होते हैं तथा सम्पूर्ण जगत अर्थात् तीनों लोक पवित्र होजाते हैं ।

प्रिय पाठको ! कहांतक भक्तोंकी महिमा कही जावे इतना ही कहना बहुत है, कि भगवान् भक्तोंके वशीभूत है जो जिसके वशीभूत रहता है वह उसका पक्ष करताही है इस कारण भगवान केवल भक्तोंका पक्षपाती हैं मूल प्रेम है । यदि भक्तोंका पक्षपाती न होता तो प्रहलादके सम्मुख हिरण्यकशिपुका वध नहीं करता उसकेलिये तो दोनों समान ही थे पर प्रहलादको भक्त जानकर पक्षपात किया ।

प्र०—"व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम् ।
कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनम्,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियः केशवः ॥"

अर्थ— बाल्मीकि व्याधाके पास क्या आचरण था वह तो दिनरात जीवोंको मारमारकर पेट भरता था उसे तार क्यों दिया ? यदि यह कहो, कि उसमें आचरण तो नहीं था पर वृद्ध होगया था अवस्थासे हीन होगया था, यदि यह कहो कि वृद्धावस्था जानकर भगवान् तारते हैं इसलिये उसपर दया की तो ध्रुवकी क्या अवस्था थी ? वह तो

बच्चा था उसपर क्यों दया की यदि यह कहो, कि अवस्था उसकी थोडी तो थी पर बचपनहीमें वह विद्वान होगया था इसलिये उसे विद्वान् जानकर उसपर कृपा की, तो भला यह बताओ, कि गजेन्द्र के पास कौनसी विद्या थी। यदि यह कहो, कि गजेन्द्र विद्वान् तो नहीं था पर पशुकी जातियोंमें श्रेष्ठ था इसलिये श्रेष्ठ जाति जानकर उसको मुक्त करदिया तो भला यह बताओ, कि विदुरकी क्या जाति थी वह तो शूद्र था। यदि यह कहो, कि वह शूद्र तो था पर बहुत बडा पुरुषार्थी था इसलिये उसके पुरुषार्थको देखकर उसे उद्धार करदिया। यदि ऐसा है तो भला बताओ, कि यादवोंके राजा उग्रसेनमें कौनसे पुरुषार्थकी प्रबलता थी जिससे उसके पुत्रने राजगद्दी छीनली थी। यदि कहो, कि उग्रसेन पुरुषार्थी तो नहीं था पर बडा सुन्दर था इसलिये उसे तार दिया भला बताओ, कि तीन जगहसे टेढी कुब्जामें कौनसी लावण्यछटा छिटक रही थी यदि यह कहो, कि कुब्जामें सुन्दरता तो नहीं थी पर कंसके घरसे द्रव्य एकत्रितकर श्रीमती बनगयी थी इसलिये उसे तार दिया तो भला यह बताओ, कि सुदामाके पास कौनसा धन था जिससे उसका उद्धार करदिया। इन बातोंको देखकर पूर्णप्रकार सिद्ध होता है, कि न आचरणसे, न अवस्थासे, न विज्ञानसे, न जातिसे, न पुरुषार्थसे, न सुन्दरतासे और न धनसे वह भगवान् रीझता है वह तो केवल प्रेमपरिपूर्ण भक्तिसे ही रीझता है अन्य किसी भी गुणसे नहीं। इसलिये उसका नाम "भक्तिप्रिय" है।

अतएव बार-बार यही कहना पडेगा, कि भगवान्‌ने अर्जुनके अन्य किसी भी गुणकी ओर न देखकर केवल उसके हृदयका पूर्ण

प्रेम अनुभवकर उसका पक्षपात किया। अर्थात् जो रूप आज तक किसीको नहीं दिखलाया था वह रूप उसको दिखलाया।

अब भगवान् अर्जुनकी प्रार्थना स्वीकारकर उसे सन्तोष देतेहुए अपने पूर्व कृष्णरूपको दिखलानेकी प्रतिज्ञा कर कहते हैं—

मू०— मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं,
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

पदच्छेदः— ईदृक् (ईदृशम) घोरम् (भयावहम) मम, इदम्, (दुर्लभदर्शनम) रूपम् (विश्वरूपम) दृष्ट्वा (अवलोक्य) ते (तव) व्यथा (मानसदुःखम्) मा [भवतु] विमूढभावः (अज्ञानकृतमोहः) च, मा [अस्तु] व्यपेतभीः (निर्भयः । अपगतभयः ।) प्रीतमनाः (प्रसन्नचेताः) त्वं, पुनः, मे (मम) तत् (यत्त्वया द्रष्टुम्प्रार्थितं वासुदेवत्वादिविशिष्टम्) इदम् (विश्वरूपोपसंहारेण प्रकटीक्रियमाणम्) रूपम् (विश्वरूपजनितव्यथादिनिवृत्त्यर्थं कृष्णरूपम) एव, प्रपश्य (प्रकर्षेण भयराहित्येन सन्तोषेण च अवलोकय) ॥ ४९ ॥

पदार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! (ईदृक्) ऐसा (घोरम्) भयंकर (मम) मेरे (इदम्) इस दुर्लभदर्शन (रूपम्) विश्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (ते) तुमको (व्यथा)

मानसिक क्लेश (मा) मत हो तथा (विमूढभावः) अज्ञानसे उत्पन्न जो मोह (च) सो भी (मा) मत होवे अब (व्यपेतभीः) भयसे रहित होकर तथा (प्रीतमनाः) प्रसन्नचित्त होकर (त्वम्) तू अर्जुन ! (पुनः) फिर (मे) मेरे (तत्) उसी वासुदेव स्वरूपको जिसको देखनेकी तू इच्छा करता है (इदम्) इस विश्वरूपके उपसंहार करनेपर प्रकट होनेवाले (रूपम्) रूपका (एव) निश्चय करके (प्रपश्य) इच्छापूर्वक दर्शन कर ॥ ४९ ॥

भावार्थः—अर्जुनका भय मिटानेके तात्पर्यसे भगवान् उसे सन्तोष जनक श्लोक सुनाकर उसके मनको स्थिर और प्रसन्नकरनेके निमित्त उसकी प्रार्थनाके अनुसार भयंकर स्वरूपको अन्तर्ध्यान कर अब अपनी मधुरमूर्ति वासुदेवस्वरूपको पुनः दिखलानेकी इच्छासे कहते हैं, कि [**मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्**] हे अर्जुन ! तू जो इस समय कांपता और थर्राता हुआ इस मेरे भयंकररूपको देखकर परम क्लेशको प्राप्त हो रहा है तथा अचेतसा हुआ देख पडता है सो तू अब सचेत होजा ! व्यथाको मत प्राप्त हो । अर्थात मैं तुझे यही आशीर्वाद देता हूं, कि तुझको किसी प्रकारकी व्यथा न होवे ।

यहां भगवानने जो अर्जुनको विमूढभाव कहा तिसका कारण इतना ही है, कि अर्जुनकी भी वृत्तिमें किंचित भगवन्माया करके अज्ञानता का प्रवेश हो गया है । यद्यपि अर्जुन भक्तशिरोमणि है भगवानके

अत्यन्त प्रिय है तथापि भगवन्मायाकी ऐसी प्रबलता है, कि अर्जुन के चित्तको भी भयातुर करदिया है पर यहां भी उस महाप्रभुकी दयालुता जो सदा भक्तोंपर बनी रहती है तिसका प्रभाव तो देखो कि भगवान् अर्जुनपर क्रोध न करके दया ही कर रहे हैं। अर्जुनपर तो भगवान्को इस समय क्रोध करना चाहिये था क्योंकि अर्जुननेही भगवान् को अपने स्वरूपको दिखानेकी प्रार्थना की है और उसी प्रार्थनाके अनुसार भगवान्ने अपना विराट्रूप दिखलाया है फिर अर्जुनको उचित था, कि इस स्वरूपको देखकर भयभीत न होता, व्याकुल न होता और प्रसन्नता पूर्वक देखताही रहता पर ऐसा न करके अर्जुनने जो यह कहा, कि हे प्रभो ! इस विश्वरूपको हटाकर पहला कृष्णरूप जो माधुर्यमय है उसेही धारण करो। इससे थोडी देरके लिये ऐसा जानपडता है, कि अर्जुनको भगवानके विश्वरूपसे अरुचि हुई तभी तो इस स्वरूपको त्यागदेनेकी प्रार्थना की। यदि कोई किसीके रूपको देखकर अप्रसन्न हो तो उस रूपवालेको अवश्य क्रोध होगा, कि यह मेरे रूपको देखकर घृणा करता है और ऐसा ही अर्जुनने इस समय किया भी है। जैसे कोई अमृतके सरोवरके समीप जाकर केवल डूबनेके भयसे उसे त्याग आवे जैसे किसी पुरुषको कुबेरका भण्डार हाथ लगजावे तो केवल बोझ उठानेके भयसे वह उसे त्यागकर रीता हाथ घर लौट आवे, जैसे कोई अज्ञानी कामधेनुको पाकर केवल दाना घास देनेके भयसे छोडदेवे, जैसे कोई लक्ष्मीको घर आये हुए देख केवल सत्कार करदेनेके भयसे घरसे निकाल देवे और जैसे कोई चिन्तामणिका हार गलेमें बोझ होनेके कारण निकालकर फेंकदेवे इसी प्रकार आज अर्जुन केवल भय

से भीत होकर भगवान्के विराट्रूपके अलभ्य दर्शनको पाकर भी भगवान् से उस रूपका उपसंहार करलेनेकी प्रार्थना की। सत्य है उस महाप्रभुकी दयालुता जिसनें अपनें स्वरूपके ऐसे निरादरको भी सह-कर अर्जुनसे कहा, कि तू जो उस मेरे भयंकर स्वरूपको इस प्रकार देख कर घोर क्लेशको प्राप्त हुआ है सो अब तिस व्यथाको तथा अपने मनके अज्ञान कृत मोहको त्याग दे। सब अब तू [**व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य**] भयको त्याग प्रसन्नचित्तसे जैसे पहले मेरे मधुर स्वरूपको देख प्रसन्न होता था और अनुरागभरी दृष्टिसे देखा करता था जिसके देखनेसे तुझे सदा मेरे संग उठने, बैठने, चलने, फिरने और हँसने बोलनेकी श्रद्धा होती थी उसी प्रकार निर्भय और प्रसन्नचित्त होकर परम श्रद्धा और भक्तिके साथ इस मेरे स्वरूपका दर्शन करता हुआ पूर्ण सन्तोषको प्राप्त हो और जैसे पहले तू स्थिरचित्त होकर मेरे साथ कर्म, उपासना, ज्ञानादिके विषय अनेक बार्ताएं किया करताथा ऐसे फिर मेरे साथ उन पवित्र वार्ताओंमें लगजा ॥ ४९ ॥

धृतराष्ट्रके चित्तमें यह निश्चय होजावे, कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं जो चाहें करसकते हैं जिन्होंने सम्पूर्ण विश्वको अपने स्वरूपमें ऐसे भर रखा है जैसे किसी शुद्ध निर्मल मृत्तिकाके घटमें अमृत ही अमृत भरा हो। इसलिये उनकी कृपासे अर्जुन रणमें अवश्य जीतेगा। इसी अभिप्रायसे सञ्जय बोला।

सञ्जय उवाच ।

मू०—इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा,
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनम्,
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

पदच्छेदः— वासुदेवः (सत्यत्वेन सर्वेषामाधारः । प्रकाशकः) अर्जुनम् (पृथापुत्रम) इति (तदेवं मे रूपम् प्रपश्य इति) उक्त्वा (उच्चार्य) तथा, स्वकम् (निजम् स्वस्य भक्तस्य कं सुखं भवति यस्मात्तत्) रूपम (किरीटादियुक्तां मनोहरमूर्तिम्) भूयः (पुनरपि) दर्शयामास, पुनः, [स] महात्मा (अनन्तभगवान् । परमकारुणिकः सर्वेश्वरः) सौम्यवपुः (प्रीतिजनकमूर्तिः) भूत्वा, भीतम (विश्वरूपदर्शनेन भयाविष्टम) एनम (अर्जुनम्) आश्वासयामास (उभयपाणिना सर्वांगस्पर्शनेन भयं माकार्षीः इत्युक्त्वा सन्तोषं कृतवान्) ॥ ५० ॥

पदार्थः— (वासुदेवः) उस भगवान् वासुदेवने (अर्जुनम) अर्जुनको (इति) इतना वचन (उक्त्वा) कहकर (तथा) तिसी प्रकारके पहले (स्वकम्) अपने (रूपम्) स्वरूपको (भूयः) फिर (दर्शयामास) दिखलाया (पुनः) फिर (महात्मा) सो महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने (सौम्यवपुः) परम सुन्दर दिव्य स्वरूपवाला (भूत्वा) होकर (भीतम) डरे हुए (एनम)

इस अर्जुनको (आश्वासयामास च) प्रेमपूर्वक आश्वासन भी किया अर्थात् समझाबुझाकर सन्तुष्ट करदिया ॥ ५० ॥

भावार्थः— सञ्जयको व्यासदेवने दिव्यदृष्टि प्रदान कर यह आज्ञा दी थी, कि धृतराष्ट्र दोनों नेत्रोंसे विहीन हैं इस कारण तू उनके समीप बैठा २ महाभारतकी वार्त्ताओंको अपनी दिव्यदृष्टि द्वारा देखताहुआ उनको सुनायाकर कदाचित् सुनते-सुनते वह धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंको संधिकी आज्ञा देदेवे तो अति ही उत्तम होगा । बहुतेरे वीर बुद्धिमान् नाना प्रकारकी विद्या जाननेवाले जो अस्त्र, शस्त्र तथा शास्त्रमें निपुण हैं मरनेसे बचेंगे और भारतभूमिकी शोभा नहीं बिगडेगी इसी कारण संजय भगवान्के महत्वको वर्णन करताहुआ धृतराष्ट्र को संधिका संकेत कररहा है और मन ही मन विचाररहा है, कि यदि मैं इस अन्धे नरेशको भगवत्की महिमा कहसुनाऊं तो कुछ उचित व्यवहार साधन होजावे तो आश्चर्य ही क्या है ? ऐसा विचार सञ्जय धृतराष्ट्रसे कहता है, कि [**इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः**] श्री सच्चिदानन्द आनन्दकन्द विश्वव्यापक श्यामसुन्दरने यह कहकर, कि हे अर्जुन ! तूने जिस प्रकार मेरे विश्वरूपको उपसंहार कर मानुषी रूपके दिखलानेकी प्रार्थना की है वैसे ही तेरी अभिलाषाकी पूर्तिनिमित्त तेरे कथनानुसार ही अपने दिव्यरूपको हटा भक्तोंके सुखकेलिये किरीटादियुक्त निज मनोहर रूप दिखलाता हूं । इतना कहकर भगवान्ने अर्जुनको किरीटादियुक्त अपना कृष्णरूप दिखलादिया अर्थात् विश्वरूपसे चतु-

भुजीरूप होगये तत्पश्चात् पूर्ववत् मानुषी रूपको धारण करलिया। तात्पर्य यह है, कि अर्जुनकी सारी दिव्यदृष्टि मिटगयी तो अपने चर्मचक्षुओंसे भगवान्‌को फिर अपने सखारूपमें देखनेलगा और विश्वरूपको ऐसे गुप्त रखलिया जैसे कोई चिन्तामणिको एक विचित्र सुन्दर मनोहर डिब्बोंमें रखलेता है।

प्यारे पाठको ! श्यामसुन्दरकी भक्तवत्सलताको तो विचारो, कि जैसे २ अर्जुन कहता है भगवान् बिना विचारे वैसे-वैसे करनेको तत्पर हैं। देखो! पहले तो परम मनोहर कृष्णरूप ही धारण कियेहुये अर्जुनके सखा तथा रथवान बनेहुए मन्द-मन्द मुसकानके साथ अर्जुनसे धार्मिक-वार्ताओंके कहने सुननेमें लगेहुए थे फिर जैसे ही अर्जुनने विराट्‌रूप देखनेकी अभिलाषा की और भगवानसे कहा, कि " द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम " (श्लोक ३) हे पुरुषोत्तम ! मैं तुम्हारे सर्व ऐश्वर्यमय रूपके देखनेकी इच्छा करता हूं उस अव्यय आत्मपुरुषको दिखलाओ इतना सुनते ही भक्तकी अभिलाषानुसार उस महाप्रभुने अर्जुनको झट अपना विश्वरूप दिखला दिया फिर जब विश्वरूप देखनेके पश्चात् अर्जुनने कहा, कि "तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ! " (श्लोक ४५) हे देवेश ! हे जगन्निवास ! अब मैं आपके उसी पहले कृष्णरूपको देखा चाहता हूं। तब भगवान् फिर वही कृष्णरूप बनगये। क्या इस भक्तवत्सलताकी कहीं सीमा भी है ? क्या भगवानसे अतिरिक्त कोई प्राकृत स्वामी इस प्रकार अपने सेवककी रुचि रखसकता है पर वाह्‌रे तेरी भक्तवत्सलता और दयालुता। क्यों न हो !

जभी तो जगत्स्वामी होरेहा है और तुझे ब्रह्मादि देव मस्तक झुकारहे हैं। आग पानी सब तेरी आज्ञाका पालन कररहे हैं। अर्थात् सब तेरे भयसे थरीरहे हैं धन्य! धन्य! हे महाप्रभो! तू धन्य है।

प्रिय पाठको! संजय कहता है, कि अर्जुनकी रुचिअनुसार भगवान् अपने विश्वरूपको समेट फिर कृष्णरूप कैसे होगये? तो जैसे कोई बाजीगर अपनी पिटारीसे सारा खेल निकाल, सर्वत्र फैला, फिर थोडीही देरमें सारा खेल अपनी उसी छोटी पिटारीमें रख बन्द करलेता है, जैसे सम्पूर्ण वृक्षका आकार और विस्तार सूक्ष्मरूपसे बीजमें समाजाता है, जैसे समुद्रका भाठा ज्वार बढकर फिर समुद्रहीमें लय होजाता है, जैसे निस्पन्द वायु स्पन्दित हो सर्वत्र झंझावात, अंधड झक्कड ओला-बगोला, मेघोंमें धडक, बिजलीमें कडक होकर फैलजाती है और फिर पल मारते-मारते तक सब उसी वायुमें लय हो शान्त हो जाते हैं इसी प्रकार भगवानका विश्वरूप फैलकरे फिर कृष्णरूपमें लय होगया।

अब संजय कहता है, कि [**आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा**] एवम्प्रकार उस परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रने परम मनोहर कृष्णस्वरूप धारणकर डरे हुए अर्जुनको आश्वासन किया अर्थात् प्रीतिपूर्वक अपना हस्तकमल उसके मस्तकपर रख सन्तोषजनक वचनोंसे उसे निर्भय और प्रसन्नचित्त करदिया। जो अर्जुन पहले अपने सामने परम विकराल काल-

स्वरूपको देखकर कंपायमान और अचेतसा होरहा था उसने फिर स्थिर-चित्त प्रसन्नवदन पुलकित शरीर हो भगवान् वासुदेवको मोरमुकुट-मंडित, पीताम्बरराजित हाथोंमें अश्वोंकी बागडोर लिये रथपर खड़ा देखा ।

अब फिर उसकी दृष्टिमें वही कुरुक्षेत्र है जहां रथपर अपनेको और श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र को एक साथ देखरहा है । जैसे किसी राजकुमारकी आंखोंपर पट्टी बांध कोई उसको अपने घरसे निकाल कोई यक्ष वा गन्धर्व अपने लोकोंमें लेजाकर उसकी आंखें खोल अपने गन्धर्वनगरकी शोभा दिखला फिर पूर्ववत् उसे मृत्युलोकमें पटक देवे ऐसी ही ठीक दशा अर्जुनकी हुई, कि गन्धर्वलोकसे झट मृत्युलोकमें पटका गया । दिव्य चक्षुओंसे फिर वह अपनी चर्मचक्षुओंको प्राप्त हुआ । भगवत्‌को तो अर्जुनसे युद्धसम्पादन करवाना था इसलिये अपनी मायाकी ऐसी प्रेरणा करदी, कि अर्जुनके चित्तमें विश्वरूपसे भय प्राप्त होगया और ऐसे दुर्लभ दर्शनको त्याग फिर कुरुक्षेत्रमें लौटआया । ऐसी इच्छा भगवानकी ही थी नहीं तो अर्जुनको तो विश्वरूपका दर्शन पाते ही उसी विश्वरूपमें मिलजाना उचित था पर उस महाप्रभुकी इच्छाकी प्रबलताने ऐसा ही करदिया ॥ ५० ॥

अब अर्जुन सचेत हो प्रसन्न चित्तसे मन्द-मन्द मुसकाता हुआ भगवान्‌के मंजुल मुखारविन्दकी ओर देखताहुआ यों बोला—

अर्जुन उवाच ।

मू०— दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१

पदच्छेदः— [हे] जनार्दन ! (जनान् राक्षसान् अर्दयतीति जनार्दनः तत्सम्बुद्धौ हे जनार्दन !) तव, इदम् (प्रत्यक्षदृष्टम्) मानुषम् (मनुष्याणां दर्शनयोग्यं। नराकारम्) रूपम् (किरीटादियुतं स्वरूपम्) दृष्ट्वा (अवलोक्य) इदानीम् (अधुना) सचेताः (चेतसा सहितः । प्रसन्नचित्तः । भयकृतव्यामोहाभावेनाव्याकुलचित्तः) [तथा] संवृत्तः (पूर्वापरानुसंधानयुक्तान्तःकरणः) अस्मि [तथा] प्रकृतिम् (स्वास्थ्यम् । स्वभावम्) [च] गतः (प्राप्तः) [अस्मि] ॥ ५१ ॥

पदार्थः— (जनार्दन !) हे भक्तजनोंके दुःख निवारण करनेवाले ! (तव) तुम्हारा (इदम्) यह (सौम्यम्) प्रियदर्शन एवं सुन्दर मनोहर (मानुषम्) मानुषी (रूपम्) स्वरूपको (दृष्ट्वा) देखकर (इदानीम्) अब इस समय में (सचेताः) सचेत और (संवृत्तः) पूर्वापरको ठीक-ठीक अनुसंधान करनेवाली वृत्तिसे युक्त (अस्मि) होरहा हूं और (प्रकृतिम्) अपने पूर्वस्वभावको भी (गतः) ज्योंका त्यों पागया हूं ॥ ५१ ॥

भावार्थः— भगवान्ने जो अपना सुन्दर मनमोहनस्वरूप अर्जुनको दिखलाया इससे अर्जुन परम प्रसन्न होगया है । सच है !

जो स्वयं जिस स्वरूपका होता है उसको अपनी ही जातिका स्वरूप परम मनोहर देखपडता है और अपनी ही जातिके स्वरूपमें प्रीति भी उपजती है। जैसे मनुष्यको मनुष्यमें, गन्धर्वको गन्धर्वमें, देवको देवमें, राक्षसको राक्षसमें, पशुको पशुमें और पक्षीको पक्षीमें। इसी कारण भगवान् भी अपनी ओर प्रीति करानेके लिये राम, कृष्णादि मानुषी स्वरूपमें अवतार लेकर हम लोगोंके घरमें आकर हमारे साथ भोजन, शयन हंसी, खेल, बातचीत किया करता है और हमसे प्रीति लगाजाता है इसी कारण अर्जुनको भगवान्के विश्वरूपकी अपेक्षा मानुषीस्वरूपमें अधिक प्रीति है। सो अयोग्य नहीं है योग्य ही है अतएव अर्जुन भगवान्की मानुषी मूर्त्तिको देख यों बोला, कि [दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन!] हे जनार्दन! तुमको सारा विश्व जनार्दन इसी कारण कहता है, कि तुम अपने भक्तजनोंकी पीडाको अधिक नहीं सह सकते थोडी ही देरमें नाश करडालते हो, तुम जनार्दन कहेजाते हो-सो प्रत्यक्ष है। मुझे तो अनुभव होरहा है क्योंकि तुमने मेरेहृदयकी पीडा देख अपने विश्वरूपको हटालेनेमें तनक भी विलम्ब नहीं किया। सो हे जनार्दन! मैं तुम्हारी इस मनमोहिनी मूर्ति को अवलोकन करके [इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः] इस समय संवृत होगया हूँ और सचेत होगया हूं अर्थात मेरी बुद्धि जो सारे भयके व्याकुल होगयी थी इस कारण चंचल होकर इधर-उधर डोल रही थी वह अपने ठिकाने पहुँच गयी और पूर्वापरका अनुसंधान जो जातारहा था सो अब ठीक होगया। अन्तःकरण ज्यों-का त्यों स्थिर होगया और अब मैं सम्पूर्णप्रकारके भयोंसे मुक्त होगया। नाथ! अब मैं पूर्णप्रकार प्रसन्न हो गया और मेरे अन्तः-

करणको जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता थी और जो त्रुटि होगयी थी सब पूरी होगयी ॥ ५१ ॥

एवम्प्रकार अर्जुनको प्रसन्न देखकरे भगवान् भी
प्रसन्न होकरे बोले—

श्रीभगवानुवाच ।

मू०— सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥ ५२

पदच्छेदः— मम (वासुदेवस्य) यत्, इदम् (विश्वरूपम) सुदुर्दर्शम (सुतरां दुःखेनापि द्रष्टुमशक्यम । ब्रह्मादिभिरपि दर्शनायोग्यम) रूपम् दृष्टवान् (अवलोकितवान्) असि, देवाः (इन्द्रादयः) अपि, अस्य, रूपस्य (विश्वरूपस्य) नित्यम् (सदा) दर्शनकांक्षिणः (दर्शनेच्छावन्तः । दर्शनेप्सवः । दर्शने कांक्षन्ते एव नतु लभन्ते) ॥ ५२ ॥

पदार्थः— (मम) मेरा (यत्) जो (इदम) यह विश्वस्वरूप (सुदुर्दर्शम्) सुतरां अत्यन्त दुःख करके भी देखने योग्य नहीं है (रूपम्) ऐसे रूपको तू (दृष्टवानसि) देख चुका है सो वह रूप कैसा है, कि (देवाः अपि) इन्द्रादि देवगणभी (अस्य रूपस्य) इस रूपके (नित्यम्) सर्वदा (दर्शनकांक्षिणः) दर्शनकी इच्छा रखने वाले हैं अर्थात् इस मेरे विश्वरूपके दर्शनकी इच्छा देवोंको भी सदा बनीही रहती है पर वे दर्शन नहीं पाते ॥ ५२ ॥

भावार्थः— अर्जुन जो अपने हृदयकी दुर्बलताके कारण विश्वरूपके देखनेसे भयभीत हुआ है इससे संसारके प्राणी ऐसा न समझें, कि कोई देवता वा देवी इस विश्वरूपके देखने योग्य नहीं है इसलिये किसीको भी इस विश्वरूपके दर्शन पानेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। सो इस भ्रमको मिटादेनेके लिये इतना कहना आवश्यक है, कि अर्जुनको इस विश्वरूपसे घृणा वा इसके देखनेसे अरुचि नहीं हुई है वरु जिस समय उसने इस विश्वरूपका दर्शन पाया है उस समय तो परम आनन्दको प्राप्त हुआ है और बडी रुचिसे देखने लगा है और देखते समय भगवानसे बोला है, कि " अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा " (श्लो० ४५) हे भगवन्! यह जो तुम्हारा स्वरूप पहले कभी किसीसे नहीं देखागया है उसे आज मैं देखकर परम हर्षको प्राप्त हुआ हूं।

अर्जुनके इस वचनसे प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि अर्जुन विश्वरूपको देखकर आनन्दको प्राप्त हुआ है। उसे इस स्वरूपके देखनेसे अरुचि नहीं है पर भगवानके विश्वरूपमें, सत्व, रज और तम त्रिगुणमयी वस्तु प्राप्त थीं वा प्राप्त हैं। जो सुन्दरसे सुन्दर और भयंकरसे भयंकर हैं। यदि एक ओर दृष्टि जाती है तो सुन्दरताई, छवि, शोभा तथा शृंगार इत्यादिकी हाट लगीहुई है जहांसे नेत्र लौटना नहीं चाहता और इसीके प्रतिकूल जब दूसरी ओर दृष्टि जाती है तो भयंकर, डरावना, महाविकरालस्वरूप मानो काल मुंह पसारकर खडा है ऐसा देखकर दृष्टि नीचे गिरजाती है। सो अर्जुन विश्वरूपको देखते-देखते जब कालस्वरूपकी ओर देखने लगा है तो उससे देखा नहीं गया है वरु व्याकुलचित्त हो उस

उग्ररूपको उपसंहारकर निलाम्बुजश्यामलकान्तिधारी रूपके दिखानेकी प्रार्थना करने लगा है।

भगवानके विराट्रूपमें जो भगवानकी भयंकर मूर्तियां हैं वे अभक्त, हिंसकों, अन्यायियों और घोर आततायियोंको दण्ड देनेकेलिये हैं। अर्जुन ऐसे भक्तके लिये नहीं हैं। इसी कारण भगवत्का परमप्रिय अर्जुन भगवत् केभयंकर स्वरूपको नहीं देखसका और मधुरमूर्त्ति ही को देखनेकी इच्छा की क्योंकि भक्तों की निष्ठा भी ऐसी ही है, कि जिस भक्तको भगवान के राम, कृष्ण, आदि जौनसी मूर्त्तिमें उपासनाका अभ्यास है उसी अपने इष्टदेव ही की मूर्त्ति सदा देखते रहनेकी अभिलाषा बनी रेहती है।

पर यहां भगवान यों बिचारने लगे हैं, कि जो साधारण व्यक्ति उपासनाका रहस्य नहीं जानते उनके चित्तमें यही शंका उदय हो आवेगी, कि अर्जुनने भगवन्मूर्त्तिके देखनेमें अरुचि प्रकट की है इस कारण यह मूर्त्ति दर्शनीय नहीं है अतएव सर्वसाधारणके चित्तसे इस भ्रमको मिटानेके तात्पर्य्यसे भगवान् अर्जुनको समझानेके मिससे मानों सम्पूर्ण जगत्को समझाते हुए कहते हैं, कि [सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम] यह मेरा स्वरूप जो सर्वप्रकार मंगलदायक है सो परम दुर्दर्श है अर्थात् बड़े दुःख उठाकर देखने योग्य है। सो हे अर्जुन ! तूने जो इस समय मेरी इस विश्वमूर्त्तिको देखा है सो अनेक प्रकार कृच्छ्र, चान्द्रायण, मौनव्रतादि साधन करनेवाले सिद्धोंको भी दुर्लभ है सब इस मूर्त्तिके देखनेकी इच्छा रखते हैं अन्य किसी जीवको तो कौन गिने?

क्योंकि [देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः] इन्द्र, वरुण, कुबेर, शेष, महेश, गणेश, दिनेशादि सब इस मेरी विश्वमूर्तिके दर्शनकी अभिलाषा रखते हैं पर देख नहीं सकते ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि हे अर्जुन ! तू बडा भाग्यवान है, कि ऐसे दुर्दर्शरूपको तूने आज सहजहीमें देखलिया है ॥ ५२ ॥

देवादि भी इस रूपको क्यों नहीं देखसकते इसका कारण भगवान् अगले श्लोकमें यह कहते हैं, कि कोई प्राणी अनेक प्रकारके यत्न करनेसे भी मेरे इस स्वरूपको नहीं देख सकता ।

मू०— नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३

पदच्छेदः— माम् (विश्वरूपम्) यथा (येन प्रकारेण) दृष्टवानसि (अवलोकितवानसि) एवंविधः (त्वद्दृष्टप्रकारः) अहम् (वासुदेवः) वेदैः (स्वाध्यायैः) द्रष्टुम् (अवलोकयितुम्) न, शक्यः (समर्थः) तपसा (कृच्छ्रचान्द्रायणादिना) न, दानेन (सत्पात्रे गोभूहिरण्याद्यर्पणेन) न, इज्यया (यज्ञादिना । अग्निष्टोम-वाजपेयादिभिः । पूजया वा) च, न ॥ ५३ ॥

पदार्थः— (माम्) मुझ विश्वरूपवालेको (यथा) जिस प्रकारसे हे अर्जुन ! (दृष्टवानसि) तूने देखा है (एवंविधः) इस प्रकारसे (अहम्) मैं दूसरोंके लिये (वेदैः) चारों वेदोंके अध्ययन

करनेसे (द्रष्टुम) देखे जानेको (न शक्यः) समर्थ नहीं हूँ तथा (तपसा न) तपस्यासे भी नहीं (दानेन न) दानसे भी नहीं (इज्यया च न) यज्ञादिसे भी नहीं देखेजानेको शक्य हूं ॥ ५३ ॥

भावार्थः— भगवान् अर्जुनके मनकी बात जानगये अर्थात् जब भगवान्ने पूर्वश्लोकमें यह कहा, कि देवगण भी मेरे इस रूप को देखा चाहते हैं पर देख नहीं सकते तो अर्जुनको मनहीमन शंका होआयी, कि ऐसी विशेषता क्यों? क्या कारण है, कि देवगणोंको भी यह भगवानका विश्वरूप सुष्टुप्रकारसे देखनेमें नहीं आता। सबके हृदयोंके जाननेवाले भगवान् अर्जुनकी इस शंकाको जानकर उसके सन्देह निवारणार्थ कहते हैं, कि हे अर्जुन! जब तक कोई प्राणी मेरा भक्त न हो तबतक [**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया**] न तो मैं ऋक्, यजु, सामादि चारों वेदोंको उनके अंगों सहित अध्ययन करनेसे, न सैकडों वर्ष तप करनेसे अथवा कृच्छ्रचान्द्रायण, मौन इत्यादिके साधनसे, न किसी प्रकारके दानसे एवं यागादि अथवा षोडशविधिपूजनादिसे भी [**शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा**] इस प्रकारके स्वरूपको दिखलानेमें समर्थ नहीं हूं जैसा, कि तूने अभी देखा है।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यही है, कि जबतक प्राणी के हृदयमें मेरी भक्तिकी ज्योति पूर्णप्रकार उदय न हो ले तबतक वह चाहे किसी प्रकारके उत्तमसे उत्तम कर्मोका साधन क्यों न करता रहे पर उसके हृदयमें अंधकार बना रहनेसे वह मेरे इस विश्वरूपका दर्शन नहीं पासकता यही सिद्धान्त है और निश्चय है ॥ ५३ ॥

वह भक्ति भी किस प्रकारकी होनी चाहिये जिससे यह रूप देखा जावे सो भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करते हुए कहते हैं—

मू०— भक्त्या त्वनन्यया शक्य* अहमेवंविधोऽर्जुन ।।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन, प्रवेष्टुञ्च परन्तप ! ॥ ५४॥

पदच्छेदः— [हे] परन्तप ! (परान् रागादिशत्रून् तापयतीति परन्तपः तत्सम्बुद्धौ परन्तप ! अज्ञान शत्रुदलने समर्थो वा) अर्जुन !, एवंविधः (एवं प्रकारः) अहम् (वासुदेवः । विश्वरूपधरः) अनन्यया (न विद्यते अन्यो द्वितीयः यस्याः सा अनन्या अव्यभिचारिणी । तथा भगवतो वासुदेवादन्यत्र पृथक्कदाचिदपि या न भवति तया ईश्वरे परानुरक्तिलक्षणया वासुदेवादन्यत्र सर्वकर्मप्रवृत्ति निवारकया) भक्त्या (प्रेम्णा आराधनेन) तु + ज्ञातुम् (ज्ञानेन विषयीकर्तुम्) शक्यः (समर्थः) तत्त्वेन (परमार्थतः) द्रष्टुम् (प्रत्यक्षतः अवलोकयितुम्) च, प्रवेष्टुम् (तादात्म्यं प्राप्तुम् । मोक्षंगन्तुम्) च [शक्यः] ॥ ५४ ॥

पदार्थः— (परन्तप !) हे अज्ञानरूप शत्रुका तपानेवाला (अर्जुन !) अर्जुन ! (एवंविधः) इस प्रकार (अहम्) मैं सर्वेश्वर (अनन्यया भक्त्या) अनन्य भक्तिसे ही (तु) निश्चय करके (तत्त्वेन) परमार्थदृष्टिसे अर्थात् यथार्थरूपसे (ज्ञातुम्)

* छान्दसो विसर्गलोपः ।

+ भक्तीतरसाधनव्यवच्छेदार्थः ' तु ' शब्दः ।

बोध कियेजाने (द्रष्टुम् च) अवलोकन कियेजाने (प्रवेष्टुं च)
और प्रवेश करेजानेके (शक्यः) योग्य हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थः— श्रीवासुदेव देवकी नन्दन भक्तउरचन्दन भग॰
वान श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं, कि हे अज्ञानरूप शत्रुका तपानेवाला अर्जुन !
इस प्रकार मैं सर्वेश्वर निश्चय कर अनन्य भक्तिसे ही भक्तोंके द्वारा;
परमार्थदृष्टि अर्थात् यथार्थरूपसे जानने, अवलोकन कियेजाने और मेरे
स्वरूपमें प्रवेश कियेजानेके योग्य हूं। अर्थात् अनन्यभक्तिसे ही प्राणी
मुझे तत्त्वतः जानसकते हैं, देख सकते हैं और मुझमें प्रवेश करसकते हैं।

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका हुई, कि फिर वह कौनसा उपाय
है? जिससे तुम्हारा यह विश्वरूप देखाजासकता है। इसी सन्देहके निवार-
णार्थ भगवान् कहते हैं, कि [भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं-
विधोऽर्जुन !] जो प्राणी मेरे में अनन्य भक्ति करता है अर्थात्
मेरे अतिरिक्त कहीं भी किसी अन्य देव देवीको नहीं जानता है
उसी प्राणीके लिये हे अर्जुन ! मैं इस प्रकार बोध कियेजानेके योग्य हूं ॥
अर्थात् जो प्राणी मुझसे भिन्न किसी पदार्थको नहीं देखता और "सापरा
नुरक्तिरीश्वरे " इस वचनके अनुसार केवल मुझहीमें परमप्रेम
करनेवाला है तथा " अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता " इस नारद-
भक्तिसूत्रको भली भांति स्मरण रखता हुआ तदनुसार आचरण करता
है और मुझ वासुदेव सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी विश्वरूपको छोड अन्य
सब आश्रयोंको त्याग " तस्मै अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता "
इस सूत्रके अनुसार मुझमें ही अनन्यता रखता है और सबोंसे उदासीन
रहता है जैसे चातक स्वातिके साथ, चकोर चन्द्रके साथ, नदियां

समुद्रके साथ और पतिव्रता अपने पतिके साथ अनन्य है इसी प्रकार जो भक्त मेरी ही भक्तिमें अनुरक्त है वही अनन्यभक्त कहलाता है और ऐसे ही भक्तोंके द्वारा [ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप !] मैं जान लियेजानेको, अवलोकन कियेजानेको और प्रवेश कियेजानेको समर्थ हूं। हे परन्तप ! अज्ञानरूपशत्रुका नाश करने वाला पार्थ ! तू निश्चय करके इतना अवश्य जानले, कि वही प्राणी जिसमें अनन्य भक्ति लहलहा रही है मुझे इस प्रकार जानसकता है, अवलोकन करसकता है और मुझमें प्रवेश करसकता है ॥ ५४ ॥

अब भगवान् अपने भक्तोंकी अनन्यताका पूर्ण लक्षण भक्तजनोंके अनुष्ठान करनेके लिये अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ! ॥५५॥

पदच्छेदः— मत्कर्मकृत् (मदर्थमत्प्रीतये वैदिकं लौकिकं कर्म करोति यः) मत्परमः (अहमेव परमः उत्कृष्टो यस्य अथवा अहमेव परा गतिर्यस्य सः) मद्भक्तः (मामेव सर्वभावेन सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजति यः) संगवर्जितः (धनमित्रपुत्रकलत्रबन्धुवर्गसंगेन रहितः) सर्वभूतेषु (समविषमेषुजीवेषु) निर्वैरः (मद्दर्शनेन निर्गतं वैरं यस्मात् सः। आत्मनोऽत्यन्तापकारप्रवृत्तेष्वपि शत्रुभावरहितः) सः, माम् (सर्वोपादानं परमानन्दरूपम्) एति (प्राप्नोति) ॥ ५५ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुकुलशिरोमणि अर्जुन ! (यः) जो प्राणी (मत्कर्मकृत) मेरे ही निमित्त वैदिक-लौकिक सब कर्मोंको

करता रहता है और (मत्परमः) मुझहीको अपना परमपुरुषार्थ जानता है (मद्भक्तः) जो मेरा भक्त सर्वभावसे मुझहीको भजता है तथा (संगवर्जितः) धन, मित्र, कलत्र, पुत्र इत्यादि सर्वप्रकारके संगसे रहित है (सर्वभूतेषु निर्वैरः) सब जीवोंसे जो वैर रहित (च) भीहै (सः) सो ही प्राणी (मम) मुझ परमानन्दरूपको (एति) प्राप्त करता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनसे अपने अनन्यभक्त का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः**] हे अर्जुन ! जो प्राणी मेरेही निमित्त सब कर्मोंको करता है और मुझहींको अपना परम पुरुषार्थ जानता है तथा सब भावों से मुझहीको भजता है अर्थात् जो प्राणी मुझको प्राप्त करनेके तात्पर्यसे केवल मुझहीमें प्रेमकरनेके लिये तथा उस प्रेमको धीरे २ बढाकर स्थायी करनेके तात्पर्यसे सर्व प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्मोंका सम्पादन करता रहता है और मुझसे अतिरिक्त इस संसारमें चक्र-वर्तीके सुख तथा परलोकमें इन्द्रादिके सुखोंका भी तिरस्कार करता हुआ केवल मेरे मिलनेके सुखके लिये सर्वप्रकारके कर्मोंका सम्पादन करता है। अथवा यों समझो, कि मेरा भक्त ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा अन्तःकरणको जिस किसी भी कर्मकी ओर लगाता है वह मानो मेरेही लिये करता है।

प्रिय पाठको ! भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे रात्रिमें शयन करनेके समय भक्त ऐसा ध्यान करता है, कि

श्यामसुन्दर शयन कररहे हैं और मैं उनके कोमल चरणों को हृदयमें लगाये दाब रहा हूं एवम्प्रकार चरणोंको दाबते हुए मानो आप भी शयन करगया और मनमोहन मुरलीमनोहरको भी शयन करा दिया। यदि इस प्रकार जाग्रत्से वहस्वप्नमें प्रवेश करगया तो वहां भी उसने भगवत्को वैसा ही देखा जैसा, कि जाग्रतमें ध्यान कररहा था अर्थात् ऐसे अभ्यास करते करते किसी न किसी दिन वह भक्त अपने परम मनोहर इष्ट देवको प्रत्यक्ष कर ही लेगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि अपने शयनके समय भगवान्‌का शयन समझे और जागते समय भगवान्‌का जागना समझे। एवंप्रकार बैठते समय भगवान्‌का अपने समीप बैठना समझे और खडे होते समय भगवान्‌का खडा होना समझे तथा मार्ग चलते समय ऐसा समझे, कि मैं अपने प्राणनाथके साथ-साथ हाथाबांही किये हुए मार्गमें चला जारहा हूं जैसे परस्पर दो मित्र बातें करते मार्गका आनन्द लेते चलते हैं। फिर भोजन करते समय ऐसा ध्यान करे, कि नाना प्रकारके पक्वान्नोंको जो सूरकारने आगे लाधरा है वह मानो श्रीहरि स्वयं भोजन कररहे हैं उनके भोजनके पश्चात् जो उनका जूठन है वह मैं भोजन कररहा हूं।

नाना प्रकारके इतिहासोंसे ऐसा भी पायाजाता है, कि जिस भक्तकी भक्ति अत्यन्त उच्च श्रेणीको पहुंच चुकी है वह भगवान्‌के साथ-साथ भोजन करता देखा गया है।

प्रमाण—" दध्योदनं समानीतं शिलायां सलिलान्तिके।
संभोजनीयैर्बुभुजे गोपैः संकर्षणान्वितः॥ "
(श्रीमद्भागत० स्कं० १० अ० २ श्लो० २६)

श्रीकृष्ण भगवान बलरामजीके साथ तथा अपने संग भोजन करेने योग्य ग्वालबाल सखाओंके सहित जलधाराके समीप किसी शिला पर बैठ घरसे लाये हुए दही भातका भोजन करते थे।

यदि शंका हो तो ब्रजमें जाकर ग्वालबालोंको देखो। इससे सिद्ध होता है, कि भगवान् स्वयं अपने भक्तोंके साथ भोजन किया करते हैं।

यह तो लौकिककर्मोंके विषय वर्णन किया गया अब इसी प्रकार पारलौकिक कर्मोंको भी भगवानके मिलनेके ही प्रयोजनसे करे। जैसे कभी किसी तीर्थको जारहा है तो ऐसा न संकल्प करे, कि इस तीर्थसे मैं स्वर्ग जाऊंगा अथवा धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि पाऊंगा वरु यही संकल्प करे, कि भगवच्चरणोंकी प्रीति मेरे हृदयमें बढे और तीर्थकी ओर चलते समय ऐसा ध्यान करे, कि मेरे प्राणवल्लभ श्रीहरि अमुक स्थानमें मिलेंगे मैं उन्हींको ढूंढने जारहा हूं।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे कोई मित्र अपने खोये हुए मित्रके ढूंढनेमें भूखा प्यासा मार्गमें खाक छानता हुआ देश विदेश मारा फिरता है और जब कहीं कुछ पता नहीं लगता तब रात्रिको कहीं किसी वृक्षके नीचे अपने प्रेमीके विरहमें रोताहुआ रात्रि बितादेता है। फिर सूर्योदय होते ही अपने मित्रका मार्ग लेता है। इसी प्रकार जो भक्त भगवतके प्रेममें मग्न, मानों उनकी ढूंढमें तीर्थोंका मार्ग लेता है उसीका तीर्थ यथार्थ तीर्थ है।

इसी प्रकार व्रत करनेवाले जो एकादशी व्रत करते हैं इनमें कितने तो जिसदिन एकादशी होती है प्रातःकालहीसे पेडा दूध मलाई

के यत्नमें लगजाते हैं और फलाहार करते समय रात्रिको अन्य रात्रियोंकी अपेक्षा दूना भोजनकर रातभर खर्राटे लिया करते हैं ऐसे एकादशी करनेवालोंको एकादशीका कुछ भी फल नहीं होता है। पर यथार्थव्रतकरेनेवाला वही है जो व्रतके दिन उदासीन होकर, भोजन इत्यादिकी चिन्ता छोड, भगवत्के न मिलनेकी चिन्ता तथा उनके विरहमें व्याकुल हो अन्नादिको परित्याग करदेता है और बिना अन्न पानी सारा दिन सारी रात बिरहमें बितादेता है और यही चिन्ता करता है, कि हे नाथ! आज कार्त्तिककी भी एकादशी बीतगयी अब तक आपकी कृपादृष्टि मुझपर न हुई वह एकादशीका दिन कब होगा, जिसदिन तुम मुझपर वैसी कृपादृष्टि करोगे जैसी महाराज अम्बरीषपर की थी इस प्रकार भगवत्से मिलनेकी चिन्तामें भूखे प्यासे रहजाना यथार्थ एकादशीव्रत है। हँसी आती है उनलोगोंकी बुद्धिपर जो यह कहा करते हैं, कि पन्द्रहे दिन जो खाते पीते हैं उस अन्नादिका विकार जो शरीरमें बढजाता है उसके जलादेने और पचादेनेके लिये एकादशीका व्रत महात्माओंने निकाला है यदि ऐसाही है तो केवल एकादशीपर निर्भर रहना क्यों? जिसी दिन चाहो भूखे रहकर सब विकारोंको जलादो। इसी प्रकार दर्शपौर्णमास अर्थात् अमावस्या और पौर्णमासीके दिन जो हवन इत्यादि करते हैं उसके यथार्थ सम्पादन करनेवाले वे ही हैं जो भगवत्के प्रेममें यों ध्यान करते हैं, कि इस महीनेके भी पन्द्रह दिवस आज बीतगए, यह कृष्णपक्ष भी कृष्ण बिना सूना ही बीतगया फिर पौर्णमासीके दिन ऐसा ध्यान करते हैं, कि हा! हे भगवन्! इस महीनेका चन्द्रपक्ष भी बिना

तुझ चन्द्रवदनके दर्शन हुए उदासीनतासे भराहुआ बीतगया। एवम्-प्रकार जो प्रेमकी आगमें अपने तनमनको भस्म करते हैं वे ही यथार्थ दर्श और पौर्णमासके सम्पादन करने वाले हैं।

इसी प्रकार कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि कर्मोंको भी जानना अर्थात् केवल भगवत् प्राप्तिकेही निमित्त इन व्रतोंका क्लेश सहना है स्वर्गादि सुख तथा धन सम्पत्तिके लिये नहीं। इन्ही प्रकार कर्मोंके संपादन करनेके विषय भगवाननें "मत्कर्मकृत" शब्दका उपदेश अर्जुनको किया है।

अब भगवान् कहते हैं, कि "मत्परमः" जिसने मुझहीको अपना परम पुरुषार्थ जाना है। तात्पर्य यह है, कि वहुतेरे प्राणी जो अपनी वीरता, बुद्धि, धन, राज्य, कटक, पुरजन, परिजन, बन्धु मित्र इत्यादि द्वारा बडे-बडे कठिन कार्योंके साधनकरनेको परमपुरुषार्थ समझते हैं यह उनकी भूल है पर जो अनन्यभक्त हैं वे ऊपर कथन कियेहुए धन, जन, सम्पत्ति, पुरजन, परिवार तथा अपनी बुद्धि पराक्रम इत्यादिका कुछ भी भरोसा नहीं करते, चाहे कितना भी कठिनसे कठिन कार्य वा आपत्ति क्यों न सम्मुख आजावे पर अनन्यभक्त अन्य आश्रयोंको त्याग केवल भगवतचरणोंका आश्रय लेते हैं औरभगवतके अवलम्बही को अपना परम पुरुषार्थ जानते हैं। जैसे द्रौपदीने नग्न होते समय अपने बडे-बडे वीर पुरुषार्थी पाण्डवोंका कुछ भी आश्रय न लेकर भगवतको पुकारा, गजने ग्राहसे लडते समय अपने सारे पुरुषार्थको तिलांजलि दे उसी महाप्रभुका आश्रय लिया इत्यादि।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि द्रौपदी, गज तथा प्रह्लादादि अनन्यभक्तोंके समान जो मुझहीको अपना परमपुरुषार्थ जानता है वही 'मत्परमः' कहाजाता है।

अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि श्रीआनन्दकंद सच्चिदानन्द कृष्णचन्द्रही जिस प्राणीकी परम गति हैं अर्थात् जो प्राणी मुक्तिका भी निरादर करके केवल अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की प्राप्तिहीको अपनी परम गति समझता है उसीके लिये भगवान्ने इस श्लोकमें मत्परमः शब्दका प्रयोग किया है।

अथवा यों अर्थ करलीजिये कि जिस प्राणीने अपनी आयुष्पर्यन्त जो कुछ पुरुषार्थ करलिया उसका फल केवल भगवत्स्वरूपमें लय होजाना ही समझता है उसीके विषय भगवान 'मत्परमः' शब्दका प्रयोग कररहे हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि 'मद्भक्तः' जो मुझे सर्वभावोंसे भजता है और पिपीलिकासे ब्रह्मापर्यन्त तथा तृणसे पर्वत पर्यन्त सब को मेरा ही रूप जानता है फिर मुझहीको सर्वात्मभावसे सर्वप्रकार उत्साह रहित अहर्निश स्मरण करता रहता है मेरे बिना अन्य किसीको कभी भी चित्तमें नहीं लाता। यदि यह कहो, कि वह अपने पुत्र कलत्रमें लगा हुआ उनके भोजन, आच्छादन इत्यादिकी चिन्तामें मग्न उन की हानि और लाभको स्मरण रखता है तो हे अर्जुन! तू ऐसा जानले, कि तेरे सदृश जो मेरा अनन्यभक्त है वह 'संगवर्जितः' सर्वप्रकारके संगोंसे विलग रहता है अर्थात किसीमें उसके चित्तका अटकाव नहीं रहता अपना पराया सबको, एकसमान जानता हुआ सबोंसे विलग रहता है।

यदि ऐसा कहो, कि वह निस्संग रहे तो रहे परे संसारमें जो उसके शत्रु हैं वे तो उसे न छोड़ेंगे बरबस उसके पीछे लगकर उसकी हानि पहुंचानेका यत्न करेंहींगे। तो उत्तर यह है, कि [**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव !**] जो मेरा भक्त सब जीवोंसे निर्वैर-भाव रखता है वही मुझ परमानन्दस्वरूपकी उपलब्धि करता है किसीसे कुछभी वैर नहीं रखता अर्थात् ऐसे प्राणीके प्राणका कोई घातकभी क्यों न होवे पर वह उसकी कुछभी चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह शत्रु, मित्र, सबको मेरा स्वरूप ही जानता है फिर वह वैर किससे करे । जब वह किसीका भी वैरी नहीं है तो उसका भी कोई वैरी नहीं होसकता । भगवान् पहले कहआये हैं, कि "**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः**" (अ० ६ श्लोक ३२) हे अर्जुन ! जो पुरुष सब प्राणियोंको अपने समान देखता है तथा सुखदुःखमें समबुद्धि रहता है मेरे जानते वही सब योगियोंमें उत्तम है । इसलिये जो मेरा उत्तम भक्त है वह सबको एकसमान अपने ऐसा देखता हुआ किसीसे वैरभाव नहीं रखता इसी कारण अन्य भी कोई उसका वैरी नहीं अतएव वह प्राणी निर्वैर होनेके कारण सदा निःसंग रहता है । फिर यह भी कहआये हैं, कि "**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**" (अ० ६ श्लो० ५) अपना ही आत्मा अपना बन्धु है और शत्रु है । अभिप्राय यह है, कि प्राणी यदि किसीसे वैर न करे तो कोई उससे वैर नहीं करेगा सब उसके बन्धु, मित्र और सहायक बनेरहेंगे और जब आप किसीसे वैर करेंगे तो उसके

भी वैरी खड़े होजावेंगे यह सिद्धान्त है। इसी कारण भगवद्भक्त जो सब जीवोंसे निर्वैर है तिसका कोई वैरी नहीं होता।

शंका—जो भगवद्भक्त होते हैं उनके तो बिना प्रयोजन ही अनेक शत्रु खड़े होजाते हैं और उनको नाना प्रकारके क्लेश पहुंचाते हैं। भगवद्भक्त तो शान्तस्वरूप होते हैं फिर क्या कारण है ? कि बैठे-बिठाये सबसे उदासीन रहते भी उनके आसपासके प्राणी उनसे शत्रुता करने लगते हैं ?

समाधान—इसका कारण यह है, कि इस संसारमें दो प्रकारकी सम्पदाओंसे सदा सब जीवोंकी उत्पत्ति है—आसुरी और दैवी। इन दोनों सम्पदाओंमें जो दैवी सम्पदासे उत्पन्न हैं वे तो भगवद्भक्तोंको देखकर प्रसन्न होते हैं दण्डवत् प्रणाम करते हैं उनसे अपने कल्याण निमित्त शिक्षा लेते हैं और जो आसुरी सम्पदाके जीव हैं वे बिना प्रयोजन भी भक्तोंको देखते ही नाक सिकोड़ते हैं, उनसे शत्रुता करते हैं, उनकी उन्नति देखकर जलते हैं और उनको हानि पहुंचाना चाहते हैं पर बुद्धिमानोंको और हरिभक्तोंको भगवत्की महिमाको सदा स्मरण रखना चाहिये, कि जब-जब दुष्ट प्राणी भक्तोंको अधिक दुःख देने लगते हैं तब-तब भगवान् स्वयं अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं।

यह वार्ता प्रसिद्ध है, कि प्रह्लादको दुःख देते-देते जब हिरण्यकश्यपने खंभमें बांधकर खड्गसे दो टुकड़े करना चाहा तो उसी क्षण नृसिंह भगवानने उस खंभसे प्रकट हो उस दुष्टका नाश करडाला।

इसीप्रकार भगवान् आज भी हमारी आपकी सहायता निमित्त शत्रुओंको और दुष्टोंको दमन करनेको तयार है अतएव भगवद्भक्तों को दृढ विश्वास रखना चाहिये, कि जब बिना प्रयोजन दुष्टप्राणी उनको सताने लगेंगे तो अवश्य भगवान् चाहे स्वयं प्रकट होकर, चाहे गुप्तरीतिसे अथवा किसी दूसरे उपाय द्वारा अवश्य दुष्टोंको नाश कर उनकी रक्षा करेंगे । यह अटल सिद्धान्त है और चारों युगोंके लिये एक समान है । शंका मत करो !

अब यहां विचारने योग्य है, कि भगवान ने अर्जुनसे अपने अनन्य भक्तका लक्षण वर्णन करते हुए पांच विशेषणोंसे भक्तोंको विभूषित किया ।

१. मत्कर्मकृत, २. मत्परमः, ३. मद्भक्तः ४. संगवर्जितः, ५. सर्वभूतेषुनिर्वैरः ये पांचों गुण जिस भक्तमें एक संग निवास करते हों उसीको अनन्य भक्त कहना चाहिये ।

अब भगवान कहते हैं, कि "यः स मामेति पाण्डव ! " हे पाण्डव ! श्रेष्ठ प्रतापी पार्थ ! जो मेरा भक्त इस प्रकार अनन्यतासे विभूषित है वही मुझको प्राप्त करता है अर्थात् मेरे संग सदा विहार करनेका अधिकारी होता है । मैं उसका होता हूं और वह मेरा होता है।

श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्दके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि मेरा अनन्यभक्त सब देव, देवियोंमें मुझहीको देखता है और सबोंको मेराही स्वरूप जानता है इस कारण और किसी विशेष अवस्थामें वह किसी

अन्यलोकोंमें भी जापडे तो वहांभी वह मानो! मेरे ही संग मिलनेका सुख पाता है। मेरा अनन्य भक्त सदा मेराही भजन करता रहता है।

प्रमाण श्रु० — " ॐ त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः। त्वमन्नस्त्वं यमस्त्वं पृथिवी त्वं विश्वस्त्वमथाच्युत। स्वार्थस्वभाविकेऽर्थे च बहुधा संस्थितिस्त्वयि " (मैत्र्यु प० प्रपा० ५ श्रु०१)

अर्थ— हे भगवान! तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र हो, तुम्हीं प्रजापति हो, तुम्हीं अग्नि हो, तुम्हीं वरुण हो, तुम्हीं वायु हो, तुम्हीं इन्द्र हो, तुम्हीं चन्द्रमा हो, तुम्हीं अन्न हो, तुम्हीं सबोंको दण्ड देनेवाले यम हो, तुम्हीं पृथिवी हो, तुम्हीं संपूर्ण विश्व हो, तुमही अच्युत भगवान हो इसी कारण प्राणियोंके अपने अर्थ साधननिमित्त जो पुरुषार्थ हैं उन्हीं पुरुषार्थोंके द्वारा नाना प्रकारकी निष्ठाओंसे तुम्हारे ही स्वरूप में उनकी स्थिति है। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि स्वार्थसिद्धि अथवा स्वाभाविक सिद्धि किसीभी प्रवृत्तिमें तिनकी निष्ठा तुम्हारेहीमें है।

भगवान्ने जिस अभिप्रायको इस ५५वें श्लोकमें अर्जुनके प्रति कथन किया है वही ठीक ठीक इस श्रुतिसेभी सिद्ध होता है अतएव अनन्यभक्तों को तो भगवान्के इस वचनको हृदयपत्रपर लिख लेना चाहिये और जो इसमें पांच गुण अनन्यभक्तोंके कथन किये गये उनका अभ्यास नित्य बढाना चाहिये जिससे भगवत्स्वरूपमें जा मिलें और फिर कभी इस आवागमनके चक्रमें न पड़कर परमपदका सुख सदा भोगते रहें ॥ ५५ ॥

केयूरचुम्बितमनोहरबाहुयुग्मम् ।
यच्चार्पितं भवति कंठतटे स्वमातुः ।
दुःखं विनाशयति संयतश्रृंखलायाः,
जाने कदा तदिह माल्यति हंस कण्ठे ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां
विश्वरूपदर्शननाम एकादशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु पचंत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति एकादशोऽध्यायः

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२४६१	५	यथातथ्य	याथातथ्य
२४६४	५	अर्जुनने	अर्जुन
२४७५	१२	मनेनव	मनेनैव
२४७७	३	त चक्षुः	ते चक्षुः
२४८६	८	दर्शनम	दर्शनम्
२४९३	४	युगपत	युगपत्
,,	१३	नही	नहीं
,,	१७	सूयर्य	सूर्य
२४९७	१६	मिति	भीति
,,	१९	संघात	संघात्
२५०३	१	ब्रह्मादि न्दि-हम्	ब्रह्मादिव-न्दितम्
२५०७	८	निधानम	निधानम्
,,	१३	अस या	अस्य
२५१२	५	पयामि	पश्यामि
२५२२	९	महर्षिणाम्	महर्षीणाम्
२५२६	१६	पदार्षु	पदार्थेषु
२५३२	७	नभस्पृशम्	नभःस्पृशम्
२५३३	६	नभस्पृशं	नभःस्पृशं
२५३७	२१	सहितः	सहिताः
२५४४	७	तम्रोः	तीव्रो
२५६०	२०	मृतप्रायाः	मृतप्रायः कृताः
२५६१	१	समुद्रम	समुद्रम्
२५६४	९	शान्तनु	शन्तनु
२५६७	२०	कि रीटी	किरीटी

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
२५६९	५	सुपैति	सुपैति
२५७७	७	मूर्ति	मूर्तं
२५७९	टि०	वीप्सानाम	वीप्सायाम्
२५८६	२१	क्षमयामि	क्षामयामि
२५९०	१	अच्युत्त	अच्युत
,, ,,	७	कृष्ण	कृष्ण
२५९१	३	प्रसाथ	प्रसाद
२५९७	१९	गरियान्	गरीयान्
२६००	४	पणिधाय	प्रणिधाय
,, ,,	७	पियः	प्रियः
,,	९	कारखान्	कारणात्
,,	१२	स्वामिनम्	स्वामिनं
२६०३	१४	द्रष्टुम्	द्रष्टुम्
,,	२०	तथव	तथैव
,,	,,	शख	शंख
२६१०	१७	प्रसन्न	प्रसन्नेन
२६१५	टि०	मह	अह
,,	,,	ोप	लोप
२६२२	१४	विमिष्टम्	विशिष्टम्
,,	१८	इदक्	ईदक्
२६३८	६	समर्थो वा	समर्थ वा
२६४०	१३	मदर्थ	मदर्थं
२६४१	५	मम	माम्
२६५०	४	त्वमग्नि-वरुणो	त्वमग्नि-र्वरुणो
,,	५	स्वभाविके	स्वाभाविके
,,	७	हे भगवान्	हे भगवन्

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

द्वादशोऽध्यायः

प्रथम वार १०००	अलवरराजधान्याम् श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये मुद्रितः	सम्वत् १९८५ विक्रमी। सन् १९२८ ई०

● तत्सद्ब्रह्मणे नमः ●

श्रीप्रेमपुरेप्रियप्रतिवेशाय नमः ।

श्रीस्नेहनगरस्थितनरेशाय नमः ।

अथ
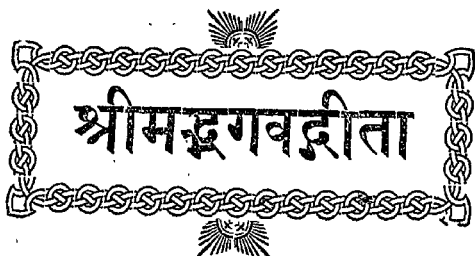
उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* द्वादशोऽध्यायः *

ॐ यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव । तत्रा नो ब्रह्मणस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विश्वाहा शर्म यच्छतु ॥

(ऋ० मं० ६ अ० ६ सु० ७५ मं० १६)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

व्याख्याकौशलीलाम्बुजरुचिररणुम्भोजनेत्रोद्धि-हस्ते, वालोजंघाकटीरस्थलकलितरणत् किंकिणीको मुकुन्दः । दोर्भ्यां हैयंगवीनं विदधति विमलं पायसञ्चिश्चवन्द्यो, गोपीगोपालवीतो रदनखविलसत्कणभूषश्चिरं वः ॥ १ ॥

यत्कृपालवमात्रेण मूर्खो भवति पण्डितः ।
तं वन्दे परमानन्दं विष्णुं जिष्णुं शिवं गुरुम् ॥ २ ॥

अहा! आज यह कौनसी सुन्दरी है? जो विचित्र शृंगार किये बडी कृपाकटाक्षसे अवलोकन करतीहुई हरिभक्तोंकी मण्डलीकी ओर धीरे-धीरे अनोखी चालसे चली आरही है। अहा कैसा शृंगार? कैसी छवि? जिसका वर्णन शेष, महेश, शारदादिसे भी होना कठिन है। देखो वह देखो! इसके मस्तकपर बडी शोभाके साथ अहिंसाकी चोटी गुथी हुई है, ललाटपर सत्यके सिन्दूरकी ललाईसे दशों दिशाएं लाल-लाल होरही हैं। द्वैत और अद्वैतरूप भौंहें ऐसी शोभा देरही हैं मानो धर्म्मने अधर्म्मरूप शत्रुके नाश निमित्त तिरछी कमान खींचली हो, तिनके नीचे विवेक और वैराग्यरूप नेत्रोंके बाण ऐसे तीक्ष्ण देख पडते हैं जो काम, क्रोधादि शत्रुओंके हृदयको बेंधर कर चालनके समान चाल डालें। फिर अरुण अधरोंपर नासिकाकी शोभा ऐसी विचित्र देख पडती है मानो शीलरूप शुकने ब्रह्मानन्द और परमानन्दरूप बिम्बाफलोंको खानेकेलिये चोंच चलायी हो जिसके लोक और परलोकरूप दोनों कर्णोंमें

अर्थ और धर्मरूप कर्णफूलोंकी शोभा कही नहीं जाती। देखो ! वह देखो ! यह सुन्दरी तो कुछ अद्भुत ही जानपडती है जो अपनी दया और क्षमारूप दोनों भुजाओंमें अर्थ और काम के कङ्कणोंको बांधे हुई सम्पूर्ण विश्वको मोह रही है, जिसकी धारणारूप छातीपै साकार और निराकाररूप दो भण्डार स्तनरूपसे हरिभक्तरूप बच्चोंके प्रेमरूप दूधके पिलानेके लिये सुशोभित होरहे हैं। जिसकी एकाग्रतारूप अत्यन्त पतली कटिमें शान्तिकी किंकिणी मधुरध्वनिसे बजती चली आरही है। जिसके ज्ञान और विज्ञानरूप कोमल चरणोंमें नेहके नूपुरोंसे प्रसन्नताकी ध्वनि निकल रही है अहा ! प्यारे सज्जनो ! देखो ! देखो ! अपने-अपने निष्कामकर्मोंकी पूर्ति करचुके हो तो तनक भी विलम्ब मत करो सबके सब एक बार खडे होकर इस परम सुन्दरीके सम्मुख सम्पुटाञ्जलि होकर पूछो, कि इसका क्या नाम है और कहांसे आयी है ?

अहा देखो ! वह तुम्हारे पूछनेपर अपना नाम क्या बता रही है? ध्यान देकर सुनो ☞ उपासना ! उपासना !! उपासना !!!

यह तो अकेली नहीं है इसीकी दुहिता अनन्यभक्ति भी इसके साथ २ है। लो सब मिल इसीकी सेवा करो जिससे तुमको भगवत्-स्वरूपकी प्राप्तिका आनन्द शीघ्र लाभ होवे।

चलो अब अपने विषयकी ओर चलें क्योंकि इस अध्यायमें भगवान् भक्ति सहित उपासनाका वर्णन करेंगे।

अर्जुन उवाच ।

मू०— एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १

पदच्छेदः— एवम् (मत्कर्मकृत मत्परम इत्याद्युक्तप्रकारेण) सततयुक्ताः (नैरन्तर्येण समाहिताः) ये, भक्ताः (उपासकाः । अनन्यशरणाः) त्वाम् (वासुदेवस्वरूपम् । विश्वरूपम् वा) पर्य्युपासते (ध्यायन्ति । सततं चिन्तयन्ति) ये, च, त्वाम्, अक्षरम् (निरस्तसर्वोपाधित्वात् विनाशरहितम्) अव्यक्तम् (अकरणगोचरम्। बुद्ध्याद्यगोचरम्) अपि [पर्य्युपासते] तेषाम् [मध्ये] योगवित्तमाः (श्रेष्ठा योगविदः) के ? ॥ १ ॥

पदार्थः— (एवम्) इस प्रकारे जैसा, कि पहले कह आये हैं (सततयुक्ताः) सदा समाहितचित्त तुममें युक्त (ये भक्ताः) जो तुम्हारे भक्त (त्वाम्) तुमको (पर्य्युपासते) साकार विश्वरूप तथा कृष्णरूपसे सदा ध्यान करते हैं तथा (ये च त्वाम्) वे भी जो तुमको (अक्षरम्) अविनाशी तथा (अव्यक्तम्) निराकारस्वरूपसे भजते हैं (तेषाम्) इन दोनोंमें (योगवित्तमाः) श्रेष्ठ योगी (के) कौन हैं ? सो मुझे समझाकर कहो ॥ १ ॥

भावार्थः— एकादश अध्यायके अन्तमें अनन्य भक्तोंका वर्णन सुनकर अर्जुन अपने मनमें विचारने लगा, कि मैं श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके कोमल मुखसरोजसे निकसे हुए वचन-रूप भ्रमरोंका गुंजार सुनकर परम प्रसन्नताको तो अवश्य प्राप्त हुआ हूं

इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि भगवत्के वचन अत्यन्त मधुर, स्वादु, कोमल, सार्थक तथा जीवोंके कल्याणकारक हैं, इनका एक २ अक्षर हीरेकी लेखिनी और अमृतरसकी मसिधानीसे भक्तोंके हृदयरूप स्वच्छपत्रपरे लिखेजाने योग्य है। क्यों न हो जिस वचनको साक्षात् श्रीहरि अपने मुखारविन्दसे उच्चारण करें क्या वे वचन किसी प्रकार वेदके मंत्रोंसे न्यून होसकते हैं? कदापि नहीं! इसी कारण तो यह गीताशास्त्र पंचमवेदके नामसे प्रसिद्ध है पर भगवानने अपने मुखसे मुझे इस गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक ४६में यों उपदेश किया है—
" यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके । तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः " अर्थात् जैसे वर्षाकालमें चारों ओरके जलकी धाराओंसे भरजानेवाले छोटे २ कूप, तडाग, चहबच्चे इत्यादिसे उतने ही जलको प्राणी स्नान पानके प्रयोजनार्थ घटादि पात्रों द्वारा ग्रहण करता है जितनेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अधिकारियोंके कल्याण निमित्त सम्पूर्ण वेदसे केवल प्रयोजनमात्र सिद्ध करनेके लिये थोडेसे वचनोंके निकाल लेनेकी आवश्यकता है। सो मुझ अर्जुनके प्रति भगवानने पूर्व ११वें अध्यायमें जितने विषय वर्णन किये इनमेंसे मेरे लिये कितने वचन उपकारक होंगे अभीतक समझमें नहीं आये।

मुझको भगवानने इस गीताशास्त्रके आरम्भ होते ही अध्याय २ श्लोक ४७ में कह दिया है, कि " कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन " तेरा अधिकार कर्म करनेमें है पर उनके फलोंमें नहीं तात्पर्य्य यह है, कि कर्म करता जा पर उनके

फलकी इच्छा मत कर ! अर्थात् निष्कामकर्मोंका सम्पादन करता चला जा !

फिर भगवान्ने अ० ३ श्लो० १७ में कहा है, कि " यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते " अर्थात् जो पुरुष आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है, आत्मा ही में प्रीति रखता है, आत्माहीमें तृप्त रहता है उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है । इसी विषयको आगे चलकर अ० ४ श्लोक ३७, ३८में कहकर पुनः दृढ करदिया, कि " यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति " अर्थात् जैसे जलतीहुई आग लकडियोंको भस्म करडालती है वैसे ही ज्ञानरूप आग सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म करदेती है । इस लोकमें ज्ञानके समान पवित्र कुछ भी नहीं है । कर्मयोगसे सिद्धि लाभ कियेहुए पुरुष उस आत्मज्ञानको थोडे ही समयमें आपसे आप अपनेमें प्राप्त करलेते हैं । इसी तात्पर्यको और भी अधिक पुष्ट करनेके अभिप्राय से मानो एक अटलसिद्धान्त करनेके लिये भगवानने अ० ५ श्लोक १७ और २४ में यों कहा. कि " तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः " अर्थात् उस परमात्मामें जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि है और परमात्मा अवश्य है ऐसा जो मानते हैं इसी कारण उस परमात्माहीमें जिनका चित्त लगाहुआ है, वही परमात्मा जिनकी स्थितिकी प्राप्ति

है वही परमात्मा जिनकी परम गति है और ज्ञानसे जिनके सब पाप नाश होगये हैं ऐसे पुरुष फिर लौटकर इस संसारमें नहीं आते वे तो कैवल्यपरमपदको प्राप्त होजाते हैं ।

अर्जुन यहांतककी वार्त्ताओंको स्मरण करताहुआ विचारने लगा, कि भगवानने प्रथम निष्कामकर्मोको सम्पादन कर उन कर्मोकी सिद्धि द्वारा आत्मज्ञान लाभ करतेहुए 'तद्बुद्धय:' इत्यादि पदोंसे तिस निराकार ब्रह्मको साक्षात्कार कर मोक्ष प्राप्त करलेनेका उपदेश किया। क्योंकि यहां 'तत्' शब्दके प्रयोग करनेसे उस अक्षर अव्यय निराकार ब्रह्म हीका बोध होता है। फिर छठवें अध्यायके श्लोक ३०में भगवान् कहते हैं, कि "**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति**" अर्थात् जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है मैं उससे अदृश्य कभी भी नहीं होता हूं। इसीके साथ आगे ३१ वें श्लोकमें भी कहा, कि "**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते**" अर्थात् जो पुरुष मुझको सब भूतोंमें स्थित एकत्व कर जीव और ब्रह्मकी एकता समझकर भजता है वह सर्वप्रकार विषयोंमें रहताहुआ भी मुझहीमें रहता है इतने वचनसे भगवान्ने अभ्यासयोगका मानो उपदेश किया। मुख्य अभिप्राय यह है, कि कर्मकाण्ड साधन करतेहुए आत्मज्ञानके लाभ द्वारा मोक्षपद तक पहुंचनेवालोंको इसी अभ्यासयोगकी आवश्यकता है, कि सबको भगवत् में और भगवत्को सबमें एकत्व करके भजन करें।

फिर आगे चलकर कहा, कि " प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते " (अ० ६ श्लोक ४१) योगभ्रष्ट प्राणी पुण्य करनेवाले पुरुषोंके लोकोंको अर्थात् देव वा पितरलोकादि लोकोंके प्राप्त करने के पश्चात् फिर इस संसारमें लौटकर किसी पवित्र धनवान् कुलमें "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् " (अ० ६ श्लोक ४२) अथवा योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है " तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन " (अ० ६ श्लोक ४३) जहां जन्म लेकर पूर्वजन्मसम्बन्धी ब्रह्म-विषयिणी बुद्धिको प्राप्त हो फिर मोक्षविषयका यत्न करता है।

इन वचनोंके स्मरण होनेसे अर्जुन विचारता है, कि यह मार्ग इतना कठोर है, कि कईबार उठा पटक होनेके पश्चात् भी यथार्थ तत्त्वतक पहुंचना दुर्लभ देखाजाता है सो भगवान्ने भी अ० ७ श्लोक ३ में कहदिया है, कि " मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये " अर्थात् सहस्रोंमें कोई एक मेरे लिये यत्न करता है और वैसे २ सहस्र यत्न करनेवालोंमें कोई बिरला ही मुझको तत्त्वतः जानता है।

यह वार्त्ता स्मरण होनेसे चित्त हिचकता है, कि ऐसे दुर्लभ पदार्थको मैं एक साधारण अर्जुन कैसे लाभ करूंगा ? फिर भगवानने आगे चलकर इसी सातवें अध्यायके श्लोक १६ में " चतुर्विधा भजन्ते माम् " कहकर आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन करके ज्ञानीको श्रेष्ठ रखा और १७वें श्लोकमें यों कहा, कि " तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते "

इन चारोंमेंसे सदा मुझमें निष्ठा रखनेवाला मेरा अनन्य भक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है ।

यहां भगवानने भक्तिकी विशेषता वर्णन करतेहुए साकार उपासनाका संकेत करदिया और आगे चलते-चलते यहां तक साकारेकी विशेषता करदी, कि " **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम** " अर्थात जो-जो भक्त जिस-जिस देवताकी मूर्तिको पूजन करनेकी इच्छा करते हैं मैं उन-उन भक्तोंको उसी-उसी मूर्तिविषयक वैसी ही दृढ श्रद्धा उत्पन्न करादेता हूं ।

इन वचनोंसे भगवानने अधिकारानुसार साकार मूर्तिकी उपासनाका भी संकेत करदिया । फिर भगवानने आगे चलकर आठवें अध्यायके श्लोक २१ में कहा, कि " **अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त....** " अर्थात जो इन्द्रियोंसे अगोचर और अक्षर अर्थात अविनाशी स्वरूप है वह परम गति है " **यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम** " जहां जाकर अर्थात जिस अविनाशी गतिको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटना पडता वही मेरा परम धाम है ।

इन वचनोंसे फिर उसी निराकारे उपासनाका निरूपण करदिया तहां यह भी कहदिया, कि " **पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया** " हे पार्थ ! सो परम पुरुष अनन्य भक्ति द्वारा लाभ होता है अर्थात इस निराकारे उपासनामें भी अनन्य भक्तिकी ही आवश्यकता है ।

फिर आगे चलकर भगवान्ने अ० ६ के श्लोक १३ और १४ में " **महात्मानस्तु मां पार्थ** .... " से "**नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते** " तक अनन्य भक्ति द्वारा निराकार उपासनाका ही निरूपण किया फिर इसी अध्यायमें आगे चलकर २६ वें श्लोकमें " **पत्रं पुष्पं फलं तोयम्** .... " कहकर यह कह-दिया, कि जो पुरुष मुझको भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल वा जल अर्पण करता है उसको मैं ग्रहण करलेता हूं इस वचनसे भी साकार उपासनाका संकेत करदिया।

तथा भगवान्ने आगे चलकर उसी नवें अध्यायके श्लोक ३० में " **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्** " अर्थात धीमर, मछुए, बधिक, चाण्डालादि जो दुराचारी हैं वे भी यदि अनन्यचित्त होकर मेरा भजन करें तो शान्तिको प्राप्त होते हैं इससे साकार उपासनाका निरूपण किया क्योंकि दुराचारियोंको तो भगवानके अव्यय और अक्षरस्वरूपका बोध होना ही दुस्तर है तो भला उसकी उपासना कैसे करसकेंगे ? इसलिये उनकी उपासनाके लिये साकार उपासना ही का तात्पर्य रखा है।

फिर भगवान्ने दशवें अध्यायमें अपनी साकार और निराकार विभूतियोंको दिखलाते हुए दोनों प्रकारकी उपासनाका संकेत करदिया जैसे " **अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः** (अ०१० श्लो० २०) अर्थात हे अर्जुन ! सब भूतोंके अभ्यन्तरस्थित आत्मा मैं ही हूं। इससे निराकार विभूति और " **आदित्यानामहं विष्णु-**

ज्योतिषां रविरंशुमान् ” (अ० १० श्लोक २१) अर्थात् आदित्योंमें विष्णु और ज्योतियोंमें सूर्य मैं ही हूं इन दो वचनोंको कहकर साकार-विभूति दिखलातेहुए निराकार और साकार दोनों प्रकारकी उपासनाओंका संकेत करदिया ।

फिर अध्याय ११ में तो भगवान्ने प्रत्यक्ष अपने विश्वरूपका दर्शन करातेहुए अन्तमें श्लोक ५४ " **भक्त्या त्वनन्यया शक्यः** .... " कहकर भक्ति द्वारा इस साकार विश्वरूपके जानने, देखने और उसीमें प्रवेश करजानेका अर्थात् परमपदको प्राप्त होजानेका उपदेश किया ।

अब अर्जुन विचारने लगा, कि इन पूर्व ११ अध्यायोंके विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है, कि निष्कामकर्मोंका सम्पादन करते-हुए भगवत्के निराकार और साकार दोनों प्रकारके स्वरूपोंकी उपासना करना चाहिये । दोनों प्रकारकी उपासना करनेवाले जो अनन्य-भक्तहोकर भगवतशरण जाते हैं भगवत् ही को प्राप्त करते हैं और अक्षय आनन्द तथा निर्भयस्थानमें स्थित हो शान्ति और परमसुख लाभ करते हैं पर इन दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालों में किसी एकको तो श्रेष्ठता अवश्य होगी इसलिये भगवान्से पूछलेना चाहिये, कि इन दोनोंमें विशेषता किसकी है ?

श्रीनटनागर आनन्दसागर आज इस रथपर केवल मेरा ही अधिकार देखकर मेरे योग्य इन दोनोंमें किसी एकको श्रेष्ठ बतादेवेंगे तो भी मेरा कल्याण है इसलिये श्रीआनन्दकन्दसे पूछना तो अवश्य चाहिये वे मेरी ढिठाइयोंको क्षमा करते चले आरहे हैं इस कारण वे क्षमासागर अवश्य

दयाकर मुझे ठीक २ उपदेश करेंगे और निराकार साकार दोनों प्रकारकी उपासनाओंमें एकको अवश्य श्रेष्ठ कहेंगे । इतना विचार अर्जुन बोला [**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते**] हे भगवन् ! जिस प्रकार तुमने मुझे अभी उपदेश किया, कि तुम्हारे निमित्त कर्म करनेवाले, तुम्हीको अपना परमपुरुषार्थ अथवा परमगति समझनेवाले तुम्हारे अनन्यभक्त स्त्री, पुत्र, धनादि संगोंसे वर्जित सब भूतोंमें निर्वैर रहकर सदा तुम्हारेमें युक्त अर्थात् निरन्तर तुम्हारे स्वरूपमें ही समाधिस्थ, तुम्हारी ही स्मृतिमें मग्न तुम्हीको अहर्निश उपासते हैं अर्थात् तुम्हारे इस विश्वरूपको जिसे तुमने अभी मुझको दिखलाया अथवा तुम्हारे इस कृष्णरूपको जो दो भुजा धारण किये मेरे रथपर रथवान होकर खडे हो तथा जिस रूपसे तुमने सारे वृन्दावन और गोकुलको प्रेमके रंगसे रंगडाला था अथवा जिस रूपसे तुम अवधमें प्रकट हो कौशल्यादिको सुख देचुके हो तथा अन्य भी जो तुम अनेक प्रकारके रूपोंको धारणकर अवतार ले इस पृथ्वी तथा अन्य लोकोंका उद्धार करचुके हो उन साकार स्वरूपोंकी उपासनामें तथा [**ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः**] वे भी जो तुमको अविनाशी और निराकाररूपसे भजते हैं इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है ? अर्थात् जो तुम्हारा अव्यक्त अक्षर निराकारस्वरूप है जो मन, बुद्धि, वाणीसे परे, इन्द्रियोंसे नहीं ग्रहण किये जाने योग्य, सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और जो महाप्रलयमें भी नहीं नाश होने वाला है जिसके विषय श्रुतिने कहा है, कि " **ॐ एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्** " अर्थात् हे गार्गि ! इस अवि-

नाशी ब्रह्मको ब्रह्मवेत्ता स्थूलतासे रहित कहते हैं अर्थात् वह न स्थूल है, न अणु सूक्ष्म है और न ह्रस्व अर्थात् छोटा है, न दीर्घ है अर्थात् बडा भी नहीं। तात्पर्य यह है कि वह सर्वप्रकारकी उपाधियोंसे रहित है। सो ऐसे निराकारकी उपासना करनेवाले जो तुम्हारे भक्त हैं (तेषां के योगवित्तमाः) इन दोनोंमें कौन अधिक योगी है। अर्थात् किसकी श्रेष्ठता है? साकारकी वा निराकारकी सो कृपाकर मुझसे कहो॥१

एवम्प्रकार अर्जुनका प्रश्न श्रवणकर श्रीगोलोकविहारी जगत्-हितकारी अर्जुनका अधिकार साकार उपासनामें देखकर साकारउपासनाकी श्रेष्ठता दिखाते हुए कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच।

मू०— मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

पदच्छेदः— ये (भक्ताः) **मनः** (संकल्पात्मकम्। अन्तःकरणम्) **मयि** (साकाररूपे परमेश्वरे) **आवेश्य** (प्रवेश्य। निश्चलं संस्थाप्य। समाधाय) **नित्ययुक्ताः** (सततयुक्ताः) **परया** (श्रेष्ठया) **श्रद्धया** (आस्तिक्यबुद्ध्या) **उपेताः** (युक्ताः) **माम्** (सर्वरूपम् वासुदेवम् सगुणस्वरूपम्। समस्तकल्याणगुण निलयम्) **उपासते** (सर्वकर्मार्पणेन आराधयन्ति। मयि स्मृतिं सदा कुर्वन्ति। विषयान्तरविमुक्ताश्चिन्तयन्ति) **ते, युक्ततमाः** (अतिशयेन युक्ताः। श्रेष्ठतमाः) **मे, मताः** (मान्याः। अभिमताः) ॥ २ ॥

पदार्थः— (ये) जो मेरे अनन्य भक्त (मनः) अपने मनको (मयि) मुझमें (आवेश्य) संस्थापन करके (नित्ययुक्ताः) सदा मेरे स्वरूपमें मिलेहुए (परया) अत्यन्त श्रेष्ठ (श्रद्धया) श्रद्धासे (उपेताः) युक्त हुए (माम्) मुझ विश्वरूप वासुदेवको (उपासते) बडे प्रेमके साथ उपासना करते हैं (ते) वे मेरी सगुण उपासना करनेवाले भक्त (मे) मेरे जानते (युक्ततमाः) दोनों प्रकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ (मताः) मानेजाते हैं अर्थात् मेरे जानते सगुण उपासना करनेवाले निर्गुण उपासना करने वालोंसे श्रेष्ठ हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— जैसे ही अर्जुनने दोनों प्रकारेकी उपासनावालोंके विषय भगवानसे पूछनेकी अभिलाषा की भगवान झट उसके मनकी गति जान गये और उसके तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके कल्याणनिमित्त मन्द२ मुसकरातेहुए परम प्रेम भरे अमृतके समान मधुर वचनोंसे यों बोले, कि [मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते] जो मेरे भक्त अहर्निश अपनी मनोवृत्तिको मेरे इस कृष्णरूपमें लगायेहुए मेरे ही में युक्त हो मेरी उपासना करते हैं अर्थात् मैं जो इस विश्वमें त्रिगुणात्मिका मायाको नटीके समान नचानेवाला हूँ, तीनों लोकोंको अपनी भ्रकुटि-विलाससे दायेंबायें करडालनेवाला हूं और सब योगेश्वरोंका अधीश्वर हूं तिसको [श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः] जो प्राणी अत्यन्त श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर उपासते हैं वे ही मेरे जानते युक्ततम (श्रेष्ठ योगी) मानेगये हैं । तात्पर्य्य यह है, कि दोनों प्रकारकी

उपासनाओंमें साकार उपासना करनेवाले श्रेष्ठ हैं। क्योंकि मेरी साकार-मूर्त्ति उनके मनको बलात्कार मेरी ओर खींच लेती है।

सो भगवानकी साकारमूर्ति कैसी है ? उसे श्रुति यों कहती है—

प्रमाण श्रु०— " ॐ सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् ।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपंकजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलसंगिमारुतसेवितम् ।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥ "
(गोपालपू० श्रु० १, २, ३ में देखो)

अर्थ— विकशित कमलके समान नेत्रवाले, श्यामघनके समान श्यामशरीरवाले विद्युतके समान चमकते हुए पीताम्बरवाले, दो भुजाओंसे युक्त, ज्ञानमुद्रा लगाये हुए तथा वनमाला धारण किए हुए, गोपी, गोप और गउओंसे घिरे हुए कल्पवृक्षके आश्रय खडे हुए रत्नजटित दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत, रत्नकमलके मध्यवर्त्ती कल्लोल करतीहुई यमुनाकी जलतरंगोंके संगसे शीतल पवनसे सेवन किये जाते हुए श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रको जो भक्त अपने चित्तसे स्मरण करता हुआ उपासना करता है वह संसारबन्धनसे छूट जाता है।

यदि कोई आधुनिक धर्म्मवाले विद्वान् अपनी आधुनिक बुद्धि के चमत्कारसे ऐसा कह बैठें, कि यह जो गोपालपूर्वतापिनी उपनिषद् है सो आधुनिक है इस कारण इसकी श्रुतियां मानने योग्य नहीं अतएव साकार ब्रह्मके सिद्ध करनेके लिये वेदोंका प्रमाण देना उचित है।

ऐसी शंका करनेवालोंके सन्तोषके लिये ब्रह्मका साकार होना वेदमंत्रसे सिद्ध किया जाता है " ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " (पुरुषसूक्त मं० १) अर्थात् वह महापुरुष सहस्रों शिरवाला, सहस्रों नेत्रवाला तथा सहस्रों पांववाला है । यहां वेदने भगवान्के विराट्रूपका वर्णन किया है अर्थात् भगवान्ने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखलाया है उसी विश्वरूपका वर्णन यह वेद-मन्त्र भी कररहा है ।

भगवान्के साकार होनेमें तो तनक भी सन्देह नहीं है क्योंकि जो विद्वान् हैं वे इस सम्पूर्ण विश्वको जो नेत्रोंसे प्रत्यक्ष देखा जारहा है भगवानका साकाररूप ही समझते हैं । अर्थात श्रुतियोंसे भी सिद्ध है, कि जब भगवान्ने अपने निराकार ऐश्वर्य्योंको प्रत्यक्ष करनेके निमित्त साकार कर प्रकट करनेकी इच्छा की तब " तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम " कहकर अपनी ओर अवलोकन करनेके साथ ही ऐसा बोला कि मैं एक हूं, बहुत होजाऊं । इतना कहनेके साथ ही सम्पूर्ण विराट् अर्थात् सात लोक ऊपर, सात लोक नीचे तथा सूर्य्य, चन्द्र, तारागण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा इस पृथ्वीपर निवास करनेवाली चौरासीलक्ष योनियोंको प्रकट करदिया इनमें मनुष्योंको सब योनियोंमें श्रेष्ठ बनाकर जहांतहां रूप, शृंगार और सुन्दरताकी हाट लगादी बडे२ सुन्दर स्वरूपोंकी अर्थात् देव, गन्धर्व, अप्सरा, इत्यादिकी भीड लगादी ।

"एकाकी न रमते" इस बृहदारण्यकोपनिषत्की श्रुतिके अनुसार जो यह बचन सिद्ध है, कि अकेला रमण नहीं होसकता इस कारण

भगवान् अपनी क्रीडाके निमित्त तथा अपने संग आप ही खेल कौतुक करनेकेलिये एकसे अनेक बनगया। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि वही एक निराकार साकार होकर सर्वत्र फैल गया और "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत" तिस साकार सृष्टिको रचकर उसीके समान बनकर उसमें प्रवेश करगया। जैसे चुम्बकमें आकर्षण करनेवाली शक्ति निराकाररूपसे प्रवेश किये हुई है। इसी प्रकार साकारमें निराकारका प्रवेश समझना चाहिये। जैसे चुम्बक आकर्षणसे और आकर्षण चुम्बकसे विलग नहीं है। इसी प्रकार साकार निराकारसे और निराकार साकारसे विलग नहीं है। ये दोनों सदा एक संग मिली हुई उस महाप्रभुकी विभूतियां हैं। इसी कारण इन दोनों प्रकारकी उपासनाओंसे भगवानकी प्राप्ति होती है पर इनमें साकार उपासनाकी श्रेष्ठता है।

बहुतेरोंकी यह सम्मति है, कि सुशकत्व अर्थात् सुलभ होनेके कारण भगवान्ने साकार उपासकोंकी श्रेष्ठता बतायी। क्योंकि निराकार उपासना कठोर है और साकार सुलभ है। साधकोंको इसके साधनमें क्लेश नहीं होता इसी कारण भगवानने इस उपासना करनेवालेको योगवित्तम कहा। अर्थात् योगियोंमें श्रेष्ठ कथन करदिया पर यह बात नहीं है निराकार उपासना वालोंकी अपनी सम्मति है। पर यह वार्ता तो एक साधारण बुद्धिका प्राणी भी समझ सकता है, कि जो वस्तु सुलभ है वह श्रेष्ठ नहीं होसकती। मिट्टी और कांच सब ठौर मिलते हैं तथा स्वर्ण और हीरा दुर्लभ है सब ठौर नहीं मिलता। इसलिये स्वर्ण और हीरेको ही श्रेष्ठता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंसे भी

सिद्ध है, कि जिसमें दुर्लभता है वही श्रेष्ठ है अतएव यह प्रकट है, कि भगवान्ने साकारको सुलभ होनेके कारण श्रेष्ठ नहीं कहा वरु दुर्लभ होनेके कारण श्रेष्ठ कहा है। साकार उपासना दुर्लभ है और निराकार सुलभ है यह मेरा कहना बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें उलटा बोध होगा और प्रचलित सिद्धान्तोंसे प्रतिकूल भी कहा जासकता है पर जो लोग भगवच्चरणाभिलाषी भक्त हैं, और जिन्होंने अपने प्राण तक अर्पण करके प्रह्लादके समान भगवद्भक्ति लाभ की है वे अवश्य मेरे इस सिद्धान्तको स्वीकार करेंगे।

पाठकोंके कल्याणार्थ यहां इस विषयपर कुछ विचार करदिया जाता है सुनो! इसमें सन्देह नहीं, कि निराकारकी उपासना करने वाले साधन-चतुष्टय-सम्पन्न, षडैश्वर्ययुक्त, शान्तस्वरूप, यति, वीतराग, सर्वसंकल्पवर्जित, नित्यतृप्त, निराश्रय, त्यक्तसर्वपरिग्रह, द्वन्द्वातीत, विमत्सर तथा क्षीणकल्मप होकर अक्षय सुख और मोक्षको प्राप्त होते हैं, पर इतना होनेपर भी वे भगवतको इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते। इन नेत्रोंसे भगवनको प्रत्यक्ष करना तथा उनके संग हंसना, खेलना, बोलना, बातें करना तो साकार ही उपासनावालोंका काम है। निराकार वाले केवल उस ब्रह्मके अस्तित्वका आनन्दमात्र अनुभव करते हैं पर उस आनन्दको प्रत्यक्ष नहीं करसकते। जैसे किसीके घरमें लक्षों मुद्रा पृथ्वीके नीचे गडी हों तो उसे लक्षाधीश होनेका आनन्दमात्र ही अनुभव होगा प्रत्यक्ष कुछ भी न होगा पर जब वह द्रव्य बाहर निकालकर काममें लाया जावेगा अर्थात् उस धनके द्वारा जब नाना प्रकारके अलंकरण हीरे इत्यादिसे युक्त बनाये जाकर उसकी धर्मपत्नीके अंगोंमें डाले जावेंगे

अथवा उस धनसे सहस्रों दरिद्रोंकी रक्षा कीजावेगी तब उस धनकी शोभा अधिक फैलेगी और निश्चय होजायगा, कि इसके घरमें पुष्कल धन था।

लीजिये और सुनिये! बहुतेरे मित्र एकसंग किसी देशकी यात्रा कर रेलगाड़ीपर सवार होगये तहां तम्बाकू पीनेवाले बोलउठे, कि भाई! आग कहांसे लाओगे? तबतक एकने उत्तर देदिया, कि सलाई मेरे पास है कुछ चिन्ता मत करो इतना सुन सबके सब आनन्दित होगये और सबोंको सन्तोष होगया, कि आग हमलोगोंके पास है जहां चाहेंगे तम्बाकू पीलेवेंगे। इसमें सन्देह नहीं, कि अभी वह आग जो निराकाररूपसे साथ है जिसका अनुभवमात्र आनन्द लाभ होरहा है पर जब तम्बाकू पीते समय सलाई घिसेजानेपर निराकार आग साकार होकर बलउठेगी तबही उसका विशेष आनन्द लाभ होगा। सच है! यदि वह तम्बाकूके चिलमको सलाईके समीप रखकर सहस्रों वर्षपर्यन्त प्रार्थना करता रहे, कि हे सलाईकी निराकार आग! मेरी तम्बाकू सुलगादे तो वह निराकार आग कभी नहीं सुलगासकती जबतक, कि साकार आग उससे प्रकट न हो। इसी प्रकार जो योगी भगवत्को निराकारसे साकार करडालता है वह सर्वप्रकारके योगियोंमें श्रेष्ठ है सो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जैसे किसी योगीके पास जाकर कहो, कि मुझे ईश्वरका निश्चय नहीं होता सो निश्चय करादो! प्रत्यक्ष करादो! पर वह उत्तर देवे, कि भगवत् निराकार है वह प्रत्यक्ष नहीं होता फिर एक दूसरे योगीके पास जाकर कहो, कि

भगवत्का निश्चय करादो वह झट श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रको प्रकट कर दर्शन करादेवे तो तुमको कहना पडेगा, कि पहले योगीसे वह दूसरा योगी श्रेष्ठ है।

पहले भी जो लोग योगियों और तपस्वियोंमें श्रेष्ठ होते आये हैं उन्होंने भगवानको प्रकट कर दिखलाया है और भगवत् भी बार-बार प्रकट हो उन्हींके गले जालिपटा है। जैसे स्वायम्भुवमनु, और शतरूपा इत्यादि २॥

हां! इसमें सन्देह नहीं, कि सबल और दुर्बल अधिकारीके भेद से साकार और निराकार उपासना कथन कीगयी पर इससे यह नहीं सिद्ध होता है, कि स्वयं निराकारकी श्रेष्ठता है ऐसा नहीं। दुर्बल अधिकारी साकार साधनको आरम्भ करते-करते साकार जब प्रगट होता है तब वह निराकार वालोंसे सहस्र गुण अधिक श्रेष्ठ समझा-जाता है। इसी कारण श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द अपने निज मुखारविन्दसे उच्चारण कररहे हैं, कि "ते मे युक्ततमाः ·····" ये साकार उपासनावाले मेरे जानते श्रेष्ठ हैं।

यदि ऐसा भी मानलियाजावे, कि साकार उपासना सुलभ है तो और भी अच्छा हुआ साकार उपासनावालोंके दोनों हाथ लड्डू आया इधर साधन भी सुलभ उधर फल भी अत्यन्त श्रेष्ठ।

साकार उपासना वालोंके सुखका भी अन्त नहीं है क्योंकि निराकारका केवल अनुभव है साकारका प्रत्यक्ष है निराकारवाले मोक्ष

पाकर आनन्दमें भूल जाते हैं। साकारे मोक्षको निरादर कर भगवत्को लाभ करते हैं और भगवत्को अपना सर्वसुख समझते हैं। जैसे किसी राजाकी दो रानियां हों दोनोंको राज्यका समान अधिकार देदिया जावे इनमें एक उस राज्यसुखके भोगनेमें मग्न होजावे राजाकी कुछ भी परवा न करे। दूसरी सर्वप्रकारके राज्य सुखोंको भोगती हुई सर्वसुखको तुच्छ जान केवल अपने प्राणपति राजाकी समीपतासे आनन्दित होती रहे तो अवश्य कहना पडेगा, कि यह दूसरी रानी पहलीसे श्रेष्ठ है। निराकार वालोंको ब्रह्मके केवल सुखकी प्राप्ति है और साकार वालोंको साक्षात् ब्रह्मकी प्राप्ति है। इसी कारण श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारीने अर्जुनके पूछनेपर साकार उपासकोंकी श्रेष्ठता कथन की है। किसी२ निराकार वालेको तो यह भी निश्चय नहीं है, कि भगवानमें साकार होकर प्रकट होनेकी शक्ति है वा नहीं।

दूसरी बात यह है, कि साकार वालोंको तो आरंभावस्थासे लेकर परिचयावस्था, निष्पत्त्यवस्था और सिद्धावस्था पर्य्यन्त चारों अवस्थाओंमें साकारस्वरूपकी ही चिन्ता बनी रहती है। इस कारण उनकी वृत्ति दृढ और स्थिर तथा निश्चयात्मिका होनेसे साकारको शीघ्र प्रत्यक्ष करलेती है। देखो! प्रह्लादादि भक्तोंने साकारको प्रकट कर ही दिखलाया है, द्रोपदीने द्वारकासे अपने नाथको बुला ही लिया है और गजने श्रीहरिसे अपना शुण्ड पकडवा ही लिया है।

यह वार्ता सिद्ध है, कि भगवान् प्रेममें आकरे भक्तोंकी रुचि अनुसार साकार हो ही जाता है॥ २॥

ऐसा न हो, कि इस वचनको सुन निराकार उपासनावाले उदास होकर अपना परिश्रम छोड देवें इसलिये उनके सन्तोषनिमित्त अगले दो श्लोकोंमें भगवान् निराकारकी प्रशंसा भी करते हैं—

मू०— ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम्पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४

पदच्छेदः— ये (साधनचतुष्टयसम्पन्नाः गुरुमुखात् अवगतवाक्यार्थाः परमहंसपरिव्राजकाः) * तु, इन्द्रियग्रामम् (कर्मज्ञानेन्द्रियाणां समुदायम) सन्नियम्य (सम्यक् वशीकृत्य । एकीभावेन आत्मनि वशे कृत्वा । स्वकारणे प्रविलाप्य । स्वविषयेभ्य उपसंहृत्य) सर्वत्र (स्थावरजंगमादिषु) समबुद्धयः (समा ब्रह्मरूपा बुद्धिर्येषाम ते । हर्षविषादरागद्वेषादिरहिताः) सर्वभूतहिते रताः (सर्वभूतानां कल्याणे निमग्नाः । सर्वेभ्यो हितमेवचिन्तयन्तः) अक्षरम् (न क्षरत्यश्नुते वा तं विनाशरहितम) अनिर्देश्यम् (व्यपदेष्टुमप्यशक्यम्) अव्यक्तम् (न केनापि प्रमाणेन व्यजितुं वाचामगोचरत्वात् बुद्धेरपि विषयीकर्तुमयोग्यम) सर्वत्रगम (सत्तारूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वत्रगतम । सर्वव्यापिनम । सर्वाधिष्ठानत्वात् सर्वस्मिन्नाकाशव-

* सगुणाद्वैलक्षण्यार्थः ।

द्व्यापकम्) अचिन्त्यम् (चिन्तयितुमयोग्यम्) + च, कूटस्थम् (कूटे मायाप्रपंचे अधिष्ठानत्वेन तिष्ठतीति तम्) अचलम् (चलनरहितम्) ध्रुवम् (शाश्वतम् । अप्रच्युतस्वभावम् । नित्यम्) × पर्युपासते (सदा भावयन्ति । विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नप्रत्ययप्रवाहेण निदिध्यासनसंज्ञकेन ध्यानेन विषयीकुर्वन्ति) ते (निराकारोपासकाः) माम् (शुद्धं ब्रह्म) एव (निश्चयेन) प्राप्नुवन्ति (मद्रूप एव तिष्ठन्ति) ॥ ३, ४ ॥

पदार्थः— (ये) वे पुरुष जो (तु) निश्चय करके (इन्द्रियग्रामम्) अपनी इन्द्रियोंके समूहको (सन्नियम्य) सम्यक् प्रकारसे अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त करके अपने वशीभूत कर (सर्वत्र समबुद्धयः) सब स्थावर जंगममें एक समान बुद्धि रखेहुए (सर्वभूतहितेरताः) सब जीवोंके हितके साधनमें तत्पर अर्थात् सबके हितैषी निराकार ब्रह्मकी इच्छा करनेवाले हैं वे (अक्षरम्) उस अविनाशी ब्रह्मको जो (अनिर्देश्यम) वचन द्वारा उपदेश

+ यन्मिथ्याभूतं सत्यतया प्रतीयते तत्कूटम् ।

× **उपासनम्—** यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते ।

अर्थ— शास्त्रके अनुसार उपासना करने योग्य जो ब्रह्मस्वरूप जिसे जानके उसकी प्राप्तिनिमित्त उसके समीप चित्तवृत्तिद्वारा स्थिर होके तैलधाराके समान अटूट (लगातार) जो ब्रह्माकारवृत्ति तिसमें चिरकालपर्यन्त समीपस्थ हो स्थिर रहना ।

योग्य नहीं है (अव्यक्तम्) अगोचर रूपरहित (सर्वत्रगम) आकाशके समान सर्वत्र सब ठौर व्यापक (अचिन्त्यम) चिन्ता नहीं करने योग्य (च कूटस्थम) और मायामें अधिष्ठानरूपसे रहने वाले (अचलम) स्थिर (ध्रुवम्) तथा नित्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्मको (पर्य्युपासते) सम्यक् प्रकारसे उपासना करते हैं (ते) वे निराकार उपासक (माम) मुझ शुद्ध ब्रह्मको (एव) निश्चय करके (प्राप्नुवन्ति) प्राप्त करलेते हैं ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ:— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द अपनी निराकार उपासना वालोंकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं, कि [ये त्वक्षरम-निर्देश्यमव्यक्तम्पर्युपासते] हे अर्जुन! वे पुरुष जो मेरे अक्षर स्वरूपकी अर्थात् निराकार निर्विकार कभी नाश नहीं होनेवाले स्वरूप की उपासना करते हैं [ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः] सब प्राणियोंके कल्याणमें रत रहनेवाले वे भी निश्चय करके मेरेको ही प्राप्त करते हैं । अर्थात् भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश कर रहे हैं, कि साकार उपासक तो मुझको प्राप्त होते ही हैं पर उनको श्रेष्ठ कहनेसे ऐसा मत समझ! कि निराकारवाले पीछे रह जाते हैं! नहीं !! नहीं !!! वे भी मेरे ही स्वरूपको प्राप्त होते हैं ।

पहले जो साकारको श्रेष्ठ कह आये हैं तिसका कारण यह है, कि साकारमें तो भगवत्का कोई न कोई स्वरूप आकारवाला ही रहता है चाहे विष्णु, शिव, देवी, गणेश, सूर्य, इन्द्र, वरुण, कुबेर अथवा अवतारोंमें राम, कृष्ण, नरसिंह इत्यादि किसी न किसी साकार

ही स्वरूपका ध्यान करना पडता है इसलिये यह अधिक क्लेशकर नहीं है। इसमें जो कुछ क्लेश उठाना था वह उपासक पूर्वदेहमें उठा चुका है तब उसकी बुद्धि साकारमार्गपर चढ गयी है पर निराकार उपासना वाला जिस स्वरूपकी उपसना करता है उसके समझने के लिये कितनी कठिनाइयां मार्गमें आन पडती हैं ? सो भगवान कहते हैं, कि "अनिर्देश्यम्" यह स्वरूप वाणीसे अथवा किसी भी अन्य प्रकारके संकेतसे समझाने योग्य नहीं है। क्योंकि जो अक्षर ब्रह्म निराकार है उसके विषय श्रुति प्रमाण है "ॐ एतद्वैतदक्षरं गार्गिब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणवमह्रस्वमदीर्घम्" याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गार्गि! इस अक्षरब्रह्मको ब्रह्मवेत्ता यो कहते हैं, कि यह न तो स्थूल है, न अणु है, न छोटा है और न बडा है। जब ऐसा है तो विचारना चाहिये, कि वाणी उसके विषय क्या उपदेश करेसकती है ? कुछ भी नहीं! इसी कारण भगवानने इसे इस श्लोकमें "अनिर्देश्यम्" कहा।

फिर भगवान्ने विचारा, कि अर्जुन शंका न करबैठे, कि इसे 'अनिर्देश्य' क्यों कहते हो इसलिये भगवानने उसका कारण बताया, कि यह 'अव्यक्त' है इसलिये अनिर्देश्य कहा गया। क्योंकि जो तत्त्व अव्यक्त होता है उसमें जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध ये चार धर्म्म नहीं होते और जहां जिस वस्तुमें ये चार धर्म्म नहीं होते वह वाणी में नहीं आसकती। तहां जाति कहिये जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि अथवा मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि और गुण कहिये नीला, पीला इत्यादि अथवा साधु और चोर विद्वान वा मूर्ख इत्यादि, फिर क्रिया कहिये

जैसे पाचक वा पाठक इत्यादि अर्थात् रोटी पकाना वा पाठ करना तथा दौडना, खेलना, मारना, हारना, तारना, संवारना, बिचारना इत्यादि २ और सम्बन्ध कहिये जैसे धनवान, गोमान, पिता, पुत्र, स्त्री, पुरुष, श्याला, श्वसुर, काका, मामा, नाना अथवा मित्र, शत्रु इत्यादि ये चारों उक्त धर्म्म जिसमें हों वह तो व्यक्त है वाणीसे उपदेश करनेमें आसक्ता है और जिसमें इन चारोंमें एक भी धर्म्म न हो वह अव्यक्त है वाणीसे कथन करनेमें नहीं आता इसी कारण भगवानने अपने निराकारस्वरूपको अव्यक्त कहा है ।

फिर वह अक्षर अव्यक्त क्यों है ? सो कहते हैं [सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्] वह सर्वत्र जानेवाला, चिन्तारहित मायामें अधिष्ठित, स्थिर और नित्यस्वरूप है । अर्थात ब्राह्मण, कसाई, साधु, चोर, पुण्यात्मा, पापात्मा, नास्तिक और आस्तिक सर्वत्र सबों में घुसा हुआ है इसी कारण जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध सबोंसे रहित है । जो एक देशीय हो किसी कारणसे परिच्छिन्न अर्थात घिरा हुआ हो वा बंधाहुआ हो तो अवश्य वह किसी विशेष धर्म्मवाला कहा जावे सो तो ब्रह्म आकाशवत सर्वत्र गमनशील होनेके कारण अव्यक्त कहा जाता है । अतएव भगवान कहते हैं, कि " अचिन्त्यम " सो ब्रह्म अचिन्त्य है अर्थात् मनसे वा बुद्धिसे भी ग्रहण करनेमें नहीं आता। प्रमाण श्रु०—ॐ न तत्रचक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनः" अर्थात् न वहां आंखें जाती हैं न वचन जाता है न मन जाता है तथा " यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " जहां मनके साथ २ वचनोंकी निवृत्ति होजाती है । फिर " अचिन्त्यमग्राह्मम " अचिन्त्य

है और अग्राह्य है अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनोंसे परे है किसी प्रकार ग्रहणकरनेमें नहीं आता। यहांतक, कि जिस बुद्धिसे इस आत्माको पकड़ेंगे वह बुद्धि ही पहले अतर्क्य है अर्थात् यह ब्रह्मविषयिणी बुद्धि भी शीघ्र तर्कद्वारा नहीं प्राप्त होसकती। प्रमाण श्रु०— "नैषा तर्केणापनेया" (कठो० अ० १ बल्ली २) फिर प्रमाण श्रु०— "ॐ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (कठो० अ० वली २ श्रु० २३) अर्थात् यह निराकार आत्मा न तो श्रुति इत्यादिके वचनसे लाभ होता है, न बुद्धिसे और न बहुत श्रवण करनेसे। फिर "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" (मुण्ड० ३ खं० १ श्रु० ८ में देखो) अर्थात् यह निराकार परमात्मा न तो आंखसे देखा जाता है न वचनसे, न किसी अन्य इन्द्रियोंसे और न अग्निहोत्रादि कर्मसे।

शंका— इन श्रुतियोंसे उसका अचिन्त्य और अग्राह्य होना अर्थात् मन बुद्धि वाणीमें नहीं आना सिद्ध होता है पर बहुतसी श्रुतियां इसके प्रतिकूल क्यों कहती हैं। जैसे श्रु०— "ॐ दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" (कठो० अ० १ बल्ली ३ श्रु० १२) अर्थात् सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मविद्याके विद्वानोंकी सूक्ष्मबुद्धिके अग्रभागसे वह परमात्मा देखा जाता है। फिर "ॐ सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" (मुं० ३ खं० १ श्रु० ५) अर्थात् सत्यसे यह निराकार आत्मा लाभ होता है, सम्यग् ज्ञानसे तथा ब्रह्मचर्य्यसे यह सदा लाभ होता है फिर यह जो शरीरके भीतर ज्योति-

ज्ञेय है और शुद्ध है उसे सब दोषोंसे रहित यत्नशील संन्यासी ही देखते हैं।

फिर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि " आत्मा वा अरे श्रोतव्यो द्रष्टव्यो मन्तव्यः.........." (बृहदा० उप०) अर्थात् यह आत्मा सुनेजाने, देखेजाने, और मनन कियेजाने योग्य है। अब यहां प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि पूर्वोक्त श्रुतियोंसे इन श्रुतियोंको प्रतिकूलता है। ऐसा विरोध क्यों ? यदि ऐसा है तो कौनसी श्रुतियां मानी जावें और कौन नहीं मानी जावें ?

समाधान—पूर्वोक्त जो श्रुतियां हैं वे ही श्रुतियां सदा सब ठौर, सब देशमें, सब अवस्थामें मानने योग्य हैं, परे ये जो पिछली श्रुतियां हैं वे केवल जिज्ञासुओंके बोध निमित्त हैं। थोडे काल पर्यन्त जबतक उनकी मनोवृत्ति अविद्यासे मिश्रित रहती है अर्थात् जबतक उनके अन्तःकरणमें समझने, समझाने, जानने, जनाने, सुनने सुनाने, देखने, दिखाने, करने, कराने इत्यादि मायाकी उपाधि बनी रहती हैं तब ही तक ये पिछली श्रुतियां मानने योग्य हैं। क्योंकि उनको पहले गुरु समझाता है, कि यदि इस संसारमें कुछ श्रोतव्य है तो वही निराकार निर्विकार आत्मा है, यदि देखने योग्य है तो वही है, मानने और मनन करने योग्य अथवा चिन्ता वा विचार करने योग्य तथा ध्यान करने योग्य है तो वही है।

व्याससूत्रने भी इसी तात्पर्यसे अविद्याकी स्थितिमात्र कहा, कि " शास्त्रयोनित्वात् " अर्थात् उपनिषदादि शास्त्र प्रमाण हैं जिसमें

वह परब्रह्म है इसका भी तात्पर्य यही है, कि जबतक प्राणीको वेद के महावाक्योंसे जो शब्द प्रमाण हैं सुनने, सुनाने, पढने पढाने, समझने समझानेकी आवश्यकता है तबहीतक ये श्रुतियां मानी जासकती हैं पर जब बुद्धि स्वच्छ होने लगजाती है, यहां तक, कि स्वच्छ होते २ अन्त अवस्थाको पहुंचजाती है और परमानन्दबोधरूप शुद्ध निर्मल अत्यन्त शुभ्र वृत्ति होने लग पडती है और उस ब्रह्म प्रकाशसे मायारूप अन्धकारकी निवृत्ति होजाती है तब ये अगली श्रुतियां माननीय होती हैं और सदाके लिये मानी जाती हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे प्रातःकाल सूर्य्यके उदय होते समय धीरे२ प्रकाशका प्रवेश और अन्धकारका नाश होने लग जाता है तो प्राणी एक दूसरे से कहने लगजाता है, कि उठो२ देखो! प्रातःकाल हुआ देखो! वह ऊषा पूर्वकी ओर दीख पडती है। वह देखो! किरणें छिटक रही हैं इसी प्रकार 'पर' श्रुतियोंको जिज्ञासुओंके प्रति कहना पडता है। पर ये सब बातें अपने नेत्र और अन्तःकरण तथा पृथिवीकी चालके कारण ही कहनी पडती हैं यदि पृथिवीकी चाल रोकदी जावे और अन्तःकरण उठा लिया जावे तो न कहीं प्रातःकाल है, न मध्यान्ह है और न सायंकाल है सर्वत्र एक समान दिवस ही दिवस अथवा रात्रि ही रात्रि हैं ।

इसी प्रकार जिसकी अविद्याकी निवृत्ति एक बारगी होगयी है उसीके लिये वे प्रहिली श्रुतियां हैं और जिसकी अविद्याकी धीरे२ निवृत्ति हो रही है उसके लिये ये पिछली श्रुतियां हैं इसलिये इन श्रुतियोंमें विरोध वा प्रतिकूलता मत समझो। शंका मत करो।

अब भगवान् कहते हैं, कि " कूटस्थम् " मेरा निराकारस्वरूप कूटस्थ भी है। तहां कूट कहिये उस वस्तुको जो यथार्थमें मिथ्या है पर सत्य भासता है। जैसे यह अविद्या जिसे माया कहते हैं यथार्थमें तो मिथ्या है पर विचारहीनोंको सत्यके ऐसी भास रही है इसी कारण इस मायाको कूटके नामसे पुकारते हैं। कूट शब्दका अर्थ कपट भी है सो इस कपटरूप मायाके भीतर जो अधिष्ठानरूपसे स्थित हो, उसे कहिये **कूटस्थ** तात्पर्य्य यह है, कि माया भी जो सत्य प्रतीत होरही है सो केवल उसी महाप्रकाशस्वरूप ब्रह्मकी सत्यताके कारण है क्योंकि वह ब्रह्म सर्वत्र गमनशील है और व्यापक है। जैसे रज्जुमें सर्पका भान केवल सर्पकी सत्यताका कारण है। यदि सर्प संसारमें न होता तो रज्जुमें सर्पका भान कभी भी नहीं होता इसी कारण भगवानने अपने निराकारस्वरूपको " कूटस्थ " कहा।

फिर कूटस्थ शब्दका अर्थ यह भी है, कि "कूटवन्निर्विकारेण निश्चलः सन् तिष्ठतीति " अर्थात् कूट जो पर्वत तिसके समान निश्चलरूप से स्थिर रहे और तीनों कालमें एकरस रहे। फिर " **अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः । कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते** " अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दोनों देहोंको अवच्छिन्न करके जो चेतनस्वरूप कूटके समान निर्विकार रूपसे स्थित रहे, उसे कूटस्थ कहते हैं।

अब इसी कूटस्थको अधिक दृढ करनेके लिये आगे भगवान्ने " अचलम " और " ध्रुवम् " दो विशेषणोंका प्रयोग किया है। अर्थात्

सो निराकारस्वरूप अचल अर्थात् कभी भी एक स्थानसे दूसरे स्थान को नहीं चलता एकसमान अनादिकालसे स्थित है। इसी कारण यह माया नटीके समान बार-बार इसी अटल प्रकाशके भीतर आकर नृत्य करजाया करती है। जैसे किसी राजमहलमें दीपककी ज्योति बलरही है तो उसमें वारांगना बार-बार आकर नृत्य करजाया करें पर उनके आनेजानेसे अर्थात् एक स्थानसे दूसरे स्थानपरे हटनेसे वा उसके हिलने डोलनेसे प्रकाशमें कुछ भी विकार नहीं आता। चाहे उसमें नटी नाट्य करजावे, वीरगण युद्ध करजावें, वैदिक वेदपाठ करजावें, राजा शासन करजावे पर प्रकाश ज्योंका त्यों साक्षीभूत रहता है।

इसी प्रकार यह माया संसारकी रचना, पालन और संहार इसी ब्रह्मप्रकाशमें बार-बार करती रहती है। पर सो ब्रह्मप्रकाश सदा ज्योंका त्यों अचल रहता है। यदि यह कहो, कि आज वर्त्तमान कालमें अचल है पर कभी तो चलायमान हो ही जाता होगा ? सो भगवान् कहते हैं, कि 'ध्रुवम्' ऐसा नहीं ! मेरा स्वरूप ध्रुव है अर्थात् सदा एकरस है। प्रमाण श्रु०—" ॐ अनाद्यनन्तं महतः परमं ध्रुवम् " (कठो० अ० १, बल्ली ३ श्रु० १५)

अर्थ— वह अनादि है, अनन्त है, महान् है और ध्रुव अर्थात् नित्य है।

अब यहां भगवान्ने जो सात विशेषणोंसे निराकारको विभूषित कर दिखलाया अर्थात् १. अनिर्देश्यम्, २ अव्यक्तम्, ३. सर्वत्रगम्, ४. अचिन्त्यम्, ५. कूटस्थम्, ६. अचलम् और ७. ध्रुवम्

सो इन सातों विशेषणोंका प्रयोजन यही है, कि निराकारके अन्य जितने विशेषण वेद, उपनिषद् तथा शास्त्रोंमें वर्णन कियेगये हैं उनमें ये सात ही मुख्य हैं। इनकी उपासना करनेके निमित्त साधकको बहुत बडा विद्वान्, शास्त्रज्ञ होकर इन विशेषणोंका अनुभव अवश्य कर-लेना चाहिये तथा इन्द्रियजित्, साधनचतुष्टय और षोडशैश्वर्यसम्पन्न होना चाहिये और अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिवाला होना चाहिये। क्योंकि बिना इन तत्त्वोंके उत्पन्न किये कोई भी प्राणी इस निराकारकी उपा-सनाका अधिकारी नहीं होसकता। इसी कारण भगवान्ने स्वयं अर्जुनके प्रति सब बातें कहसुनायीं और इस उपासना करनेवालोंके विषय कहते हैं, कि [**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबु-द्धयः**] जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंके समुदायोंको सर्वप्रकार नियममें करके अर्थात् वशीभूत करके सबमें समबुद्धिवाले होकर उक्त सातों विशेषणोंसे युक्त मेरे निराकारस्वरूपकी उपासना करते हैं " ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः " वे निश्चयकरके मुझको प्राप्त होते हैं, फिर ऐसे मुझे प्राप्त करनेवालोंमें और भी अधिक गुण क्या है, कि सब प्राणियोंके हित करनेमें सदा रत रहते हैं अर्थात मेरे निराकार उपासना करनेवालोंको नाना प्रकारके शुभगुणोंसे सम्पन्न रहतेहुए इन तीन गुणोंका अवश्य साधन करलेना चाहिये। १. इन्द्रियग्रामको वशीभूत करना, २. सर्वत्र समबुद्धिवाला होना और ३. सबोंके हितमें रहना इन तीन गुणोंसे युक्त प्राणी अवश्य मेरे उक्त सात विशेषणोंको समझनेवाले और साधन करनेवाले होते हैं। इसी कारण वे निराकार उपासनाके अधिकारी हैं।

यदि यह कहो, कि अन्य गुणोंसे केवल इन तीन ही गुणोंको क्यों मुख्य किया ? तो उत्तर यह है, कि "संनियम्येन्द्रियग्रामम्" कहने ही से षट्सम्पत्तियोंका बोध होता है क्योंकि जब इन्द्रियां नियममें आजाती हैं और उनसे उचित व्यवहार होने लगजाता है तो ऐसे ही इन्द्रियजित् पुरुषोंको शम, दमादि षट्सम्पत्तियोंकी प्राप्ति होती है।

शंका— भगवान पहले कह आये हैं कि "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः" (अ० २ श्लोक ६०) अर्थात् मोक्षमें यत्न करनेवाले बडे२ विवेकी पुरुषोंके मनको भी ये इन्द्रियां बलात्कार अपने२ विषयकी ओर खैंचलेती हैं फिर इनका निग्रह करना कैसे बने ?

समाधान— इनहीको वशमें करनेकेलिये भगवान् दूसरे गुणका कथन करते हैं, कि "सर्वत्र समबुद्धयः" अर्थात हर्ष, शोक, दुःख, सुख, शत्रु, मित्र, हानि, लाभ, सुरूप, कुरूप इत्यादिमें सर्वत समानबुद्धि करके सबको आत्मा ही आत्मा जाने ऐसे अभ्यास करनेवालोंकी ही इन्द्रियां अपने वशमें होती हैं । अथवा प्राणायामका अभ्यास करते २ जब अष्टांगयोगके पांचवें अङ्ग प्रत्याहारतकका अभ्यास होजाता है तब इन्द्रियां अपने-अपने विषयकी ओरसे लज्जित होकर लौट आती हैं और अपने वश होजाती हैं। इसी कारण भगवान पहले "अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते" अ० ६ श्लो० ३५ में कह करे आज्ञा दे आये हैं, कि हे अर्जुन! अभ्यास और वैराग्यसे इनका निग्रह होजाता है योगसूत्रमें भी कहा है, कि "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः" अभ्यास

और वैराग्यसे तिस मनका अपनी इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे निग्रह होजाता है। इसीको वशीकार नाम वैराग्य कहते हैं। इसी वशीकार नाम वैराग्य के अभ्याससे प्राणी सब जीवोंका हित करने लगजाता है अतएव भगवान्‌ने उपासनावालोंका अन्तिम लक्षण यही कहा, कि " सर्वभूतहिते रताः " ॥ ३, ४ ॥

अब भगवान् उक्त निराकार उपसनावालोंके
क्लेशका वर्णन करते हैं—

मू०— क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५

पदच्छेदः— तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम् (प्रत्यग्ब्रह्मणि अभिनिविष्टमन्तःकरणं येषाम् तेषाम) अधिकतरः (अतिशयेन अधिकः) क्लेशः (दुःखम्) हि (यस्मात् कारणात्) देहवद्भिः (देहाभिमानवद्भिः) अव्यक्ता (अक्षरात्मिका) गतिः (निष्ठा) दुःखम् (कष्टम । व्यथा) अवाप्यते (प्राप्यते) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (तेषाम्) तिन (अव्यक्तासक्तचेतसाम्) निराकारमें चित्त लगायेहुओंको अर्थात् निराकार उपासनावालोंको (अधिकतरः) अत्यन्त अधिक (क्लेशः) कष्ट होता है (हि) क्योंकि (देहवद्भिः) देह धारणकरनेवाले प्राणियोंसे जो (अव्यक्ता) निराकार उपासनाकी (गतिः) निष्ठा है वह केवल (दुःखम) क्लेशहीको (अवाप्यते) प्राप्त करती है अर्थात् निराकार उपासना वाले साधनकालमें अत्यन्त अधिक कष्ट पाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके प्रति निराकार उपासनाकी कठिनताका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्**] उन अव्यक्त अर्थात् निराकार ब्रह्ममें चित्त लगाने वालोंको अत्यन्त क्लेश होता है । साकार उपासनावालोंको तो अधिक क्लेश होता ही है पर इन निराकारवालोंको अधिकतर क्लेश होता है । क्योंकि निराकार उपासनामें पडना मानो समुद्रको हाथोंसे मापना है । रात दिन घोर झंझावातसे तथा भयानक बादलोंकी गरज और विद्युत्की लरेजसे युद्ध करना है । पर्वतोंको चक्कीमें पीसकर चूर करना है, लोहेके चने चबाना है, हलाहल (विष) का शर्वत बनाकर पीजाना है और बिना किसी अवलम्बके उत्तुंग शिखरपर चढजाना है । अधिक कहांतक कहा जावे अत्यन्त तीक्ष्ण छुरेकी धारपर चलकर मानो दो टुकडे होजाना है । तहां प्रमाण श्रु०—

" **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति** "

(कठो० अ० १ बली ३ श्रु० १४ में देखो) अर्थात् ज्ञानी विद्वान् ऐसा कहते हैं, कि यह मार्ग छुरेकी धारके समान अत्यन्त तीक्ष्ण और दुर्गम है । जिसके निमित्त जन्मजन्मान्तर पच पच मरनेपर भी कहीं कुछ पता नहीं लगता, सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**" (देखो अ० ७ श्लो० ३) अर्थात् सहस्रोंमें कोई एक मेरे लिये यत्न करता है, तो उन सहस्रों यत्न करने वालोंमें भी कोई-कोई मुझको तत्त्वतः जान सकता है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते] अव्यक्त अर्थात् अगम्य अगोचर सर्व प्रकारकी चिन्तना इत्यादिसे परे जो निराकारकी गति है वह देहधारियोंसे अत्यन्त दुःख करके प्राप्त होनेवाली है। अर्थात् जिनको यह पांचभौतिक-शरीर प्राप्त है और इससे जबतक घनिष्ठ सम्बन्ध है तबतक निराकार दुर्लभ है। तात्पर्य्य यह है, कि प्राणी जबतक विदेह नहीं हुआ तबतक निराकारमें प्रवेश होना दुर्लभ है। क्योंकि इस देहमें पांच आवरण हैं जिन पांच आवरणोंके भीतर यह जीव घिराहुआ पडा है। जैसे कोई बँधुआ (कैदी) किसी पांच भीतोंसे घिरेहुए बंदीसारके भीतर घेरकर रखाजाता है ऐसे यह जीव पांच कोशोंके भीतर रखागया है इसी कारण जो निराकारकी उपासना करता हुआ इस घोर बन्धनसे मुक्त हुआ चाहता है और भगवत् स्वरूपको प्राप्त किया चाहता है उसे इन पांचों आवरणोंके हटानेमें क्लेश उठाना पडता है। श्रुतियोंने भी यही सिद्धान्त किया है।

प्रमाण श्रु०— "ॐ स य एवं वित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतम्प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्सामगायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु"
(तैत्ति० भृगुवल्ली अनु० ११ श्रु० ५)

अर्थ— जो एवम्प्रकार निराकार निर्विकार अविनाशी ब्रह्मको जाननेवाला है वह पहले इस अन्नमयकोश अर्थात् शरीरसे सम्बन्ध

तोडकर निकल पडता है। तात्पर्य यह है, कि इस शरीरसे अनभिस्नेह होकर अर्थात् इसके स्नेहको छोड, इससे उदासीन हो अपनेको निकालनेका यत्न करता है और श्रीगुरुदेवकी शरण जा ब्रह्मविद्याका अभ्यास कर, यम, नियम तथा आसन, प्राणायामादिका अभ्यास कर इस अन्नमय-कोषसे अपनेको निकाल इससे अत्यन्त सूक्ष्म जो प्राणमयकोश तिसमें प्रवेश करता है। फिर तिस प्राणमयकोशको भी तोडडालनेका यत्न करताहुआ अर्थात् दशों इन्द्रियां जो प्राणमय-कोशकी डोरीमें गेंदके समान गुँथीहुई पडी हैं इनसे भी स्नेह छोडकर अर्थात् इनकी चाल रोककर अपने वश करता है और इनके उपद्रवोंसे छूटजाता है। तात्पर्य यह है, कि प्राणायामके अधिक साधन करते-करते प्रत्याहार होने लगजाता है। एवम्प्रकार मुमुक्षु प्राणमयकोशसे भी निकल मनोमयकोशमें जो इस प्राणमयकोशसे अत्यन्त सूक्ष्म है प्रवेश करजाता है। तिस मनोमयकोशका एक महान् विस्तृत झंझट है। संकल्प, विकल्प, हर्ष,शोक, दुःख,सुख, काम, क्रोधादि तथा शुद्ध, अशुद्ध वासना इत्यादि झंझटोंका प्राचुर्य इसी कोशमें है सो गुरूपदेशद्वारा इस चंचल मनको वेधकर इस कोशसे निकल विज्ञानमयकोशमें जो इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है प्रवेश करजाता है। इस विज्ञानमय कोशका भी बहुत बडा विस्तार है अर्थात् संम,सन्तोष,सत्संग, विचार तथा शम, दम इत्यादि षट्-सम्पत्तिका विस्तार सब इसी कोशमें है। इस कोशमें प्रवेश करनेसे बुद्धि जो प्रज्ञाके नामसे पुकारी जाती है बाहरसे भीतरकी ओर मुख करती चली जाती है अर्थात् प्रज्ञा अन्तर्मुख होतीहुई और स्वप्नावस्थासे अपनेको बचाती हुई अत्यन्त सूक्ष्म होती चलीजाती है। इस कोशमें प्रवेश करनेवाले

की प्रज्ञा (बुद्धि) जब अन्तर्मुख (भीतरकी ओर) होने लगती है तब मध्यमें स्वप्नसा होने लगजाता है। यदि विचारते २ स्वप्नकी दशा आगयी तो सुषुप्ति होजानेका भय होता है इसलिये साधकको इस स्वप्नसे बचना चाहिये और चैतन्य रहना चाहिये। यदि स्वप्नसे बचकर विचारके लिये प्रज्ञा (बुद्धि) अन्तर्मुख प्रवेश करतीहुई हृदयके केन्द्र तथा मस्तिष्कके केन्द्र तक पहुँच गयी तब साधक इस विज्ञानमयकोशसे भी निकल आनन्दमयकोशमें पहुंच जाता है तहां इस आनन्दमयकोशका भी बहुत बडा विस्तार है। अर्थात् विषयानन्दके सुख प्रथम सामने आकर साधककी प्रज्ञाको अपनी ओर खींचते हैं तथा ऋद्धि सिद्धिकी प्रेरणा कर बुद्धिको लोभमें डालते हैं। यदि साधक इसी आनन्दमें भूलगया तो परमानन्दकी प्राप्तिसे वंचित रहा। तहां गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं, कि "**ऋद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई, बुद्धिहि लोभ दिखावै आई। होइ बुद्धि जों परम सयानी, तेहि तन चितव न अनहित जानी**" अर्थात् जिस साधककी बुद्धि चतुरेतासे भरी रहती है वह इसकी ओरे नहीं देखकर इस आनन्दमय कोशसे उपसंक्रमण करके अर्थात् निकल कर "**इमांल्लोकां कामान्नी** ...." इन सातों लोकोंको लांघताहुआ अपनी कामनाके अनुसार अन्नादि भोगोंको तथा देव, गन्धर्वादि रूपोंको धारण करताहुआ जाते-जाते अन्तमें जब हृदयस्थानको वा हिरण्य गर्भको पहुंचजाता है तहां सर्वेश्वर सर्वात्मासे मिलकर परमानन्दको लाभ करता है और उस परमानन्दमें मग्न हो सामनाम वाले परब्रह्मको ही गान करता है। जैसे कोई बालक किसी परम हर्षके विषयको,

प्राप्त कर नाचने गाने लगपडता है ऐसे यह निराकार उपासक पांचों कोशोंको लांघनेके पश्चात् उस सामनाम वालेको जो सर्वत्र एक समान समताके कारण ' सामनाम ' से पुकाराजाता है प्राप्त कर मारे आनन्दके आश्चर्यमें मग्न हो " हा ३ वु ' ' हा ३ वु ' ' हा ३ वु " शब्दका गान करताहुआ परब्रह्ममें प्रवेश करजाता है। जैसे कोई प्राणी किसी बडे महाराजाधिराजसे मिलनेके लिये जब उसके पांच महलवाले राजमहलमें जाता है तब उसके पांचों महलोंको लांघताहुआ उनके द्वारपालोंसे मिलता जुलता और उनसे प्रार्थना करताहुआ धीरे-धीरे उसी महलमें पहुंचजाता है यदि जानेवाला महलों में प्रवेश न करे और उसके द्वारपालोंसे मिलता न जावे तो द्वारपाल उसे धक्के देकर निकाल देते हैं। इसी प्रकार जो मुमुक्षु इन पांच कोशोंमें प्रवेश न कर और इन कोशोंके जो तत्त्वविशिष्ट चिदाभास-रूप द्वारपाल हैं उनसे मेलजोल न करे तो उसे महाराजसे साक्षात्कार नहीं होता। अतएव जो मुमुक्षु इन कोशोंमेंसे किसी कोशमें फँसजावे चाहे चलते-चलते आनन्दमय कोशमें अटक जावे तो उसे वह निराकार निर्विकार अक्षरब्रह्मका कदापि लाभ नहीं होसकता।

अब विचारना चाहिये, कि देहधारियोंको इन कोशोंके भेदन करनेमें तथा इस कठिन मार्गकी समाप्ति करनेमें कितना कष्ट है।

इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकमें ' देहवद्भिः ' शब्दका प्रयोग किया और " अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम् " कहा अर्थात् निराकार उपासनाकी निष्ठा अत्यन्त दुःखका कारण है इसमें विशेषकर देहधारियोंको परम क्लेश होता है।

शंका— इस निराकार उपासनाके विषय भगवान् अ० ६ श्लो० २ में कहचुके हैं, कि " सुसुखं कर्तुमव्ययम " अर्थात यह विज्ञान सहित ज्ञान सुखपूर्वक करने योग्य है और अक्षय है जिसका फल अमोघ है जो कभी नाश नहीं होता ।

अब कहते हैं, कि " अव्यक्ता हि गतिर्दुःखम " निराकार निष्ठाका साधन क्लेशकर है अर्थात् इसकी प्राप्तिके लिये बहुत दुःख झेलने पडते हैं । इन दोनों वचनोंमें विरोध पडता है ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवानने इसी शंकाके निवारणार्थ यहां ' देहवद्भिः " वाक्यका प्रयोग किया है क्योंकि देहधारियोंको जबतक देहाभिमान बनाहुआ है तबतक उनके लिये यह अव्यक्त उपासना कठिन है और जिस देहधारीने अभ्यास करते-करते देहाभिमानको छोडदिया है तथा अन्नमय, प्राणमय इत्यादि चारों कोशोंको वेधकर विज्ञानमय कोशमें पहुंचगये हैं उनके लिये यह अव्यक्तगति अर्थात निराकार उपासना सुलभ है । नवें अध्यायमें भगवान्ने केवल ज्ञान सहित विज्ञानका थोडासा स्वरूप अर्जुनके लिये कथन किया इसी लिये इस कठोर निराकार उपासनाको वहां " सुसुखं कर्त्तमव्ययम " कहा इसका पूर्ण रूपसे तो अगले छै अध्यायोंमें वर्णन करेंगे ॥ ५ ॥

अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें साकार उपासनाकी प्रशंसा करतेहुए कहते हैं।

मू०— ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— पार्थ ! (पृथापुत्राऽर्जुन !) ये (सगुणोपासकाः) तु, सर्वाणि (नित्यनैमित्तिकस्वाभाविकादीनि) कर्माणि, मयि (सर्वात्मनि । विश्वरूपे । सगुणे वासुदेवे) संन्यस्य (समर्प्य) मत्पराः (अहं सगुणत्वेन वर्त्तमानो विश्वरूपः परः पुरुषार्थोऽथवा प्रकृष्टप्रीतिविषयो येषांम् ते । मद्ध्यानपरा वा) अनन्येन (न विद्यते अन्यः मद्व्यतिरेकेण अवलम्बनं यस्य तादृशेन) एव, योगेन (भक्तियोगेन चेतः समाधानेन वा) माम् (सगुणस्वरूपम् । सर्वात्मानम् । सकलसौन्दर्यसारनिधानमानन्दघनविग्रहम् । द्विभुजं चतुर्भुजं वा समस्तनरमनोमोहिनीमुरलीमतिमनोहरैः सप्तभिः स्वैरापूरयन्तं वा दरकमलकौमोदकीरथांगसंगिपाणिपल्लवं परमकारुणिकं सुन्दरसुन्दरं श्रीमद्रघुनन्दनरूपं वा) ध्यायन्तः (चिन्तयन्तः) उपासते (सेवन्ते । समीपवर्त्तितया आसने तिष्ठन्ति वा) तेषाम् (उपासकानाम्) मयि (परमात्मनि) आवेशितचेतसाम् (समाहितं चेतो येषाम् । एकाग्रतया प्रवेशितं चेतो यैस्तेषाम्) अहम् (सततोपासितो भगवान्) मृत्युसंसारसागरात् (मृत्युयुक्तो यः संसारः स एव सागर इव दुस्तरस्तस्मात्) न, चिरात् (क्षिप्रमेव । अतित्वरया वा) समुद्धर्त्ता (सम्यक् प्रकारेण उत् ऊर्ध्वं धर्त्ता पृथक् कर्त्ता) भवामि ॥ ६, ७ ॥

पदार्थः-(पार्थ !)हे पृथाकापुत्र अर्जुन ! (ये तु) निश्चयकरके जो हमारे सगुणस्वरूपकी उपासना करनेवाले (सर्वाणि) अपने नित्य नैमित्तिक इत्यादि सर्वप्रकारके (कर्माणि) कर्मोंको (मयि) मेरे सगुण वासुदेवरूपमें (सन्न्यस्य) समर्पण करके (मत्पराः) मेरेहीको अपना परम पुरुषार्थ अथवा अपनी परम प्रीतिका विषयी जान कर मेरे परायण होते हैं और (अनन्येन) अनन्य (योगेन) भक्तियोगसे (एव) निश्चय करके (माम्) मेरे सगुणरूपको (ध्यायन्तः) ध्यान करतेहुए (उपासते) उपासना करते हैं (तेषाम्) तिन (मयि) मेरे में (आवेशितचेतसाम्) प्रवेश कियेहुए चित्तवालोंको (अहम) मैं (मृत्युसंसारसागरात) इस मृत्युसे युक्त संसारसमुद्रसे (न चिरात्) बहुत ही शीघ्र (समुद्धर्त्ता) सम्यक् प्रकारसे उद्धार करनेवाला (भवामि) होता हूं अर्थात् मैं अपने सगुण उपासक अनन्य भक्तोंको संसारसागरसे शीघ्र उद्धार करडालता हूं ॥ ६, ७ ॥

भावार्थः— अब जगत्सुन्दर श्रीविश्वम्भर भगवान साकार उपासनाके महत्त्वका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः**] वे प्राणी जो अपने सर्वप्रकारके लौकिक और वैदिक कर्मोंको अर्थात् नित्य, नैमित्तिक और स्वाभाविक कर्मोंको सदा मेरेमें अर्पण करके मेरेहीको अपना पुरुषार्थ जानते हैं अथवा नित्य अपना परम प्रीतिका भण्डार मेरेही लिये व्यय करते हैं अथवा सर्वकर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेकी वस्तु मुझ हीको जानते हैं अथवा मेरेहीको जो सदा अपने ध्यानका विषय

जानते हैं और जो कुछ करते हैं उसमें ऐसा समझते हैं, कि मेरे मुरली-मनोहरने ही किया है और यह सम्पत्ति सब उन्हींकी सेवामें अर्पण है तथा ये मेरे पुत्र कलत्र सब उन्हींके स्वरूप हैं। न मैं कुछ हूं और न कुछ मेरा है। एवम्प्रकार सर्वत्र सर्वकार्योंमें मुझहीको जान अहर्निश मेरेही प्रेममें पडे-पडे अश्रुपात करते रहते हैं और क्षण-क्षण मेरी ही मूर्तिकी स्मृतिमें रत रहते हैं। रात्रिदिवा हे प्यारे! हे प्राण-वल्लभ! हे दीनबन्धु! हे नाथ! हे देवेश! हे दयानिधान! हे अशरणशरण इत्यादि शब्दोंसे मेरेहीको पुकारते रहते हैं चाहे पर्वतको खोदरहे हों, मृतकको अग्निमें जलारहे हों, युद्धमें बाणोंके प्रहार सहरहे हों, स्वर्गलोकमें बैठेहुए अप्सराओंके संग विहार कर-रहे हों, किसी यज्ञशालामें बैठे हवन इत्यादि क्रियामें तत्पर हों, अपनी धर्मशालामें सैकडों अपाहजोंको भोजन करारहे हों, वस्त्र, अलंकार, गौ, महिषी, स्वर्ण इत्यादिका दान देरहे हों और बावडी, कूप, तडाग इत्यादि खुदवारहे हों पर हे अर्जुन! इन सब कर्मोंको करते हुए कर्तृत्वाभिमान छोड सबोंका फल मुझमें अर्पण करदेते हैं और "**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्**" (अ० ५ श्लोक ८) इस मेरी पहली आज्ञाके अनुसार अपनेको सबोंका अकर्त्ता समझते हैं और [**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते**] अनन्य भक्तियोगसे मुझे ध्यान करतेहुए मेरी निरन्तर उपासना करते हैं अर्थात् मुझे छोड अन्य किसी देव देवीको अपना सहायक वा इष्ट नहीं समझते। मेरे किसी भी साकार सौन्दर्यसारके अंग२ की मनोमोहिनी शोभासे युक्त स्वरूप, मुरली अथवा धनुषबाण

धारण कियेहुएको जो ध्यान करते हैं [तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु-संसारसागरात्] हे अर्जुन ! तिन अपने भक्तोंको मैं इस मृत्युभरे संसारसागरसे शीघ्र ही पार करनेवाला होता हूं अर्थात् उनको इस संसारबन्धनसे छुडाकर बहुत ही शीघ्र ऊपरकी ओर उठालेता हूं और सर्वप्रकारके झंझटोंसे तथा मृत्युके मुखसे निकालकर सदाके लिये अपना रूप बनाकर अपने लोकोंमें अपने समीप रखलेता हूं अथवा अपने स्वरूपमें मिलालेता हूं अर्थात् मेरे समीप आते ही वे आनन्दस्वरूप होजाते हैं।

सर्वज्ञ स्वेच्छामय शक्तिमान् दयानिधान भगवान्ने जो यह कहा, कि "मृत्युसंसारसागरात्" तिसका तात्पर्य्य यही है, कि जैसे क्षीरसागरमें सर्वत्र क्षीर ही क्षीर और नीरसागरमें नीर ही नीर है इसी प्रकार संसारसागरमें सर्वत्र संसार ही संसार अर्थात् मृत्यु ही मृत्यु भरीहुई है सो प्राणीको भगवान् इस भवसागरकी घोर धारसे निकालकर ऊपर कर-लेते हैं इसीलिये कहते हैं, कि [भवामि न चिरात् पार्थ ! मय्या-वेशितचेतसाम्] हे पार्थ ! मेरे स्वरूपमें जिनका चित्त सदा प्रवेश कियेहुआ है उनको बहुत ही शीघ्र अपने स्वरूपमें मिला लेता हूं।

प्रिय पाठको ! भगवत्स्वरूपमें चित्तका प्रवेश होना क्या है ? सो दिखलाया जाता है प्रमाण श्रुतिः— "ॐ रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" (तैत्ति० अ० २ ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक् ७ मं० १ में देखो) यह श्रुति कहती है, कि रसस्वरूप जो वह महा प्रभु स्वयम् है उस रसको प्राप्तकर यह अनन्यभक्त आनन्दस्वरूप होजाता है। क्योंकि विषयानन्द हो, ब्रह्मानन्द हो वा परमानन्द हो

किसी भी प्रकारका आनन्द क्यों न हो सबोंको 'रस' से सम्बन्ध है केवल इतना ही भेद है, कि विषयानन्दके भोगनेमें इन्द्रियोंको वहिर्मुख होकर वाह्यरसोंसे मिलकर आनन्द मिलता है। जैसे कोई पुरुष अपनी सुन्दर स्त्रीकी शोभा और छबिको नाना प्रकारके अलंकरणोंसे विभूषित देखकर शृंगाररसमें मग्न हो उससे प्रेम करने लगजाता है और विषयानन्दमें मग्न होजाता है। क्योंकि यहां केवल शृंगाररसही इस आनन्दका कारण है। पर जब वही मन, वेही इन्द्रियां उसी शृंगार रसको लेकर उस आनन्दघन मुरलीमनोहरकी छबिकी ओर जाती हैं तो मानो वह अन्तर्मुखके शृंगाररसको ले परमानन्दको भोगने लग जाती हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि वही रस जब संसृतिविषयोंकी ओर खिंचता है तो उसे विषयानन्द कहते हैं और जब वही रस निराकार ब्रह्मकी ओर खिंचता है तो उसे ब्रह्मानन्द कहते हैं और जब वही साकारब्रह्मकी ओर खिंचता है तो उसे परमानन्द कहते हैं। भगवान् परब्रह्म स्वयं रसरूप है सो वेदमन्त्रोंसे भी सिद्ध है सन्ध्यामें "आपो ज्योति रसोऽमृतम्ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोम्" इस वेदमंत्रको सब द्विजमात्र पढा करते हैं जिसका अर्थ यही है, कि वह महाप्रभु स्वयम् आपरूप है ज्योतिस्वरूप है, रसरूप है, अमृत है, ब्रह्म है, भूः है, भुवः है और स्वर्गलोक भी वही है *। इन प्रमाणोंसे भी परब्रह्मका रसरूप होना

* ब्राह्मणसर्वस्व ग्रन्थमें हलायुधने भी ऐसा अर्थ किया है, कि "स एव ब्रह्मरूपो भर्गो रसः" अर्थात् वह ब्रह्म भर्गरूप जो सबोंके अन्तर्मुख है रसस्वरूप ही है।

सिद्ध है । इसी कारण भक्तजन उसके प्रेममें विह्वल होकर उसके मिलनेके निमित्त जितना कुछ यत्न करते हैं सबमें रस व्यापक है और इसी लिये भक्तियोगमें एक ही व्यापक रसके नौ भेद कथन किये गये हैं— " **मननं कीर्त्तनं ध्यानं स्मरणं पादसेवनम् । अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् । इत्थं देवि नवरसा भक्तियोगे प्रकीर्त्तिताः** " (वामकेश्वरतंत्र) अर्थ— वामकेश्वरतंत्रके ५३वें पटलमें भैरव देवीसे कहते हैं कि, १. मनन करना अर्थात् भगवत्-छविको निरन्तर मनमें स्मरणकर उत्साहको बढाते जाना और नित्य नवीन-नवीन छवियोंकी भावना करना । २.आनन्दमें मग्नहो भगवल्लीलाओंका अनुकरण करना, नाचना, गाना, बजाना । ३. एकान्तमें बैठकर भगवत्स्वरूपका ध्यान करना । ४ समय-समयपर भगवत्‌ने जो भिन्न-भिन्न अवतारे लेकर कार्य्य किये उनको स्मरण कर बार-बार गद्गद्शरीर होना । ५. उनके चरणोंका सेवन करना । ६. अर्चन अर्थात् भगवन्मूर्त्तिकी पूजा करना चाहे वह मानसिक हो वा किसी द्रव्यकी बनी हो । ७. वन्दना करना अर्थात् दोनों पैरोंपर भगवत्‌के सम्मुख खडे हो नेत्रोंसे अश्रुपात करतेहुए रोमावलियुक्त गद्गद्शरीर होकर उनकी स्तुति करना । ८. दास्यभावका कार्य करना अर्थात् जैसे कोई चाकर अपने स्वामीकी समय-समयपर शारीरिक सेवा करता है ऐसे भगवत्‌के साकार रूपका सेवन करना । ९. सख्यमात्मसमर्पणम् अर्थात् भगवत्‌को अपना सखा जान जैसे एक मित्र अपने दूसरे मित्रको अपने शरीर सहित अपना सब कुछ सौंपदेता है अर्थात् अपनेको उसे अर्पण करदेता है इसी प्रकार भगवत्‌में आत्मसमर्पण करना

ये ही भक्तियोगके नौ (९) रस हैं इन्हीं रसोंके साथ भगवत्में जा लगना भगवत्में चित्तको प्रवेश करदेना अनन्य भक्तियोगके नामसे पुकाराजाता हैं सो भगवान् अर्जुनके प्रति साकारउपासकोंके विषय इस श्लोकके अन्तमें यही कहरहे हैं, कि हे अर्जुन! जो मय्यावेशितचित्त है अर्थात् मुझमें अपनेको अर्पण कियेहुए है उसे मैं शीघ्र इस भव-सागरसे पार करडालता हूं ॥ ६, ७ ॥

अब भगवान् सगुणस्वरूपकी उपासना करनेका उपाय अर्जुन को अगले श्लोकमें बताते हैं—

मू०— मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— मनः (संकल्पविकल्पात्मिकां अन्तःकरण-वृत्तिम्) मयि (वासुदेवस्वरूपे) एव (निश्चयपूर्वकम्) आधत्स्व (स्थिरीकुरु। स्थापय) [तथा] बुद्धिम् (निश्चयात्मिकां वृत्तिम्। प्रज्ञाम् । विज्ञानम्) मयि (परमात्मनि। विश्वरूपे सगुणस्वरूपे) निवेशय (प्रवेशय) अतः (शरीरपातात्) ऊर्ध्वम् (उपरि) मयि (शुद्धब्रह्मणि) एव (निश्चयेन) निवसिष्यसि (निवासं करिष्यसि। निवत्स्यसि) [अत्र] संशयः (शंका) न ॥ ८ ॥

पदार्थः— हे अर्जुन! तू (मनः) अपना मन (मयि) मेरे इस वासुदेवस्वरूपमें (एव) निश्चयकरके (आधत्स्व) स्थापन करदे तथा (बुद्धिम्) अपनी बुद्धिको भी (मयि) मेरेही साकार स्वरूपमें (निवेशय) प्रवेश करदे तब ऐसा करनेसे (अतः

ऊर्ध्वम) इस शरीरके पात होनेके पश्चात (मयि) मेरेही शुद्ध-स्वरूपमें (निवसिष्यसि) तू सदाके लिये निवास करेगा (संशयः न) इसमें तनक भी शंका नहीं है ॥ ८ ॥

भावार्थ:— पहले भगवान् साकार उपासनाके महत्त्वको कहकर अब उस उपासनाकी सिद्धि निमित्त कौन २ उपाय करने चाहियें सो अर्जुनपर कृपादृष्टि कर उपदेश करतेहुए कहते हैं, कि [**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**] हे अर्जुन ! तू मेरेही साकारस्वरूपमें अपने मनको स्थापन करदे और अपनी बुद्धिको भी मेरेही साकारस्वरूपमें प्रवेश करदे अर्थात् यह मन जो इस शरीरमें सदा संकल्पविकल्पात्मक होनेके कारण सहस्रों प्रकार की वृत्तियोंमें दौडा फिरता है इसे तू हठात् अन्य सब प्रकारकी वृत्तियोंसे रोककर मेरे स्वरूपकी ओर खैंचला और मेरेही आकारमें इसे तदाकार करदे ।

शंका— भगवान् इस मनकी चंचलताका वर्णन पहले करआये हैं, कि जिसकी एकाग्रताके लिये योगीजन भी जन्मजन्मान्तर पचमरते हैं, उन्हें भी शीघ्र हाथ नहीं आता तो कब सम्भव है, कि यह मन एकाएक स्थिर होसकता है ?

समाधान— साकारमूर्त्तिके अवलोकन करते ही यह मन एकाग्र और स्थिर होजाता है और मूर्तिमें इस प्रकार चिपटजाता है जैसे चुम्बकमें लोहा । इसी प्रकार चिपटजानेका उपाय बतानेके लिये भगवानने इस श्लोकमें तीन शब्दोंका उच्चारण किया । **मयि, मनः** और आधत्स्व तहां " मयि " मेरेमें कहनेका क्या अभिप्राय है ?

और " मनः " कहनेसे क्या तात्पर्य है ? तथा " अध्यस्त्र " कहने का क्या प्रयोजन है ? सो पाठकोंके कल्याणार्थ इन मर्मभरे शब्दोंके गुप्तभेद यहां संक्षिप्तरीतिसे विलग-विलग वर्णन कियेजाते हैं ।

प्रथम " मयि " शब्दकी मीमांसा कीजाती है । " मयि " जिसका अर्थ है " मेरेमें " मेरे से यहां तात्पर्य केवल साकारस्वरूप से है निराकारसे नहीं । भगवानने पूर्व ६ और ७ श्लोकोंमें साकार उपासनाका ही वर्णन किया है इसलिये यहां भी साकार ही स्वरूप से तात्पर्य है । बुद्धिमान्, ज्ञानी, शास्त्रवेत्ता भले प्रकार जानते हैं, कि जैसे निराकारस्वरूप अनन्त, अनादि, अक्षय और अविनाशी तथा नित्य है इसी प्रकार भगवानका साकारस्वरूप भी सदा अनन्त, अनादि, अक्षय और अविनाशी तथा नित्य है। जैसे निराकारकी थाह नहीं लगती ऐसे साकार भी अथाह है " सहस्रशीर्षाः " वेदमंत्र से यह सिद्ध होता है, कि उस साकार पुरुष अर्थात् विराट्के अनन्त सिर हैं इत्यादि। अनन्त शब्द कहने ही से अथाह समझाजाता है यहां विचारना है, कि कीटसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जितने सिर, आंख और पांव देखेजाते हैं सब उसीके हैं क्योंकि वही " एकोऽहं बहु स्याम " कहकर एकसे सहस्र अर्थात् अनन्त होगया । वेदोंमें ' सहस्र शब्द ' अनन्तके स्थानपर प्रयोग कियाजाता है । एवम्प्रकार भगवतका साकारस्वरूप जिसे विश्वरूप कहते हैं जिसका दर्शन भगवानने अर्जुन को अभी कराया है अनन्तकोटि त्रिगुणमयस्वरूपोंसे खचित है अर्थात् जिसमें सुन्दरसे सुन्दर और भयंकरसे भयंकर मूर्त्तियां देखनेमें आती हैं । मनुष्योंकी प्रकृति ऐसी बनीहुई है, कि सुन्दरस्वरूपसे प्रीति

करना और मिलना चाहता है और भयंकर मूर्तियोंसे सहस्रों कोस दूर भागना चाहता है ।

अब विचारना चाहिये, कि जब भगवानकी मूर्त्तियां दोनों प्रकारकी हैं अर्थात् उग्रसे उग्र और भद्रसे भद्र और उसीके साथ-साथ यह भी सिद्धान्त है, कि भयंकरसे मन भागता है और सुन्दरमें मन लगता है तो भगवानने जो यहां " मयि " शब्द उच्चारण किया उससे उनका तात्पर्य सुन्दर शृंगार शोभायुक्त स्वरूपसे है भयंकरसे नहीं अर्थात् अर्जुनको मानो भगवान् यहां उपदेश कर रहे हैं, कि हे अर्जुन ! तू मेरी मनोहर मनमोहिनी परमसुन्दर शृंगार और शोभायुक्त मूर्त्तिमें मनको स्थापन करदे ।

निराकार उपासनावाले जब चिरकालके अभ्यास और वैराग्यसे अपने चंचल मनको अपने हाथ करते हैं तब कहीं उस अक्षरब्रह्मके जाननेके अधिकारी होते हैं और सहस्रों जन्मके अभ्याससे मन निराकारकी ओर लगता है पर भगवानकी साकार, सगुण, सुन्दर और मनमोहिनी मूर्तिमें यह गुण है, कि आपसे आप मन खिचकर ऐसे चिपटजाता है जैसे चुम्बकसे लौह । इसीलिये भगवानने " मयि " कहकर अपनी मनोहर मूर्तिका संकेतमात्र करदिया ।

प्रश्न— भगवत्के राम, कृष्णादि अवतारोंकी मूर्तियां अत्यन्त लावण्ययुक्त और शृंगारमय प्रकट हुई थीं इस कारण बडे-बडे ऋषि मुनि उनकी ओर देख, उनपर आसक्त हो उन्हींकी उपासना करने लगजाते थे । यहां अर्जुन भी श्यामसुन्दरकी मोहिनी

मूर्तिका दर्शन बचपनसे पारहा है इस कारण अर्जुनका मन तो बिना: किसी यत्नके भगवान्में स्थिर है ।

इसी प्रकार बृजकी गोपिकाओंने उनकी मूर्ति देखी और उनपर आसक्त हो, सब घरबार त्याग, उनकी होरहीं, जिनकी बराबरी बडे-बडे महापुरुष भी नहीं करसकते । पर अब शंका तो यह है; कि वर्त्तमानकालमें अथवा भगवत्-अवतारोंके इस संसारको छोडनेके पश्चात उनके सुन्दर स्वरूपका कोई बिम्ब, चित्र, प्रतिच्छाया जैसे इन दिनों खैंच रखते हैं नहीं रखी गयी फिर मन लगानेवाला उपासक किस मूर्तिमें मन लगावे ? जिस अभ्यासके दृढ होनेसे उनकी साकार मूर्तिका साक्षात् दर्शन होने लगजावे ।

उत्तर— यह सिद्ध होचुका है, कि उस महाप्रभुके अनेक रूप हैं "अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे" तहां प्रमाण श्रु०— "*ॐ सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति"। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत" अर्थात उस महाप्रभुने यह इच्छा की, कि "मैं एक हूं बहुत होजाऊं" पश्चात अनेक रूपोंको रच, तदाकार हो, उनमें प्रवेश करगया । अभिप्राय यह है, कि इस संसारमें जितने प्रकारके मनुष्य कुरूप वा सुरूप हैं सबोंको रचकर सबमें वही प्रवेश करगया है । जैसे कोई पुरुष किसीके घरमें बैठा हुआ उसके झरोखेकी ओरसे झांका करता है इसी प्रकार वह दीनबन्धु प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें

* इन वचनोंको तैत्तिरियोपनिषद् वल्ली २ अनु० ६ में देखो ।

बैठाहुआ उनके मुख अर्थात् आंख, नाक, कान, नासिका इत्यादि झरोखों होकर झांका करता है परदा उठादो उसे देखलो । क्योंकि सुन्दर पुरुषोंमें जो सुन्दरता है सो उस स्वरूपवानके मुखपर मानो उसी महाप्रभुके सगुण स्वरूपका बिम्ब है । ऐसा भी कहसकते हैं, कि वह स्वरूपवान् स्वयं वही है तहां वेदमंत्र साक्षी है । प्रमाण—

" ॐ कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णुर्चिर्वपुषामिदेकम् "
(ऋग्वेद)

अर्थात् हे कृष्ण हमलोग तुम्हारे कृष्ण स्वरूपकी शरण हैं सो कैसा है ? कि जिसकी आभा आगे बढती हुई चलनेवाली है उस चलनेवाली आभाकी एक छोटीसी चिनगारी स्वरूपवानोंमें स्वरूप होकर व्यापरही है ।

मुख्य अभिप्राय इन वेदमन्त्रोंसे यही निकलता है, कि संसारमें जितने सुन्दर स्वरूप हैं सब भगवान्केही हैं उनसे इतर कुछ नहीं है । फिर जिस किसी भक्तपर भगवानकी कृपा होती है उसके प्रेम की वृद्धि तथा प्रेमके रसोंको उसके हृदयमें पूर्ण करदेनेके तात्पर्य्यसे वही श्यामसुन्दर उस भक्तका समीपवर्त्ती होकर चाहे उसका कोई सम्बन्धी होकर अथवा पुरजनोंके भीतर कहीं न कहीं परमसुन्दर स्वरूप धारणकर प्रकट होजाता है । यहांतक, कि अवतार धारण कर-लेता है । जैसे नन्द, यशोदा तथा गोपिकाओंके लिये कृष्णरूप धारणकर वृन्दावनके कुञ्जोंमें खेलता फिरा और दूध दधि चुराकर खाता फिरा । पर जैसे उसने पूर्ण कला लेकर कृष्णरूपहीसे प्रकट

हो सहस्रों प्राणियोंका कल्याण किया इसी प्रकार नित्य जहां-तहां एक दो कला अथवा एक कलाका भी एक अत्यन्त न्यून भाग लेकरे एक ही भक्तके प्रेमके अंगोंको तथा उसके रसोंको पूर्ण किया करता है।

अर्थात् वह जो भक्तका स्वरूपवान पुत्र, भ्राता अथवा कोई अन्य सम्बन्धी संयोगवशात् अनायास उसका मित्र होकर प्रकट होता है सो मानो वही श्यामसुन्दर उस प्राणीके पूर्वजन्मार्जित प्रेमका साकार रूप होकर प्रकट होता है। यहां भगवानने जो " मयि " कहा है उसका तात्पर्य्य इनही सब मूर्त्तियोंसे है। यद्यपि उनकी मूर्त्तिका कोई चित्र आजतक नहीं रेखागया इससे क्या? क्योंकि चित्र रखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कारण यह है, कि उनकी मूर्त्तिका विम्ब भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों कालमें चैतन्य होकर प्रकट हुआ ही करता है तो जड चित्रके रेखनेकी क्या आवश्यकता थी? उसकी मूर्ति तो चैतन्य चित्र होकर प्रेमियोंके घरमें अथवा कहीं न कहीं प्रकट हुआही करती है। जड चित्र संयोग—वियोगका आनन्द उतना नहीं रखता जितना यह चैतन्य चित्र रखता है। इस कारण इसी चैतन्य चित्रके विषय भगवानने " मयि " शब्द उच्चारण किया है।

अब यहां यह भी विचारने योग्य है, कि प्रेमकी वृद्धिनिमित्त संयोग और वियोग दोनोंकी नितान्त आवश्यकता है। तहां प्रथम संयोगमें अथवा प्रेमियोंके मिलापमें " रस " उत्पन्न होता है सो रस साक्षात भगवत्का स्वरूप ही है। तहां श्रुति कहती है, कि " रसो वै सः " " रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति "। यहां रस स्नेहका

नाम है जिस किसी एक स्थानमें यह चित्त अटककर उसमें बेसुध होजावे उसे ही रस कहते हैं। सो भगवत्का ही स्वरूप है इस कारण इस रसको पाकर प्राणी आनन्दस्वरूप होजाता है।

इस रसको प्रेमीके संयोगसे पुष्टता होती है अर्थात् जैसे किसी बेलबेलियोंमें जल पटानेसे पुष्टता होती है इसी प्रकार प्रेमवृक्ष रूपरसके संयोगसे वृद्धिको प्राप्त होता है।

अब यहां यह भी विचारनेयोग्य है, कि ऊपर कथन कियेहुए किसी सुन्दर साकार लौकिक मूर्तिमें जो स्नेह होता है उसे यद्यपि व्यभिचारीप्रेमके नामसे पुकारते हैं तथापि किसी प्रकारकी हानि नहीं है। क्योंकि जब वह मूर्ति किसी न किसी दिन मृत्युके धक्केसे टूटजावेगी तो इसके टूटजानेमें प्रेम करनेवालेकी कुछ भी हानि न होकर लाभ ही होगा। क्योंकि उस नश्वरमूर्तिद्वारा जो प्रेमका रस हृदयमें उपजचुका है वह वियोगका दुःख पाकर किसी स्थायी प्रेमपात्रको ढूंढने लगजाता है और अपने स्थायी परममनोहर प्रेमपात्र भगवत्में लगजाता हैं। कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो मूर्ति उस प्रेमीके हृदयमें समागयी है वही भगवानकी मूर्ति है उसी मूर्तिके विषय भगवान " मयि " शब्दका उच्चारण कररहे हैं।

इससे इतना सिद्ध होगया, कि श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र वा कौशलकिशोर श्रीरामचन्द्रकी मूर्तियोंके चित्र रखनेकी आवश्यकता नहीं समझी गयी जो मूर्ति आज तुम्हारे सामने प्रकट होती है उसीको उसकी मूर्ति जानो और उसीसे उसके प्रेमका साधन करो।

इसी कारण जिसे कोई चैतन्यमूर्ति नहीं मिलती है उसकेलिये पाषाण इत्यादिकी सुन्दर मूर्ति बनाकर मन्दिरोंमें देते हैं इन मूर्तियों को भी भगवान्ने " मयि " कहकर जनादिया अर्थात् प्रेमके साधन-कालकेलिये तो स्वरूपवान् पुरुषोंकी चैतन्यमूर्त्ति है जिसके भाग्यमें यह मूर्ति न मिली वह मन्दिरोंकी मूर्तिसे साधन करे यह भगवान्का " मयि " शब्द इन मन्दिरोंकी मूर्तियोंमें भी जा लगता है ।

ऐसे साधन करनेसे जिस किसी स्थानमें चाहे वह काशी हो वा मगहर हो जहां प्रेमीका शरीर छूटे वहां ही भगवत्स्वरूपसे मिलकर परमानन्द लाभ करता है जिसे साक्षात्मुक्ति कहते हैं। क्रममुक्ति निराकारवालोंको और साक्षात्मुक्ति प्राय: साकारवालोंको ही प्राप्त होती है । यदि किसी निराकारवालेको साक्षात्मुक्ति भी लाभ होवे तो सन्देह नहीं पर भक्तोंको तो साक्षात्मुक्ति अवश्य लाभ होती है अर्थात् जहां उनका शरीर पात होता है वहां ही झट उनको भगवत्का धाम और स्वरूप प्राप्त होजाता है जहांसे फिर उनको लौटना नहीं पडता॥ जिसके विषय भगवान् कहचुके हैं, कि " **यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम** " (अ० ८ श्लोक २१) अर्थात् जिसको प्राप्त कर पुनः लौटना नहीं होता वही मेरा परमधाम है ।

इसी विषयको भगवान् अर्जुनसे कहरहे हैं, कि " मयि " कहने का अभिप्राय यही है, कि जो स्वरूप तेरे चित्तमें सुन्दर और शृंगार-मय बनगया है अर्थात् जो सुन्दरता तेरे चित्तमें खिंचगयी है वही मेरा स्वरूप है तू उसी मेरे स्वरूपमें मन लगा । मैं उसी स्वरूपसे तुझको मिलूंगा । इस " मयि " के लिये कोई स्वरूपविशेष आंख,

कानवाला कहीं बनाहुआ नहीं है । श्रीदशरथनन्दन रघुनन्दनके विषय जिन भक्तोंने उनकी मूर्ति देखी उनके लिये वही " मयि " समझो और अब जो नन्द, यशोदा, गोपिका तथा अर्जुन इत्यादि कृष्ण-रूपहीके विषय वही "मयि" समझो और इन दोनों अवतारोंके न होने पर इनसे पूर्व वा इनसे पीछे जो अवतार जिस समय जिस रूपमें हुए उन समयके भक्तोंके लिये वही " मयि " समझो और इनसे भी इतर जो छोटी बडी कलामें एक-एक भक्तोंके प्रेम जगानेके लिये जो अवतार ठौर-ठौर उत्पन्न होचुके वा होते हैं और होंगे सबोंके लिये इस "मयि" का प्रयोग समझो। यहां तक " मयि " का मर्म और गुप्तरहस्य बतायागया अब " मनः " का मर्म बतलाया जाता है ।

भगवान् जो कहते हैं, कि " मयि " मुझमें " मनः " मनको " आधत्स्व " स्थापन कर तहां इस " मनः " के कहनेका क्या तात्पर्य्य है ? सो वर्णन कियाजाता है ।

मनः— संकल्पविकल्पात्मिकवृत्तिको मन कहते हैं सो मन दो प्रकारका है– "ॐ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च । अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥ मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ अतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥ निरस्तविषयासंगं संनिरुद्धं मनो हृदि । यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ तावदेव निरोधव्यं यावद्धृदिगतं क्षयम् । एतज्ज्ञानं च ध्यानं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः"

(ब्रह्मबिन्दूपनिषत्)

अर्थ— मनके दो भेद कहेगये हैं। तहां कामादिकोंका संकल्प जबतक उठता रहता है तबतक उसको अशुद्ध कहते हैं और इसीके प्रतिकूल जब सर्वप्रकारकी कामनाओंसे रहित होजाता है तब उसे शुद्ध कहते हैं। सो मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है क्योंकि जबतक विषयमें आसक्ति रहती है बंधाहुआ कहलाता है और बिषयोंसे रहित होजानेसे मुक्त कहाजाता है। इसी कारण जो मन निर्विषयी होता है उसे मुक्तिकी इच्छा होती है। जब सब विषयोंसे विलग, सब प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध होकर सर्वत्रसे सिमट हृदयमें जा उन्मनीभावको प्राप्त होता हैं तब ही परमपदका लाभ होता है। इसी कारण मुमुक्षुओंको तथा भक्तोंको चाहिये, कि जब तक उनकी मनोवृत्तियां अपने हृदयहीमें क्षय न होजावें तबतक उन्हें निरोध ही करते चलेजावें। यही ज्ञान है और यही ध्यान है इससे इतर जो कुछ है सो केवल ग्रन्थका विस्तारमात्र है।

इस मनके विषय तथा इसकी शान्तिके विषय इस गीताशास्त्रमें भगवान् बार २ कहते चले आरहे हैं पर इसका हृदयमें क्षय होना सहज वार्त्ता नहीं है। प्राणायामादि अनेक क्रियाएँ इसीके निरोध करनेके विषय कहीगयी हैं सो जिस मनके निरोध करने और हृदयमें क्षय करनेके लिये योगीजन पचमरते हैं सो मनोवृत्ति उस समय सहजही हृदयमें क्षयको प्राप्त होजाती है जब उसका प्रेमपात्र (माशूक) उसके सम्मुख आजाता अर्थात् जब प्राणीको कोई स्वरूपवान् मिलजाता है और उससे उसको स्नेह होजाता है तो बिना किसीके कहे सुने उसका मन सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके विषयोंसे विरक्त होकर केवल अपने मनमोहनके

स्वरूपमें अनुरक्त होजाता है इसीको हृदयमें घाव होना कहते हैं। क्योंकि प्रेमी जो किसीपर आसक्त होचुका है उसका हृदय और उसके प्रेमपात्रका सुन्दर मुख एक होजाता है जैसे राधिकाका हृदय और कृष्णका मुखारविन्द दोनों एक होरहे थे। हृदय मुखारविन्द था और मुखारविन्द हृदय होरहा था। तात्पर्य्य यह है, कि राधिकाके हृदयमें श्यामसुन्दर निवास करते थे इसी कारण वह हृदय कृष्णरूपसे रँगगया था चाहे सहस्रों आपत्तियां सम्मुख क्यों न खडी होजावें सहस्रों इन्द्रलोकके सुख क्यों न सम्मुख आजावें पर राधिकाका हृदय तो कृष्णमुखारविन्दसे ऐसा रँगगया था, कि इन आपत्तियोंको तथा इन सुखोंको कुछ समझताही नहीं था।

श्यामसुन्दरने जो इस श्लोकमें " मनः " कहा उस मनसे यही अभिप्राय है, कि जो मन अपने सर्वगुणोंसहित केवल अपने प्यारेके प्रेमसे ऐसा रंगगया हो, कि सहस्रों झंझटों और प्रपंचोंकी रगड पडने पर भी न छिले।

अब यह जानना भी अति ही आवश्यक है, कि मनके किस अंगको प्रेमके किस रंगसे रंगना चाहिये जिससे वह मन श्यामसुन्दरके स्वरूपमें स्थित होजावे। जिसके विषय भगवान " आधत्स्व " कहकर आज्ञा देरहे हैं।

भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे अपनी विभूतियोंका वर्णन करचुके हैं, कि " **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** " अर्थात् इन्द्रियोंमें " **मन** " मैं ही हूं इस वचनसे सिद्ध होता है, कि यह " **मन** " स्वयं भगवान्का स्वरूप ही है। इसी कारण अन्य सब इन्द्रियां इसीकी

आज्ञामें रहती हैं मधुकरराजके समान जिधर यह मन जाना चाहता है उधरही सब इन्द्रियां इसके पीछे चलती हैं तो यह सिद्धान्त है, कि जब मन एक स्थानमें स्थिर और शान्त होजावेगा तब सब इन्द्रियां भी वहां ही शान्त होजावेंगी।

मोक्षधर्मग्रन्थमें इसके नव गुण कथन कियेगये हैं— "**धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा। सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः**" अर्थात् १. धैर्य्य २. उपपत्तिः (ऊहापोहमें कौशल) ३. व्यक्तिः (स्मृति) ४. विसर्गः (भ्रान्तिः) ५. कल्पना (मनोरथोंके करनेकी वृत्ति) ६. क्षमा ७. सत् (वैराग्यादि) ८. असत् (रागद्वेषादि) ९. आशुता (चंचलत्व)।

इस मनका प्रथम धर्म्म जो 'धैर्य्य" है वह सर्वसाधारणके लिये तो आपत्ति इत्यादिके समय काम आता है पर भक्तोंके मनका जो यह एक विशेषगुण है वह अपने प्रेमी श्यामसुन्दरके विरहमें कामदेता है अर्थात् जब कभी मनको यह ग्लानि होती है, कि हा! मैं भगवत्के विरहमें अबतक मरताही रहा पर उसने अभीतक मुझे दर्शन नहीं दिया। हा! यह मेरा जन्म वृथाही गया। हे प्रभो! क्या ऐसाही तरसाओगे? वा कभी कृपाकर दर्शनामृतसे मेरे शुष्क हृदयकी वेलिको सींचोगे भी। एवम्प्रकार जब भक्तोंके हृदयमें व्याकुलता होती है तो उस समय मनका जो प्रथम गुण धैर्य्य है वही कामदेता है।

दूसरा गुण "उपपत्ति" है जिसका अर्थ यह है, कि किसी वस्तुके सिद्धान्त करनेमें नाना प्रकारके शास्त्रार्थोंसे उसे सिद्ध

करलेना, कि कौनसी बात ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है । सो जिस समय भक्तोंके हृदयमें यह शंका उत्पन्न होआती है, कि जिस स्वरूपका मैं ध्यान कररहा हूं अथवा जिस मोहिनी मूर्त्तिमें मेरा मन लगाहुआ है केवल मनहीका लड्डू खाना है अथवा यथार्थमें ऐसे स्वरूपको प्रत्यक्ष भी कभी पाना है । इन विषयोंपर मनही मन अपने बुद्धियोगसे मनन करतेहुए अपने प्रेमीके स्वरूपको दृढ करलेनेमें यह गुण काम देता है ।

३. मनका तीसरा गुण " व्यक्ति " है जिसे स्मृति कहते हैं सो भगवत्की लीलाओंको स्मरण कर अहर्निश उनकी दयालुता और भक्तवत्सलता इत्यादिको जो उन्होंने प्रह्लाद, ध्रुव, सुदामा, शवरी, गज और द्रौपदी इत्यादिपर की, उसे स्मरण करते हुए गद्गद होजाना ।

४. मनका चौथागुण " विसर्ग " अर्थात् भ्रान्ति है सो कभी-कभी साधारण मनुष्योंको तो रज्जुको सर्प वा शुक्तिको चांदी समझनेमें आखडी होती है । पर भक्तोंका मन जब भगवत्के रूपरसमें मग्न हो पूर्णप्रकार वृत्ति तदाकार हो उस रूपको देखने लगजाती है तब भक्तोंको यह भ्रम होजाता है, कि मैं इस रूपको जाग्रत्में देखरहा हूं वा स्वप्नमें देखरहा हूं ऐसी दशाको " विसर्ग " कहते हैं ।

५. मनका पांचवां गुण " कल्पना " है इस गुण द्वारा मनमें नाना प्रकारके मनोरथ उठते रहते हैं सर्वसाधारणके मनमें तो संसारी

कामनाओंकी पूर्त्ति करनेकी वृत्ति उठती रहती है पर हरिभक्तोंके हृदयमें भगवतके मिलनेपर नाना प्रकारके मनोरथोंकी पूर्त्ति करनेकी वृत्ति उठती रहती है। जैसे मनमोहन मिलेंगेतो उनके चरणोंको पखारे चरणोदक ले शरीर और नेत्रोंको पवित्र करूंगा, सम्मुख खडा हो मुखारविन्दके रूपरसको भ्रमरके सदृश पान करूंगा, रोरोकर अपने सारे दुःखोंका तथा बिरहव्यथाकी दशाका विस्तार कह सुनाऊंगा अधिक कहांतक कहूं जब मिलेंगे तो यही प्रार्थना करूंगा, कि भगवन्! अब तो इस असार संसारका भार ढोते २ बहुत दिवस बीतगए अब तो दयाकर इस चर्मपिण्डसे हटा अपने संग गोलोकको लेचलो जहां आपके संग नित्य विहारमें मग्न रहूं फिर लौटकर इस घोर भवके घरमें न आऊं भक्तोंके लिये एवम्प्रकार मनोरथ करनेको "कल्पना" कहते हैं।

६. मनका छठा गुण "क्षमा" है सो भक्तोंके मनमें स्वाभाविक होती है इस गुणको सभी जानते हैं जो कोई अपराध करे उसे स्मरण रखते हुए भी समय२ पर उसका उपकार करदेना "क्षमा" है यह गुण भक्तोंके मनमें औरोंसे अधिक होता है।

७. मनका सातवां गुण 'सत' है जिससे भक्तोंका हृदय, पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति सबसे रहित होजाता है यहांतक, कि भक्तोंका मन तो वैराग्यसे भी वैराग्यको प्राप्त होता है। यह गुण भी भक्तोंके हृदयमें विशेषरूपसे निवास करता है। वैराग्यसे भी वैराग्य प्राप्तिकर केवल भगवच्चरणोंमें लगा रहता है।

८. मनका आठवां गुण " असत् " है जिससे मित्रोंसे राग और शत्रुओंसे द्वेष बना रहता है । यह तो सर्वसाधारणके मनका गुण है पर भक्तोंके मनमें जो रागद्वेषका गुण है वह सिमटकर एक रूप हो भगवत्में अनन्यताको प्राप्त करता है अर्थात " **तस्मै अनन्यता तद्विरोधिषूदासीनता** " इस नारदसूत्रके वचनानुसार जो रागका भाग है वह तो भगवत्की अनन्यताके साथ जा मिलता है और जो द्वेषका भाग है वह भगवत्मिलनके बिरोधी पदार्थों से उदासीनताको उत्पन्न करता है ।

९. इस मनका नवां गुण " **आशुता** " अर्थात् चञ्चलत्व है सो साधारण व्यक्तियोंमें तो दुःखका कारण होता है पर भगवद्भक्तों में इस गुणका यह फल होता है, कि भगवतसे मिलनेके लिये जितने यत्न हैं उनको बडी शीघ्रताके साथ पूर्ण करताजाता है आज यह उपाय कल्ह वह उपाय तात्पर्य यह है, कि भगवत् प्राप्तिमें जहांतक शीघ्रता संभव होती है करादेता है ।

यहां इस श्लोकमें मन कहनेसे भगवानका विशेष अभिप्राय यह भी है, कि मनका प्रत्येक भाव उन्हींमें लगाया जावे ।

यहांतक "**मयि**" और "**मनः**" दो शब्दोंका व्याख्यान होचुका अब "**आधत्स्व**" का सुनो—

यहां ' **आधत्स्व** ' कहनेसे भगवान्का यही अभिप्राय है, कि मनकी जितनी वृत्तियां ऊपर कथन कीगयी हैं सबोंको विषयोंसे हटाकर

मेरे लावण्यभरे स्वरूपमें अर्थात मेरे सगुणस्वरूपमें ऐसे चिपटा-देना जैसे कोई एक पत्र गोंदके सहारे दूसरे पत्रमें चिपटा दिया जाता है।

जैसे गोपियोंका मन श्यामसुन्दरमें इस प्रकार जा चिपटा, कि उनके पास ही न रहा कृष्णरूप होगया। जैसे किसी प्रकारका मलिन जल अथवा मदिरा गंगाजलमें मिलकर गंगाजल ही बन-जाता है। इसी प्रकार अनगिनत विकारोंसे मलिन मन भी भगवत्-स्वरूपमें जाकर भगवत्स्वरूप ही होजाता है। इसी अभिप्रायको भगवान्ने "आधत्स्व" कहकर अर्जुनको समझाया है।

अब भगवान् कहते हैं, कि (**मयि बुद्धिं निवेशय**) हे अर्जुन! मेरे में अपनी बुद्धिको प्रवेश करदे। यहां भी मयि कहनेसे वही तात्पर्य है, जो पहले कथन होचुका है। अर्थात् भगवानने उसी 'मयि' (अपने सगुणस्वरूपमें) मनको चिपकादेनेके साथ २ यह भी आज्ञा देदी है, कि उसी मेरे स्वरूपमें अपनी बुद्धि (अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वृत्ति) को भी प्रवेश करदे! तात्पर्य यह है, कि मन और बुद्धि दोनोंको मेरे स्वरूपमें लगादे।

शंका— यहां केवल मन कहनेहीसे भगवच्चरणोंमें एकाग्रता होनेका तात्पर्य्य सिद्ध होता है। क्योंकि मनका निरोध ही सब कुछ है फिर इस श्लोकमें बुद्धि शब्द प्रयोग करनेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान— बुद्धि जब अपनी ज्ञानेन्द्रियोंको लिये हुए किसी वस्तुमें प्रवेश करती है तो मनको फिर वहांसे उठने नहीं देती. सर्वप्रकारके शास्त्रार्थोंसे मनकी स्थिरताका निश्चय कर अपनी स्थितिमें

दृढ करदेती है तब मनका पूर्णप्रकार निरोध होजाता है। क्योंकि यह बुद्धि मनसे अत्यन्त सूक्ष्म है इसी कारण निरोधकी भिन्न २ सूक्ष्म कलाओंको दृढ करदेती है जैसे तालयंत्र (ताला) और कुंजिका (कुंजी) का सम्बन्ध है अर्थात् जैसे ताला बिना कुंजी निरर्थक है मन इसी प्रकार बिना बुद्धि कहीं भी स्थिर नहीं होसकता इसलिये इसी बुद्धिको निश्चयात्मिका वृत्ति कहते हैं। ये दोनों अन्तःकरणके दो मुख्य तत्त्व हैं जहां ये दोनों एकसाथ जाते हैं और जाकर लय होजाते हैं तहां अहंकार भी स्वयं आपसे आप इनके पीछे-पीछे जाकर लय होजाता है जैसे दीपकके बुतजानेसे प्रकाश नष्ट होजाता है ऐसे मन और बुद्धिके नष्ट होते ही अहंकार भी तहां ही लय होजाता है मनके साथ एक अन्य अन्तःकरणका भाग जिसे चित्त कहते हैं वह भी इन सबोंके साथ ही साथ लय होजाता है।

जैसे मनके नव गुण जिनका वर्णन इसी श्लोकमें करआये हैं और नवोंको भगवत्में लय करनेका भेद बताआये हैं इसी प्रकार व्यासदेवने महाभारतके मोक्षधर्ममें बुद्धिके पांच २ गुण कथन किये हैं सो इन पांचोंको भगवत्की ओर कैसे प्रवेश करदेना चाहिये ? वर्णन कियाजाता है।

" इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता । संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पंचगुणान् विदुः "।

अर्थ— १. इष्टानिष्टविपत्तिः (अर्थात् जिस किसी वस्तुको चाहते हों तथा जिसे नहीं चाहते हों दोनोंकी विपत्ति अर्थात् स्मृति का नाश होजाना।

२. व्यवसाय— (जिसे उत्साहके नामसे पुकारते हैं) ३. समाधिता (चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होजाना) ४. संशय (हां और ना दोनों वृत्तियोंमें मनका फिरना) ५. प्रतिपत्ति (प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे किसी वस्तुको सिद्ध करलेना) अब इन पांचों गुणोंको भगवत्स्वरूपमें और उनके प्रेममें किस प्रकार लगाना चाहिये ? सो कहते हैं ।

१. " इष्टानिष्टविपत्तिः " यह गुण जब भगवच्चरणोंकी ओर लगायाजाता है तब प्राणी किसी प्रकारके हर्ष, शोक, हानि, लाभ, सुख, दुःख मान और अपमानकी कुछ भी परवाह नहीं करता, घरबार सब भूलजाता है अर्थात् उसकी बुद्धि मानो निद्रिता होजाती है । जैसे नींद लगते समय एक विशेष दशा प्राप्त होती है ऐसे भगवत्प्रेममें बुद्धि शयन करजाती है अर्थात् संसारकी ओरसे एकबारगी मुडजाती है और प्राणीको भगवत्प्रेमकी शय्यापर सुखपूर्वक शयन करादेती है ।

२. व्यवसायः— इस गुणको उत्साहके नामसे पुकारते हैं अर्थात् बुद्धि जब पूर्णप्रकारे निश्चय करलेती है, कि अमुक विषय उचित और कर्त्तव्य है तब उस कार्यकी वृद्धि करादेनेके लिये उत्साह बढा देती है । सो साधारण प्राणी तो इस गुणको संसारके व्यवहारोंमें लगाते हैं पर जो हरिभक्त हैं वे इसको भगवद्भक्तिकी उन्नति करनेमें लगाते हैं ।

३. समाधिता— अर्थात् चित्तवृत्तियोंका किसी एकठौरमें निरोध होना । सो संसारी पुरुष अपने पुत्र कलत्रकी सुन्दरता तथा महल

अटारियोंकी शोभामें इस गुणको लगाते हैं। निराकार उपासक आत्मामें निरोध करते हैं पर साकार उपासक भगवत्की मोहिनी मूर्त्तिमें निरोधकर भगवदाकार होजाते हैं इसी कारण इस गुणका नाम समाधिता है।

४. संशयः— अर्थात् दो प्रकारके विचारोंको लेकर चलना फिर दोनोंमें ऊहापोह कर शास्त्रार्थोंसे एकके निश्चय करनेमें यत्न करना। सो साधारण व्यक्ति इसको अपने व्यवहारमें लगाते हैं और भक्तजन भगवत्के साकार और निराकार दोनों रूपके विचारोंमें लगाते हैं अर्थात् पूर्वजन्मार्ज्जित परिश्रमसे तो पौर्वदैहिक बुद्धि उनको सगुण स्वरूपकी ओर लिये चलीजारही है उसमें कभी-कभी निराकार वादियोंकी संगतिसे निराकारकी ओर श्रद्धा उपजने लगजाती है। एवम् प्रकार कभी निराकार कभी साकार इन दोनों पक्षोंमें जितने समय तक बुद्धि दौडती रहती है उतने समय तक मानो वे बुद्धिके चौथे गुण संशयमें पडे रहते हैं पर अन्ततोगत्वा इसी प्रकारके संशयकी निवृत्ति होने पर बुद्धि उनको अपने मार्गकी ओर लेचलती है।

५. प्रतिपत्ति— संशयरूप वृत्तिकी समाप्ति होनेपर यह प्रतिपत्ति प्रकट होती है अर्थात् नाना प्रकारके ग्रन्थोंके विवादसे तथा भक्तोंकी उपासनासे वा किसी प्रत्यक्ष वार्तासे जब बुद्धि निश्चय करलेती है, कि तुम्हारे लिये साकार उपासना ही श्रेष्ठ और उत्तम है अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द-इन चारों प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि सगुण उपासना ही श्रेष्ठ और सुखकर है तब संशय जातारहता

है । प्रमा० श्रु०— " ॐ मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः । कः परमो देवः ? कुतो मृत्युर्बिभेति ? कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति ? केनेदम्विश्वं संसरतीति तदुहोवाच ब्राह्मणः । श्रीकृष्णो वै परमं दैवतम् गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतज्ज्ञानं विज्ञातं भवति " ॥ (गोपाल पूर्वतापिन्युपनि० श्रु० १ में देखो)

अर्थ—. मुनियोंने ब्राह्मण अर्थात् स्वायम्भुवमनुसे पूछा, कि कौन परमदेव है ? किससे यह मृत्यु डरती है ? किसके जानने से सब बातें करतलगत होजाती हैं ? और किसके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व संसरण कररहा है अर्थात् चलरहा है ? स्वायम्भुवमनुने उत्तर दिया, कि श्रीकृष्ण* परमदेव अर्थात् परमात्मा हैं । गोविन्दसे यह मृत्यु डरती है और गोपीजनवल्लभके ज्ञानसे सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान होता है ।

इन प्रमाणोंको आगे रखकर भगवद्भक्तोंकी बुद्धिका पांचवां गुण जो प्रतिपत्ति है निश्चय करलेता है, कि सगुण उपासना ही आनन्द-दायक है ।

* सो भगवान् स्वयं आगे इसी गीताके पन्द्रहवें अध्यायके श्लोक १६ से १८ तक अर्थात् " द्वाविमौ पुरुषौ लोके " से " अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः " तक कहेंगे ।

+ सो भगवान् अर्जुनको साकार विश्वरूप दिखलातेहुए कहचुके हैं, कि " कालोस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो ···· ···· ···· " (अ० ११ श्लोक ३२) अर्थात् मैं महाकालस्वरूप हूं और इस समय लोकोंके नाश करनेमें लगाहुआ हूं ।

एवम्प्रकार बुद्धिके इन पांचों गुणोंको भी भगवत्में प्रवेश कर-देना चाहिये ।

इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि मेरेमें बुद्धिको प्रवेश करदे ऐसा करनेसे [**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः**] हे अर्जुन ! तू शरीर छूटनेके उपरान्त मेरे स्वरूपमें निवास करेगा इसमें तनक भी संशय नहीं है ।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब अन्तःकरण उनकी ओर लगा रहेगा तो मरणके समय प्राणीकी वृत्ति भगवदाकार होजावेगी सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि " **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तन्तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः** " (अ० ८ श्लो० ६) अर्थात् जिस २ भावनाको यह प्राणी स्मरण करताहुआ देह त्याग करता है हे अर्जुन ! उसी भावनामें चित्तयुक्त होकर उसी-उसी भावको प्राप्त होता है ।

इसी कारण भगवान् अब अर्जुनके प्रति यह शिक्षा देरहे हैं, कि तू अपने अन्तःकरणको मेरे स्वरूपमें लगादे जिससे तू मेरे स्वरूप में ही नित्य निवास करेगा ॥ ८ ॥

जिन उपासकोंसे एवम्प्रकार मन और बुद्धिका भगवत्स्वरूपमें लय करना नहीं बन सकता उन साकार उपासकोंके लिये अधिकसे अधिक सुलभ उपायोंको भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं ।

मू॰— अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ! ॥९॥

पदच्छेदः— [हे] धनञ्जय ! (धनुर्विद्याऽभ्यासबलाद्राजभ्यो धनमाहर्त्तुं समर्थाऽर्जुन !) अथ (एवमुक्तप्रकारेण) मयि (विश्वेश्वरे । वासुदेवे !) चित्तम् (संकल्पाध्यवसायात्मकमन्तःकरणम) स्थिरम् (अचलम्) समाधातुम (सम्यक् प्रकारेण धारयितुम) न (नैव) शक्नोषि (समर्थोऽसि) ततः (तर्हि) अभ्यासयोगेन (चित्तस्य एकस्मिन्नभ्यन्तरे वाह्ये वा प्रतिमाद्यवलम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनःपुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणस्तेन) माम (विश्वरूपम । वासुदेवस्वरूपम) आप्तुम (प्राप्तुम) इच्छ (इच्छां कुरु) ॥ ९ ॥

पदार्थः- (धनञ्जय !) हे धनुर्विद्याके बलसे अन्य राजाओंको पराजयकर धनका जीतलेनेवाला अर्जुन ! (अथ) यदि एवम् प्रकारसे जैसा, कि पूर्वमें कथन किया गया (मयि) मेरे स्वरूपमें (चित्तम) अपने चित्तको (स्थिरम्) अचलरूपकरके (समाधातुम) सम्यक्प्रकारसे धारण करनेको अर्थात् स्थापन करनेको (न शक्नोषि) तू समर्थ नहीं है (ततः) तब (अभ्यासयोगेन) अभ्यासयोगसे अर्थात चित्तको बार २ सब ओरसे बटोर किसी एक आधारपर स्थापन करनेके अभ्याससे (माम) मुझ सर्वेश्वरको (आप्तुम्) प्राप्त करनेकी (इच्छ) इच्छाकर अर्थात किसी आधारद्वारा मन और बुद्धिको एकाग्र करनेका अभ्यास सीख ॥ ९ ॥

भावार्थः— आनन्दकन्द श्रीकृष्णाचन्द्रने जो मन और बुद्धिको अपने स्वरूपमें एकाग्र करदेनेकी आज्ञा दी सो सब उपायोंमें श्रेष्ठ और अत्यन्त सुखदायक उपाय है। पाठकोंको भी पूर्वश्लोककी टीका पढनेसे अवश्य बोध होगया होगा। यद्यपि यह उपाय सुलभ और सुखदायी है तथापि यह सर्वसाधारणको लब्ध न होकर किसी बडे भाग्यवानको ही लब्ध होता है इसलिये जगत्–सुन्दर श्रीमुर-लीधर पाण्डवश्रेष्ठ प्रतापी पार्थके प्रति अब दूसरा उपाय कथन करते हुए कहते हैं, कि [अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्] हे अर्जुन! यदि तू पूर्वोक्त उपायके सम्पादन करनेमें अर्थात् अपने मन और बुद्धिको मुझमें लगादेनेको असमर्थ हो तो तू इस मनको स्थिर करने और मेरे स्वरूपमें जमालेनेका अन्य उपाय भी सुन! यह जो प्रथम उपाय मैंने तुझसे कहा वह उन लोगोंको अधिक लाभदायक है जो पूर्वजन्ममें भक्ति करआये हैं, उस संस्कारके कारण जिनका मन सात्विकगुणोंसे भराहुआ और प्रेमरससे भीगाहुआ है। चाहें वह उनका प्रेम व्यभिचारी क्यों न हो पर सात्विक होनेके कारण वे शीघ्र ही मेरे स्वरूपमें स्थिर होसकते हैं क्योंकि इनको प्लवंगमगति प्राप्त है।

इसी कारण भगवान्‌ने तीनों गतियोंको तीन श्लोकोंमें विलग २ कर कथन करतेहुए पूर्वश्लोकमें विहंगमगति वालेका उपाय कथन कर अब प्लवंगमगति वालेके लिये जो कुछ उपाय है वह वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन! यदि तू मेरी शृंगार तथा लाव-ण्ययुक्त मधुर मूर्त्तिमेंमन और बुद्धिको स्थिर करनेमें समर्थ न हो तो

[अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय !] हे धनञ्जय ! अभ्यासयोगसे मेरेको प्राप्त करलेनेकी इच्छा कर अर्थात् मम बुद्धिको एकस्थानमें लय करनेके जो अनेक साधन हैं जैसे त्राटक, प्राणायाम, धारणा, प्रतिमापूजन, जपयोग, मंत्र-

---

टिप्पणी— प्राणियोंको परमात्मा तक पहुंचनेके लिये तीन प्रकारकी गतियोंका वर्णन शास्त्रमें किया गया है वे यों हैं—

पिपीलीका— मानलो ! किसी वाटिकामें एक आमका वृक्ष है जिसके सबसे ऊपरवाली अन्तिम टहनीमें एक आमका फल लटका हुआ है और उसके नीचे जड़में एक पिपीलिका (चींटी) प्लवंगम (बन्दर) और एक विहंगम (पक्षी) बैठेहुए हैं तीनों चाहते हैं, कि मैं उस फल तक पहुंचूं और उसको खाऊं तहां पिपीलिका जड़से धीरे-धीरे चलती हुई लगभग एक प्रहरमें घंटे आध घंटेके अनन्तर फल तक पहुंचेगी इसे पिपीलिकागति कहते हैं ।

अब दूसरा जो प्लवंगम (वानर) है वह उछल कर पहली डालीको पकड़ दूसरीको, फिर तीसरीको एवम् प्रकार चौथी, पांचवीं डालियोंको पकड़ता हुआ मिनट दो मिनटमें फल तक पहुंच जावेगा इसे प्लवंगमगति कहते हैं ।

अब तीसरा जो पक्षी वहां बैठाहुआ है वह बिना किसी रुकावटके उड़कर एकही बार एक दो पलमें फलपर पहुंच जायगा इसे विहंगमगति कहते हैं । इसी प्रकार भगवत् तक पहुंचनेकेलिये भी ये तीन गतियां हैं । सर्वसाधारण प्राणियोंकेलिये पिपीलिकागति और जो पूर्वजन्ममें कुछ शुभ कर्म करचुका है उसकी प्लवंगमगति और जो कर्मोंका सम्पादन करताहुआ पूर्वजन्ममें ही उपासना तक पहुंचगया है इस जन्ममें उसकी विहंगमगति होती है । जैसे तुलसीदास, सूरदास, कबीर, नानक इत्यादिकी प्लवंगमगति हुई और शुकदेव, प्रह्लाद और ध्रुव इत्यादि भक्तोंकी विहंगमगति हुई ।

योग इत्यादिसे किसी एकका अभ्यास करते-करते किसी समय तू मन और बुद्धिको मेरे स्वरूपमें लय करदेनेको समर्थ होजावेगा ।

मनोमयी प्रतिमाके विषय पहले ही कह आये हैं यह अत्यन्त गूढ विषय है और किसी भाग्यवानुको ही लब्ध होता है और अभ्यास योगको इसी प्रतिमासे सम्बन्ध है । प्रमाण—

" अक्षरावगमलब्धये यथा स्थूलवर्त्तुलदृशते परिग्रहः ।
शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमृन्मयशिलामयार्चनम् "

अर्थ— यह जैसे छोटे २ बच्चे अक्षरोंके जाननेके लिये अभ्यासकालमें नाना प्रकारके स्थूल (मोटे) वर्त्तुल (गोल) टेढे कुबडे परिग्रह (स्वरूप) बनाकर पढते हैं इसी प्रकार वह शुद्ध बुद्ध परब्रह्मके बोध निमित्त लकडी, मिट्टी और पत्थरकी प्रतिमाओंपर नेत्रोंको स्थापनकरे उसी श्यामसुन्दरकी मूर्त्तिको माथेपर मुकुट, गलेमें माला और अंग—अंगमें तरह-तरहके सुन्दर गहने पहनेहुए सुन्दर शृंगारयुक्त मूर्त्ति समझकर उसपर आसक्त होनेकी चेष्टा कीजाती है अर्थात् उसी प्रतिमाके दर्शनस्पर्श और उसीकी अराधना करते-करते प्रेम उदय होआता है ।

सो भगवत्के सगुणरूपके ध्यान करनेके निमित्त और उस अपने इष्टदेवके स्वरूपमें चित्त एकाग्र करनेके निमित्त प्रतिमापूजन अन्य

टिप्पणी— इन सर्वप्रकारके साधनोंके मर्म हंसनादिनी टीकामें अपने-अपने स्थानपर दियेहुए हैं साधकोंको चाहिये, कि इस सम्पूर्ण गीताशास्त्रका प्रथम जो अध्याय ७ के सर्वप्रकारके मर्मोंको जानलेवें ।

सब साधनोंमें उत्तम साधन है और सदा अभ्यासयोगके लिये तो मुख्य ही है । प्रमाण– "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् " (पतं० अ० ३ सू० २) इस सूत्रका अर्थ श्रीव्यासदेवजीने यों किया है, कि " तत्र तस्मिन्देशे यत्र चित्तं धृतं तत्र प्रत्ययस्य ज्ञानस्य या एकतानता विसदृशपरिणामपरिहारद्वारेण यदेव धारणायामा-लम्बनीकृतं तदालम्बनतयैव निरन्तरमुत्पत्तिः सा ध्यानमुच्यते "

अर्थात् धारणा करते समय जिस किसी आधारमें चित्त ठहराया गया है अर्थात मन और बुद्धिके जमानेका अभ्यास कियागया है उसीमें प्रत्ययका लगजाना अर्थात् अन्य विषयोंके सब आश्रयोंको छोड केवल उसीमें बुद्धिका एकाग्र होना (निरुपद्रव लगजाना) ध्यान कहाजाता है । इस कारण अन्य सब अभ्यासोंमें सगुण उपासनाकी सिद्धि प्राप्त करनेकेलिये यह प्रतिमापूजन अत्यन्त श्रेष्ठ अभ्यास है ।

इसी तात्पर्यको भगवान् अर्जुनके प्रति कहरहे हैं और इस श्लोकमें जो भगवान्ने अर्जुनको धनंजय कहकर पुकारा है इसका तात्पर्य यही है, कि हे अर्जुन! जैसे तू सब राजाओंको जीतकर धन एकत्र करलेता है इसी प्रकार तू कामक्रोधादि शत्रुओंको भी जीतकर इस अभ्यासयोगकी सिद्धिके निमित्त नाना प्रकारके साधनरूप धनको एकत्र करले । यह वही अभ्यास है जिससे प्राणी जो चाहे करसकता है ॥ ९ ॥

जो प्राणी इस अभ्यासयोगमें भी समर्थ न हो तो उसके निमित्त अन्य क्या उपाय है ? सो भगवान् कहते हैं ।

मू०— अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १०

पदच्छेद:— [यदि] अभ्यासे (सर्वतश्चित्तमाहृत्यैकात्मालम्बने । पुनःपुनः स्थापने) अपि, असमर्थः (असक्तः) असि [तर्हि] मत्कर्मपरमः (मत्प्रीत्यर्थं यत् श्रवणकीर्त्तनादिभगवद्धर्माः स एव परमः परमपुरुषार्थः यस्य सः) भव, मदर्थम् (मत्प्रीत्यर्थम्) कर्माणि (श्रवणकीर्तनस्मरणादीनि) कुर्वन्, अपि, सिद्धिम् (भक्त्युत्पत्ति-द्वारेण ब्रह्मभावलक्षणां सत्वशुद्धिम् प्राप्य भगवतः सगुणस्वरूपं राम-कृष्णादिरूपविशिष्टं चतुर्विधमोक्षम) अवाप्स्यसि (प्राप्स्यसि) ॥ १०

पदार्थ:— अब भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि तू (अभ्यासे) इस अभ्यासयोगके साधनमें (अपि) भी (असमर्थः) अशक्य (असि) है तो (मत्कर्मपरमः) श्रवण कीर्तनादि जो मेरी प्रीतिकी बढानेवाली क्रियाएं हैं उन्हींको अपना परम पुरुषार्थ जानकर उन्हींका साधन करनेवाला (भव) होजा अर्थात् नित्य श्रवण, कीर्तन, स्मरणादि क्रियाओंमें तत्पर रह! एवम्प्रकार (मदर्थम) मेरी प्राप्तिके निमित्त (कर्माणि) श्रवणादि तथा एकादशीव्रतादि (कुर्वन्) करताहुआ (अपि) भी (सिद्धिम) सिद्धिको अर्थात सगुण स्वरूपको प्राप्तकर सारूप्यादि चारों प्रकारकी मुक्तियोंको (अवाप्स्यसि) प्राप्त करलेगा ॥ १० ॥

भावार्थ:— अब यादववंशशिरोमणि आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्र अर्जुनके मिससे उन भक्तोंपर जो अभ्यासयोगमें भी अशक्य हैं

दयादृष्टिकर अन्य सुलभ उपाय बतातेहुए कहते हैं, कि [अभ्यासे-प्यऽसमर्थोऽसि मत्कर्म्मपरमो भव] हे अर्जुन ! यदि तू अभ्यासयोगमें भी जिसे मैं पहले बताचुका हूं असमर्थ है तो मेरी प्रीतिवृद्धिनिमित्त जो कर्म हैं उन्हींका सम्पादन कियाकर ! जैसे पारद अग्निमें पडनेसे उछलकर उडनेकी चेष्टा करता है और किसी चिकनी वस्तुपर नहीं जमता है इधरसे उधर ढलकता फिरता है इसी प्रकार यदि तेरा भी मन किसी प्रकारके अभ्यासयोगपर न जमे तो तू मेरी प्रीति उत्पन्न होनेके लिये जो श्रवण, कीर्तन इत्यादि नवधाभक्तिके अनेक उपाय हैं उन्हींको अपना परम पुरुषार्थ जान अभ्यास कियाकर । भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि जितने कर्म उनके स्वरूपमें अर्थात् साकारेउपासनाके साधनमें सहायक होकर उनकें चरणोंमें परम अनुरागकी वृद्धि करनेवाले हैं उन्हींका निरन्तर आचरण करना चाहिये ऐसे कर्मोंमें मुख्य कर्म कौन २ हैं ? सो कहते हैं– " **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्** " अर्थात् १. श्रवण, २. कीर्तन, ३. स्मरण, ४. पादसेवन, ५. अर्चन, ६. वन्दन, ७. दास्य, ८. सख्य और ९. आत्मनिवेदन ये नव प्रकारके कर्म भगवत्प्रीतिकी वृद्धिमें मुख्य हैं । अब इन नवों कर्मोंका वर्णन कियाजाता है–

१. श्रवण– भगवत्के गुणानुवाद और उनकी लीलाओंको सत्संगमण्डलीमें बैठकर सुनते रहना और सुनते-सुनते गद्गद होजाना ।

भारत देशमें जो चिरकालसे यह प्रणाली चली आती है, कि इस देशके विद्वान्, महात्मा, समय-समयपर ठौर-ठौरमें अर्थात् किसी देवालय, तीर्थस्थान तथा श्रीगंगाजीके तटपर बैठ वाल्मीकीय रामायण, श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा अनेक पुराणोंको बडे ऊंचे स्वरसे जनसमुदायको सुनाते हैं सो यह प्रणाली केवल महात्माओंने इसी श्रवणनिष्ठाकी सिद्धि निमित्त नियत की है। इन दिनों यह श्रवणनिष्ठा कुछ न्यूनसी होती चली जारही है बहुतेरे विषयी धर्महीन मनमलीन विषयरसमें, गप्पें और मसखरीमें समयके बितानेवाले ऐसा कहने लगपडते हैं, कि पण्डितोंके समीप बैठकर कथा श्रवण करना निरर्थक समयकी हानि करना है पर जो विचारवान् हैं अपना अमूल्य समय कथाश्रवणमें लगाते हैं जिससे उनको लोक परलोक दोनोंमें लाभ होता है। क्योंकि कथाओंमें भगवन्नामकी महिमाका वर्णन रहता है तथा लौकिक पारलौकिक दोनों प्रकारकी शिक्षाएं भरी रहती हैं। इन शिक्षाओंकी एक छोटीसी वार्त्ता भी ध्यानमें रहनेसे समय-समयपर बहुत ही उपकार होता है सो सुनो!

एक कोई मूर्ख मरते समय अपने पुत्रसे कहगया, कि हे बेटा! मेरी एक बात सदा स्मरण रखना, कि पंडितोंकी कथा जहां होती हो वहां कदापि न जाना वरु कभी धोकेसे कथाकी बात कानमें पड भी जावे तो झट कान अँगुलियोंसे मूंद लेना। एक दिन किसी स्थानमें कथा होरही थी जिधर होकर वह जानिकला। पंडितजी बडे ऊंचे स्वरसे कथा सुनारहे थे उसके कानमें अचानक कथा की केवल इतनी बात जापडी, कि "देवताके शरीरकी छाया नहीं

होती " इतनी वार्त्ता सुनते ही झट उसने कान मूंदलिये ।
उस ग्राममें एक धूर्त चोर रहता था वह कालीमाईका रूप बनाकर रात्रिको उस लडकेके घरमें घुसगया । कालीके भयंकर रूपको देख लडका भयभीत हो बोला माई क्या आज्ञा होती है ? कालीने कहा तू अपना सब धन मुझे अर्पण करदे तो मैं तुझे इन्द्रलोक लेचलती हूं वहां तू अप्सराओंका सुख भोगेगा यदि ऐसा नहीं करेगा तो देख ! मैं तुझे इस खड्गसे दो टुकडे कर अपने खप्परमें तेरे तप्तरक्तको पीकर तृप्त होजाऊंगी । यह सुन लडका बहुत डरा और अपने सन्दूकसे अशरफियोंका तोडा निकाल कालीके आगे धरदिया । जब काली तोडे को कक्षा (बगल) में दाब घरसे निकलने लगी तो लडकेको कथाकी बात स्मरण होआई, कि " देवताके शरीरमें छाया नहीं होती " इतना स्मरण होते ही वह दीपक ला देखने लगा तो छाया पाई छाया देखकर समझगया, कि यह कोई धूर्त है । झट उछलकर उसकी गर्दन पकडी और तोडा उसके हाथसे छीन कर ऊँचे स्वरसे लोगोंको पुकारा लोग एकत्र होगये चोर पकडा गया ।

इस दृष्टान्तका यही तात्पर्य्य है, कि जब कथाकी एक छोटीसी बातने इतना बडा कल्याण किया तो जो लोग कथाकी सारी बातें स्मरण रखते होंगे उनका कितना बडा कल्याण होता होगा और किस प्रकार दोनों लोकोंमें लाभ उठाते होंगे ? बुद्धिमान् विचार करसकते हैं ।

इसी श्रवण निष्ठामें परिपक्व होनेसे प्राणी धीरे २ भगवच्चरणोंकी प्रीतिका तथा सूक्ष्म वस्तुओंके जाननेका भी अधिकारी

होजाता है तहां भगवान स्वयं उद्धवजीसे कहते हैं, कि " **यथा यथाऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवांजनसंप्रयुक्तम्** "(श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० १४ श्लो० २६) अर्थ– यह आत्मा जैसे-जैसे मेरी कथाका श्रवण, ग्रहण इत्यादि करके पवित्र होता है तैसे-तैसे प्रकृतिपुरुषके इन सूक्ष्म तत्त्वोंको जानता है । जैसे, कि दोषयुक्त नेत्रमें अंजन लगानेसे यथार्थ पदार्थ दीखपडते हैं ।

२. दूसरी निष्ठा कीर्त्तन है अर्थात् नाच गाकर, उछल कूदकर, प्रेममें विह्वल होकर भगवद्गुणानुवाद, भगवन्नाम तथा भगवत्की लीलाओंको कहकर प्रेमसे गद्गद होना ।

देव, गन्धर्व, किन्नरादिभी भगवत्यश और महिमाको ठौर २ गान करते फिरते हैं प्रमाण श्रु०— " **तत्र तेष्वेवं गहनेष्वेव देवा मनुष्या गन्धर्वा नागाः किन्नरा गायन्तीति नृत्यन्तीति** "
(गोपाल० उत्तरता० श्रु० ३१ में)

अर्थ —" तत्र " तहां परम पवित्र ब्रजवसुन्धरामें जहां श्यामसलिल वाहिनी यमुना अपने सौभाग्यपर इठलाती हुई बहरही है शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर कुंजकुटीरोंके बीच डोलती फिरती है ठौर-ठौरपर देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग, किन्नरे, अपनी मधुर-ध्वनिसे भगवद्गुणानुवादका गान करते हैं और नाचते हैं अर्थात् विविधभांति कीर्त्तन कर अपने हृदयको प्रेमसे प्रफुल्लितकरे भगवत्को रिझाते हैं ।

कालिन्दीकूलके कदम्बकुंजोंमें रासक्रीडा करते हुए श्यामसुन्दर जब अन्तर्धान होगये हैं तब गोपिकाओंने केवल कीर्त्तन ही

करके फिर भगवानको प्रकट किया है पहले तो भगवानने रासके आरंभमें गोपिकाओंको स्वयं अपने मुखारविन्दसे उपदेश किया है, कि " **श्रवणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोनुकीर्त्तनात् । न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्** " (श्रीमद्भागवत स्कं० १० अ० २९ श्लो० २७) हे गोपिकाओ ! जैसे, कि श्रवणसे, दर्शनसे, ध्यानसे और कीर्त्तनसे स्नेह अधिक होता है ऐसे अंगके संगसे नहीं होता इसलिये तुमलोग सब अपने २ घर चली जाओ क्योंकि प्रेमकी विह्वलतामें जो अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है उसका अनुभव वियोगी हृदय ही करसकता है । इस भगवानके वचनसे भी श्रवण और कीर्त्तन इत्यादि कर्मोंकी मुख्यता देखी जाती है ।

इसी कीर्त्तनके विषय भगवान उद्धवजीसे कहते हैं " **वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च । विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति** " (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० १४ श्लो० २४) अर्थात जिसकी वाणी मेरे प्रेमसे गद्गद होती है, जिसका चित्त मेरे प्रेमसे पिघलकर क्षोम होजाता है जो मेरे लिये बार-बार रुदन करता है कभी क्रीडाओंके मर्मोंको समझकर हंसने लगता है कभी लोकलाज छोडकर ऊंचे स्वरसे मेरे चरित्र का गान करने लगता है और गागाकर नाचता है, उछलता है और कूदता है एवम्प्रकार कीर्त्तन करताहुआ जो प्राणी मेरी भक्तिसे युक्त है सो अपने दर्शनसे सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है ।

बंगदेशमें श्रीगौडचैतन्यदेवने इसी कीर्त्तनकी शिक्षा दे भक्तिरससे बंगदेशके प्रान्तोंको पवित्र करदिया है ।

हरिकीर्त्तनका ही निरूपण करनेके तात्पर्य्यसे रामलीला, रास-लीला इत्यादि बनीहुई हैं ।

३. स्मरणम्— तीसरा अंग भगवत्के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम इत्यादिका स्मरण करना है मंत्रोंका जपादि भी इसीके अन्तर्गत है । जैसे कोई मित्र अपने मित्रको स्मरणकर गद्गद हो परम सुखको लाभ करता है ऐसे भगवत्को स्मरण करतेहुए परम सुखी होना स्मरण कहाजाता है इसी भगवत्-स्मरण करनेकेलिये बुद्धिमानोंके सम्मुख भगवतकी रचीहुई अनेक वस्तु चारों ओर पडीहुई हैं । जो भगवद्भक्त है वह एक हरे तृणको भी देखकर भगवत्स्मरण करता है भक्तोंकी दृष्टि जब ही किसी पुष्प वा पत्तीपर जा पडती है भगवत्स्मरण होआता है। क्योंकि जब बुद्धिमान् गुलाब, जुही, चमेली इत्यादि पुष्पोंकी रचना, उनकी सुहागभरी मुसकान, उनकी रंगत, उनकी बनावट और उनकी मदगंधकी ओर दृष्टि करता है तो उसके चित्तमें भगवतशक्तियोंका स्मरण अवश्य होआता है । एक छोटीसी चिडियाके परोंकी बनावट, मोरपक्षके अन्तर्गत भिन्न २ रंगोंकी जमावट, पर्वतोंके मस्तकपर नाना प्रकारके वृक्षोंकी पंक्तियोंकी सजावट इत्यादिको देख भगवत्की महिमा स्मरण होआवेगी ।

भगवान्के कहनेका यही अभिप्राय है, कि मेरा भक्त यदि अन्य किसी साधनमें समर्थ न हो तो केवल मेरी बनाईहुयी वस्तुओंकी रचनाओंको देख मुझे स्मरण करे ।

४. पादसेवनम्— अर्थात् भगवत्के चरणोंकी सेवा करना । जैसे कोई चाकर अपने स्वामीके चरणोंको बार २ पखारता है

चापता है, हृदयमें तथा नेत्रोंमें लगाकर सुखी होता है ऐसे दिवा-रात्रि भगवत्के चरणों ही की ओर ध्यान लगाये रहना, सोते, जागते, चलते, फिरते, उठते, बैठते और खाते, पीते, उन कोमल चरणारविन्दोंको ही चित्तमें बसाये रहना। भगवत्का साक्षात्कार होना तो कुछ दुस्तर है पर तावत् प्रतिमा इत्यादिके चरणोंको धोकर चरणोदक लेना भी भगवत्पादसेवनके अन्तर्गत ही है। इन ही प्रतिमाओंके चरणोंको धोते-धोते किसी न किसी दिन भगवत्के मुख्य चरणोंका साक्षात्कार अवश्य होगा फिर तो भगवद्भक्तके सुखका वर्णन कौन करसकता है?

५. अर्चनम्— भगवत्प्राप्ति निमित्त कर्मोंका पांचवां अंग 'अर्चना' है अर्थात् अक्षत, चन्दन, पुष्प, धूप, दीपक, नैवेद्य इत्यादि नाना प्रकारके उपचारोंसे भगवत्का पूजन करना।

इन उपचारोंके अनेक भेद हैं—

१. चतुःषष्टिरुपचाराः (६४ उपचारोंवाली अर्चना)
२. षट्त्रिंशदुपचाराः (३६ उपचारोंवाली अर्चना)
३. अष्टादशोपचाराः (१८ उपचारोंवाली अर्चना)
४. षोडशोपचाराः (१६ उपचारोंवाली अर्चना)
५. दशोपचाराः (१० उपचारोंवाली अर्चना)
६. पंचोपचाराः (५ उपचारोंवाली अर्चना)

इन छवों प्रकारके उपचारोंका वर्णन सर्वसाधारणके कल्याण-निमित्त यहां करदियाजाता है—

चतुःषष्ठिरुपचाराः

१. आवाहनम्, २. आसनम्, ३. पाद्यम्, ४. अर्घ्यम्, ५. आचमनीयकम्, ६. मज्जनशालोपवेशनम्, ७. मज्जनमणिपीठोपरिवेशनम्, ८. उद्वर्तनम्, ९. स्नानम्, १०. उष्णोदकस्नानम्, ११. तीर्थाभिषेकम्, १२. धौतप्रक्षालनम्, १३. वस्त्रम्, १४. दुकूलपरिधानम् १५. दुकूलोत्तरीयम्, १६. भूषणमण्डपप्रवेशनम्, १७. भूषणमणिपीठोपवेशनम्, १८. आलयमणिपीठोपवेशनम्, १९. सिंहासनारोहणम्, २०. कामेश्वरपर्यंकोपवेशनम् २१. मुकुटम्, २२. कस्तूरीतिलकरत्नम्, २३. अंजनम्, २४. नासाभरणं, २५. अधरयावकः, २६. ग्रथनभूषणम्, २७. चित्रपदकम्, २८. महापदकं, २९. मुक्तावलिः, ३०. एकावलिः, ३१. केयूरः, ३२. वलयः ३३. कांचीदाम, ३४. कटिसूत्रम्, ३५. पादकटकम् ३६. नूपुरम्, ३७, पादांगुलीयकं, ३८. पाचम्, ३९. शंखः ४०. गदा, ४१. चक्रम्, ४२ छत्रम्, ४३. चामरम्, ४४. दर्पणम्, ४५. व्यजनम्, ४६. काकपक्षे मालावलम्बनम्, ४७. मणिपादुका, ४८. देवच्छन्दकः, ४९. शोभाभरणम्, ५० गन्धः, ५१ आलेपमण्डपप्रवेशनम्, ५२. मणिपीठोपवेशनम्, ५३. दिव्यगन्धानुलेपनम्, ५४. कर्पूरवटी, ५५. मंगलार्तिक्यम्, ५६. धूपः, ५७. दीपः, ५८. निवेदनम्, ५९. पुनराचमनीयम्, ६०. ताम्बूलम्, ६१. कर्णपालीयुगलम्, ६२. नमस्कारः, ६३. प्रदक्षिणा, ६४. उद्वासनम् ।

षट्त्रिंशदुपचाराः

" आसनाभ्यञ्जने तद्वदुद्वर्त्तननिरूक्षणे ।
सम्मार्जनं सर्पिरादिस्नपनावाहने तथा ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयञ्च स्नानीयमधुपर्ककौ ।
पुनराचमनीयञ्च वस्त्रयज्ञोपवीतके ॥
अलंकारो गन्धपुष्पधूपदीपास्तथैव च ॥
ताम्बूलादिकनैवेद्यं पुष्पमाला तथैव च ।
अनुलेपनञ्च शय्या च चामरं व्यंजनन्तथा ॥
आदर्शदर्शनं चैव नमस्कारोथ नर्त्तनम् ।
गीतवाद्ये च गानानि स्तुतिहोमप्रदक्षिणम् ॥
दन्तकाष्टप्रदानं च ततो देवविसर्जनम् ।
उपचारा इमे ज्ञेया षट्त्रिंशत् सुरपूजने ॥ ''

(इत्येकादशीतत्वम्) अर्थ स्पष्ट है ।

अष्टादशोपचाराः

'' आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम् ।
स्नानं वस्त्रोपवीतं च भूषणानि च सर्वशः ॥
गन्धं पुष्पं तथा धूपं दीपमन्नञ्च दर्पणम् ।
माल्यानुलेपनञ्चैव नमस्कारविसर्जनम् ॥
अष्टादशोपचारैस्तु मन्त्री पूजां समाचरेत् । ''

षोडशोपचाराः

'' आसनं स्वागतं चार्घ्यं पाद्यमाचमनीयकम् ।
मधुपर्कार्पणं स्नानं वसनाभरणानि च ॥
सुगन्धः सुमनो धूपो दीपो नैवेद्यमेव च ।
माल्यानुलेपने चैव नमस्कारो विसर्जनम् ॥ ''

(ज्ञानमालायाम्) अर्थ स्पष्ट है ।

दशोपचाराः

"अर्घ्यं पाद्यञ्चाचमनं स्नानं वस्त्रनिवेदनम् ।
गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दश क्रमात् ॥ "

(इति ज्ञानमालायाम्) अर्थ स्पष्ट है ।

पञ्चोपचाराः

" ध्यानमावाहनञ्चैव भक्त्या पञ्च निवेदनम् ।
नीराजनं प्रणामञ्च पञ्च पूजोपचारकाः ॥ "

(जाबालिः) अर्थ स्पष्ट है ।

इन छवों उपचारोंमें चतुःषष्टि उपचार षट्त्रिंशदुपचार उन भाग्यवान् भक्तोंके लिये हैं जिनको अहर्निश भगवद्भजन छोड अन्य किसी संसारी उपद्रवका झंझट नहीं है । शेष अष्टादश, षोडश, दश और पञ्चोपचार उन भक्तोंके लिये हैं जिनके मस्तकपर कुटुम्ब इत्यादि पालनके अनेक भार पडे हैं ।

इन सब उपचारोंमें षोडश उपचार अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसे भागवत धर्म और स्मार्तधर्मवाले बडी सुलभताके साथ सम्पादन करसकते हैं । यह षोडशोपचारपूजन पौराणिक और वैदिक दोनों मन्त्रोंसे किया जाता है पर यजुर्वेद अध्याय १६ के पुरुषसूक्तके १६ मन्त्रोंसे यदि सोलहों उपचार सम्पादन कियेजावें तो अमोघ फलदायक होंगे । इसलिये सर्वसाधारणके कल्याण निमित्त यहां यह संकेत करदिया जाता है, कि किस वैदिकमन्त्रसे किस उपचारका सम्पादन करना चाहिये—

१. सहस्रशीर्षेत्यावाहनम्, २. पुरुष एवेत्यासनम्, ३. एतावानस्येति पाद्यम, ४. त्रिपादूर्ध्वमित्यर्घ्यम, ५. ततोविराडजायतेत्याचमनीयम्, ६. तस्माद्यज्ञादितिस्नानम, ७. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत इति वस्त्रम, ८. तस्मादश्वा इति यज्ञोपवीतम्, ६. तं यज्ञमिति गन्धम, १०. यत्पुरुषमितिपुष्पम्, ११. ब्राह्मणोऽस्येति धूपम, १२. चन्द्रमामनस इति दीपम, १३. नाभ्या आसीदिति नैवेद्यम, १४. यत्पुरुषेणेति दक्षिणायुक्त ताम्बूलम, १५. सप्तास्या इति आरार्तिपूर्वकप्रदक्षिणा, १६. यज्ञेन यज्ञमिति मन्त्रपुष्पयुक्तो नमस्कारः ।

जिनको इसके करनेका भी पूर्ण अवकाश न मिले वे केवल पंचोपचारवाली अर्चनासे भगवतको प्रसन्न करसकते हैं अर्थात "गन्धादयो नैवेद्यान्ताः पूजा पंचोपचारिकाः" (तंत्रसारे) गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य केवल इतने ही अंगोंसे पूजा करनेको पंचोपचारवाली पूजा कहते हैं जो प्राणी प्रीतिपूर्वक इतने पदार्थोंको भगवन्निमित्त अर्पण करता है उसे भगवान् बडी प्रीतिसे स्वीकार कर प्रसन्न होते हैं सो भगवान् पहले भी अ० ६ श्लो० २६ में कहआये हैं, कि "पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति" अर्थात् तुलसी वा विल्वपत्त तथा नाना प्रकारके पुष्प, फल, जल जो कुछ मेरा भक्त प्रीतिपूर्वक मुझे अर्पण करता है मैं प्रसन्नतापूर्वक उसे ग्रहण करता हूं ।

६. वन्दनम्— छठवां अंग बन्दना है अर्थात् मन, वचन और कर्मसे उस महाप्रभुको बार-बार नमस्कार करना, दण्डके समान पृथ्वीपर गिरकर नेत्रोंको अश्रुपूर्ण कर भगवत्के चरणोंको प्रणाम

कर हाथ जोडे एकान्त स्थानमें भगवत्की मंजुलमूर्ति अपने हृदयमें दृढकर उनकी लीलाओंका, उनकी अप्रमेय शक्तियोंका और उनके अपूर्व स्वरूपका ध्यान कर बन्दना करना जैसा, कि भगवान् पहले अ० ६ श्लोक ३४ में कहआये हैं, कि 'मां नमस्कुरु' मुझ ही को नमस्कार कर मैं केवल तेरे नमस्कारमात्रसे प्रसन्न होजाऊंगा।

हरिभक्तिविलासनामक ग्रन्थके ११ वें विलासमें इस वन्दना को १६ प्रकारकी भक्तिके अन्तर्गत लिखा है यथा—

" आद्यंतु वैष्णवं प्रोक्तं १. शंखचक्रांकनं हरेः। २. धारणं चोर्ध्वपुण्ड्राणां ३. तन्मन्त्राणां परिग्रहः॥ ४. अर्चनञ्च ५. जपो ६. ध्यानम् ७. तन्नामस्मरणं तथा। ८. कीर्तनं ९. श्रवणञ्चैव १०. वन्दनं ११. पादसेवनम्॥ १२. तत्पादोदकसेवा च १३. तन्निवेदितभोजनम्। १४. तदीयानां च संसेवा १५. द्वादशी-व्रतनिष्ठिता॥ १६. तुलसीरोपणं विष्णोर्देवदेवस्य शार्ङ्गिणः।" (अर्थ स्पष्ट हैं) यही षोडशोपचारभक्ति भक्तोंके लिये निश्चय कीगयी है। इसीके अन्तर्गत दशवां अंग वन्दना भी है।

प्रिय पाठकोंको ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि केवल वैष्णवों हीने इसको १६ प्रकारकी भक्तिके अन्तर्गत माना है नहीं! नहीं!! इस बन्दनाको तो सब मतवाले षोडशोपचारपूजनमें भी मानते हैं यथा— " आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्का-चमनस्नानं वसनाभरणानि च॥ गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यं वन्दनं तथा" (आह्निकतत्त्वे आचारचिन्तामणिः) अर्थ स्पष्ट है।

यहां देखाजाता है, कि षोडशोपचारका अन्तिम अंग भी यही वन्दना है। वन्दना करके ही पूजाकी समाप्ति होती है।

इस वन्दनारूप मुख्य अंगको किस रीतिसे सम्पादन करना चाहिये सो लिखते हैं—" **प्रणमेदथ साष्टांगं तन्मुद्राञ्च प्रदर्शयेत्। पठेत्प्रतिप्रणामञ्च प्रसीद भगवन्निति** " अर्थात् दण्डके समान गिरकर मुद्रा दिखातेहुए प्रत्येक प्रणाममें 'प्रसीद भगवन्!' इतना पद बोलना चाहिये। भगवान्ने एकादशस्कन्ध भागवतमें स्वयं कहा है, कि " **स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि। स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत्** " अर्थात पुराणोंके अथवा अन्य किसी पुरुषके बनायेहुए स्तोत्रों द्वारा ऊंचे स्वरसे स्तुति करके दण्डवत् प्रणाम करे इतना शब्द अवश्य बोले, कि 'प्रसीद भगवन्' हे भगवन्! मुझपर प्रसन्न होजाओ।

इस दण्डवतप्रणामके दो भेद हैं साष्टांग और पञ्चांग इनमें " **दोर्भ्यां पद्भ्यां च जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा। मनसा वचसा चेति प्रणामोऽष्टांग ईरितः** " अर्थात १. दोनों कन्धोंसे, २. दोनों पैरोंसे ३. दोनों जानुओंसे, ४. हृदयसे, ५. शिरसे, ६. नेत्रोंसे, ७. मनसे, और ८. वचनसे झुककर लाठीके समान गिरकर नमस्कार करनेको साष्टांगदण्डवत् कहते हैं।

फिर " **जानुभ्यां चैव बाहुभ्यां शिरसा वचसा धिया पंचांगकः प्रणामः स्यात् पूजासु प्रवराविमौ** ॥" अर्थात् जानुओंसे, बाहुओंसे, शिरसे, वचनसे और अन्तःकरणसे लाठीके समान गिरकर प्रणाम करनेको पञ्चांग प्रणाम कहते हैं

" एकोऽपि कृष्णस्य सकृत्प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः । दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामान्न पुनर्भवाय " (नारदीये) एकबार श्रीकृष्णके प्रणामसे दश अश्वमेधकी भी तुलना नहीं होसकती । क्योंकि दश अश्वमेध करनेवालोंको फिर जन्म होसकता है पर एकही बार कृष्णको प्रणाम करनेवाला फिर संसारमें नहीं आता ।

७. दास्यम्— भगवत्प्राप्तिनिमित्त साधकोंकेलिये सातवां कर्म " दास्य " है अर्थात् दासभावसे भगवच्चरणोंकी सेवा करना। जैसे चाकर अपने स्वामीकी आज्ञानुसार उसकी सेवा शुश्रूषामें तत्पर रहता है ऐसे भगवत्को अपना परम स्वामी जान उसीकी सेवा शुश्रूषामें तत्पर रहना ।

सभी जानते हैं, कि दास चाकरको कहते हैं + दासः (दीयते भृतिमूल्यादिकं यस्मै सः) अर्थात् जिसके लिये द्रव्य इत्यादि मूल्य दियाजावे तात्पर्य्य यह है, कि मोल लियाहुआ प्राणी दास कहाजाता है सो अपनेको ऐसा माने, कि मैं भगवानका दास मोल लिया-

---

+ दास— पंद्रह प्रकारके होते हैं " गृहजातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः । अन्नाकालभृतस्तद्वदाहितः स्वामिना च यः ॥ मोचितो महतश्चर्णात् युद्धे प्राप्तः पणे जितः । तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः ॥ भक्तदासश्च विज्ञेयस्तथैव बडवाहृतः । विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पंचदशाः स्मृताः ॥ " (नारदः)

हुआ हूं इस कारण उनके चरणोंकी सेवा बिना किसी प्रयोजन करना मेरा धर्म्म है । इस प्रकार निष्कामसेवामें तत्पर रहनेसे उस महा-प्रभुकी समीपता प्राप्त होती है । और इस संसारको गोपदके समान तरजाता है। इस कर्मके साधनकी रीति यह है, कि इस नश्वर शरीरसे निशिवासर अर्थात् आठों पहरमें जितने कार्य्य किये जावें सबको केवल ईश्वरनिमित्त ही समझे । जैसे स्नान, वस्त्र धारण, भोजन इत्यादि अर्थात स्नानके पहले ऐसा ध्यान करलेवे, कि सुन्दर सुगन्धमिश्रित तैल इत्यादिका लेपन भगवतके शरीरमें कर भगवतको स्नान कराता हूं फिर उस जलको भगवत्का स्नान किया हुआ उच्छिष्टजल समझकर उससे आप स्नान करे फिर नवीन धौतवस्त्र धारण करते समय ऐसा ध्यान करे कि यह वस्त्र भगवत्को पहनाता हूं फिर उनके शरीरसे उतरा हुआ वस्त्र जैसे चाकर पहनता है ऐसे पहनता हूं। एवम् प्रकार भोजन करते समय ऐसा ध्यान करे, कि सब भोजनके पदार्थ भगवान भोजन कररहे हैं फिर ध्यानमें उनको आचमन करा ऐसा समझे, कि जो उनका उच्छिष्ट अन्न है उसे मैं भोजन करता हूं इसी प्रकार दासभावसे सब कर्मोको भगवानके कैंकर्य्य (सेवा) के निमित्त समझना । इसी प्रकारके कर्मको दास्य कहते हैं ।

८. सख्यम्— आठवां अंग सख्य है अर्थात सखा भावसे भगवानमें प्रेम करना और सखाके सदृश आचरण करना। सखा कहते हैं मित्रको सो जैसे एक मित्र दूसरेके सुखकी सदा इच्छा करता है और " तत्सुखसुखित्वम् " इस नारदसूत्रके अनुसार उसके सुखसे

अपनेको सुखी समझता है इसी प्रकार भगवतके सुखसे अपना सुख अनुभव करना ।

अन्य सब भावोंसे यह भाव श्रेष्ठ है क्योंकि मित्रसे बढ़कर उत्तम प्रेम अन्य किसीका भी नहीं होता । प्र०— "न मातरि न दारेषु न सोदर्य्ये न चात्मजे । विश्वासस्तादृशः पुंसां यावन्मित्रे स्वभावजे" अर्थात् स्वाभाविक मित्रमें जिस प्रकार विश्वासकी दृढ़ता होती है वैसी दृढ़ता न मातामें न अपनी वामांगीमें न सहोदर भाईमें न अपने पुत्रमें किसीमें भी नहीं होती है ।

इस वचन से सिद्ध है, कि मित्रका प्रेम सबसे श्रेष्ठ है । इस भावसे परमात्मामें प्रेम कर तदनुसार भगवत्स्वरूप अर्थात् अपने इष्ट-देवके साथ आचरण करना और सदा यही समझते रहना, कि जैसे मित्र रक्षा करता है ऐसे भगवान् मेरा सच्चा मित्र है वह अवश्य समय २ पर मेरी रक्षा करेहीगा कालके गालसे बचाकर अपने स्वरूपमें अवश्य मिलालेगा । क्योंकि प्रमाण— "शोकाऽरातिभयत्राणं प्रीति-विश्रम्भभाजनम् । केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥" अर्थात् शोकके समय, शत्रुओंसे आक्रमणके समय जो रक्षा मित्र द्वारा होती है अन्य किसीसे भी नहीं होती । इस कारण महर्षि विष्णु-शर्म्मा कहते हैं, कि न जाने इन दो अक्षर 'मित्र' रूप रत्नको किसने रचा ।

यह सख्यभाव श्रीदामा, सुदामा इत्यादि भक्तोंमें विशेषकर पायागया है ।

इस जीवका वह महाप्रभु सदा सखा है सो श्रुतियोंसे भी सिद्ध है प्रमा०—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (मु० ३ खं० १ श्रु० १)

अर्थ— जीव और ईश्वर ये दोनों सुन्दर पक्षी जो परस्परके सखा हैं एक संग मिलेहुए इस शरीररूप वृक्षपर बैठे हैं ।

फिर जब श्रुतियोंसे सखाभाव सिद्ध होता है तो प्राणी ऐसे रत्न को क्यों छोडदेवे । इतना जाननेपर भी जो सख्यकर्मसे वंचित रहता है वह अभागा है। विधाताने उसे मनुष्य बनाकर ठगदिया है ।

६. आत्मनिवेदनम्— अर्थात् अपनेको भगवत्में अर्पण करदेना अपने शरीर और अन्तःकरण इत्यादिको अपना न समझ भगवत्का ही समझना । ऐसा करनेसे जितने व्यवहार इस शरीरसे होरहे हैं सब आपसे आप भगवत्के अर्पण होते चलेजावेंगे तथा जो कर्म इससे उत्पन्न होंगे सब अहंकार रहित होंगे, अपने कर्मोंका कुछ भी आश्रय वा अवलम्ब न रहकर केवल भगवत्का ही अवलम्ब बनारहेगा ।

शास्त्रकारोंने दो प्रकारकी भक्ति उच्चारण की हैं मर्कटन्याय और मार्जारन्याय तहां मर्कटन्याय तो यह है, कि जैसे मर्कट (बानर) का बच्चा अपने चारों हाथोंसे अपनी मा को पकडे रहता है तहां इस डालसे उस डालपर उछलनेके समय मा से छूटकरे पृथ्वी-पर गिरजानेका भार बच्चेपर है यदि दृढतासे पकडे न रहा तो डाल से गिरकर चूर २ होगया । इसीके प्रतिकूल मार्जार न्याय है अर्थात् मार्जार जो बिल्ली तिसका बच्चा स्वयं कुछ नहीं जानता उसकी रक्षा

का भार उसकी माके ऊपर है । बच्चेने अपनी गर्दन माके मुखमें डालदी है उसकी मा उस बच्चेकी गर्दन पकडेहुए आग लगनेपर एक घरसे उठाकर दूसरे घरमें रखआती है बच्चा कुछ भी नहीं जानता ।

तात्पर्य्य यह है, कि जो ज्ञानी, योगी, आत्मदर्शी, ऋषि और महर्षि साधनचतुष्टयरूप चारों हाथोंसे उस सच्चिदानन्दको दृढ पकडे-हुए है सो मर्कटन्यायकी भक्तिसे सम्पन्न है । यदि किसी एक साधनमें भी चूके तो ऊपरसे नीचे पतन होजानेका भय है पर जो भक्त बिल्लीके बच्चेके सदृश अपनेको भगवत्के शरणरूप मुखमें निवेदन करचुका है उसकी रक्षाका भार स्वयं भगवत्के ऊपर है । इसीको आत्मनि-वेदन' कहते हैं । ऐसे प्राणीको भगवत्स्वरूपसे इतर ब्रह्मलोकसे लेकर पाताललोक पर्य्यन्तके किसी भी सुखकी इच्छा नहीं रहती ।

श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने स्वयं अपने मुखारविन्दसे उद्धव-जीके प्रति कहा है, कि " न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्व-भौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धिरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मे-च्छति मद्विनाऽन्यत् " (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० १४ श्लो०१४)

अर्थ— श्यामसुन्दर उद्धवजीसे कहते हैं, कि हे उद्धव ! जो प्राणी मय्यर्पितात्मा है अर्थात जिसने मुझमें आत्मनिवेदन कर-दिया है वह मुझे छोड न तो ब्रह्माकी पदवीको चाहता है, न इन्द्र-लोककी गद्दीपर बैठना चाहता है, न सार्वभौम अर्थात चक्रवर्त्ती होना चाहता है अथवा योगकी जो अणिमादि अष्टसिद्धियां हैं उनको भी नहीं चाहता फिर अपुनर्भव अर्थात् मुक्तिकी भी इच्छा

नहीं रखता है वह तो केवल मेरी शोभा, शृंगारादिमें अहनिश मग्न रहता है।

इस श्लोकमें भगवानने जो यह कहा, कि "मत्कर्मपरमो भव" इसका मुख्य तात्पर्य यही है, कि उक्त भक्ति अर्थात नव प्रकारकी भक्तियों सहित भगवत्‌की शरण होजावे। किसी २ महात्माके मतसे भक्तिके १६ कर्म हैं अर्थात् इन नवोंसे इतर ७ कर्म और हैं जो विशेष-कर वैष्णवोंके लिये हैं— १. शंखचक्रधारणम्, २. ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणम् (मस्तकमें तिलक लगाना) ३. मंत्रधारणम् (गुरुदेवसे इष्ट-देवका मंत्र लेना) ४. जपम् (इष्टदेवके मंत्रका जप करना) ५. तन्निवेदितभोजनम (भगवत्‌को अर्पणकर भोजन करना) ६. तदीयानां संसेवा (भक्तोंकी सेवा करना) ७. द्वादशीव्रतनिष्ठा इन कर्मोंसे भी इतर अन्य जितने कर्म भगवत्प्राप्तिकेनिमित्त हैं सबोंका सम्बन्ध "मत्कर्मपरमः" से है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**मदर्थमपि कर्म्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि**] उक्त प्रकार मेरी प्राप्तिके निमित्त कर्मोंके सम्पादन करते हुए हे अर्जुन! तू सिद्धिको प्राप्त होगा अर्थात् इन ऊपर कथन किये कर्मोंको करते२ तेरा अन्तःकरण मेरे प्रेमसे भर जावेगा फिर तू अभ्यासयोगका अधिकारी होजावेगा, तत्पश्चात् उस अभ्यासयोगसे तू ऐसा समर्थ होजावेगा, कि तुझे अपने मन और बुद्धिको मेरे साकारस्वरूपमें लय करदेनेकी शक्ति होजावेगी अर्थात् पीपिलिकासे प्लवंगम और प्लवंगमसे विहंगमगति

पानेको समर्थ होगा । फिर तो मैं हाथों ही हाथ तुझे मिला हुआ हूं और यह मेरा मिलना ही इन कर्मोंके साधन करनेकी अन्तिम सिद्धि है जो तुझे अवश्य प्राप्त होजावेगी ॥ १० ॥

अब जो लोग उक्त कर्मोंके सम्पादनमें भी असमर्थ हैं उनके लिये भगवान् एक चौथा सुलभ यत्न बताते हैं अर्थात् पिपीलिकागतिका एक दूसरा उपाय भी बताते हैं—

मू०— अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्म्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

पदच्छेदः— अथ (पुनः) [यदि] एतत् (यदुक्तं मत्कर्मपरमत्वम) अपि, कर्तुम् (निवर्तयितुम्) अशक्तः (असमर्थः) असि, ततः (तर्हि) मद्योगम (मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य तेषामनुष्ठानम् । मदेकशरणत्वम्) आश्रितः (अधिष्ठितः) यतात्मवान् (जितचित्तः) सर्वकर्मफलत्यागम् (श्रौतस्मार्त्तादिकर्मफलसन्न्यासम्) कुरु ॥ ११ ॥

पदार्थः— (अथ) फिर यदि तू (एतत) यह जो मत्कर्मपरमत्व अर्थात् मेरे निमित्त श्रवण, कीर्त्तनादि कर्मोंका अनुष्ठान है सो (अपि) भी (कर्तुम्) करनेको (अशक्तः) असमर्थ (असि) है (ततः) तब तो (मद्योगम्) मेरी ही एक शरणका (आश्रितः) आश्रित होकर तथा (यतात्मवान) अपने अन्तःकरणको इन्द्रियोंके साथ अपने वशीभुत कर (सर्वकर्मफल-

त्यागं कुरु) सब कर्मोंके फलको मुझमें त्याग करदे अर्थात् कर्मोंका फल मुझमें अर्पण करनेका अभ्यास कर ॥ ११ ॥

भावार्थः— अब भगवान् उन लोगोंके लिये जो श्रवण, कीर्तनादिमें असमर्थ हैं एक चौथा उपाय बतातेहुए कहते हैं, कि [**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुम्**] हे अर्जुन! यदि तू इतना भी करनेको असमर्थ है अर्थात् श्रवण, कीर्तन इत्यादि जो मत्कर्मपरमत्व का अभ्यास है तिसकी शक्ति भी नहीं रखता तो एक सुलभ उपाय बताता हूं सो ध्यान देकर सुन और उसके अनुसार कर!

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिस प्राणीने पूर्वजन्ममें भगवत् निमित्त किसी भी कर्मका अनुष्ठान न किया और भगवतकी ओरसे विमुख रहा वह इस जन्ममें यदि पूर्वजन्मके पुण्यके उदय होनेसे कहीं किसी सत्संगमें पडकर भगवतकी ओर चला तो उसी प्राणीकी पिपीलिकागति होती है वही इस साधनका जिसे भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं अधिकारी होता है।

अब अर्जुनका बहाना लेकर संपूर्ण संसारको उपदेश करतेहुए कहते हैं, किहे अर्जुन! यदि तेरी बुद्धि तुझे मत्कर्मपरमत्वके साधन का भी अधिकारी होनेमें सहायता नहीं करती तो [**मद्योगमाश्रितः ॥ सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**] तू मद्योगमाश्रित तथा यतात्मवान् होकर सर्व श्रौतस्मार्त कर्मोंके फलोंको मुझमें त्याग करदे।

शंका— यहां भगवानने सबसे सुलभ उपाय कथन किया पर मद्योगमाश्रित और यतात्मवान् होकर जो कर्मोंके फलोंका त्याग कहा है।

ये दोनों गुण साधारण साधकोंमें शीघ्र नहीं होसकते, इन दोनों गुणोंके प्राप्त होनेके लिये पहले सत्संगकी आवश्यकता है। क्योंकि **मद्योगमाश्रित** शब्दसे सब पुरुषार्थोंको छोड केवल एक भगवतशरण होनेका तात्पर्य है और **यतात्मवान्** कहनेसे सर्वप्रकारसे अपने मनको इन्द्रियों सहित यत्नपूर्वक अपने वशमें करनेका तात्पर्य है तो क्या ये दोनों बातें एकाएक सबमें होसकती हैं? कदापि नहीं! भगवान् स्वयं पहले कहचुके हैं, कि "**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**" (अ० ७ श्लो० ३) सहस्रोंमें कोई एक पुरुष सिद्धिके निमित्त यत्न करता है अर्थात् **यतात्मवान्** होता है तो भगवान्के इस श्लोकमें बतायेहुए यत्नको और साधारण प्राणियोंके लिये तथा पिपीलिकागतिवालोंके लिये सुलभ क्यों कहते हो?

समाधान— इसी अध्यायके प्रथम श्लोकमें अर्जुनने भगवान्से पूछा है, कि "**तेषां के योगवित्तमाः**" निर्गुण और सगुण उपासनावालोंमें कौन श्रेष्ठ योगी हैं? उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि "**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः** ······ ······ (श्लोक २) अर्थात् मुझमें मन एकाग्र करके सर्वदा मुझ ही में युक्त रहकर श्रेष्ठ श्रद्धासे जो लोग मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें श्रेष्ठ योगी हैं। इस प्रकार उत्तर देकर सगुण उपासनाको अधिक श्रेष्ठ कहा तहां विचारने योग्य है, कि यह श्रेष्ठता कुछ सगुण उपासनाके सुलभ और निर्गुणके कठिन होनेके कारण नहीं कही वरु सगुणके सुखदायी होनेके कारण कही है सगुण उपासनाके विषय जितनी क्रियाएं वा जितने प्रकारके साधन हैं सब भक्तोंको सुखदायी हैं सगुण उपासना

वालोंके लिये कठिनसे कठिन साधन भी सदा सुखद हैं इसी कारण यह अन्तिम साधन जो कर्मोंका त्याग वह यद्यपि साधारण प्राणि-योंके लिये कठिन है पर भक्तोंको तो सुखदायी ही है। भगवानने जो मद्योगमाश्रित और यतात्मवान् दो साधन कहे ये निराकार उपा-सनावालोंके लिये तथा सर्वसाधारण प्राणियोंके लिये कठिन क्लेश-कर हों तो हों पर भक्तोंके लिये तो परम सुखदायी हैं। क्योंकि जो जिस वस्तुको हृदयसे चाहता है अथवा जो जिसपर आसक्त रहता है उसके मिलनेके निमित्त कठिनसे कठिन कार्य्यको भी सुखद और सुलभ ही समझता है। जैसे श्रीमहावीरजीको धौलागिरि पर्वतका एक विशालखण्ड हाथोंसे उठाकर हिमालयसे लंका पर्य्यन्त लेजाना अत्यन्त सुखद जानपडा। प्रायः देखागया है, कि व्यभिचारी-प्रेममें भी प्रेमी कठिनसे कठिन साधनोंको सुखदायी समझता है। इसपर एक साधारण व्यभिचारी-प्रेमका दृष्टान्त दियाजाता है। बिल्वमंगल सूरदासका इतिहास सर्वसाधारणपर विदित है, कि चिन्तामणि नामकी वेश्यापर आसक्त होनेके कारण अर्धरात्रिके समय बरसातके घोर जलके प्रवाहसे भरीहुई नदीको एक मुर्देपर बैठ पार होगया और एक भयंकर अजगर सर्पको पकड वेश्याके कोठेपर चढगया। ये दोनों कार्य कठिन थे पर उसे सुखदायी जानपडे। इसी दृष्टान्तसे सिद्ध होता है, कि जिसका अन्तःकरण पूर्णरूपसे किसीपर आसक्त है उसे कठिनसे भी कठिन साधन सुखद ही जानपडता है। इतना कह-नेका अभिप्राय यह है, कि जिस भक्तका हृदय श्यामसुन्दरकी मनो-हर मूर्त्तिपर आसक्त है उसके लिये सब आश्रय छोड एक भगवत्‌शा-

रण होना जिसे भगवान् "मद्योगमाश्रित" शब्दसे पुकाररहे हैं तथा "यतात्मवान्" होना अर्थात् इन्द्रियोंको सब ओरसे खैंचकर अपने हाथ करलेना दोनों साधन अत्यन्त सुखदायी हैं। फिर जब सुखदायी हैं तो इन भक्तोंके लिये कठिन और कठोर नहीं कहसकते।

इसी लिये भगवान् उपदेश कररहे हैं, कि "मद्योगमाश्रितः" अर्थात् केवल मेरे शरणागत तथा "यतात्मवान्" हो अपनेको बडे संयमके साथ संसारके विषयोंसे बचा मेरेहीमें सर्वकर्मोका त्याग करे अर्थात् उनके फलोंकी चाहना न करके केवल मेरेही निमित्त अपने कर्मोको मेरेमें अर्पण करदे फलकी आकांक्षा न करे। शंका मत करो ! ॥ ११ ॥

इस साधन अर्थात् भगवत् शरणमें रहकर कर्मोके फलोंको उनहीमें त्यागदेनेका महत्त्व भगवान् अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥
॥ १२ ॥

पदच्छेदः— अभ्यासात् (चित्तस्यैकस्मिन्नभ्यन्तरे बाह्ये वा प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनःपुनः स्थापनमभ्यासः) *ज्ञानम्

* भगवान्ने अध्याय १३ में जो नाना प्रकार सात्त्विकज्ञानके स्वरूपोंको श्लोक ७ से ११ तक कथन किया है उनमें सब ज्ञानसे यहां तात्पर्य नहीं है यहां केवल श्लोक १० में जो ज्ञानका स्वरूप कथन किया, कि "**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि**" इतने मात्रसे यहां तात्पर्य है।

(सगुणस्वरूपे विशेषेण सामान्येन चावबोधः तथा बुद्धिमनसोरिन्द्रियाणां च सर्वेशः सगुणस्वरूपे एकत्वम) हि, श्रेयः (प्रशस्यतरम्) ज्ञानात् (भगवत्स्वरूपावबोधात) ध्यानम् (भगवत्सगुणस्वरूपविजातीयप्रत्ययान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहः) विशिष्यते (अतिशयितं भवति । प्रशस्यतरं भवति वा) ध्यानात्, कर्म्मफलत्यागः (परमात्मनि सर्वकर्म्मफलार्पणम) [श्रेयान] त्यागात् (कर्मफलार्पणात) अनन्तरम (ततः परम्) शान्तिः (सर्वानर्थनिवृत्तिलक्षणा स्वरूपावस्थितिः) [विशिष्टा भवति] ॥ १२ ॥

पदार्थः—(अभ्यासात्) अभ्यासयोगका वर्णन जो अभी कर आये हैं उससे (ज्ञानम्) भगवत्के नित्यस्वरूपका पूर्ण बोध होना (हि) निश्चय करके (श्रेयः) श्रेष्ठ है अर्थात् अधिक कल्याणकारक और सुखदायी है फिर (ज्ञानात्) एवम प्रकार भगवत्स्वरूपके ज्ञानमात्रसे (ध्यानम्) उस स्वरूपका ध्यान करना (विशिष्यते) विशेषकरे अधिक कल्याणकारक है फिर (ध्यानात्) तिस ध्यानसे (कर्मफलत्यागः) उन्हींमें सर्वप्रकारके कर्मोंके फलका त्याग करदेना अर्थात् अर्पण करदेना श्रेष्ठ है (त्यागात्) फिर तिस अर्पणरूप त्यागके (अनन्तरम) पश्चात् (शान्तिः) उसी भगवत्स्वरूपमें शान्तिकी प्राप्ति श्रेष्ठतर है । अथवा यों अर्थ करलो, कि उस त्यागसे जो शान्ति भगवत्स्वरूपमें उत्पन्न होती है वह श्रेष्ठ है ।
॥ १२ ॥

भावार्थः— भगवानने जो सगुणउपासनावालोंपर दयाकर क्रमशः उनके भजनकी सिद्धिके लिये जो चार प्रकारके साधन पिछले

श्लोकोंमें कथन किये उनका पर्यवसान अर्थात् उन साधनों और उपायोंकी समाप्ति कर्मफलत्यागमें ही कथन की अर्थात् " कर्मफल-त्यागही " भक्तोंके लिये अन्य सब साधनोंसे अधिक सुलभ और सुखद है इस विषयको अधिक स्थिर करनेके तात्पर्यसे इस कर्मफल-त्यागकी बड़ाई करतेहुए कहते हैं, कि [**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते**] अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है तहां भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि अभ्यास-योग जिसका वर्णन पूर्णप्रकार अभी श्लो० ९ में कर आये हैं तिससे भगवत्के साकारस्वरूपका यथार्थ बोध होजाना श्रेष्ठ है। क्योंकि अभ्यासतक तो चित्तके स्थिर होनेके निमित्त प्राणी नाना प्रकारके साधनोंका अभ्यास ही करता रहता है तिस साधनसे जब उस साधकका अन्तःकरण किसी एक लक्ष्यपर स्थिर होकर उस विशेष स्वरूपका बोध करलेता है और जानलेता है, कि यह स्वरूप मैं जो अपनी बुद्धि द्वारा समझरहा हूं वह स्वरूप ठीक है, अचल है, अटल है, नित्य है और कल्याणकारक है । तब ऐसे बोधको ज्ञान कहते हैं । भग-वान् जो ज्ञानका स्वरूप आगे आनेवाले तेरहवें अध्यायके श्लोक ७ से ११ तक वर्णन करेंगे फिर सात्विक, राजस और तामस भेदसे जो तीन प्रकारके ज्ञान बताये हैं उनसे यहां कुछ भी तात्पर्य नहीं है यहां केवल उतने ही ज्ञानसे तात्पर्य है जिसे तेरहवें अध्याय के श्लो० १०में कथन करेंगे, कि " **मयि चानन्ययोगेन भक्तिरे-व्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि** " अर्थ— मुझमें अनन्ययोगसे अर्थात् अन्य सब आश्रयोंको छोड भक्ति

करना, एकान्त स्थानका सेवन करना और लोगोंकी भीड़भाड़में रति न रखना केवल इतना ही अभ्यास करतेहुए मेरे साकारस्वरूपका यथार्थरूपसे जानलेना ही ज्ञान है। सो यहां सब श्लोकोंमें जो ज्ञान शब्दका प्रयोग किया है उससे केवल अपने साकारस्वरूपका भक्तिपूर्वक बोध करलेनेसे तात्पर्य रखा है, श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र के कहनेका अभिप्राय यह है, कि केवल अभ्यास करते रहनेसे उस अभ्यासका जो फल मेरे स्वरूपका ज्ञान है सो अधिक श्रेष्ठ है। मन्दिरोंमें भगवन्मूर्तिकी स्थापना कर उस मूर्तिमें लौ लगाना इसी अभ्यासयोगकी सिद्धिके लिये है। इसके द्वारा भगवत्के यथार्थस्वरूप के ज्ञानतक पहुंचजानेका प्रयोजन है, गलेमें शालिग्राम बांधकर फिरते रहनेसे कुछ काज नहीं सरता।

इसी कारण भगवान उपदेश कररहे हैं, कि हे अर्जुन! अभ्यासमात्रसे मेरे स्वरूपका ज्ञान श्रेष्ठ है फिर कहते हैं, कि प्राणीको अभ्यास करते-करते मेरे स्वरूपका बोध तो होजावे पर बोध होकर फिर अन्तःकरणसे वह बोध निकल न जावे इसलिये "ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते" इस मेरे स्वरूपके ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है अर्थात् जब मेरे स्वरूपका ज्ञान होजावे तो साधकोंको उचित है, कि उस स्वरूप के ध्यानमें मनको प्रवेश करें क्योंकि ध्यानसे ज्ञान स्थिर होजाता है। जिस वृत्तिका बोध लेकर मन और बुद्धि चलती हैं उसी वृत्ति के प्रवाहको अन्य प्रवाहोंसे विलग कर स्वजातीयमें प्रवेश कर तहां ही जमादेती हैं।

दृष्टान्त— जैसे दो मनुष्योंने भगवत्स्वरूपका ज्ञान लाभ किया है एकने साकारस्वरूप श्रीदशरथअजिरविहारी धनुषधारीके स्वरूपका ज्ञान लाभ कर रामरूपमें वृत्तिको जमाना आरम्भ किया और दूसरेने नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके स्वरूपका ज्ञान लाभ कर तिस स्वरूप में वृत्तिको जमाना आरम्भ करदिया अर्थात् एकने राम और दूसरेने कृष्ण का ज्ञानकर ध्यान करना आरम्भ करदिया तो अवश्य साधन करते २ एककी वृत्ति रामाकार और दूसरेकी वृत्ति कृष्णाकार होजावेगी। इसी कारण ध्यान उसीको कहते हैं जो विजातीयका अवलम्बन छोड वृत्ति अपनी ही जातिमें प्रवाह करती चलीजावे। रामवृत्तिमें धनुष, बाण, कीट, मुकुट तथा कृष्ण वृत्तिमें मुरली और मोरमुकुटका स्वरूप जमता चलाजावे, इसीको ध्यान कहते हैं, सो ध्यान ज्ञानसे विशेष और श्रेष्ठ कहाजाता है। क्योंकि ध्यान करते-करते जब अन्तःकरण भगवत्स्वरूपसे रंगजाता है तब सर्वत्र तृणसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जहां दृष्टि जाती है अपना ध्येय ही देख पडता है। जैसे कामला रोगवाले को सर्वत्र पीला ही पीला देखपडता है ऐसे ही ध्यान करनेवालेको सर्वत्र राम ही राम वा कृष्ण ही कृष्ण देखपडता है फिर तो ऐसे प्राणीका कहना ही क्या है ?।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**ध्यानात् कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**] तिस ध्यानसे कर्मके फलोंका त्याग करना श्रेष्ठ है। क्योंकि तिस त्यागसे शान्ति लाभ होती है अर्थात् भक्तके शरीर, मन और वाणीसे जो कुछ कर्म बनपडे उसका फल न मांगे वरु उस फलको उसी भगवत्में अर्पण करता चलाजावे।

क्योंकि जबतक कर्म सकाम रहता है बन्धनका कारण होता है, संसारके कारागारमें फँसा मारता है और जब वही कर्म निष्काम होजाता है तब संसारके दुःखसे छुटने और भगवतस्वरूपमें मिलनेका कारण होजाता है यह गीत इस गीतामें ठौर-ठौर कहते चले आये हैं।

यहां ध्यानसे भी इस कर्मफलके त्यागको अधिक श्रेष्ठ क्यों कहा? सो दिखलायाजाता है कर्म फल त्याग उस ध्यानको चैतन्य करनेवाला है अर्थात् ध्यानमें जो स्वरूप स्थिर होगया है, वृत्तिने संकल्प-द्वारा जिस स्वरूपको गढ लिया है, ध्यान तिस स्वरूपको सांगोपांग प्रत्यक्ष करदेता है। वह स्वरूप ध्याताके अन्तर और बाहर पूर्णरूपसे भासने लग जाता है। जैसे कृष्णरूपके ध्यान करनेवालोंको कृष्णका मनोहर स्वरूप अन्तर और बाहर दोनों ओर मोरमुकट धारणकिये पीताम्बरकी कछनी काछे मुरली बजाता देख पडता है, परे वह मूर्त्ति देखने ही मात्र है न बोलती है, न हँसती है न उसकी मुरलीसे कुछ शब्द निकलता है केवल चित्रके समान सम्मुख खडी रहती है फिरे इसके बोलने और हँसने इससे संभाषण करने और प्रत्यक्ष मुरली बजवाकर सुननेके लिये यदि किसी विशेष उपायकी आवश्यकता है तो कर्मफलका त्याग मात्र है अर्थात् केवल ध्यान तो ध्येयको जडवत् दिखलाता है पर जब उसकेलिये कर्मोंके फलोंका त्याग कर भगवत्में अर्पण किया जाता है और एवम् प्रकार फलोंको त्यागताहुआ प्राणी भगवत् शरणागत होता है तथा यतात्मवान् अर्थात् 'यत' कर्मको पालन करताहुआ भगवत् सम्मुख रहता है, तब भगवान् स्वयं उसपर दयाकर उसके सम्मुख आखडे होते हैं। क्योंकि जब भगवान् जान-

लेते हैं, कि यह मेरा भक्त सर्वप्रकार विषयोंसे रहित होकर केवल एक मेराही आश्रय लियेहुए अर्थात् केवल मेरे निमित्त सर्व कर्मोंके फलोंको त्यागरहा है तब उनको उस अनन्यशरण भक्तकी दीनतापर दया उपजती है, तो चाहे उसका ध्यान योग परिपक्व नहीं भी हुआ हो तो भी भगवान् उसके सम्मुख हो उससे हँसते बोलते हैं और उसके साथ खेलने कूदने अर्थात अपनी समीपताका आनन्द देने लगजाते और जैसे सखा सखाके साथ अथवा स्वामी दासके साथ पिता पुत्रके साथ बातें करता है ऐसे अपने भक्तके साथ संभाषण करने लग-जाते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि ध्यानद्वारा जो भगवनमूर्त्ति जडवत् बनती है सो उसे कर्मत्याग से चैतन्य होजाती है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ध्यान जमानेसे जो वृत्तिमें कृष्णका स्वरूप बनता है वह जडवत् है और जो स्वयं कृष्ण भगवान अपनी दयासे अपना रूप भक्तोंको दर्साते हैं वह चैतन्य है इसलिये इन दोनोंमें पृथ्वी और आकाशका अन्तर है। सो अब दृष्टान्तोंसे सम-झायाजाता है।

जैसे द्रौपदीके समीप वा गजके समीप भगवानका एकबारगी दया कर स्वयं पहुंचजानेवाले स्वरूपको ध्यानवाले स्वरूपसे विशेपता है क्योंकि द्रौपदीने दुर्योधनकी सभामें नंगी होते समय जब पांचों पतियोंका

अभिमान छोड अपने दोनों हाथोंसे साडी भी छोडदी सर्वप्रकार निरा- श्रय हो केवल भगवानको पुकारा तब भगवान चीररूप होकर उसके समीप प्रगट होगये ।

इसी प्रकार जबतक गजने ग्राहसे छुटनेके लिये अपना बल लगाया तबतक कुछ न करसका पर जब अपने बलका भरोसा छोड भगवत्‌शरण हो भगवतको पुकारा तब भगवान्‌ने उसके समीप पहुंच अपने हाथोंसे उसका शुण्ड पकड ग्राहसे बचालिया ।

इसी प्रकार जो प्राणी अनन्यशरण हो सब कर्मोंके फलोंका भरोसा छोड़देता है तब भगवान् अपना सच्चा साकारस्वरूप उसके सम्मुख प्रगट कर उसको शान्ति देता है जैसे चिरकालके भुखलेको सच्चे अन्नका ग्रास मुंहमें पडनेसे शान्ति होती है इसी प्रकार केवल भगवानका आश्रय ग्रहण करनेसे शान्ति होती है। इसी कारण भग- वान् कहते हैं, कि "त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्" त्यागके अनन्तर शान्ति लाभ होती है। तात्पर्य यह है, कि कर्मोंके फलत्यागसे भगवतकी दया होती है और वह अपने साकारस्वरूपका दर्शन देता है तब उस दर्शनसे शान्ति प्राप्त होती है फिर किसी प्रकारकी चाहना नहीं रहती।

संसृति-व्यवहारोंमें भी देखाजाता है, कि यदि किसी नरेशको इतना ज्ञात होजावे, कि अमुक प्राणी अमुक स्थानमें दिनरात मेरी ही शरणका अवलम्ब रखता है और अपना घर, बार, धन, सम्पत्ति, हीरे, लाल, मणि, माणिक इत्यादि जो उसे प्राप्त होते हैं सब मेरे नामपर निछावर करडालता है तो उस नरेशकी दया अवश्य उस

पुरुषपर होगी और उसके देखने तथा उससे मिलनेकी अभिलाषा से उसके समीप वह किसी न किसी दिन अवश्य आवेगा। इससे सिद्ध होता है, कि जब प्राकृतपुरुषको कर्मफलत्याग अपने समीप खींच-लाता है तो परमात्मा जो स्वाभाविक दयामय है क्यों नहीं खिचआ-वेगा ? जब वह भगवत् एवम्प्रकार खिचआया तो शान्ति होगयी। कर्मके त्यागकी स्तुति और महिमा श्रुतियोंने भी गान की हैं।

प्रमाण श्रु०-"ॐ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" (कठो० अ० २ वल्ली ३ श्रुति १४)

अर्थ— जब प्राणीसे उसके हृदयके आश्रित जितनी कामनाएं रहती हैं सब छूटजाती हैं तब वह मृत्युसे बचकर अमर होजाता है और साक्षात् ब्रह्मको प्राप्त करता है। फिर "ॐ उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः" (मुं० ३ खं० २ श्रु० १)

अर्थ— जो प्राणी निष्काम होकर उस परमपुरुष विश्वरूपकी उपासना करता है वह मानुषीबीजसे निकलजाता है अर्थात् फिर कभी जन्ममरणके बन्धनमें नहीं आता। एवम्प्रकार अनेक शास्त्रोंमें कर्मफलत्याग अर्थात् निष्काम हो भगवद्भजन करनेका अमोघ फल भगवत्प्राप्ति ही कथन कीगयी है। सत्य है ! कर्मफलत्यागकी महिमा विचित्र है ॥ १२ ॥

ऊपर कथन कियेहुए चारों प्रकारके साधनोंके द्वारा जो प्राणी भगवत्स्वरूपको प्राप्त करता है भगवान् उसके मुख्य गुणोंका वर्णन अगले दो श्लोकोंमें करते हैं।

मू०—अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— सर्वभूतानाम् (विश्वस्य प्राणिनाम लोकलोकान्तरनिवासिनाम) अद्वेष्टा (स्वस्मादुत्कृष्टेषु स्वस्मिन्द्वेषकर्तृषु च द्वेषवर्जितः । उदासीनः) मैत्रः (स्नेहवान) करुणः (कृपावान । सर्वभूताभयप्रदः) एव, च, निर्ममः (ममतास्पदानां गेहादीनां त्यागात् ममेति प्रत्ययवर्जितः) निरहंकारः (निर्गताहंप्रत्ययः) समदुःखसुखः (द्वेषरागयोरप्रवर्तकत्वेन समे दुःखसुखे यस्य सः) क्षमी (क्षमावान) सततम् (नित्यम) सन्तुष्टः (यदृच्छालाभेनैव संजातालम्प्रत्ययः) योगी (भक्तियोगाभ्यासेन समाहितान्तःकरणः) यतात्मा (संयतशरीरेन्द्रियादिसंघातः) दृढनिश्चयः (स्थिरोऽध्यवसायो यस्यात्मत्वविषये असम्भावनाशून्यो दृढश्रद्धावान) मयि (मत्सगुणस्वरूपे । परमात्मनि) अर्पितमनोबुद्धिः (संकल्पविकल्पात्मकं मनोऽध्यवसायलक्षणा बुद्धिश्च ते मय्येवस्थापिते येन सः समर्पितान्तःकरणः) यः, मद्भक्तः (मद्भजनपरः) सः, मे, प्रियः (आत्मत्वादेव परमप्रेमास्पदम्) ॥ १३, १४ ॥

पदार्थः— (सर्वभूतानाम्) इस सृष्टिमात्रके सकल स्थावर जंगमोंके साथसे (अद्वेष्टा) नहीं द्वेष करनेवाला (मैत्रः) सबों के साथ मित्रभाव रखनेवाला (करुणः) प्राणीमात्रपर दया रखने-

वाला (एव, च) फिर निश्चयकरके (निर्ममः) गृह, सम्पत्ति, पुत्र और कलत्र किसीमें भी ममता नहीं रखनेवाला (निरहंकारः) अहंकारसे वर्जित (समदुःखसुखः) दुःख और सुखमें एक रस रहनेवाला (क्षमी) अपने संग द्वेष करनेवालोंके अपराधको भी क्षमा करनेवाला (सततं सन्तुष्टः) सदा यथालाभमें संतोष रखने वाला (योगी) भगवद्भक्तियोगमें निपुण (यतात्मा) अपने शरीरको इन्द्रियों सहित अपने वशमें रखनेवाला (दृढनिश्चयः) भगवत्प्राप्तिकी श्रद्धामें अपने निश्चयात्मक अन्तःकरण अर्थात् बुद्धिको दृढ रखनेवाला (मयि) मेरे सगुणस्वरूपमें अर्थात् मुझ वासुदेवमें (अर्पितमनोबुद्धिः) मन और बुद्धिको स्थापन करनेवाला (यः) जो (मद्भक्तः) मेरा भक्त है (सः) सो ही (मे) मुझको (प्रियः) अत्यन्त प्रिय है ॥ १३, १४ ॥

भावार्थः— अब भगवान् साकार उपासनावालोंके साधनके विषय जो नाना प्रकारके उपायोंका वर्णन करआये हैं उन सबको एकसंग समाहार करके अपने भक्तोंके मुख्य और प्रसिद्ध गुणोंका वर्णन करतेहुए तथा उनकी प्रशंसा करतेहुए कहते हैं, कि [**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च**] जितने छोटे, बडे, स्थावर-जंगम, चर, अचर, देव, दनुज, नाग, मनुज, गन्धर्व, किन्नर, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि भूतविशेष लोकलोकान्तरोंमें हैं उनमें किसीके साथ मेरा भक्त द्वेष नहीं रखता है, राग और द्वेषसे रहित होनेके कारण सबोंसे उदासीन रहता है चाहे उसका प्राणहरण करनेवाला उसका घोर बैरी भी क्यों न हो पर वह उससे तनक भी द्वेष नहीं

करता और न उसकी किसी प्रकार हानि किया चाहता है। भगवान् कहते हैं, कि यह गुण विशेषकर मेरे अनन्यशरण भक्तोंमें पाया जाता है।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो मेरा भक्त है वह तो सर्वत्र समबुद्धि रखेहुए सबको मेरा ही रूप जानता है ऐसा जानताहुआ जो कोई अपने प्रतिकूल भी हैं उसे भी परमात्मस्वरूप ही जानता है फिर जब शत्रुको भी परमात्माका रूप ही जानता है तो द्वेष किससे करे ? ऐसे प्राणीको कहीं किसीसे भी प्रतिकूलबुद्धि होती ही नहीं। इसी कारण वह सब भूतोंका अद्वेष्टा कहलाता है।

इस गुणवालेकी प्रशंसा भगवान् इस गीतामें बार-बार करते चलेआये हैं "नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" (अ० २ श्लोक ५७) "सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु। साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते" (अ० ६ श्लो० ९) "निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव" (अ० ११ श्लो० ५५) इन श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है, कि जो भगवद्भक्त निर्वैर किसीसे भी द्वेष नहीं करता वह भगवत्को प्राप्त होता है और वही भगवत्का अत्यन्त प्यारा है।

अब भगवान् कहते हैं, कि "मैत्रः करुण एव च" जो मेरा भक्त है सो सर्वप्राणीमात्रसे मित्रभाव रखता है, सबका स्नेही तथा सबोंपर दया करनेवाला होता है। क्योंकि उसका हृदय स्नेही होनेके

कारण माखनके समान कोमल होता है जो परायेके तापको देखते ही पिघलजाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी अपनी रामायणमें कहते हैं, कि

" सन्तहृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहै न जाना।
निज दुखपाइ द्रवै नवनीता, परदुख द्रवहिं सु सन्त पुनीता "

(अर्थ स्पष्ट है)

इसी कारण प्राणीमात्रसे उसको मैत्री होती है। किसीसे द्वेषभाव नहीं रहता। सो भगवान् पहले भी अ० ५ श्लोक २५ में कहआये हैं, कि " छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः " मैत्री और करुणा दोनों गुणोंका अन्योन्य सम्बन्ध है। जहां मैत्री होगी वहां करुणा भी अवश्य होगी और जहां करुणा होगी तहां मैत्री अवश्य होगी। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हमारा भक्त निश्चय करके सबोंसे मित्रभावयुक्त और करुणामय होता है। फिर ये मैत्री और करुणा तथा सन्तोषादि जो आगे कथन करेंगे ये निश्चय कर महात्माओं, भक्तों और सज्जनोंमें अवश्य पायेजाते हैं। प्रमाण—

" यदृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ् मुनिः।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ "

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ३ अ० २७ श्लो० ८)

अर्थ--इच्छामात्र लाभ होजाने से संन्तुष्ट रहना, मिताहारी होना, मननशील होना, अनन्यशरण होना, शान्त होना, सबसे मित्रता करना, करुणायुक्त होना और सावधानताके साथ अपने आपमें स्थिर रहना ये भक्तोंके विशेष लक्षण हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**निर्म्ममो निरहङ्कारः सम-दुःखसुखः क्षमी**] मेरा भक्त ममता और अहंकाररहित होता है दुःखसुखमें समान और क्षमावान् होता है।

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो अनन्यशरण-भक्त होता है उसको अपने गृह, पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति पुरजन और परिजनमें ममता तनक भी नहीं होती अर्थात् वह भूलकर भी कभी अपने मनमें ऐसा नहीं लाता, कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूं, वह तो सदा इन सबोंसे निरभिस्नेह और उदासीन रहता है, जैसे दूसरों के पुत्र, कलत्र इत्यादिको समझता है, कि ये मेरे नहीं हैं न मैं इनका हूं इसी प्रकार अपने गृह, दारा, पुत्र और धन इत्यादिको भी समझता है। किसी प्रकार कहीं भी उसको ममत्वका लेश नहीं रहता।

शंका— पहले तो भगवानने भक्तोंके उत्तम गुणोंको कहते-हुए 'मैत्रः' शब्दका अभी इसी श्लोकमें प्रयोग किया है जिसका अर्थ यह है, कि अपने पराये सबोंसे मित्रभाव रखनेवाला हो और अब कहते हैं, कि सबोंसे न्यारा निर्मम अर्थात ममतारहित हो। ये दोनों गुण एक दूसरेके विरुद्ध हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— "मित्रता" और "ममता" दोनोंमें बहुत ही अन्तर है बिना अपने-परायेके विचारेहुए सर्वसाधारण जीवोंका कल्याण करना और बिना किसी स्वार्थके सबोंकी भलाईकी इच्छा रखना ही मित्रता कहलाती है। तात्पर्य्य यह है, कि निःस्वार्थ

होकरे संसारमात्रपर दयादृष्टि रख उनका उपकार करते रहना अपने परायेका भेद न रखना, सबपर समान भाव रखना । यह उत्कृष्ट गुण है पर ' ममता ' इसके प्रतिकूल है निकृष्ट गुण है अर्थात केवल अपने पुत्र, कलत्र इत्यादिको अपना जान केवल उन्हींपरे दया रखना और उन्हींका उपकार करना उनकी हानिसे हानि और लाभ से लाभ समझना । इस ममतासे प्राणी अत्यन्त दीन होता है । जैसे वानर बिलमें हाथ डालकर जब अनाजको पकडता है तब सैकडों दण्डकी चोटें सहता है पर उस नाजको मुट्ठीसे नहीं छोडता यदि नाजकी ममताको छोड मूठी खोलदे तो दण्डोंकी चोटसे बचे और छूटकर निकलजावे । पर जबतक उसके ध्यानमें यह बनाहुआ है, कि यह मेरा अनाज है तबतक वह दुःखका भागी होरहा है इसी प्रकार जबतक प्राणीके हृदयमें अपने परायेका विचार बनाहुआ है और अपने घरबार, पुत्र, कलत्रको अपना समझरहा है तबतक उनके दुःखसुखसे दुखीसुखी होता रहता है और अपने पुत्र कलत्रके प्रसन्न रखनेके लिये परायेके लाभको भ्रष्ट कर अपना लाभ चाहता है यही ममता है ।

तात्पर्य यह है, कि सारे संसारके प्राणियोंपर दया करतेहुए सबको अपने आत्माके समान समझकर सबका हित करते रहना "मित्रता" वा "मैत्री" कहलाती है और केवल अपने पुत्र, कलत्र इत्यादिको अपना जान उन्हींका हितसाधन करते रहना वरु उनके हितकेलिये परायेका अहित करते रहना ममता है । इस कारण भगवान्का कहना उचित है शंकाका स्थान नहीं है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मेरा भक्त निर्मम और निरहंकार होता है अहंकार रहितहोनेका यही तात्पर्य है, कि जो कुछ करता है ऐसा समझता है, कि मैंने कुछ नहीं किया पहले भी भगवान कहआये हैं, कि " अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते " तात्पर्य इस अहंकारसे यह है, कि प्राणी अभिमानको त्यागदेवे। अभिमानीको कहीं भी ठौर नहीं मिलती है अभिमानसे अत्यन्त हानि होती है मेरे भक्त अभिमानको बुरी दृष्टिसे देखते हैं। इसीलिये सदा निरहङ्कार रहते हैं।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि " सम दुःखसुखः क्षमी " मेरा भक्त दुःख और सुखमें समान और क्षमावान् होता है अर्थात् सब दशामें एकरस रहता है। पहले भी बार-बार इस गीतामें कहआये हैं, कि " शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः " " न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् " (अ० ५ श्लो० २०) " समः सिद्धावसिद्धौ च " (अ० ४ श्लो० २२) " दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः " (अ० २ श्लो० ५६) इत्यादि वचनोंसे यह सिद्ध करआये हैं, कि भक्तोंके लिये तथा ज्ञानी, ऋषि, मुनि और महात्माओंके लिये उत्तम गुण यही है, कि दुःख सुखमें समान रहे। फिर ' क्षमी ' जीवोंके अपराधोंका क्षमा करनेवाला हो।

अब श्रीजगत्हितकारी वृन्दावनविहारी कहते हैं, कि हे अर्जुन! [सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः] मेरा भक्त

सदा सन्तोषी होता है और अपनी इन्द्रियोंको अपने वशमें रखता है मेरे भक्तको जो अनायास लाभ होजाता है उतनेहीमें परम आनन्द के साथ अपना निर्वाह करलेता है अधिक लोभके पीछे वृथा अपने अमूल्य समयकी हानि कर दुःखी नहीं होता । यह सन्तोष ऐसा उत्तम गुण है, कि जिसमें निवास करता है उस प्राणीको सुखी कर-देता है पतंजलि कहते हैं, कि " **सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः** " (पतंजलि पा० २ सु० ४२) अर्थात् सन्तोषसे अत्यन्त उत्तम सुख लाभ होता है इसीको भगवान् भी कहते हैं, कि मेरे भक्तोंमें यह उत्तम गुण तो बिना परिश्रम आपसे आप प्रवेश करजाता है। दृष्टान्तके लिये सुदामा ब्राह्मणका इतिहास सबोंके आगे धराहुआ है।

अब भगवान् कहते हैं, कि ' **योगी** ' मेरा भक्त मेरे साथ सदा मिलाहुआ, सदा भक्तियोगमें लगा रहता है । जैसे दूध में जल मिलकरे दूधहीका रूप बनजाता है ऐसे मेरा भक्त मेरेमें मिलकरे सदाके लिये मेरा ही स्वरूप बनजाता है फिर मेरा भक्त कैसा है, कि " **यतात्मा दृढनिश्चयः** " अपनी इन्द्रियोंको चारों अन्तः करणोंके साथ अपने अधीन रखता है किसीको भी अपने विषयकी ओर जाने नहीं देता ।

फिर ईश्वरप्राप्तिके विषय अपनी उपासनाके लिये अपने इष्टदेव के स्वरूप तथा महत्त्वमें अपना निश्चयात्मक अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि को दृढ रखनेवाला होता है, चंचल चित्त नहीं होता । चाहे उसपर सहस्रों आपत्तियां क्यों न आनपड़ें । दुखोंके भारसे क्यों न आक्रान्त

होजावे, सारी सम्पत्ति क्यों न नष्ट होजावे, पुत्र, कलत्र इत्यादि परिवार सभी मृत्युको क्यों न प्राप्त होजावें, पर भक्तका हृदय अपने इष्टदेवकी प्रीतिसे तनक भी नहीं टलता इसीको दृढ निश्चय होना कहते हैं। प्रहलाद भक्तका इतिहास पाठकोंके सम्मुख धराहुआ है सभी जानते हैं, कि उसके पिता हिरण्यकशिपुने कितना दुःख दिया, विष पिलाया, तेल गर्म करवाकर कराहमें डालदिया, सर्पसे डसवाया, पर्वतसे गिरवाया और हस्तीके तलवोंके तले कुचलवाया पर प्रह्लाद अपनी उपासना और भक्तिमें इतना दृढ निश्चयवाला था, कि भगवत नाम कहनेसे तनक भी न रुका अपनी भक्तिमें दृढ निश्चयवाला पक्का था इसलिये इतनी विपत्तियोंके झेलनेपर भी उसका एक रोम टेढा न हुआ। आज भी यदि कोई दृढनिश्चय होकर भगवतके चरणोंकी आराधना करने वाला होवे तो लाखों आपत्तियां उसके लिये तृणके समान होजावेंगी और समुद्र गोपदके समान होजावेगा।

अब भगवान कहते हैं, कि [**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः**] हे अर्जुन ! एवम्प्रकार उक्त गुणोंसे युक्त जो मेरा भक्त मेरेमें अपने मन और बुद्धिको अर्पण कियेहुआ है वही मुझको अत्यन्त प्यारा है। भगवानके कहनेका यह अभिप्राय है, कि इन ऊपर कथन कियेहुए "**अद्वेष्टा, मैत्र, करुण, निर्मम, निरहंकार, समदुःखसुख, क्षमी, सन्तुष्ट, योगी, यतात्मा, दृढनिश्चय,** मय्यर्पितमनोबुद्धि" इन बारहों श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न जो उनका भक्त है चाहे निराकारउपासक हो चाहे साकार उनको अत्यन्त प्रिय है ॥ १३, १४ ॥

उक्त दो श्लोकोंमें भगवान् भक्तोंके शुभ गुणोंका कथन कर-आये हैं अब अगले पांच श्लोकोंमें इनसे भी अधिक उनके विशेष शुभ और कल्याणदायक गुणोंका कथन करते हैं —

मू०— यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— यस्मात्, लोकः (जनसमूहः) न, उद्विजते (उद्वेगं प्राप्नोति । अर्थात् भयशंकया संक्षोभं न याति) यः, च, लोकात् (प्राकृतजनात्) न, उद्विजते (संतप्यते संक्षुब्धो भवति वा) यः, च, हर्षामर्षभयोद्वेगैः (स्वस्य इष्टलाभे सति मनस उत्फुल्लता " हर्षः " अभिलषितप्रतिघातेऽसहिष्णुता " अमर्षः " व्याघ्रादिदर्शनाधीनश्चित्तवृत्तिविशेषः " भयम् " दुर्जनैराकृष्टे ताडितेऽपि व्याकुलतारूपश्चित्तवृत्तिविशेषः " उद्वेगः " तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैः) यः, मुक्तः (रहितः) सः, मे, प्रियः ॥ १५ ॥

पदार्थः— (यस्मात्) जिस मेरे उपासकसे (लोकः) संसारका कोई प्राणी (न उद्विजते) उद्वेगको नहीं प्राप्त होता (यः, च) तथा जो मेरा भक्त (लोकात्) संसारके किसी प्राणी से (न उद्विजते) संतापको नहीं प्राप्त होता है (यः च) फिर जो मेरा भक्त (हर्षामर्षभयोद्वेगैः) हर्ष, अमर्ष और उद्वेगसे (मुक्तः) रहित है (सः) सो मेरा भक्त (मे प्रियः) मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ १५ ॥

भावार्थः— श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द जो ऊपरके १३, १४ दो श्लोकोंमें अपने भक्तोंकी ग्यारह श्रेष्ठ उपाधियोंका वर्णन करआये हैं अब अगले पांच श्लोकोंमें अर्थात् इस १५ वें श्लोक से १९ वें श्लोक तक भक्तोंके अधिक श्रेष्ठ और उत्कृष्ट गुणोंका वर्णन करते-हुए कहते हैं, कि [**यस्मान्नोद्विजते लोकः लोकान्नोद्विजते च यः**] जिस मेरे निराकार वा साकार उपासना करनेवाले भक्तसे इस संसारके मनुष्योंसे लेकर कीट पतंग पर्य्यन्त प्राणियोंमें कोई भी जीव कष्ट नहीं पाता अर्थात् जिस मेरे भक्तने सम्पूर्ण संसारवासियोंको अभय प्रदान किया है, जिससे कोई भी भय नहीं करता, जिसके समीप पशु, पक्षी इत्यादि विजातीय होनेपर भी आपसे आप दौड़े चले आते हैं तथा जो आप भी किसीसे किसी प्रकारका दुःख नहीं पाता जो सबका प्रिय और जिसके सब प्रिय हैं। और [**हर्षामर्षभयोद्वेगै-र्मुक्तो यः स च मे प्रियः**] जो हर्षसे रहित है अर्थात् अपनी किसी अभिलाषाके पूर्ण होजानेसे जो प्रफुल्लित नहीं होता और जो अमर्षसे रहित है तथा अपने मनकी अभिलाषके नहीं पूर्ण होनेसे जो व्याकुल नहीं होता अथवा किसी अपने अड़ोस-पड़ोसवालेकी उन्नति देखकर जो कुढता नहीं जलनको प्राप्त नहीं होता फिर भय जो व्याघ्र इत्यादि क्रूर जीवोंके सम्मुख होनेसे वा मृत्युके सम्मुख होनेसे डरता नहीं फिर उद्वेग तथा अपने शत्रुओंके हाथोंमें खड्ग इत्यादिको देख प्राणके वियोग होजानेके भयसे जिसके मनकी सारी स्फूर्तियां रुककर शिथि-लताको नहीं प्राप्त होतीं अर्थात् सदा निर्भय रहता है तथा दुर्जनोंसे ताडित होनेपर भी जो व्याकुल होकर उद्वेगको नहीं प्राप्त होता है

अर्थात् जिसका मन हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेग इन चारों विकारोंसे रहित है इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि "स च मे प्रियः" वही मेरा भक्त मुझको प्रिय है।

शंका— भगवान् अपने भक्तोंको इसी अध्यायके श्लोक १३ में " अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् " की उपाधि देआये हैं फिर इस श्लोकमें " यस्मान्नोद्विजते लोकः " की उपाधि देते हैं इन दोनों प्रकारकी उपाधियोंका समान अर्थ होता है फिर भगवान्ने ऐसी पुनरुक्ति क्यों की ?

समाधान— इन दोनोंके अर्थका भेद साधारण प्राणियोंकी समझमें नहीं आवेगा क्योंकि पूर्णप्रकार विचारकर देखनेसे दोनोंके अर्थमें एकप्रकारका गुप्त भेद है। वह यह है, कि पहले जो भगवान्ने कहा है, कि " अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् " मेरा भक्त संसारके जीवमात्र से द्वेष करनेवाला नहीं होता सो सम्भव है, कि वह किसीसे द्वेष नहीं करता हो किसीको दुःखदायी नहीं होता हो पर बहुतेरे प्राणी ऐसे हैं, कि अपनी मूर्खता, अहंकार, अभिमान, स्वार्थ तथा स्वाभाविक जलनके कारण उन्नति देख उससे द्वेष करते हैं। और इस श्लोकमें भगवान्ने जो " यस्मान्नोद्विजते लोकः " कहा इसका अर्थ यह है, कि जिस भक्तने यहांतक उन्नति की है, कि आप तो किसी से द्वेष करता ही नहीं पर उससे भी कोई प्राणी कैसा भी क्रूरस्वभाव का क्यों न हो द्वेष नहीं करता, देखकर नहीं जलता अर्थात् शत्रु

भी जिससे द्वेष नहीं करता इन दोनोंमें यही विशेष अन्तर है इस लिये यहां पुनरुक्ति नहीं है ।

दूसरी बात यह है, कि भगवान्ने यहां १३वें श्लोकसे १६वें श्लोक तक जो भक्तोंके उत्तम लक्षण वर्णन किये हैं उनमें उत्तरसे उत्तर श्रेष्ठ हैं अर्थात् क्रमशः पहलेसे पिछला श्रेष्ठ है सो "अद्वेष्टा सर्वभूतेषु" से "यस्मान्नोद्विजते लोकः" श्रेष्ठ है। इसलियेभी इसे कदापि पुनरुक्ति नहीं कहसकते। शंका मत करो ॥ १५ ॥

अब भगवान् इन उक्त गुणोंसे भी अधिक श्रेष्ठ गुणोंका वर्णन अगले श्लोकमें करते हैं—

मू०—अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

पदच्छेदः— यः अनपेक्षः (देहेन्द्रियविषयादिषु न विद्यते अपेक्षा यस्य सः । यदृच्छोपस्थिते अर्थेऽपि निस्पृहः यः) शुचिः (मृदम्बादिनिमित्तेन बाह्येन दयादिनाऽभ्यन्तरेण च शौचेन संपन्नः । पुण्यापुण्याभ्यामलिप्तो वा) दक्षः (स्वात्मानुसंधाननिपुणः । प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत्प्रतीपितुं समर्थः । भगवद्भजनादावनलसः) उदासीनः (पक्षपातरहितः । मानापमानादौ समवृत्तिः) गतव्यथः (गतभयः परैस्ताड्यमानस्यापि नोत्पन्ना पीडा यस्य सः) सर्वारम्भपरित्यागी (इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भास्तान् परित्यक्तुं शीलं यस्य सः) मद्भक्तः (ममभक्तिसम्पन्नः) सः, मे, प्रियः ॥ १६ ॥

पदार्थः— (यः) जो उपासक (अनपेक्षः) अनपेक्ष है अर्थात् किसी प्रकार किसी भी पदार्थकी अपेक्षा नहीं करता तथा (शुचिः) बाहर और भीतरसे पवित्र रहता है (दक्षः) निरालस्य होकर शीघ्रताके साथ किसी उपस्थित कार्यकी पूर्त्तिमें परम चतुर है फिर (उदासीनः) शत्रु मित्र किसीका भी पक्षपात नहीं करता सबसे उदासीन रहता है तथा (गतव्यथः) रागद्वेषसे रहित होने के कारण जिसकी व्यथा जातीरही है अर्थात् क्लेशरहित होगया है फिर (सर्वारंभपरित्यागी) इस लोक तथा परलोककी सुखप्राप्ति के लिये जितने सकामकर्म हैं उनका नाम सर्वारम्भ है तिसे जो त्याग करचुका है (यो मद्भक्तः) ऐसा जो मेरा भक्त है (सः) सो (मे) मेरेको (प्रियः) प्राणके समान प्रिय है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् उक्त गुणोंसे भी अधिक प्रशंसनीय और विशिष्ट गुणोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः] जो मेरा भक्त अनपेक्ष है, शुचि है, दक्ष है उदासीन है और विगतव्यथ है अर्थात् जिसके चित्तमें देह अथवा इन्द्रियोंके विषयोंकी प्राप्तिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है तथा किसी भी अपनी इच्छानुसार प्राप्त वस्तुओंके रहने जानेकी कुछ भी परवा नहीं है अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि जिसके हृदय में किसी प्रकारकी आशा, भरोसा, इच्छा तथा सम्बन्ध नहीं है यदि किसीका कुछ उससे उपकार बनजाता है तो वह उससे किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् ऐसा नहीं विचारता, कि यह मेरा पुत्र, कलत्र अथवा कोई सम्बन्धी है इस कारण इसका उपकार करूं

अथवा ऐसा भी नहीं चाहता, कि आज इस राजाको जंगलमें आखेट करते-करते प्यास लगगयी है इसे जल पिलादूं तो इसके बदले अपने राज्यमें पहुंचकर इससे कुछ प्राप्त करलूं इस प्रकर पुरस्कारकी अपेक्षासे राजाका अथवा किसी प्राणीका उपकार नहीं करता वरु निःस्पृह होकर करता है। अतएव "**कार्यनिमित्तयोरन्योन्याभिसम्बन्धः अपेक्षा**" किसी कार्यके निमित्त जो अन्योन्य सम्बन्ध है उसे अपेक्षा कहते हैं तिससे जो रहित है उसीको अनपेक्ष कहते हैं।

जो भगवानका भक्त है वह सदा निरपेक्ष रहकर उपकारादि कियाकरता है इसी कारण आनन्दकन्दने उसे निरपेक्षाकी उपाधि दी है। फिर कहते हैं, कि 'शुचिः' मेरा भक्त सदा पवित्र रहता है तिस पवित्रता अर्थात् शौचके दो भेद हैं बाह्य और अन्तः। तहां मिट्टी पानीसे शरीरके अवयवोंको शुद्ध करना बाह्यशौच कहाजाता है और अन्तःकरणको रागद्वेष तथा नाना प्रकारकी मलिन वृत्तियोंसे विलग रखनेको अन्तःशुद्धि कहते हैं। भगवान्के कहनेका यह तात्पर्य है, कि मेरा भक्त नाना प्रकारके सरोवर, बावडी, तडाग तथा गंगा, यमुना इत्यादि नदियोंके जलसे भी अधिक पवित्र है। क्योंकि इन नदियोंमें दूसरोंको डुबाकर मारनेका दोष है पर इसीके प्रतिकूल भक्तों-का हृदयरूपसरोवर भक्तिरूप जलसे भराहुआ परम पवित्र और अत्यन्त अथाह है उसमें ऐसा भय तनक भी नहीं है वरु इसमें डुबकी लगाने पर संसारदुःखसे पार करदेने का गुण है इसीलिये मेरा भक्त सदा शुचि है। फिर मनु कहते हैं, कि जो अर्थशौच है वही यथार्थ शौच है।

"**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।**

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्नमृद्वारि शुचिः शुचिः ”

(मनु० अ० ५ श्लोक १०६)

अर्थ— सब प्रकारके शौचोंमें अर्थशौच श्रेष्ठ है जो अर्थकी पवित्रता है अर्थात् शुद्ध रीतिसे निर्दोष अर्थकी प्राप्ति है वह अर्थशौच है सो ही यथार्थ शौच है। चाहे कोई कितना भी स्नान, पूजन, चन्दन, तिलक, टीका इत्यादि लगावे पर अर्थ अर्थात् द्रव्य इत्यादिकी प्राप्ति झूँठ बोलकर अथवा उत्कोच (रिश्वत) लेकर करे तो उसके सब कर्म निरर्थक हैं इसलिये अर्थशुचि ही श्रेष्ठ शुचि समझी जाती है।

अब कहते हैं, कि “ दक्षः ” जो प्राणी अपने आत्माके अनुसन्धानमें निपुण है अर्थात् भगवद्भजनमें आलस्य नहीं करता तथा जो कठिनसे कठिन कार्य सम्मुख क्यों न उपस्थित होजावें पर उनको करनेमें समर्थ और शुभ कार्योंकी पूर्तिमें जो चतुर है उसे दक्ष कहते हैं फिर “ दक्ष ” बलवान्को तथा सामर्थ्यवानको भी कहते हैं यथा—

“ स दक्षाणां दक्षपतिर्बभूव ” (ऋग्वेद मं० १ सू० ९५ मं० ६)

अर्थ— सो अग्निदेव बलवानोंमें श्रेष्ठ बलवानोंका अधिपति नियत हुआ। फिर उसी ऋग्वेदके “बृहति इव सूनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दक्षः ” (ऋग्वेद मं० १ सू० ५९ मंत्र ४) इस मंत्रमें दक्ष शब्दका अर्थ समर्थ किया है फिर प्रवृद्धके अर्थमें भी यह दक्ष शब्द प्रयोग कियागया है यथा — “ युवं दक्षं धृतव्रतमित्रावरुणा दूलभम् ” (ऋग्वेद १ । १५ । ६) यहां ‘दक्षम्का’ अर्थ प्रवृद्धम् है फिर दक्ष

चतुरको भी कहते हैं। यथा— "सा भार्या या गृहे दक्षा" (महा-भारत १। ७४। ३६) अर्थात् वही स्त्री है जो गृहकार्यमें निपुणा हो।

तात्पर्य यह है, कि भगवद्भक्त इन गुणोंसे सम्पन्न होता है केवल एक 'दक्ष' शब्दके प्रयोग करनेसे भगवान्ने मानों अपनेभक्तोंको बलवान, समर्थ, सब कार्योंमें प्रवृद्ध तथा चतुरकी उपाधियोंसे विभूषित करदी। क्यों न हो भक्तोंसे अधिक बलवान् कौन है? जिनसे काल भी डरता है। अधिक सामर्थ्यवान् कौन है? जिनसे सब देव देवी भय खाते हैं। अधिक प्रवृद्ध अर्थात् उन्नति कियेहुए कौन हैं? जो स्वयं भगवान् तक पहुंच सायुज्यमुक्तिका आनन्द लूटरहे हैं। फिर उनसे अधिक चतुर कौन है? जिन्होंने अपना सारा भार भगवत्पर डालकर आप सुखपूर्वक सब कर्मोंका आश्रय छोड आपमें आप निश्चिन्त मग्न बैठ रहे हैं। इन्हीं कारणोंसे भगवान्ने अपने भक्तको दक्षकी उपाधि देदी है।

अब भगवान् कहते हैं, कि "**उदासीनो गतव्यथः**" मेरा भक्त सबोंसे उदासीन और व्यथारहित होता है अर्थात शत्रु मित्रके बन्धनसे तथा नाना प्रकारके रागद्वेषसे रहित होनेके कारण किसीका कुछ भी पक्षपात न करके उदासीन रहता है और इसी उदासीनता के कारण किसी प्रकारकी व्यथा अर्थात् क्लेशका भी स्पर्श उसे नहीं होता। वह तो आप ऐसा तरणतारण होजाता है, कि दूसरोंकी व्यथा के दूर करनेमें वह स्वयं समर्थ होजाता है फिर उसे व्यथा कैसी? जैसे पक्षी व्याधाके हाथसे छूटकर निर्मल आकाशमें आनन्दपूर्वक उडताहुआ

परम सुखको प्राप्त होता है। इसी प्रकार संसारके पिंजरसे निकलाहुआ भगवद्भक्त कालरूपव्याधाके हाथसे छूटकर भगवच्छरणरूप निर्मलआकाश की ओर दौडकर जहां चाहता है तहां आनन्दपूर्वक उडताहुआ परमसुखको प्राप्त होता है इसी कारण भगवान्ने उसे "गतव्यथः" की पदवी दी।

अब आनन्दकन्द कहते हैं, कि [**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः**] इस संसारमें नाना प्रकारकी लौकिक कामनाओंको अर्थात् लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा इन तीनों प्रकार की एषणाओंकी पूर्तिके निमित्त तथा परलोकमें स्वर्गसुख इत्यादि अथवा श्रेष्ठ देवपदवी इत्यादि लाभ करनेके निमित्त जो नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्म हैं उनको सर्वारम्भके नामसे पुकारते हैं इसलिये जो प्राणी इससर्वारंभको त्यागदेवे उसीको सर्वारंभपरित्यागीकी पदवी मिलसकती है और सर्वारंभपरित्यागी है। भगवान् कहते हैं, कि ऐसा जो मेरा भक्त है सो हे अर्जुन ! मेरा आत्मा होनेके कारण मुझको अत्यन्त प्रिय है। जिसके कारण मैं बार-बार अवतार लेकर उसीकी रक्षा निमित्त वन और पर्वतोंका सेवन करता हूं कोई भी शत्रु मेरे प्राणप्रिय भक्तके एक रोमको भी कभी बांका न करसके इसी यत्नमें मैं कभी धनुषबाण, कभी परशु, और हल मूसल धारण कर दौडता हूं और कभी भक्तोंके प्रेमवश शस्त्रोंके धारणमें भी बिलम्ब जानकर झट उनके शत्रुओंको नखहीसे विदार डालता हूं। ये मेरे भक्त मुझको इतने प्रिय हैं, कि इनके लिये मैं लक्ष्मीको भी त्याग पांव पैदल दौडा चलाआता हूं। अधिक कहांतक कहूं इनकेलिये मैं अपनेको ऊखलसे बंधवाता हूं और छडियोंकी मार खाता हूं। ये मुझको इतने प्रिय हैं॥ १६॥

अब भगवान् कहते हैं, कि जिन भक्तोंको मैं अत्यन्त प्रिय समझता हूं उनके दो चार लक्षण और भी मुझसे सुनलो—

मू०—यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
॥ १७ ॥

पदच्छेदः—यः, न हृष्यति (अनुकूलविषयं प्राप्य मयेदं प्राप्तम् इति हर्षं न प्राप्नोति) न द्वेष्टि (प्रतिकूलं प्राप्य अनिष्टबुद्ध्या द्वेषं न करोति) न, शोचति (इष्टार्थे नष्टेसति शोकं न करोति) न कांक्षति (अप्राप्य वस्तु न इच्छति) शुभाशुभपरित्यागी (पुण्यपापेपरित्यक्तुं शीलं यस्य सः) यः, भक्तिमान (मद्भक्तियुक्तः) सः, मे, प्रियः ॥ १७ ॥

पदार्थः— (यः) जो कोई प्रसिद्ध यती अथवा मेरा भक्त (न हृष्यति) न कभी हर्षित होता है (न द्वेष्टि) न किसीसे कभी द्वेष करता है (न शोचति) न कभी किसी प्रकारका शोक करता है (न कांक्षति) न कभी किसी विषयकी इच्छा करता है तथा जो (शुभाशुभपरित्यागी) पुण्यपापादि कर्मोंका परित्याग किये हुआ है ऐसा (यः) जो (भक्तिमान) मेरी भक्तिका निरन्तर अभ्यास करनेवाला मेरा भक्त है (सः) सो मेरा आत्मा होनेके कारण (मे प्रियः) मेरा अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपने परमप्रिय भक्तोंके उत्तमोत्तम लक्षण वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [यो न हृष्यति न द्वेष्टि न

शोचति न कांक्षति] जो उपासक यति तथा मेरा भक्त कभी किसी अपनी अभिलषित कामनाओंके पूर्ण होजानेसे हर्षको प्राप्त नहीं होता, न किसीसे द्वेष करता है, न किसी प्रकारका शोच करता है वही मेरा प्रिय है। मुख्य तात्पर्य भगवान्‌के कहनेका यह है, कि जो उनका सच्चा भक्त है वह साधारण प्राणियोंके समान अपनी किसी मनःकामनाकी पूर्तिसे हर्षको प्राप्त होकर उतावला नहीं होजाता। अर्थात् जैसे वर्षाकालमें थोडे ही जलके पानेसे क्षुद्र नदियां उतावली होकर बहती हैं और अपने दोनों किनारोंमें अपनी मर्यादा को छोडदेती हैं इसी प्रकार बहुतेरे मूर्ख थोडी भी सम्पत्ति पाकर यहां तक हर्षित और उतावले होजाते हैं, कि भगवान्‌को भी नहीं मानते। पर जो भगवान्‌का भक्त है उसे चाहे इन्द्रकी पदवी क्यों न मिलजावे कभी उतावला नहीं होसकता। फिर भगवान् कहते हैं, कि "न द्वेष्टि" जो मेरा भक्त है वह किसीसे द्वेष नहीं करता यदि उसके हाथसे चक्रवर्तीका राज्य भी छीनलेवे तो भी व्यथाको नहीं प्राप्त होता वह न तो छीनलेनेवालेसे द्वेष करता है और न कभी उसकी हानि करनेकी चेष्टा करता है क्योंकि शत्रु मित्र दोनोंमें उसकी सम-बुद्धि है और रागद्वेषसे रहित है। फिर भगवान् कहते हैं, कि "न शोचति न कांक्षति" मेरा भक्त न शोक करता है और न कुछ इच्छा करता है। यदि उसका सब कुछ लुटगया है तो भी कभी शोक नहीं करता एवं स्वप्नमें भी उसे लौटालानेकी इच्छा नहीं करता है। जब एवम्प्रकार प्राप्तवस्तुके लौटानेकी भी इच्छा नहीं करता है तब भला नवीन वस्तुकी प्राप्तिकी वह कब इच्छा करेगा? कभी नहीं!

फिर भगवान्‌ने श्लोक १६ में कहा है, कि " सर्वारम्भपरित्यागी" मेरा भक्त सर्वारम्भपरित्यागी होता है तात्पर्य्य यह है, कि संसारमें धन, सम्पत्ति, पुत्र, पौत्र इत्यादि एषणाओंकी पूर्त्तिनिमित्त तथा स्वर्गलोकादिके सुखप्राप्तिकेनिमित्त जो नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्मोंका साधन करना है। उसे सर्वारम्भ कहते हैं। जो प्राणी इस सर्वारम्भका त्याग करे उसे **सर्वारम्भपरित्यागी** कहते हैं। सो मेरा भक्त सब कुछ त्यागदेता है। भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि मेरी शरण आयेहुए प्राणियोंको कर्मोंका कुछ भी भय नहीं रहता। जैसे सिंहकी शरण आये हुओंको जंबुकोंका भय एकबारगी छूटजाता है इसी प्रकार भगवत्‌की शरण आयेहुओंको शुभाशुभकर्मोंका कुछ भी त्रास नहीं रहता क्योंकि भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे प्रतिज्ञा करेंगे, कि " **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज** .... " (अ० १८ श्लो० ६६)

अर्थ— सब धर्मोंको मेरे में छोड तू मेरी शरणमें चला आ तो तेरे पापोंको एकदम नष्ट करके तुझे उन पापोंसे मोक्ष करदूंगा, तू इस मेरे वचनको निश्चय जानकरे किसी भी अपने दुष्टकर्मका शोच मत कर! क्योंकि मेरे में कर्मोंका परित्याग करदेनेसे शुभकर्मोंको अंगीकार कर उनके बदले तुझे अपने चरणोंकी प्रीति प्रदान करूंगा अर्थात् तुझको अपना स्नेही बनाऊंगा और बचरहेंगे जो तेरे पाप उन सबको नष्ट कर तुझे निर्मल करदूंगा।

दूसरी बात यह है, कि भगवान्‌ने पहले इसी अध्यायके श्लोक १०में कहा है, कि " **मत्कर्मपरमो भव** " अर्थात श्रवण, कीर्तनादि जो मेरे लिये कर्म हैं उन्हींको अपना परम पुरुषार्थ जान उन्हींके अभ्यासमें दिनरात तत्पर रह।

भगवानने " सर्वारम्भ परित्यागी " क्यों कहा ? इसकेलिये बुद्धिमानोंके विचारने योग्य है, कि आयु थोडी है चार ही प्रहरकी दिनरात्रिमें मनुष्य कितना करसकता है ? अर्थात् पहले तो भोजन, शयन, मलमूत्रपरित्यागादि अनेक प्रकारके आवश्यक और नित्यकर्मोंमें समयका बहुत बडा टुकडा निकलजाता है शेष बहुत ही अल्प रहजाता है। यदि उस अल्प आयुको भी सर्वारम्भ में लगादेगा अर्थात् नित्यप्रतिकी झंझटों तथा सांसारिक स्वार्थ साधनके व्यवसायोंमें मग्न रहकर नाना प्रकारके लौकिक और पारलौकिककामनाओं अर्थ लौकिक वैदिक कर्मोंमें लगाया करेगा तो उसे " मत्कर्मपरमो भव " जो भगवत्की आज्ञा हुई है इसके साधन निमित्त अर्थात् श्रवण, कीर्त्तनादिके अभ्यास निमित्त समय कहां मिलेगा ? कुछ भी नहीं मिलेगा ! तब तो भगवत्प्राप्तिसे भक्त वंचित रहजावेगा । इसी कारण भगवानने कहा है, कि आखोंके रहतेहुए भी देखनेसे, कानोंके रहतेहुए भी सुननेमें और हृदयके रहतेहुए भी भगवदानन्दको अनुभव करनेमें असमर्थ होजावेगा जो सर्वारम्भपरित्यागी है वही भक्त मेरी " मत्कर्मपरमो भव " रूप आज्ञाका प्रतिपाल करसकता है अर्थात् अन्य सब कर्मोको त्याग केवल भगवत्प्राप्ति निमित्त कर्म करसकता है । सर्वारंभी और भगवत्कर्मी दोनों एक समय एकबार होना असम्भव है इसलिये जो चतुर प्राणी विवेकी है वह सर्वारम्भको तुच्छ समझकर उसका परित्याग करताहुआ भगवत्कर्मपरायण होता है। क्योंकि उसकी आंखें भगवत्की सुन्दरताको झट लखजाती है बुद्धि ईश्वरीय सृष्टिका रहस्य समझजाती है श्रवण भगवत्के कीर्तिकलापको सुनने लगजाते हैं और हृदयमें अलौकिक आनन्द उद्रेक होजाता है ।

कठोपनिषद्की श्रुतियोंमें लिखा है, कि जिस समय नचिकेता अपने पिता यमसे भगवत्तत्त्व पूछनेको गया है उस समय उसके पिताने पहले नाना प्रकारके विषयोंके देनेकी प्रतिज्ञा करके उसकी बुद्धिको नाना प्रकारसे लोभ दिखलाया है और कहा है, कि

श्रुतिः—"ॐ शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि" ॥ (कठो० अ० १ बल्ली १ श्रु० २३)

अर्थ— यम अपने पुत्र नचिकेतासे कहता है, कि हे पुत्र ! सौ वर्ष पर्यन्त जीनेवाले पुत्र और पौत्रोंको मांगले, गौ, महिष, हस्ती इत्यादि बहुतेरे पशुओंको मांगले, स्वर्णको, फिर अश्वोंको मांगले, बहुत बडी विस्तृत पृथ्वीके राज्यको मांगले और उसीके साथ-साथ अपना चिरंजीवी होना अर्थात सहस्रों वर्षकी आयु भी मांगले, क्योंकि बिना जीवनके इन विषयोंका भोगना नहीं बनता इसलिये जितनी तेरी इच्छा हो उतनी बडी आयु मुझसे मांगले ।

नचिकेता जो भगवतपरायण था और सर्वारम्भपरित्यागी था अपने पिताके मुखसे इतना वचन सुनकर बोला—

श्रुतिः— "ॐ श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते" । (कठो० अ० १ बल्ली १ श्रुति २६)

अर्थ— नचिकेता कहता है, कि हे मनुष्योंके अन्तक अर्थात् नाश करनेवाले यम ! तुमने जो मुझे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन दिया सो ये विषय "श्वोभावा" कल्ह तक रहेंगे वा नहीं इसमें

भी सन्देह है फिर इनमें अत्यन्त दुःखदायी अवगुण तो यह है, कि इनका संग होते ही सब इन्द्रियोंके जो तेज हैं वे एकबारगी नष्ट होजाते हैं क्योंकि ये सब विषय अनर्थके कारण हैं । यदि कहो, कि तुम मुझे पूर्ण आयु प्रदान करते हो इसलिये इनके भोगनेका पूर्ण अवकाश मिलेगा, तो हे पितः! तुम चाहे ब्रह्मदेवकी आयु भी क्यों न प्रदान करदो तो वह भी अल्प ही है। क्योंकि एक दिन तो शरीर छोडना ही होगा इसलिये ये " तवैव वाहाः " तुम्हारे घोडे हाथी तुम्हींको रहें और ये " नृत्तगीते " नाच, गान इत्यादि तुम्हारे ही साथ रहें मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है ।

प्रिय पाठको! इन श्रुतियोंसे यही सिद्ध होता है, कि विषयप्राप्तिके निमित्त कर्मोंका आरम्भ करना भगवत्‌में प्रेम करनेवालोंके लिये महा अनर्थका कारण है। चिन्तामणि परित्याग कर काचका ग्रहण करना है ।

अब आनन्दकन्द भक्तवत्सल भगवान कहते हैं, कि [**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः**] जो शुभाशुभ का परित्याग करनेवाला है अर्थात उक्त गुणोंसे विभूपित तथा श्रवण कीर्तनादि भक्तिके सोलहों शृंगारोंसे अलंकृत है वही मेरा भक्त शुभाशुभ कर्मोंका परित्याग कियेहुए परम भक्तिमान है अर्थात जिसके हृदयमें मेरा प्रेम तथा मेरी भक्ति स्वाभाविक ही निवास करती है कम्प, रोमांच, अश्रुपात इत्यादि प्रेमके आठों लक्षण जिसके अन्तःकरण और शरीरमें पायेजाते हैं वह भक्तिमान् मेरा आत्मा होनेसे मुझको अत्यन्तप्रिय है ।

भक्तिमान् कहनेसे भगवानका यह अभिप्राय है, कि जैसे श्रीमान् कहनेसे श्री होनेके लक्षण प्राणीमें पायेजाते हैं धन, सम्पत्ति तथा भण्डा-

रादि पूर्णरूपसे भरे रहते हैं। वैसे ही धीमान् कहनेसे बुद्धि, विद्या, चतुराई इत्यादिकी सम्पूर्ण कलाएं उसमें पायीजाती हैं। इसी प्रकार भक्तिमान् कहनेसे भी भक्तिके जितने उपकरण हैं सब उस भक्तमें पायेजाते हैं।

शंका— इस श्लोकमें जितने विशेषण भगवान्‌ने भक्तोंके लिये कथन किये इनको तो भगवान् बारम्बार बहुतेरे श्लोकोंमें कहते चले आरहे हैं इसलिये यहां पुनरुक्ति दोष पायाजाता है। ऐसा क्यों?

समाधान— यह पुनरुक्ति दोष नहीं है वरु इन विशेषणों को पूर्णप्रकार दृढ करनेके तात्पर्यसे भगवान् बार-बार कहते चले आरहे हैं। क्योंकि ये विशेषण ऐसे हैं, कि साकार और निराकार दोनों प्रकारकी उपासना करनेवालोंमें अवश्य होने चाहियें। साकार और निराकार उपासकोंके लिये भगवान् पहले कहचुके हैं तथा इस अ० में श्लोक १३ से १६ तक जो कुछ कथन करचुके हैं उनमें एक आध विशेषण उभय उपासकोंमें न हो तो उतनी हानि नहीं पर इस १७ वें श्लोकमें जितने विशेषण कहेगये और अगले १८, १९ श्लोकोंमें जो विशेषण हैं वे बार-बार इसी कारण कथन कियेगये हैं, कि उनका होना उपासकोंमें अति ही आवश्यक है। यदि उपासकोंमें इन विशेषणोंका अभाव होगा तो उपासनाकी कदापि सिद्धि न होगी।

इसी कारण भगवान् इन विशेषणोंको दृढ करनेके लिये बार-बार कथन कररहे हैं। सभी बुद्धिमान् इस बातको समझ सकते हैं, कि जिसपर जिसकी प्रीति रहती है वह उसके कल्याण निमित्त एक ही विषयको प्रेमवश बार-बार कहता है। जैसे किसीका पुत्र परदेश जारहा है तो उसका पिता बार-बार उससे यही कहेगा, कि मेरे

प्यारे पुत्र ! देखना रात्रिको मार्ग नहीं चलना जहां सायंकाल होजावे वहां ही किसी अच्छे पुरुषके स्थानमें स्थित होजाना । इसी प्रकार भगवान् अपने भक्तोंपर परम स्नेह रखनेके कारण एक ही विषयको बार-बार समझारहे हैं इसे पुनरुक्ति मत कहो ।

यदि किसी वाक्यको दृढ करनेकेलिये कोई वचन बार-बार कथन कियाजावे तो उसे पुनरुक्ति नहीं कहसकते । जैसे इसी अध्यायके १४, १५, १६ और १७ श्लोकोंके अन्तमें भगवान्ने चार बार "स मे प्रियः" वाक्य का प्रयोग किया है तो यहां पुनरुक्ति कदापि नहीं कहीजावेगी वरु वचनकी दृढताके लिये चार बार कथन किया ॥ १७ ॥

अब भगवान् अगले दो श्लोकोंमें भक्तोंके अन्यान्य विशेष गुणोंका कथन करते हैं—

मू०— समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानाऽपमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येनकेनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९

पदच्छेदः— शत्रौ (प्रतिकूले । रिपौ । विपक्षे) मित्रे (अनुकूले । सुहृदि) च, समः (एकरूपः) तथा, मानाऽपमानयोः (पूजातिरस्कारयोः । पूजापरिभवयोर्वा) शीतोष्णसुखदुःखेषु (शीतं च उष्णं च सुखं च दुःखं च शीतोष्णसुखदुःखानि तेषु) समः (हर्षविषादरहितः) सङ्गविवर्जितः (चेतनाऽचेतनसर्वविषयशोभना-

ध्यासरहितः) तुल्यनिन्दास्तुतिः (दूषणोक्तिश्च स्तवनोक्तिश्च ते दुःखसुख-जनकतया तुल्ये यस्य सः) मौनी (मननशीलः। मौनं विद्यते यस्य सः। भगवन्नामव्यतिरेकेण किमपि वाक्यं न वदतीति मौनं तत् विद्यते यस्य सः। संसृतिवचनशून्यः। विषयप्राप्त्यर्थं वाग्व्यापारशून्यो वा) येनकेनचित् सन्तुष्टः (दैवलब्धेन फलं प्रत्ययः। प्रारब्धकर्मोपनीतेन शरीरस्थितिहेतुमात्रेणाशनादिना सन्तुष्टः। विगत-स्पृहः) अनिकेतः (नियतवासशून्यः) स्थिरमतिः (स्थिरा भगवन्निष्ठा मतिर्बुद्धिर्यस्य सः स्थितप्रज्ञः) [एवम्भूतः] भक्तिमान् (भगवद्भक्तियुक्तः) नरः (मनुष्यः) मे, प्रियः ॥ १८, १९ ॥

पदार्थः— (**शत्रौ**) अपने विरोधी रिपुमें तथा (**मित्रे**) अपने अनुकूल सुहृदमें (**समः**) एक रूपसे देखनेवाला (**तथा**) तैसे ही (**मानापमानयोः**) अपनी पूजा अथवा तिरस्कारमें फिर (**शीतोष्णसुखदुःखेषु**) सरदी गरमी तथा सुख दुःखमें (**समः**) समानबुद्धिवाला (**सङ्गविवर्जितः**) बहुतेरे लोगोंकी संगतिसे विलग (**तुल्यनिन्दास्तुतिः**) जिसको अपनी निन्दा और स्तुति दोनों समान ही जानपडती हैं (**मौनी**) मौन रहनेवाला (**येनकेनचित् सन्तुष्टः**) जो कुछ प्रारब्धवश लाभ होजावे उसीमें सन्तुष्ट रहनेवाला (**अनिकेतः**) जिसने अपना घर कहीं नियत नहीं किया हो अथवा अपने घरको जिसने घर नहीं जाना हो (**स्थिरमतिः**) भगवान्‌की भक्तिमें जिसकी बुद्धि स्थिर हो एवम्प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त (**भक्तिमान्**) मेरी भक्तिकरनेवाला जो (**नरः**) मनुष्य है वह (**मे**) मेरा (**प्रियः**) प्रिय है ॥ १८, १९ ॥

भावार्थः—अब भगवान् अपने भक्तोंके श्रेष्ठ गुणोंका वर्णन इन दो श्लोकोंमें समाप्त करतेहुए कहते हैं, कि [**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः**] जो मेरा भक्त शत्रु और मित्र तथा मान और अपमानमें समानबुद्धि रखता है अर्थात् " **अंजलि गत शुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोउ** " (तुलसी)

जैसे मालती इत्यादिके पुष्पोंको मनुष्य एक हाथसे तोडता है और दूसरे हाथसे रक्खा करता है पर ये पुष्प दोनों हाथोंको समान रूपसे सुगन्धित करदेते हैं। इसी प्रकार जो मेरा भक्त अपने शत्रु और मित्रोंपर समानदृष्टि रखता है और जिसको मान और अपमान समान हैं अर्थात् जो मेरे भक्तोंकी पूजा करता है और जो निरादर करता है दोनोंपर जिसकी बुद्धि समान है और [**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः**] सरदी गरमी सुख दुःखमें जो समान भाववाला रहकर तनक भी चलायमान नहीं होता। जैसे हिमालय पर्वत शीतकालमें अत्यन्त शीतल और ग्रीष्मऋतुमें अत्यन्त उष्ण होनेपर भी नहीं हिलता अपने स्थानपर अडा खडा रहता है ऐसे जो दोनों अवस्थाओंमें एक समान अचल है। अथवा इन शीत उष्ण शब्दोंका यहां ऐसे भी अर्थ करलो, कि संसारकी सरदी गरमी अर्थात् समय कुसमयमें जो सम रहता है जब कभी समय उत्तम आजाता है आपसे आप उसकी वृद्धि होने लगजाती है और जब कुसमय आजाता है तो बिना कारण आपसे आप अवनति होती चलीजाती है ऐसी उन्नति और अवनति दोनों अवस्थाओंमें भी जो मेरा भक्त एकरस रहता है अर्थात् परमहंसोंके समान जिसका स्वभाव होजाता है वही

मेरा भक्त मुझको प्रिय है । प्रमाण श्रुतिः— "ॐ न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमानइति षडूर्मिवर्जितो निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते" (परमहंसोपनिषद् श्रुति २) अर्थ स्पष्ट है ।

तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी दुःख, सुख इत्यादिमें सम रहकर अपने शरीरको कुणप (मृतक) के समान देखता है वही यथार्थ परमहंस है और भगवान्‌को प्रिय है ।

भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो मेरा भक्त शीत, उष्ण और सुखदुःखमें समान रहता है फिर (संगविवर्जितः) नाना प्रकारके झमेलोंसे रहित होकर किसीका भी संग नहीं करता वही मेरा प्रिय है। क्योंकि अ० २ श्लो० ६२ " संगात्संजायते कामः .... " इस भगवत्‌के वचनानुसार संगसे कामादि विकार उत्पन्न होकर प्राणीको नष्ट करदेते हैं अन्तमें बुद्धि भ्रष्ट होजाती है और बुद्धि भ्रष्ट होनेसे प्राणी नाशको प्राप्त होजाता है । "असतां सङ्गदोषेण को न याति पराभवम् । त्रिदशैर्वन्दितो वह्निर्भस्मना सहितो यथा" (चाणक्यम्)

अर्थ—असन्तोंके संगदोषसे ऐसा कौन है जो नीच दशाको प्राप्त नहीं होता ? देखो ! अग्निदेव जो देवताओंसे भी वन्दनीय है काष्ठके संगसे भस्मके साथ नीच दशाको प्राप्त होजाता है । ऐसा विचार जो मेरा भक्त संगदोषसे वर्जित है तथा [तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो

येनकेनचित्] निन्दा अथवा स्तुति दोनोंको एक समान जानता है इसी कारण मौनी हो रहता है और यथा लाभमें सन्तुष्ट रहता है। क्योंकि न तो वह प्राणी अपनी निन्दा सुनकर किसी निन्दकको कुछ कहता है न अपनी स्तुति करनेवालेसे अधिक कुछ बोलता है। यहां मौनीसे भगवान्‌का यह भी अभिप्राय है, कि केवल हरिनामको छोड अन्य कुछ भी नहीं बोलता अपने किसी अर्थसाधननिमित्त किसीसे कुछ भी वाग्व्यवहार अर्थात् बकझक अथवा लोपचोप सहित ठकुर-सुहाती बातें नहीं करता। तीसरा अर्थ मौनी शब्दका मननशील भी है अर्थात् भगवच्चरणोंकी प्रीतिनिमित्त क्या क्या उपाय करने चाहियें उनको अपने मनही मन विचारता हुआ उनके सिद्ध होनेकी युक्तियोंका मनन किया करता है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि " सन्तुष्टो येनकेनचित " प्रारब्धके अनुसार जिस समय जो कुछ जहांसे प्राप्त होगया उसमें प्रसन्न रहता है। जैसे किसी महासागरमें दशों दिशाओंसे सहस्रों नदियां आकर मिलें चाहे एक ही सरिता जाकर मिले दोनों अवस्थाओंमें वह महासागर एकरस रहता है इसी प्रकार जो मेरा भक्त थोडे बहुतके पाजानेसे सन्तुष्ट रहता है: थोडेसे दुखी नहीं होता और अधिक पाजानेसे प्रसन्न नहीं होता सदा एकरूप रहता है तथा [अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियोनर:] जिसका कहीं कोई घर रहनेके लिये नियत कियाहुआ नहीं है सम्पूर्ण संसारमें आज यहां कल वहां जहां इच्छा हुई निवास करलिया पर उस निवास-स्थानसे सदा अनभिस्नेह रहा कोई गृह किसी स्थानमें बांधकर न

रेहता । अथवा अनिकेतका यों भी अर्थ करलीजिये, कि जो अपने घरको घर नहीं समझता है पराये और अपने घरको एक समान जानता है सारा विश्वमात्र ही जिसका घर है । आकाश जिसका छत है, पृथ्वी बिछावन है, सूर्य चन्द्र जिसके घरमें दीपक हैं ऐसा सर्वत्र निवास करनेवाला, फिर जिसकी बुद्धि सदा एक रस स्थिर है । जैसे महान् अचल पर्वत पश्चिम वा पूर्वकी वायुके झकोरोंसे नहीं हिलता ऐसे भगवान् कहते हैं, कि मेरे भक्तोंकी बुद्धि सदा अचल और स्थिर रेहती है फिर जो +भक्तिमान् है अर्थात् एवम्प्रकार पूर्वोक्त सर्वगुणोंसे युक्त जो मेरा भक्त परम भक्तिमान है मेरा निज आत्मा होनेके कारण मुझे परम प्रिय है, मैं सदा उसको प्यार करता हूं, उसको देखे बिना मैं एक क्षण नहीं रह सकता, मैं सदा उसको गलबाहीं दिये उसके संग डोलता हूं, उसके सोते सोता हूं, बैठते बैठता हूं, चलते चलता हूं, खाते खाता हूं और पीते पीता हूं अधिक क्या कहूं? मैं उसके बिना सदा व्याकुल रहता हूं वही मेरा प्राण-प्रिय है, वही मेरी प्रसन्नताका घर है, वही मेरा परम संगी है, ब्रह्मादि देवोंको मैं उसके ऊपर निछावर करदेता हूं और उसीको मैं सब योगियोंमे श्रेष्ठ मानता हूं। क्योंकि उसने भक्तियोगमें अपनेको डुबा-दिया अन्य सर्वप्रकारके योगोंमें यह भक्तियोग परमसुखदायी और उत्कृष्ट है सो भक्तियोग मेरे भक्तोंके शरीरका शृंगार है इसलिये ऐसा मेरा भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय है ॥ १८, १९ ॥

+ भक्तिमान्--इसका अर्थ पूर्व श्लोकमें होचुका है।

भगवान् अपने भक्तोंके गुणोंको समाप्त करतेहुए और भक्तिकी महिमा वर्णन करतेहुए इस भक्तियोगके करनेवालोंके लिये अब तक केवल प्रिय शब्दका प्रयोग किया अब आगे अति प्रियत्वका भाव दिखलाते हैं—

मू०— ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

पदच्छेदः— तु (पुनः) ये (भक्ताः) श्रद्दधानाः (मदुक्तौ प्रेम्णा विश्वासवंतः । तथा श्रद्धायुक्ताः) मत्परमाः (अहं भगवान् वासुदेवः परमः प्राप्तव्यो निरतिशयगतिर्येषाम् ते) इदम्, यथोक्तम् (येन प्रकारेण अद्वेष्टा सर्वभूतानामित्यादिना प्रतिपादितम्) धर्म्यामृतम् (मोक्षस्य साधनत्वादमृतम्) पर्युपासते (अनुतिष्ठन्ति) ते, भक्ताः (शान्तिदान्त्यादिमन्तो भजनशीलाः उत्तमां परमार्थज्ञान-लक्षणां भक्तिमास्थिताः) मे (मम) अतीव (अतिशयेन) प्रियाः ॥ २० ॥

पदार्थः— (तु) फिर (ये) जो मेरे भक्त (श्रद्दधानाः) श्रद्धायुक्त (मत्परमाः) मेरेहीको अपनी अतिशय गति जान मुझ वासुदेवमें परायण होकर (इदम्) इस (यथोक्तम्) ऊपर कथन कियेहुए अद्वेष्टा इत्यादि गुणोंसे प्रतिपादित (धर्म्यामृतम्) अमृतके समान स्वादिष्ट भक्तिधर्मको (पर्युपासते) अनुष्ठान करते हैं (ते, भक्ताः) वे मेरे भक्त (मे) मेरे (अतीव) अतिशय करके (प्रियाः) प्यारे हैं ॥ २० ॥

भावार्थ:— अब भगवान् जिन अद्वेष्टा इत्यादि गुणोंको पूर्वोक्त सात श्लोकोंमें (१३ से १९ तक) कथन करेरहे हैं वे ही लक्षण स्थितप्रज्ञोंके लिये भी अ० २ श्लोक ५५ से ५८ तक कथन कर-आये हैं तहां भगवान् यह दिखलाते हैं, कि जो-जो गुण मुमुक्षु-जनोंकेलिये साध्य हैं वे भक्तोंके लिये स्वाभाविक हैं अर्थात् अद्वेष्टा इत्यादि जो ३३ गुण भक्तोंके कथन करआये वे सब धर्म मुमुक्षुओं के लिये तो साधन कर प्राप्त करने योग्य हैं परे जो अनन्यशरण भगवत्परायण हरिभक्त हैं उनमें ये सब लक्षण स्वाभाविक ही होते हैं उनको इन गुणोंकी प्राप्तिके निमित्त कुछ साधन करना नहीं पडता वे तो भगवत्शरण होने ही से परम सिद्धिको प्राप्त होजाते हैं। तहां श्रीसुरेश्वराचार्यने कहा है, कि "उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः । अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः" ॥

अर्थात् जिन लोगोंने परमात्मतत्त्वका बोध प्राप्त करलिया है उनमें अद्वेष्टा इत्यादि गुण बिना किसी प्रकारके यत्नहीके प्राप्त होते हैं उनके लिये ये साधनरूप नहीं हैं, स्वाभाविक हैं इसी कारण भग-वान् भक्तोंके लक्षणोंको वर्णन करतेहुए अब उनकी समाप्ति करते हैं और उपासना काण्डको भी यहां पूर्ण करतेहुए कहते हैं, कि [ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्य्युपासते] ये अद्वेष्टा इत्यादि ३३ गुण जिनका वर्णन ऊपर करआये हैं अर्थात् १. अद्वेष्टा, २. मैत्रः, ३. करुणः, ४. निर्ममः, ५. निरहंकारः, ६. समदुःख-सुखः, ७. क्षमी, ८. सन्तुष्टः सततम्, ९. योगी, १०. यतात्मा, ११. दृढनिश्चयः, १२. मय्यर्पितमनोबुद्धिः, १३. यस्मान्नो-

द्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः, १४. हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः, १५. अनपेक्षः, १६. शुचिः, १७. दक्षः, १८. उदासीनः, १९. गतव्यथः, २०. सर्वारम्भपरित्यागी, २१. न हृष्यति, न द्वेष्टि, २२. न शोचति, २३. न कांक्षति, २४. शुभाशुभपरित्यागी, २५. समः शत्रौ च मित्रे च, २६. मानापमानयोः समः, २७. शीतोष्णसुखदुःखेषु समः, २८. संगविवर्जितः, २९. तुल्यनिन्दास्तुतिः, ३० मौनी, ३१. सन्तुष्टो येनकेनचित्, ३२. अनिकेतः, ३३. स्थिरमतिः ॥ इन सर्वगुणोंका जो अनुष्ठान करते हैं वे मेरे परमप्रिय हैं।

प्रिय पाठको ! ज्ञान और भक्ति दोनों कल्याणके मुख्य साधन हैं परन्तु भेद इतना ही है, कि ज्ञानमार्गमें क्लेश अधिक है और भक्तिमार्ग सर्वसाधारणके लिये सुलभ है। जैसे ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान ये सब पुरुष हैं (हिन्दी भाषामें ये सब शब्द पुल्लिंग ही माने जाते हैं अतः इनके वाच्य अर्थको भी पुरुष समझ लिया गया) और माया स्त्री है। पुरुष स्वभावतः स्त्रीको देखकर मुग्ध होजाता है इस कारण ज्ञान, विज्ञान आदिको मायाके फंदेसे सर्वसाधारणका निकालना कठिन है किन्तु भक्ति स्वयं भी स्त्री है (भक्ति शब्दके स्त्रीलिंग होनेके कारण भक्तिको स्त्री मान लियागया) स्त्री, स्त्रीके रूपपर कभी मुग्ध नहीं होती अतएव भक्ति मायाके बन्धनमें कदापि न फंसेगी और वह साधकका अवश्य उद्धार करेगी।

यदि कोई कहे, कि भक्ति मायाको क्यों हटावेगी माया ही भक्तिको क्यों न हटा देवेगी अर्थात् भक्ति ही मायाके फन्देमें क्यों

न आजावेगी ? तो उत्तर इसका यह है, कि भक्ति श्रीमुरलीमनोहरकी प्यारी है अतः एक प्रकारसे गृहस्वामिनि हुई और माया नटीकी सदृश है बस गृहस्वामिनीको देखते ही नटी अपने आप संकुचित होजाती है। वह स्वामिनीके आगे अपनी प्रभुता नहीं फैला सकती वह तो स्वामीके साथ दिनरात नहीं रहसकती नाच दिखाकर चली जाती है पर गृहिणी भक्तिरूपा तो अपने स्वामीके संग दिनरात रहती है इसलिये मायाकी प्रबलता उसपर नहीं चल सकती। इसलिये भक्तों पर मायाका कोई प्रभाव नहीं पड सकता। क्योंकि यथार्थमें तो जीव जो ईश्वरे अंश है, ईश्वरसे भिन्न नहीं है अतएव यह भी अविनाशी और आनन्दघनस्वरूप है परन्तु यह मायाके वशमें पडकर तोते या वानरके ऐसा बंधाहुआ है इसलिये यह जड और चेतन परस्पर इस प्रकार हिलमिल गये हैं मानो इनमें एक गांठसी पडगयी है जो छुटाये नहीं छूटती। यद्यपि यह ग्रंथि मिथ्या है क्योंकि न गांठ देनेवालेकी कोई स्वतंत्र सत्ता है और न गांठ ही सूत्रसे भिन्न कोई वस्तु होसकती है किन्तु मिथ्या होनेपर भी इसका छूटना कठिन है। जैसे स्वप्न सर्वथा मिथ्या है पर स्वप्नमें भी यदि कोई शिर काटने लगे तो कितना दुःख होता है और वह दुःख तबतक दूर नहीं होसकता जबतक, कि वह जाग न पडे।

इसी प्रकार जबतक जीव अविद्याकी दशामें है तबतक जगतके सुखदुःख बराबर उसके पीछे लगें हैं। यह भ्रम तभी दूर होगा जब यह जीव पूर्णरीतिसे जाग जायगा। सो यह जगतका भ्रम करुणानिधान भगवानकी दयासे ही मिटता है और उसीके चरणार-

विन्दोंकी पूर्णभक्ति प्राप्त होना मायाकी निद्रासे जागजाना है। क्योंकि जबतक यह ग्रंथि नहीं खुलती है तबतक जीव सुखी नहीं होसक्ता है। यदि यह पूछो, कि इस ग्रंथिके खुलनेका कुछ उपायभी है? तो सुनो!

जब भगवत्की कृपासे पहले सत्त्वगुणमयी श्रद्धारूप गैयाको अपने अन्तःकरणकी गोशालामें बांधो और जप, तप, इन्द्रिय-निग्रह, वेदोक्त धर्म, आचार इत्यादि हरे-हरे तृणोंको उसे चराओ और शुद्धभाव रूप बछडेको उसका दूध पिलाओ। जब वह गैया पिन्हाजाय तब निर्मलमनको अहीर बनाकर अपनी वृत्तिरूप डोरीसे उस गैयाका पैर बांधकर विश्वासके पालमें धर्म्मरूप दूध काढलो और निष्कामरूप अग्नि में उसे उबाल डालो। जब वह उबलने लगजाय तो उसे संतोषकी वायुसे ठंडा करके क्षमाकी तईमें रख धैर्य्यका जामन देदो। जब दही तयार होजावे तब आनन्दपूर्वक विचारकी मथानीको दमरूप खम्भेसे लगाकर सत्यवचनरूप रस्सीसे बांधदो। इस प्रकारे मथन करके निर्मल वैराग्यरूप माखन निकालली और तब योगरूपी अग्निको प्रकट कर शुभाशुभ कर्मरूप लकडियोंको जलाकर ममतारूप मलको उसमें भस्म करडालो और तिनसे निकाले हुए घृतको बुद्धिकी वायुसे ठंडा कर फिर उस शुद्धघृतको चित्तरूप दीपकमें भरकर समतारूप दीवटपर रखो। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और सत्व, रज, तमरूप कपाससे तुरीया-रूप रूई निकाल दृढ बत्ती बनाओ। इस प्रकारसे जब दीपक जलेगा तब उसके समीप काम क्रोधादि पतंग जाते ही जल जावेंगे। तत्पश्चात् परम प्रकाशमय "सोहमस्मि" वृत्ति उस दीपककी परमप्रचण्ड शिखा की उजियालीमें उस उलझीहुई गांठको सुलझालो।

परे प्रिय पाठको ! आप इसे निश्चय जानेरहिये, कि जब बुद्धि इस गांठ को खोलनेलगे तब माया अनेक प्रकारके उपद्रवोंको उत्पन्न करेगी । यदि मायासे आप बचगये तो इन्द्रियोंके देवता जो अपना स्थान बनाकर इन्द्रियोंपर बैठे हैं उपद्रव करना आरंभ करदेवेंगे । यहांतक, कि आप की जलतीहुई बत्तीको बुझादेवेंगे एवम्प्रकार जब एकबार बत्ती बुझगयी तो फिर इतना परिश्रम करके जलाना कठिन है । यह जो गांठ खोलने का मार्ग कहागया सो केवल ज्ञानियोंके निमित्त कहागया । ज्ञानी, योगी, जपी, तपी पुरुषरूप हैं इसलिये मायारूपिणी नटी उन्हें ठगले सकती है पर पहलेही कह आये हैं, कि श्यामसुन्दरके युगल चरणारविन्दोंकी भक्ति स्वयं स्त्री होनेके कारण मायारूपी स्त्रीसे मोहित नहीं होसकती । इस-लिये उक्त प्रथम उपायसे भक्तिकी शिक्षा जो भगवान् " **मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय** " श्लो० १० में कहकर अर्जुनको देचुके हैं यही शिक्षा उक्त गांठके खुलजानेके लिये सर्वोत्तम उपाय है । क्योंकि ज्ञानरूप दीपकसे प्रकाश करनेमें बहुत सामग्री चाहिये किन्तु भगवद्भक्तिरूप चिंतामणि जिसके अन्तःकरणमें रहे वहां दीवट, घृत और वत्तीके ही बिना दिनरात प्रकाश बना रहेगा । जिस दीपकको माया अपने अंचलसे बुझा नहीं सकती, कामादि खल पास नहीं आसकते ॥ विशेषकरे इस कलिमें जब-जब, कि दशों दिशाओंसे नाना प्रकारके वैकारिक उपद्रवोंके अन्धड भक्कर चल रहे हैं और अधर्मरूपी लंका-नगरीमें अहंकाररूप रावण अपने विविध कपटी कटकोंके साथ माया-जाल बिछाकर बुद्धिरूप सीताका हरण कररहा है । ऐसे कठोर सम-यमें सर्वसाधारणकेलिये भगवच्चरणोंकी भक्ति अन्य सब उपायोंसे

सुलभ उपाय है। इसलिये प्राणीभक्तिमार्गको छोड अन्य मार्गकी ओर परिश्रम न करे। क्योंकि भक्ति द्वारा श्रीभगवानका आराधन करनेसे उनके प्रसन्न होनेपर सब विघ्न बाधाएं आपसे आप दूर होजावेंगी और मुक्ति सामने हाथ जोडकर खडी रहेगी।

मुख्य तात्पर्य यह है ३२ गुण धर्म्यामृतके नामसे पुकारे जाते हैं क्योंकि ये धर्म ऐसे हैं, कि इनके सेवनसे प्राणी अमर होजाता है अर्थात् भक्तिरसमय कैवल्यपरमपदको प्राप्त होता है फिर मातृगर्भमें नहीं आता सदाके लिये भगवतशरणमें निवास करता है।

भगवान् कहते हैं, कि जो मेरे भक्त इन धर्म्मोंमें स्वाभाविक स्थित रहते हैं फिर जो [**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**] सदा विश्वासपूर्वक मेरे साकार वा निराकार रूपमें पूर्ण श्रद्धा रखते हैं और सदा मेरे परायण हैं, मेरेहीको अपना परम पुरुषार्थ जानते हैं और मेरेहीको अपनी गति मुक्ति समझते हैं. मेरेको छोड अन्य किसी भी देव देवीका कुछ भरोसा नहीं करते, मेरे लिये अपना सर्वस्व और प्राण निछावर करदेते हैं, मेरी भक्तिमें ऐसे डूबे हुए आनन्द लाभ करते हैं जैसे अगाध जलमें मछलियां विना किसी प्रकारकी बाधाके निश्चिन्त हो निवास करती हैं, ऐसे जो मेरे भक्त मेरी भक्तिके अथाह सागरमें कल्लोलें मचारहे हैं " **तेऽतीव मे प्रियाः** " वे मुझको अत्यन्त प्रिय हैं ॥ भगवान्ने इससे पूर्वके श्लोकोंमें केवल (मे प्रियः) इतना ही कहा था और अब इस श्लोकमें "**अतीव मे प्रियाः** " कहते हैं अर्थात् इस धर्म्यामृत अनुष्ठान करने वाले भक्त मुझको अत्यन्त प्रिय हैं। उनके साथ मेरे प्रेमकी सीमा

नहीं है, उनके लिये मैं इस मृत्युलोकमें बार-बार अवतार लेकर उनकी विघ्न बाधाओंके नाश करनेके तात्पर्यसे धनुषबाण लिये बन-बन मारा फिरता हूं, अवधनरेशके घरकी दूधके फेनके समान श्वेत कोमल शय्याओंको त्यागकर बनके कंटक भरे घास पत्तियोंपर लेट जाया करता हूं। उनके जूठे फलोंको खाकर दिन बिताता हूं। उनकी भी रसोईके लिये बनोंसे लकड़ियोंको तोड अपने मस्तकपर ले बनमें अँधेरी रात्रिमें फिराकरता हूं।

प्रिय पाठको! सत्य है भगवान् अपने भक्तको प्राणसे भी अधिक प्रिय तथा ब्रह्मादि देवोंसे भी अधिक श्रेष्ठ समझते हैं वह ब्रह्माने स्वयं अपने मुखसे श्यामसुन्दरके सम्मुख दोनों करे जोड यों कहा है— "अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्। यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्" (श्रीमद्भा० स्क० १० अ० १४ श्लो० ३२)

अर्थ— हे भगवन्! इन नन्दगोप ब्रजके रहनेवालोंके धन्यभाग्य हैं जिनके सनातन पूर्णपरब्रह्म परमानन्दस्वरूप मित्र होरहे हैं। फिर कहते हैं—

" तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद्गोकुलेपि कतमांघ्रिरजोभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥"
(श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० १४ श्लो० ३४)

ब्रह्माजी श्रीव्रजचन्द्रसे कहते हैं, कि हे नाथ ! मेरा भाग्य धन्य है जिसके द्वारा मैं श्रीवृन्दावनमें विशेषकर! गोकुलमें कृमि, कीटादि किसी भी योनिमें जन्म लूं जहां गोकुलनिवासियोंमेंसे किसीकी भी चरणरजका अभिषेक मेरे ऊपर होजावे ! यदि तुम ऐसा कहो, कि गोकुलनिवासी ही क्यों धन्य हैं ? तो इसका कारण यह है, कि जिस तुम्हारी चरणरजके कणोंको श्रुति भी खोजती फिरती है ऐसे तुम साक्षात् परम ललाम जगदभिराम श्रीकृष्णचन्द्र जिनके ये गोकुलनिवासी जीवन होरहे हैं। अतएव वे धन्य हैं ।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि भक्तोंके चरणरजकी अभिलाषा ब्रह्मादि देव भी करते हैं। इसी कारण तो भगवान् कहरहे हैं, कि मेरा भक्त मुझको अत्यन्त प्यारा है ॥ २० ॥

इतना कहतेहुए श्रीगोलोकविहारी जगत्हितकारीने उपासना-काण्डको समाप्त किया।

प्रिय पाठको ! किसी प्रकार ऐसा अवश्य यत्न करना, कि यह चंचल मन अपनी चञ्चलता और हठका परित्यागकर भगवद्भक्तिका अधिकारी होजावे भगवत्के समीपवर्त्तियोंमें स्थान पावे । किमधिकम् ॥

सुधाधाराधारं विधुरेमधराधैरघहरम्,
धराधाराधारं निखिलजगदाधारमजरम् ।
निराधारं सारं जलजजमुखैर्ध्येयचरणम्,
शिवं कृष्णं वन्दे सकलजनकं भक्तिसुलभम् ॥

दुःखमव्यक्तवर्त्मैतद्बहुविघ्नमतो बुधः ।
सुखं कृष्णपदाम्भोजभक्तिसत्पथमाभजे ॥

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामि हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्य टीकायां भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ।

इति
उपासनाख्यः
द्वितीयषट्कः

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२६५४	१	अव्याप्या	अव्याप्यः
”	”	रत्नु	रत्ना
”	८	बड़ी	बड़े
२६५९	१३	वचनसे	वचनोंसे
२६६२	२	रम	स्म
२६८७	१४	बली	वल्ली
”	२०	केई	कोई
२६८९	१५	तु	त्तु
२७०२	१६	ब	म
२७०५	११	ल	लाँ
२७०८	२०	घ	ड
२७२१	५	श्र	स
२७२३	७	ली	ल
२७२६	५	मां:	मं:
२७३०	१७	ती	ता
”	”	”	”
२७३४	७	लय	लेप
२७३७	११	पूजा	पूजाः
२७६८	१८	अव्यर्थं और	अव्यर्थं, व्यय और;
२७७१	१४	क्वा	क्त्वा
२७७८	६	हव	हवं
२७७९	१४	मोक्ष	मुक्त

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

त्रयोदशोऽध्यायः

अलवरराजधान्याम्
श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये
मुद्रितः

प्रथम वार
१०००

सम्वत् १९८५
विक्रमी ।
सन १९२८ ई०

॥ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

श्रीदेवकीदुःखापहारिणे नमः ।

श्रीजलदाभाम्बरधारिणे नमः ।

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

* त्रयोदशोऽध्यायः *

ॐ यन्मे छिद्रञ्चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णम्बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शन्नो भवतु भुवनस्य यः पतिः ॥

(शु० य० अ० ३६ मं० २)

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

धर्माधर्माद्यसंसृष्टं कार्यकारणवर्जितम् ।
कालादिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्नमाम्यहम् ॥ १ ॥

कारुण्यामृतवारिपूरिलहरी दूरीकृतस्वाश्रित-
स्वान्तध्वान्तनिरन्तरान्तररजोराशिर्यशः शेवधिः ।
भास्वद्भानुसहस्रभानुगहनोऽवज्ञाततिग्मद्युति-
र्देवः श्रीपुरुषोत्तमो विजयते नीलाद्रिचूडामणिः ॥२

अहा ! देखो तो सही ! थोडे ही काल पहले जहां एक सुनसान स्थानमें सन्नाटासा छारहा था सब छोटे, बडे, बाल, वृद्ध, पशु, पक्षी एकबारगी निस्तब्ध होरहे थे तहां अभी देखता हूं, कि चारों ओरसे कोलाहल मचने लगगया है तथा अद्भुत प्रकारके कुक्कुटों और पक्षियोंकी चहचहोंसे कान भररहे हैं न जाने ये किस ग्रामके किस वृक्षके कुक्कुट और पक्षी हैं जिधर कान फेरता हूं उधरहीसे हरे ! हरे !! नारायण ! नारायण !! हरे राम ! हरे राम ! इत्यादिकी मधुरध्वनि सुननेमें आरही है। उधर आकाशमें जहां अँधियाली छायीहुई थी तहां धीरे - धीरे उजियाली प्रवेश कररही है । यह क्या होगया है ? कहो तो सही !

अहा सखे ! तुम नहीं जानते, कि अभी जहां अज्ञानरूप घोर अन्धकार रात्रि फैलीहुई थी तहां धीरे - धीरे सत्त्वगुणका प्रातः-काल होरहा है वह देखो ! पूर्व दिशासे ब्रह्मविद्या की ऊषा निकली चली आरही है तिसके पीछे-पीछे ज्ञानका सूर्य ऊपर चढता चलाआरहा है ।

काम, क्रोधादि जम्बुक और भेडिये ममता और विषमतारूप गहन झाडियोंमें घुसते चले जारहे हैं । चौरासी लक्ष योनियोंके तारागण मलीन होरहे हैं । सन्तजनोंके हृदयरूप कमल विकसित होरहे हैं जिनपर वेदवचन रूप भृंगवृन्द अपूर्व शोभाके साथ गुंजार कररहे हैं । भगवद्भजनाभिलाषीरूप कृषिकार (किसान) अपने शुभाशुभ-कर्मरूप बीजोंके साथ पुरुषार्थके हलको लिये अपने शरीररूप क्षेत्रकी ओर चले जारहे हैं । ये कृषिकार एवम्प्रकार अपने-अपने क्षेत्रोंको जोत-बुनकर ऐसा शुद्ध और निर्मल करदेवेंगे, कि इन क्षेत्रोंमें द्रोह, द्वेष, दम्भ, पाखण्ड, प्रपञ्च पिशुनता, कपट, कुचाल, कुसंग इत्यादि के घास पत्तोंको ऊगनेका कभी अवकाश ही नहीं मिलेगा वरु भगवत्कृपासे चारों प्रकारके मोक्षरूप अनाज उपजकर दोनों लोकोंमें इन कृषिकारोंको परमानन्द प्रदान करेंगे ।

चलो अब हमलोग अपने विषयकी ओर चलें और देखें तो सही, कि श्रीघनश्यामरूप सघनघन अपने उपदेशरूप वचनामृतकी वर्षाकर परमभक्त अर्जुनके शरीररूप क्षेत्रको किस प्रकार हराभरा करडालते हैं ?

अर्जुन उवाच ।

मू०—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ! ॥१॥

पदच्छेदः— केशव ! (को ब्रह्मा ईशः रुद्रः तौ आत्मनि स्वरूपे नयति प्रलये उपाधिरूपमूर्तिद्वयं मुक्त्वा एकमात्रपरमात्म-स्वरूपेणावतिष्ठते यः तत्सम्बोधने हे केशव ! अथवा कश्च, अश्च, ईशश्च ते केशाः ब्रह्मविष्णुरुद्राः नियम्यतया सन्ति यस्य । अथवा

केशं केशिनं वाति हन्ति यः। अथवा केशाः प्रशस्ताः सन्त्यस्य) प्रकृतिम् (भगवतो मायाख्या शक्तिम्) पुरुषम् (महेश्वरम्) च, एव, क्षेत्रम् (कर्मबीजप्ररोहस्थानम्) क्षेत्रज्ञम् (क्षेत्रं यो वेत्ति तम्) च, एव, ज्ञानम् (क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ येन ज्ञानेन विषयीक्रियेते तत्) ज्ञेयम् (ज्ञातुं योग्यम्) च, एतत्, वेदितुम् (ज्ञातुम्) इच्छामि ॥ १ ॥

पदार्थः— (अर्जुन उवाच) अर्जुन बोला (केशव !) हे ब्रह्मा, विष्णु और महेशको अपने नियममें रखनेवाले, केशी दानवके बध करनेवाले तथा सुन्दर केशोंको धारण करनेवाले गोविन्द ! (प्रकृतिम्) तुम्हारी वह परम शक्ति जो जगत्को धारण करती है तिसे (च) तथा (पुरुषम्) तुम्हारा जो सर्वेश्वरस्वरूप पुरुषनाम करके पुकाराजाता है तिसे (च एव) फिर निश्चय करके (क्षेत्रम्) कर्मरूप बीजोंके निकलनेका स्थान जो यह मनुष्य शरीररूप खेत है तिसे तथा (क्षेत्रज्ञम् एव) इस शरीररूप क्षेत्रको जो पूर्णप्रकार जानता है निश्चय कर तिसे फिर (ज्ञानम्) परम पवित्र ज्ञानको फिर (ज्ञेयम्) उस ज्ञानसे जानने योग्य तत्त्वको अर्थात् (एतत्) इन सब उत्तम विषयोंको (वेदितुम्) जानने की (इच्छामि) मैं इच्छा करता हूं सो मुझपर कृपाकर इनका वर्णन विधिपूर्वक करो ॥ १ ॥

भावार्थः— संसारवीर्यप्ररोहस्थान श्रीकरुणानिधान भगवान् कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने छठवें अध्यायसे बारहवें अध्याय पर्यन्त उपासनाका वर्णन किया जिसे सुन अर्जुन मन ही मन विचारने

लगा, कि जगतहितकारी श्रीगोलोकविहारीने सर्वसाधारण जीवोंके कल्याण निमित्त प्रथम षट्कमें कर्मकाण्डकी और द्वितीय षट्कमें उपासनाकी समाप्ति करदी है। शेष रहजाता है ज्ञान इसलिये अब श्री जगद्गुरुसे ज्ञानका विषय पूछना चाहिये क्योंकि प्रथम जो भगवान कहआये हैं, कि " **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः** " (अ० ७ श्लोक १७) अर्थात् आर्त्त इत्यादि चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानीका मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह भी मेरा प्यारा है। इस वचनसे ऐसा सिद्ध होता है, कि यदि ज्ञान लब्ध न हुआ तो केवल कर्म और उपासनामें परिश्रम करना निरर्थक है। इस समय जगद्गुरु श्रीआनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र जो ब्रह्मादिको भी शीघ्र प्राप्त नहीं होता वह मुझे बिना परिश्रम हाथ लगगया है फिर जो प्राणी अमृतकुण्डको पाकर अमृतपानसे वंचित रहा तो उससे अधिक भाग्यहीन कौन होगा ? ऐसे अवसरपर चूकना उचित नहीं है। श्रीजगत-हितकारी मदनमुरारीसे ज्ञानका विषय अवश्य पूछना चाहिये ऐसा विचार " अर्जुन उवाच " अर्जुन बोला, कि [**प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च**] निश्चय करके प्रकृतिको अर्थात् सृष्टिकी रचनेवाली अपनी अपरा और परा प्रकृतियोंके भेद और क्षेत्र जो पापपुण्यरूप बीजके उत्पन्न होनेका स्थान यह शरीर और क्षेत्रज्ञ जो इस शरीररूप क्षेत्रके पूर्णतत्त्वको जाननेवाला आत्मा [**एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव !**] और हे केशव ! ज्ञान अर्थात् जिस बोधसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका वृत्तान्त ठीक-ठीक जानाजाता है तिसको और उस ज्ञानके

भिन्न-भिन्न जितने रहस्य हैं सबोंको जाननेकी इच्छा करता हूं हे केशव ! सबोंको विलग-विलग मुझे समझाकर कहो ॥ ×१ ॥

अर्जुनके मुखसे इतना वचन निकलते ही श्रीपुराणपुरुषोत्तम जगद्गुरु बडी करुणादृष्टिके साथ अर्जुनकी ओर देखतेहुए बोले—

श्रीभगवानुवाच

मू०—इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥

पदच्छेदः— [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीतनय !) **इदम्** (प्रत्यक्षेण दृश्यमानम्) **शरीरम्** (विशीर्णस्वभावं भोगायतनं कलेवरम्) **क्षेत्रम्** (धान्यनिष्पत्तिस्थानवत् धर्माधर्मोत्पत्तिहेतुभूतं स्थानम् । अथवा क्षतात्त्राणात् क्षेत्रम् । क्षिणोत्यात्मानमविद्यया त्राति तं विद्यया । क्षीयते नश्यति तथा क्षरति अपक्षीयतेऽतोपि क्षेत्रम्) **इति** (क्षेत्रस्वरूपम्) **अभिधीयते** (उच्यते । कथ्यते) **यः, एतत्** (शरीरम् आपादतलमस्तकम्) **वेत्ति** (विजानाति । ज्ञानेन विषयीकरोति) **तद्विदः** (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकज्ञाः) **तम्** (वेदितारम्) **क्षेत्रज्ञः** (यथातथ्यरूपेण क्षेत्रस्य वेदिता) **इति, प्राहुः** (कथयन्ति) ॥ २ ॥

× श्रीमद्भगवद्गीताकी बहुतसी पुस्तकोंमें इस श्लोकका पाठ नहीं है पर ऐसा होनेसे गीताके जो ७०० श्लोक हैं उनमें एककी कमी रहजाती है इसलिये इस श्लोकका होनाअति ही आवश्यक है दूसरी बात यह है, कि बिना अर्जुनके प्रश्नके कृष्ण भगवान् आपसे आप उत्तर क्यों देवेंगे ? इसलिये इस श्लोकका होना यहां आवश्यक है ।

पदार्थः— श्री भगवान बोले— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन (इदम्) इस दृश्यमान (शरीरम) शरीरको (क्षेत्रम्) क्षेत्र (इति) इस नामसे (अभिधीयते) पुकारते हैं अर्थात् यह देह क्षेत्र कहीजाती है और (यः) जो पुरुष (एतत्) इस क्षेत्र को (वेत्ति) जानता है (तम्) तिसको (तद्विदः) इसके यथार्थ तत्त्वके जाननेवाले (क्षेत्रज्ञ इति) क्षेत्रज्ञ ऐसा नाम करके (प्राहुः) बोलते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले भगवानसे ज्ञानप्राप्तिके विषय अनेक प्रश्न किये उन प्रश्नोंसे भगवान अर्जुनके मनकी गति जानगये। क्यों न हो वह त्रिभुवनपति तो पल मारते-मारते तीनों लोकोंकी गति जाननेवाले हैं वह अर्जुनकी दशा क्यों न जानेंगे ? अतः भगवान अर्जुन ऐसे दीनपर झट दयाकर बोले [**इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! यही आकाश, वायु इत्यादि पंचतत्त्वोंका, श्रोत्र, चक्षु इत्यादि दशों इन्द्रियोंका, मन बुद्धि इत्यादि चारों अन्तःकरणोंका, प्राण, अपान इत्यादि पंचप्राणों का और अन्नमय, प्राणमय इत्यादि पंचकोशोंका जो एक समूह वा भण्डार यह देह है इसीको विद्वान् क्षेत्रके नामसे पुकारते हैं।

क्षेत्र कहनेके अनेक कारण हैं प्रथम तो इसे क्षेत्र इसलिये कहते हैं, कि "क्षिणोति आत्मानमविद्यया" इस जीवात्माको अविद्या द्वारा क्षीण करडालती है "त्राति तं विद्यया" तिसे जो विद्या द्वारा रक्षा करता है उसे क्षेत्र कहते हैं अर्थात् चैतन्य आत्मा इस अविद्याकृत शरीरमें ऐसा बँधजाता है, कि अपना स्वरूप भूलजाता है। जो

यह चैतन्य आत्मा त्रिलोकीका अधिपति अर्थात् महाराजाधिराज है वह केवल तीन कट्ठे पृथ्वीका कृषिकार बनकर अत्यन्त दुःख पाता है। इसीसे कहते हैं, कि अविद्यासे जो शरीर क्षीण होजाता है तिसको जो विद्या द्वारा रक्षा करता है वही क्षेत्र है पुनः " **क्षीयते नश्यति तथा क्षपयति अपक्षीयतेऽसौ क्षेत्रम** " छीजता है अर्थात् नाश होजाता है तथा धीरे-धीरे जिसका अधःपतन होजाता है और जिसमें * षट् ऊर्मिया अर्थात् ६ कीडियां लगीहुई हैं जिनके द्वारा यह उक्तप्रकार स्वयं भी छीजता चलाजाता है इसी कारण इसे क्षेत्र पुकारते हैं।

तीसरा कारण इसको क्षेत्र कहनेका यह है, कि " **धान्य-निष्पत्तिस्थानवत् धर्माधर्मोत्पत्तिहेतुभूतस्थानम्** " जैसे धान्य इत्यादि निकलनेका स्थान किसानोंका खेत होता है ऐसे धर्म और अधर्मके निकलनेका स्थान यह पांचभौतिक शरीर है अर्थात् पापपुण्यके बीज जिससे फूटकर निकलते हैं। इस कारण भी इस देहको क्षेत्र कहते हैं। इसका अर्थ निवासस्थान भी है अर्थात् जहां कोई प्राणी निवास करे उसे भी क्षेत्र कहते हैं।

लो और सुनो ! 'क्षि क्षये' इस धातुसे (सर्वधातुभ्यष्ट्रन्) जब इस सूत्रके अनुसार 'त्र' प्रत्यय होता है तो यह अर्थ होता है, कि जो वस्तु कालक्रमसे धीरे-धीरे क्षीणताको प्राप्त होवे उसे क्षेत्र कहते हैं।

---

* शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा और पिपासा ये छवों ऊर्मियां हैं जिसे अंग्रेजीमें (Distress unlasiness unxiety jude death think human Enfirmity) कहते हैं।

और जब क्षै हिंसनेसे " त्र " प्रत्यय कियाजाता है तब जो मारा-जाय वा ताडन कियाजाय उसे क्षेत्र कहते हैं । फिर निवासके अर्थ में क्षी धातुसे ' त्र ' प्रत्यय होनेसे जिसमें कोई निवास करे उसे क्षेत्र कहते हैं । " धातूनामनेकार्थाः " इस वचनके अनुसार जो वपनार्थ ' क्षी ' धातुसे ' त्र ' प्रत्यय होता है तब धान्यादि जिसमें बोयेजावें उसे क्षेत्र कहते हैं सो भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू इन सब कारणोंसे इस शरीरको क्षेत्र जान !

[एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः] श्यामसुन्दर कहते हैं, कि यह जीव जो इस शरीरको जानता है अर्थात् इसके साथ रहकर इसमें पाप पुण्यके बीजोंके वपन करनेसे जो दुःखसुख रूप नाज उत्पन्न होते हैं उन्हें जो भोगता है यथार्थ तत्त्वके जानने वाले क्षेत्रज्ञ कहते हैं, उसीको इस देहका स्वामी भी कहते हैं। तात्पर्य यह है, कि इस देहको क्षेत्र और देहीको क्षेत्रज्ञ जानते हैं ।

पर जो महात्मापुरुष इसे नश्वर और मायाकृत स्वप्नवत् भूलभुलैयाका खेल जान ब्रह्मविद्याद्वारा इस क्षेत्रका स्नेह छोड जीव-न्मुक्त होगये हैं वे ही इसके यथार्थ जाननेवाले हैं। क्योंकि वे इस संसार की मोहनिद्रामें पडकर मायाके सुख-स्वप्नमें मोहित नहीं होते उनको आत्मविस्मृति नहीं होती, वे कभी भी इस काल्पनिक आनन्दसागर में डुबकियां नहीं लगाते क्योंकि वे इस क्षणभंगुर शरीरको ऐसा कहते हैं, कि यह देह क्षेत्र है और इसका जाननेवाला क्षेत्रज्ञ कहलाता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इस शरीरमें अधर्मरूप कडुवेबीजका वपन करनेवाला काम, क्रोध, ममता, अहंकार, राग, द्वेष, हानि, दुःख निन्दा, अपकीर्त्ति इत्यादि कडुवे नाजोंको भोगता हुआ नरककी ओर चला जाता है। क्योंकि उसने रोग, शोक, मोह इत्यादिमें पडकर अपनेको मायाके जटिलजालमें फंसा रखा है। वह अपने भुलक्कडपनेसे इस मोहमलिनताको धो वहानेकी सफल चेष्टा नहीं करता, सदा क्रोध, कुतर्क और कुकर्ममें फंसा रहता है, वह प्राणी इस क्षणभंगुर कायाको मायासे मोहितकर अन्तमें रौरव इत्यादि नरकोंमें पडता है पर धर्मरूप, बीजका वपन करनेवाला इस लोकमें सम, सन्तोष, सत्संग, यश सुकीर्त्ति इत्यादि सुन्दर मीठे फलोंका भोक्ता बनकर अन्तमें दिव्य-लोकोंकी ओर चला जाता है एवम् प्रकार कडुवे और मीठे बीजोंके वपनसे इस शरीरमें कडुवे और मीठे फल फलते हैं इसीलिये बीज बोनेके स्थानको क्षेत्र अर्थात् देह और बोनेवाले वा भोगनेवालेको क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव कहते हैं।

शंका— क्षेत्रों (खेतों) की तो यह रीति चली आरही है, कि प्राणी जिस खेतमें नाज बोता है उसी खेतसे काटता भी है अर्थात् बीज उसी खेतमें ऊगता है जिसमें बोया जाता है पर यहां तो देखते हैं, कि पापपुण्यकर्म जिस शरीररूप क्षेत्रमें बोये जाते हैं तहां नहीं ऊगते, वरु दूसरे शरीरमें जाकर फलते हैं। अर्थात् इस वर्तमान शरीरका बीज अगले किसी शरीरमें फलता है। ऐसा क्यों ?

समाधान— इस एक जीवात्माके वर्त्तमान शरीरसे पूर्व जितने शरीर हुए अथवा इस वर्त्तमान शरीरसे परे जितने शरीर होंगे सबों

समूह इस जीवात्माका एक ही क्षेत्र है इसलिए वर्त्तमान, पूर्व और पर शरीरोंको एक ही क्षेत्र समझना चाहिये दो चार नहीं सम झना चाहिये। अर्थात् एक जीवात्माके कर्मबीजोंके अनुसार बोने और काटनेके शरीर चौरासीलक्ष पर्यन्त मिलते हैं । जिसका क्षेत्रज्ञ अर्थात् बोने और काटनेवाला एक ही जीवात्मा है । केवल रूपान्तरका भेद है । सो भगवान् भी अर्जुनके प्रति अ० २ श्लो० १३ में कह आये हैं कि " **देहिनोऽस्मिन यथा देहे कौमारं यौवनं जरा । तथा देहान्तरप्राप्तिः**···· " अर्थात् जैसे इस एक शरीरमें बालपन, युवा और वृद्धावस्थाका रूपान्तर होता है इसी प्रकार इससे इतर देहकी प्राप्तिको भी इसी देहका रूपान्तर कहना चाहिये। अतएव चाहे एक जीवात्माको लाखों शरीर क्यों न मिलगये हों या आगे मिलेंगे सब मिलकर एक ही क्षेत्र कहा जावेगा । इसलिये इन सहस्रों और लाखों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीरमें कर्मके बीजमें बोये जाते हैं और किसी शरीरमें काटे जाते हैं । जो बीज अत्यन्त प्रबल होता है वह तो वर्तमान शरीरका वर्त्तमान ही शरीरमें ऊग जाता है पर जो बीज अत्यन्त प्रबल नहीं होते वे अनेक पूर्वशरीरोंके बोयेहुए इस वर्त्तमान शरीरमें तथा अगले शरीरमें उपजते हैं और काटे जाते हैं ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि एक ही जीवात्मा (कृषिकार) के किस शरीरमें बोयेहुए बीज किस शरीरमें उपजेंगे इसका कुछ पता नहीं है । संभव है, कि सौ जन्मसे भी पिछले जन्मका बोया हुआ बीज

इस वर्त्तमान शरीरमें उपज आवे और उसे काटना पडे तथा इस वर्त्तमान शरीरका बोयाहुआ अगले सौवें शरीरमें उपजे।

जो कर्म वर्त्तमान शरीरमें उपज जाता है और भोगना पडता है उसे प्रारब्धके नामसे पुकारते हैं। जैसे राजा धृतराष्ट्रने जब यह विचार किया, कि मेरा कौनसा ऐसा मन्दप्रारब्ध किस जन्मका है ? जिसकारण मुझे जन्मान्ध होना पडा राज्यसे च्युत होनापडा और मेरे सौ पुत्र भी मारे गये। अन्ततो गत्वा विचार करते-करते उन्होंने यह देखा, कि सौ शरीर पहलेवाले जन्ममें मैंने हंसके एकसौ बच्चोंको मार डाला था जिसका फल मुझे इस वर्त्तमान जन्ममें भोगना पडा। इसी कारण शास्त्रवेत्ताओंने, योगियोंने, ऋषि और महर्षियोंने, वेद, शास्त्र और पुराणोंने यह सिद्धान्त करदिया है, कि रूपान्तर होनेके कारण इस कर्मरूप बीजके तीन भेद हैं— संचित, प्रारब्ध और आगामी। इसलिये चाहें क्षेत्र कितने भी क्यों न हों सब मिलकरे एकही कहे जावेंगे। जैसे किसी एक किसानका हजार बीघोंका एक क्षेत्र किसी समय नदियोंके प्रवाह से कटकर कभी त्रिकोण, कभी चौकोण, कभी पंचकोण,कभी वर्त्तुलाकार बनजाता है अर्थात् नदियोंके प्रवाहके कारण एक ही क्षेत्रका रूपान्तर होजाता है इसी प्रकार जीवोंका शरीररूप क्षेत्र कर्मोंके प्रवाहसे रूपान्तरको प्राप्त होजाता है। शंका मत करो ! ॥ २ ॥

अब भगवान् व्यष्टिरूप क्षेत्रज्ञ जो जीव है और समष्टिरूप क्षेत्रज्ञ जो ईश्वर है (जिसे पारमार्थिकक्षेत्रज्ञ भी कहते हैं) तिन दोनोंका वर्णन करना आरम्भ करते हैं।

मू०— क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशावतंस !) च (पुनः) सर्वक्षेत्रेषु (ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तानेकशरीरेषु) क्षेत्रज्ञम् (क्षेत्रज्ञातारम् दृश्याच्छरीरान्निष्कृष्टद्रष्टारम) माम् (असंसारिणम् । परमेश्वरम) अपि, विद्धि (जानीहि) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्रमात्मनि कल्पितं दृश्यं क्षेत्रज्ञश्च परमेश्वराभिन्नः प्रत्यगात्मा तयोर्द्वयोः) यत्, ज्ञानम् (प्रसिद्धविवेकः) तत्, ज्ञानम् (सम्यग्विवेकः) मम, मतम् (मान्यम् ! अभिमतम्) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे उत्तम भरतकुलमें उत्पन्न भरतवंशका आभूषण ! (च) फिर (सर्वक्षेत्रेषु) सब शरीरोंमें (क्षेत्रज्ञम्) यथार्थ क्षेत्रोंका जाननेवाला (माम्) मुझको (अपि) भी (विद्धि) जान (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः) इन दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका (यत् ज्ञानम) जो ज्ञान है (तत् ज्ञानम) उसी ज्ञान को यथार्थ कहना (मम) मेरी (मतम) सम्मति है अर्थात् इन्हीं दोनोंका यथार्थ ज्ञान ज्ञानके नामसे पुकारा जाता है और यही ज्ञान मुझको स्वीकार है ॥ ३ ॥

भावार्थः— पहले जो भगवान् कहआये हैं, कि इस शरीरको क्षेत्र और इस शरीरमें रहनेवाले जीवको क्षेत्रज्ञ जानो सो केवल इतना ही जाननेसे मनुष्य ज्ञानी नहीं होसकता और ऐसा नहीं कहसकता, कि मैं ज्ञानी होगया । क्योंकि केवल इस शरीरमात्रको तो

सभी जानते हैं जिनको परब्रह्म परमेश्वरकी ओर तनक भी रुचि नहीं है वे भी चिकित्साशास्त्रके चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट्ट वा शरीरपालन इत्यादि ग्रन्थोंको पढकर भलेप्रकार कह सकते हैं, कि इस शरीरमें आकाश, वायु इत्यादि पांचों तत्त्व, श्रवण, चक्षु इत्यादि दशों इन्द्रियां, मन बुद्धि इत्यादि चारों अन्तःकरण और प्राण, अपानादि पांचों प्राण, अन्नमय, प्राणमय इत्यादि पांचों कोशोंका एक ही संघात (पिण्ड) बनाहुआ है। पर यह पिण्ड कैसे बना ? क्यों बना ? कहांसे बना ? और इसके बननेका प्रयोजन क्या था ? सो वे नहीं जानते इसलिये पाठकोंके कल्याणार्थ पहिले इस क्षेत्र (शरीर) का तथा सामान्य और विशेष क्षेत्रज्ञ जो जीव और ईश्वर तिन दोनोंका पूर्ण ज्ञान ज्ञातव्य है । पूर्वश्लोकमें केवल सामान्य क्षेत्रज्ञ (जीव) का वर्णन किया अब इस श्लोकमें विशेष क्षेत्रज्ञ जो स्वयं आप हैं तिसका वर्णन करतेहुए अर्थात् माया, जीव, ईश्वर इन तीनोंका परिचय करातेहुए कहते हैं, कि [**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !**] हे भरतकुलमें उत्पन्न अर्जुन सब क्षेत्रोंमें मुझको ही यथार्थ क्षेत्रज्ञ जान ! यहां भारत कहनेसे भगवान्का यह तात्पर्य है, कि तू परम पवित्र धनवान् भरतराजाके वंशमें उत्पन्न है इसलिये "**शुचीनां श्रीमतां गेहे** .... " इस मेरे वचनानुसार तू पूर्वजन्मों का योगी समझा जाता है इस कारण तू इस ज्ञानको जो मैं इस अध्यायसे आरम्भ कर १८ वें अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त कहूंगा तिसके श्रवण करनेका तू पूर्ण प्रकार अधिकारी है। अथवा इस भारत शब्दका यों भी अर्थ करलो, कि ' भा ' जो परमप्रकाशस्वरूप निर्मल शुभ्र-

वर्ण आत्मा तिसमें जो ' रत ' हो अर्थात् आत्मामें जिसकी प्रीति हो ऐसा जो तू अर्जुन सो इस आत्मज्ञानको अवश्य बडी रुचिसे श्रवण करेगा और मनन करताहुआ इस ज्ञानका अभ्यास करेगा इसलिये मैं तेरेलिये इस ज्ञानका वर्णन करता हूं ।

भगवान्ने जो यों कहा, कि हे भारत ! " क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि.... " सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझहीको जान अर्थात् ये जो ब्रह्मासे लेकर कीट पर्य्यन्त भिन्न २ शरीर क्षेत्र कहेजाते हैं तिन सब शरीरोंका यथार्थ भेद जाननेवाला मुझहीको जान। क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देव, गन्धर्व इत्यादिके शरीरोंकी बनावटका पूर्ण भेद मैं ही जानता हूं इस कारण मैं ही मुख्य क्षेत्रज्ञ हूं ।

अब विचारने योग्य है, कि *पंचाग्नि द्वारा अपनी पुर्य्यष्टका को लिये हुए जीव मातृगर्भमें आकर निवास करता है तहां जो माता-पिताके रज वीर्य्यसे मिलकर जो पिण्ड तयार होता है उसमें ईश्वरकी आज्ञासे धीरे २ सब भिन्न २ शक्तियां प्रवेश करती हैं अर्थात् सब इन्द्रियोंके तथा अन्तःकरण इत्यादिके अधिष्ठातृदेव आकर प्रवेश करते हैं तहां प्रमाण श्रुति— " ॐ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् " (ऐ० खं० २ श्रु० ४)

* पंचाग्नि विद्याका वर्णन अ० २ श्लोक २१ देखलेना यदि अधिक जाननेकी अभिलाषा हो तो छान्दोग्योपनिषद्का पंचम प्रपाठक अध्ययन करना चाहिये ।

अर्थ— अग्निदेवने वचनरूप होकर मुखमें प्रवेश किया, वायु देवने प्राण होकर नासिकाके दोनों छिद्रोंमें प्रवेशकिया, सूर्य्यने दृष्टि होकर दोनों नेत्रोंमें प्रवेश किया, दिशाओंने श्रोत्र (कान) होकर कानोंमें प्रवेश किया, औषधियों और वनस्पतियोंने रोम होकर त्वचामें प्रवेशकिया, चन्द्रमाने मन होकर हृदयमें, मृत्युने अपान होकर नाभि-देशमें और जलने रेत (बीज) होकर शिश्न (लिंग) में प्रवेश किया।

एवम् प्रकार जब सब इन्द्रियोंके देव अपने-अपने स्थानमें उन इन्द्रियोंके द्वार होकर प्रवेश करगये तब " ॐ तमशनया पिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । तेऽब्रवीदेतास्वेव वां देवता-स्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति " (ऐत० खं० २ श्रु० ५)

क्षुधा पिपासाने उस ईश्वरसे प्रार्थना की, कि हम लोगोंकेलिये भी कुछ विचारो, कि हमलोग कहां किधर होकर इस शरीरमें प्रवेश करें ? तब उस ईश्वरने उत्तर दिया, कि तुम दोनोंको इन्हीं देवताओंके साथ भाग लेने वाली बनाता हूं अर्थात् जिस किसी देवताके लिये जो कुछ हवि इत्यादि मनुष्य चढावेंगे उसी-उसी देवताके साथ तुम दोनों भाग लेनेवाली होवोगी । सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि देवताओं को भोग लगाकर उसी अन्नादिसे मनुष्य अपनी क्षुधा पिपासाकी तृप्ति करते हैं । इन दोनोंके लिये कोई विशेष इन्द्रिय इस शरीरमें नहीं ये सबके एक साथ मिश्रित हैं ।

एवम्प्रकार गर्भके पिण्डमें जब यह सुन्दर क्षेत्र (शरीर) तयार होगया तब " ॐ स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति । स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति ॥ " (ऐत० खं० ३ श्रु० ११)

अर्थ— उस ईश्वरने देखा, कि मेरे सब भृत्य तो इस क्षेत्रमें प्रवेश करगये पर मेरे बिना इनसे कुछ भी कार्य्य नहीं चलेगा क्योंकि बिना स्वामीके भृत्योंकी क्या चलसकती है । ऐसे विचार फिर एक-बार देखकर यह सोच करने लगा, कि जिधर होकर नौकर चाकर प्रवेश करते हैं उधर होकर उनका स्वामी जो कोई महाराजाधिराज है वह प्रवेश नहीं करता, वह तो किसी अन्य मार्गसे प्रवेश करता है इसलिये वह ईश्वर ईक्षण करताहुआ ऐसा विचारने लगा, कि मैं किस मार्ग होकर प्रवेश करूं तहां श्रुति कहती है, कि " ॐ स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् " (ऐत० खं० ३ श्रु० १२) अर्थ— उस ईश्वरने मस्तकके बीच भागको फाडकर इस शरीरमें प्रवेश किया ।

दाहिने कानसे बायें कानतक एक लकीर खींचो फिर नासिका से लेकर पीछे मेरुदण्ड (Spinal Cord) के सिरे तक दूसरी लकीर खींचो ! ये दोनों लकीरें जहां मस्तकपर मिलजावें वही उस परमात्मा के प्रवेश करनेका द्वार है । इसीको फाडकर वह इस क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ होकर प्रवेश करगया है इसी कारण इस स्थानको ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं अर्थात् उस छिद्र होकर स्वयं चैतन्यस्वरूप आनन्दघनने प्रवेश किया इसीसे इस छिद्रको विदृतिद्वारके नामसे पुकारते हैं तथा योगियोंको प्राणा-यामादि क्रिया करते २ जब सुषुम्णा नाडी होकर प्राण ऊपरकी ओर चढते-चढते इस स्थानको स्पर्श करता है तब ब्रह्मानन्द लाभ होता है इसी कारण इसे नान्दनके नामसे भी पुकारते हैं ।

शंका— जो चैतन्य आत्मा सर्व ठौर एक समान व्यापक है उसका इस शरीरमें मस्तक फाडकर प्रवेश करना एकदेशीय बनना है इससे उसकी व्यापकतामें दोष आता है ऐसा क्यों ?

समाधान— व्यापकता दो प्रकारकी होती है 'निरपेक्ष' और 'सापेक्ष' जैसे आकाश करोडों योजन ऊपरसे करोडों योजन नीचे तक तथा करोडों योजन दायें बायें निरपेक्ष होकर व्यापता है पर जो आकाश घटादि पात्रोंमें वा मृदंगादि यंत्रोंमें व्यापक है उसे सापेक्ष व्यापक कहेंगे। जो वस्तु निरपेक्षव्यापक होती है वही किसी प्रकारकी रचनाकी उपाधिसे उस वस्तुकी अपेक्षा सापेक्ष व्यापक होजाती है। इसी प्रकारे वह सच्चिदानन्द आनन्दघन जो निरपेक्ष व्यापक है उसमें किसी प्रकारकी नवीन रचना होनेसे सापेक्ष व्यापक होजाता है। इसी कारण जब किसी गर्भ में इस शरीर रूपी क्षेत्रकी रचना होती है और भिन्न २ इन्द्रियोंके देवता इसमें प्रवेश करते हैं तब इस सामान्य क्षेत्रज्ञ जीवके साथ विशेष क्षेत्रज्ञ जो ईश्वर, वह भी साक्षीमात्र होकर प्रवेश करता है इसलिये

❀ अयं हि वृक्ष ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाखोऽश्वत्थोऽव्यक्तमूलप्रभवः क्षेत्रसंज्ञकः सर्वप्राणिकर्मफलाश्रयस्तं परिष्वक्तो सुपर्णाविवाविद्याकामकर्मवासनाश्रयलिंगोपाध्यात्मेश्वरौ। तयोः परिष्वक्तयोरन्य एकः क्षेत्रज्ञो लिंगोपाधिवृक्षमाश्रितः।

× पिप्पलं कर्मनिष्पन्नं सुखदुःखलक्षणं फलं स्वाद्वनेकविचित्रवेदनास्वादुरूपं स्वाद्वत्ति भक्षयत्युपभुंक्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्य इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्वोपाधिरीश्वरो नाश्नाति। प्रेरयिता ह्यसावुभयोर्भोज्यभोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण। सत्वनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति पश्यत्येव केवलम्। दर्शनमात्रं हि तस्य प्रेरयितृत्वं राजवत्। (शांकरभाष्यम्)

श्रुति भी कहती है, कि " ॐ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " (मुं० ३ खं० १ श्रु० १)

अर्थ– जीव और ईश्वर ये दोनों पक्षी इस शरीररूप वृक्षपर एक साथ मिलकर सखाओंके समान एक संग बैठेहुए हैं इनमेंसे एक जो अविद्या, काम, कर्म और वासनाका आश्रय (स्थान) लिंगशरीरे तिसकी उपाधिके कारण जीवात्मा अर्थात् सामान्य क्षेत्रज्ञ कहलाता है वह सुखदुःखरूप इस क्षेत्र नाम वृक्षोंके फलोंका स्वाद लेता है और दूसरा पक्षी जो ईश्वरके नामसे पुकाराजाता है जो नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है और सर्वज्ञ होनेके कारण सर्वसत्त्वगुणकी उपाधियोंसे युक्त ईश्वर नामका क्षेत्रज्ञ है वह फलको नहीं भोगता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को प्रेरणा करता है अर्थात् क्षेत्र जो शरीर और क्षेत्रज्ञ जो सामान्य जीव तिनके कर्मोंका साक्षी बना रहता है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब कोई तत्त्व किसी अन्य तत्त्वमें प्रवेश करता है तो सर्वसाधारणको समझानेके लिये अवश्य उसके प्रवेश करनेका द्वार भी कहना पडेहीगा। इसलिये इस शरीर में अन्य सब इन्द्रियोंके अधिष्ठातृदेवोंके प्रवेश करनेके भिन्न-भिन्न द्वार कहेगये तो उस परमप्रकाशक विशेष क्षेत्रज्ञ ईश्वरके भी प्रवेश करनेका मार्ग दिखलाना पडा। अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र दिखलाना पडा जिस होकर उस परमात्मरूप विशेष क्षेत्रज्ञने प्रवेश किया और तभी इस क्षेत्रमें चेतनताका प्रकाश हुआ नहीं तो यह क्षेत्र जडवत् पडारहता। जैसे किसी दीपकमें तेल डालदो पर जब तक उसमें

आग प्रवेश नहीं करेगी तब तक दीपक कुछ भी प्रकाश नहीं कर सकता अँधेरा रहजावेगा । बुद्धिमान भली भांति विचार कर देखेंगे, कि वह आग उसके किसी मध्य शरीरसे प्रवेश नहीं करती वरु जहां उसकी शिखा बनी रहती है उधर ही से प्रवेश करती है चाहे दीपक हो वा मोमबत्ती इत्यादि हो परन्तु जब आग प्रवेश करेगी तो शिखा ही की ओरसे प्रवेश करेगी।

इसी प्रकार इस शरीररूप दीपकमें उस परम प्रकाश क्षेत्रज्ञने इसकी शिखा अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रकी ओर प्रवेश किया इसीलिये उस स्थानपर सनातनधर्मावलम्बी शिखा रखते हैं जो इस शरीरमें उस परम प्रकाशके प्रवेश करनेका स्थान बतारही है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रको दिखलारही है। इसलिये हे प्रतिबादी! तू इस व्यापकताको शरीरोंकी रचनाकी अपेक्षासे उस परमप्रकाशको सापेक्ष व्यापक समझ! शंका मत कर!

शंका— इस जीव (क्षेत्रज्ञ) के साथ व्यर्थ विना प्रयोजन एक दूसरे क्षेत्रज्ञ ईश्वरको क्यों साथ करते हो इसके साथ होनेसे इस बिचारे जीवरूप क्षेत्रज्ञके चैतन्य होनेका क्या लाभ है?

समाधान— जैसे यामनाली (समय देखनेकी घडी) में एक स्प्रिंग अर्थात् लोहेकी कमानी होती है और उस यंत्रके मुखपर छोटी बडी दो सूइयां होती हैं जो समय अर्थात् घंटा और मिनिट बतलाती हैं इन सूइयोंमें अपनी कुछ भी शक्ति नहीं होती उसी स्प्रिंग (कमानी) द्वारा इनमें चलनेकी शक्ति भरी जाती है पर उस स्प्रिंग (कमानी) को भी अपनी शक्ति आपसे आप नहीं होती जबतक एक चैतन्य प्राणी उसमें कुंजी देकर उसमें पूरी शक्ति न देदेवे ।

इसी प्रकारे इस शरीररूप यामनालीमें पुण्य पाप अर्थात् धर्म अधर्म की दो सूइयां लगीहुई हैं और इन सूइयोंके चलानेके लिये जीवरूप रिंग्रग लगाहुआ है जिसको एक दूसरा चैतन्य प्रेरणा करनेवाला है अर्थात् कुंजी देनेवाला है उसीको ईश्वर कहते हैं जिसकी आवश्यकता इस जीवको है।

दूसरा लाभ जीवको ईश्वरके साथ रहनेसे यह है, कि जब यह जीव संसृतिविकारोंसे अत्यन्त क्लेश पाकर घबरा उठता है और किसी की सहायता चाहता है तो अपने साथ उस ईश्वरको बैठा देखता है जो इसको इस संसाररूप बन्धनसे एकेवारगी छुडाकर और साथ लेकर अपने परमधाम रूप घरकी ओर उडजाता है। इससे सिद्ध होता है, कि यह ईश्वररूप क्षेत्रज्ञ जीवरूप क्षेत्रज्ञके साथ केवल इस का उद्धार करनेके लिये रहता है इस कारण इसके साथ रहना अति ही आवश्यक है।

तहां प्रमाण श्रु०— "ॐ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः" (मु० ३ खं० १ श्रु० २)

इस शरीररूपी वृक्षमें सुखदुःखका भोगनेवाला जीव (क्षेत्रज्ञ) समुद्र में तैरतेहुए तूंबेके समान दुःख सागरमें लुढकताहुआ किसीको अपना ईश नहीं देखता तब घबराकर अपने बचानेके लिये उस ईश्वरकी ओर हाथ फैलाता है तब ईश्वरको अपना सहायक पाते ही शोकोंसे मुक्त हो परमानन्द लाभ करता है। इसी विषयको कहतेहुए भगवान्

अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम**] एवम्प्रकार जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान है अर्थात् अपरा प्रकृति (क्षेत्र) परा प्रकृति जो (क्षेत्रज्ञ) जीव तथा इनका परम सहायक जो विशेष क्षेत्रज्ञ ईश्वर अर्थात् प्रकृति जीव और ईश्वर इन तीनोंका जो यथार्थ ज्ञान है वही ज्ञान है और वही ज्ञान मुझको अभिमत है। इसी ज्ञानको मैं ज्ञान मानता हूं अन्य जो कुछ है सब शास्त्रोंका विस्तार है। यह जीव केवल इसी ज्ञानके होनेपर भगवत्स्व-रूपसे जामिलता है ॥ ३ ॥

अब भगवान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंके स्वरूपोंको विलग-विलगकर संक्षिप्तरीतिसे अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— तत् क्षेत्रं यच्च यादृक्‌च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— तत् (प्रागुक्तम्) क्षेत्रम् (शरीरम्) यत् (इदं निर्दिष्टम्) च (तथा) यादृक् (स्वकीयैर्धर्मैर्यादृशम्। यत प्रकारम्) च (तथा) यद्विकारि (यैरिन्द्रियादिविकारैर्युक्तम्) च (तथा) यतः (यस्मात् प्रकृतिपुरुषसंयोगात्) च (तथा) यत् (यत् कार्यमुत्पद्यते) सः (क्षेत्रज्ञः) यः (निर्दिष्टः) च (तथा) यत्प्रभावः (उपाधिकृताः शक्तयो यस्य) तत् (यथोक्तविशेषणवि-शिष्टक्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यम्) समासेन (संक्षेपेण) मे (मम वाक्यात्) शृणु (श्रुत्वाऽवधारय) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (तत्) सो पूर्व कथन कियाहुआ (क्षेत्रम्) शरीर (यत्) जिस स्वभाववाला है (च) तथा (यादृक् च) स्थावरजंगमभेदसे जिस प्रकार इच्छा इत्यादि धर्मवाला है (यद्वि-कारि च) फिर जिस प्रकार इन्द्रियादिके विकारोंसे युक्त है (च) फिर (यतः) जहांसे अर्थात् जिस कारणसे (यत्) यह क्षेत्ररूप शरीर उत्पन्न होता है (च) फिर (सः) सो क्षेत्रज्ञ (यः) जो (यत्प्रभावः) जिस प्रभाववाला है (तत्) सो सब (समासेन) संक्षेपकरके हे अर्जुन ! (मे) मेरे वचनों द्वारा (शृणु) ध्यान देकर सुन ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके प्रति जिस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विषय पूर्व कथन करआये हैं उसे विलग-विलग कर संक्षेपरूपसे वर्णन करनेके तात्पर्यसे केहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**तत क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्**] सो जो क्षेत्रनामा शरीर जिसको मैंने तुझसे अभी कहा है वह जिस स्वभाववाला है तथा जिस विकारसे युक्त है और जिससे यह उत्पन्न है अर्थात् अहर्निश प्रकृतिके वश रहकरे अपने स्वभावानुसार जैसे-जैसे करता रहता है फिर जिस-जिस प्रकारसे हँसना, रोना, उदास रहना, खाना, पीना, कूदना, उछलना इत्यादि अपनी-अपनी जातिभेदसे भिन्न-भिन्न प्रकार करता रहता है एवम् जैसे वानर उत्पन्न होते ही इस डालसे उस डालपर उछलने लगजाता है । व्याघ्रके बच्चे जन्म लेते ही जिस गुर्राटेके साथ अन्य पशुओंपर पंजा मार उनको नख और दांतोंसे विदार उनका मांस भक्षण करने लगजाते हैं । फिर पक्षी जन्मते ही आकाशमें पर मारने

लगजाते हैं । तात्पर्य यह है, कि भिन्न-भिन्न शरीररूप क्षेत्रोंमें जितने स्वभाव प्रकृतिके अनुसार पडेहुए हैं मैं सबोंको संक्षिप्तरीतिसे कहूंगा तथा " यद्विकारि यतश्च यत् " जिस प्रकार यह शरीर नाना प्रकारके विकारोंसे विकारवान् होरहा है अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, राग, द्वेष, ईर्षा, तृष्णा तथा बाल्य, युवा, वृद्धावस्था, मरण, ज्वर, खांसी, प्लीहा, प्रमादादि मातृगर्भरूप विकार, शीत, उष्ण इत्यादि सहन करनेके विकारोंसे जो अहर्निश दुखी होरहा है फिर जहांसे यह उत्पन्न हुआ है [**स च यो यत् प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु**] सो क्षेत्रज्ञ जिस प्रभाववाला है संक्षेपसे मेरे वाक्यों के द्वारा सुन ! अर्थात् जीवरूप क्षेत्रज्ञ जैसे इस जड शरीररूप क्षेत्रमें कर्मोंके बीजोंको बोता रहता है तथा मैं जो स्वयं क्षेत्रज्ञ सर्व प्राणीमात्रके भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंका भेद अपनी असीम शक्तिसे जानता रहता हूं इन सब वृत्तान्तोंको सुन ! ॥ ४ ॥

इतना सुन अर्जुनके मनमें यह शंका हुई, कि भगवानने जो यह कहा, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञोंका वृत्तान्त संक्षेपसे मैं कहता हूं इससे ऐसा बोध होता है, कि इन विषयोंको पहले किसी समय किसीने विस्तारपूर्वक कथन करदिया है तभी तो आज भगवान उसे संक्षिप्तरूपसे कहनेकी प्रतिज्ञा कररहे हैं । भगवानसे पूछना चाहिये, कि पहले किस महापुरुषने इस विषयपर कथन किया है ?

सबके हृदयके जानने वाले सर्वज्ञ श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द अर्जुनकी अभिलाषा जानगये और बोले ।

मू०— ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— ऋषिभिः (वशिष्ठादिभिः) बहुधा (नानाप्रकारेण विस्तरेण) गीतम् (उक्तम, प्रतिपादितम) विविधैः (कर्मोपासन.ज्ञानकाण्डप्रकारैः नित्यनैमित्तिककाम्यविषयैः) छन्दोभिः (वेदैर्मन्त्रैः) पृथक् (प्रतिशाखमनेकप्रकारम) [बहुधा गीतम] हेतुमद्भिः (युक्तियुक्तैः) विनिश्चितैः (असकृदभ्यासेन सकलशंकापंकक्षालनेन निश्चितार्थैः) ब्रह्मसूत्रपदैः (ब्रह्मणः सूचकानि पदानि समुचितवाक्यभावमापन्नानि तैर्ब्रह्मसूचकैर्ब्राह्मणवाक्यैस्तत्त्वमसीत्याद्यैः) च, एव [बहुधा गीतम] तच्छृणिवति पूर्वेण सम्बन्धः । ॥ ५ ॥

पदार्थः— (ऋषिभिः) यह क्षेत्र क्षेत्रज्ञका विषय जो वशिष्ठ इत्यादि ऋषियोंके द्वारा (बहुधा) विस्तार करके बारम्बार (गीतम) कथन कियागया तथा (विविधैः) नाना प्रकारके (छन्दोभिः) ऋग्वेदादि मंत्रोंके द्वारा जो (पृथक्) विलग-विलग वर्णन कियागया है (च) फिर (हेतुमद्भिः) बहुप्रकार की युक्तियोंसे (विनिश्चितैः) पूर्ण निश्चय कियेहुए (ब्रह्मसूत्रपदैः) ब्रह्मके निरूपण करनेवाले सूत्र और पदोंसे (एव) जो एवम्प्रकार वर्णन कियागया है ❀ तिसे हे अर्जुन! तू सुन ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनके चित्तमें जो यह विचार उदय होआया, कि जब तक कोई किसी विषयको विस्तार पूर्वक कथन न करचुका

❀ " तत् शृणु " पूर्वश्लोकके वाक्यके साथ इसका अन्वय है ।

हो तब तक उसका संक्षेप वर्णन नहीं होसकता इस प्रकार अर्जुनके मनकी बात सबके हृदयके जाननेवाले श्री सर्वेश्वर आनन्दकन्द ब्रजचन्द ने जानली और जिन-जिन महात्माओंके द्वारा इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका 'विषय' विस्तारपूर्वक पहले वर्णन होचुका है उनको अर्जुन के प्रति विदित करनेके तात्पर्यसे कहने लगे, कि [**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्**] हे अर्जुन ! वशिष्ठादि ऋषियों द्वारा यह विषय प्रायः बारम्बार भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें वर्णन किया गया है और वेदोंकी ऋचाओं द्वारा भी पृथक् २ कहागया है अर्थात् वशिष्ठ, अंगिरा, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, अत्रि, क्रतु, कश्यप, जमदग्नि विश्वामित्र, भरद्वाज, गौतम, गालव, ऋष्यशृंग, व्यास, भृगु और मनु जो ब्रह्मर्षि हैं, वेदव्यास, मेल इत्यादि जो परमर्षि हैं, नारद, प्रचेता, तम्बुरु, भरत, कणादादि जो देवर्षि हैं, जैमिनि इत्यादि जो काण्डर्षि हैं सूर्य, वायु, अग्नि और सुश्रुत इत्यादि जो श्रुतर्षियोंमें कहेजाते हैं, ऋतुपर्ण, जनक, जयबलि इत्यादि जो राजर्षियोंमें गिनेजाते हैं तिन सब महापुरुषों द्वारा इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विषय भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन कियागया है और "छन्दोभिर्विविधैः * पृथक्" छन्द जो चारों वेद हैं इनकी भिन्न शाखाओंके द्वारा पृथक् २ यह विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाचुका है । वेदोंके जिन विभागोंमें इस विषयका वर्णन है पाठकोंके बोधार्थ यहां जनादिया जाता है ।

* पृथक् शब्दके प्रयोग करनेका तात्पर्य यह है, कि इन वेदोंकी अनेक शाखाएं हैं इनमें इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विषय भिन्न-भिन्न प्रकारसे पृथक्-पृथक् कथन किया है पर इस समय इन शाखाओंका मिलना दुस्तर है ।

वेदोंकी अनेक शाखाएं हैं पर जिन-जिनमें इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विषय है उनके नाम लिखेजाते हैं—

१. चरकाः, २. आह्वरेकाः, ३. कठाः, ४. प्राच्यकठाः, ५. औपमन्याः, ६. चलकठाः, ७. चाराजनीयाः, ८. वाराजनीयाः, ९. वार्त्तान्ताः १०. वेद्याः, ११. श्वेताः, १२. श्वेततराः, १३. मानवाः, १४. दुन्दुभाः, १५. चेकेयाः, १६. वाराहाः, १७. आरिद्राः, १८. वेद्याः, १९. जावालाः, २०. औघेयाः, २१. कारावाः, २२. माध्यन्दिनाः, २३. सापीयाः, २४. थावाजनीयाः, २५. कापालाः, २६. पौराड्रवत्साः, २७. आवटिकाः, २८. पामावटिकाः, २९. पाराशर्याः, ३०. वैदेहाः, ३१. वैनेयाः, ३२. गालवाः, ३३. वहियवाः, ३४. कात्यायनीयाः, ३५. आपस्तम्बी, ३६. बौधायनी, ३७. सत्यसाडी, ३८. हिरणयकेशी, ३९. पैप्पलाः, ४०. दान्ताः, ४१. प्रदान्ताः, ४२ यौताः, ४३. मानताः, ४४. ब्रह्मदावलाः, ४५. शौनकी, ४६. दैवी, ४७. दर्शती, ४८. साख्यायनः ४९. शाकलः, ५०. वास्कलः, ५१. आश्वलायनः, ५२. कौथुमः, ५३. राणायनी, ५४. गोभिल इत्यादिमें विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि [**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः**] नाना प्रकारकी युक्तियोंसे तथा शंका समाधानों से निश्चय कर सिद्ध कियेहुए जो भिन्न-भिन्न आश्वलायन इत्यादि सूत्रकारोंके रचेहुए सूत्र हैं तथा न्याय मीमांसा और ब्रह्मसूत्र इत्यादि

षट्दर्शनोंके सूत्र हैं तथा ब्राह्मण इत्यादि ग्रन्थोंमें जो इस विषयके लक्ष्य करानेवाले पद हैं उन पदोंके द्वारा भी इस क्षेत्रक्षेत्रज्ञका विषय पूर्णप्रकार वर्णन कियागया है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह विषय ऐसा गम्भीर है और ज्ञानका मुख्य अंग है जिसके बिना जाने कोई ज्ञानी नहीं होसकता वरु इस विषयको ज्ञानका मूल समझना चाहिये इसी कारण श्रीआनन्दकन्द बृजचन्दने इस ज्ञानके षट्कके आरम्भ करते ही सबसे पहले इसी विषयको छेडा है ।

सनातनधर्मके जितने आचार्य आज तक हुए सबोंने अपने ग्रन्थोंमें कुछ न कुछ इस विषयकी मीमांसा करही दी है। हां! इतना अवश्य कहना होगा, कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञको किसीने प्रकृति और पुरुष कहकर पुकारा है, किसीने ब्रह्म और उसकी माया कहकर पुकारा है और किसीने क्षेत्रको प्रकृति और क्षेत्रज्ञके दो भेदोंको जीव और ईश्वर कहकर पुकारा है ।

महर्षियोंने भी इन्हीं तीनोंको ईश्वर, माया और जीव कहकर वर्णन किया है ।

शंका— भगवान्ने " ब्रह्मसूत्रपदैः " ऐसा क्यों उच्चारण किया ? केवल 'ब्रह्मसूत्रैः' वा 'ब्रह्मपदैः' इतना ही क्यों नहीं कहा ? क्योंकि सूत्र भी तो पद ही होते हैं फिर सूत्र और पद दोनों कहने की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— 'सूत्र' और 'पद' इन दोनों शब्दोंमें बहुत ही अन्तर है सो सुनो !

" स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं स्वरेवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥

बहुत ही थोडे अक्षरवाला हो, सन्देहरहित हो, पूर्णप्रकारे सब ओरसे सारवस्तुमात्रको जनानेवाला हो, जिसमें किसी प्रकारकी रुकावट अर्थात् विराम न हो, किसी प्रकारके अर्थकी न्यूनता न हो और जिसमें कोई विद्वान् किसी प्रकारका दोष न निकाल सके उसीको सूत्रविद् सूत्रके नामसे पुकारते हैं और वह सूत तटस्थलक्षण करके विषयको निरूपण करता है जैसे ' जन्माद्यस्य यतः' इसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं जो तटस्थ लक्षण करके ब्रह्मका प्रतिपादन करता है। इस सूत्रने ब्रह्मका दर्शन उसके किसी गुण वा रूप करके नहीं किया केवल तटस्थ लक्षण जो समीप करके एक संकेतमात्र कहाजासकता है ऐसे किया है । जैसे किसीने कहा, कि " जिसकी लाठी उसकी भैंस" यद्यपि इस वाक्यसे यथार्थ तात्पर्य सिद्ध नहीं होता तथापि वीरता प्रकट करनेके निमित्त यह वाक्य एक सूत्रमात्र है इसी प्रकार " जन्माद्यस्य यतः " इससे कोई भी अर्थ ब्रह्मके गुण अथवा नामका निरूपण करनेवाला नहीं निकलता तथापि ब्रह्मको तो यह तटस्थ लक्षणसे भली भांति प्रगट करता है। ऐसे ही अन्य सूत्रोंको भी जानना ।

'पद' उसे कहते हैं जो साक्षात् ब्रह्मको प्रत्यक्षरूपसे प्रकट करनेवाला हो जैसे " सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " वह ब्रह्म सत्यस्वरूप है,

तथा ज्ञानस्वरूप है और आनन्दस्वरूप है। इसी कारण भगवानने ब्रह्मसूत्र और ब्रह्मपद दोनोंका कथन किया।

कोई-कोई इस वाक्यको कर्मधारय समाससे ऐसा भी अर्थ करते हैं, कि ब्रह्मसूत्रोंके जो पद हैं अर्थात् व्यास इत्यादि ऋषियोंके मुखसे जो ब्रह्मके निरूपण करनेवाले संक्षिप्त पद हैं उनके द्वारा इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञके विषयका वर्णन कियागया है।

फिर भगवानने जो इस वाक्यके साथ "हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" वाक्यकी योजना की तिसका यह विशेष तात्पर्य है, कि नाना प्रकार युक्तियों द्वारा जो तत्त्व निरूपण कर निश्चय करलियाजावे जैसे श्वेत-केतुने जब अपने पिता उद्दालक ऋषिके समीप जाकर ब्रह्मके विषय जिज्ञासा की है तब उसके समझानेके लिये उद्दालकने एक अत्यन्त श्रेष्ठ युक्ति विचारकर कहा, कि " ॐ न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्दीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यतीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यतीति न किञ्चन भगव इति ॥"

(छा० प्रपा० ६ खं० १२ श्रु० १)

अर्थ— उद्दालकने कहा, कि हे बेटा! इस बरगदके वृक्षका एक फल ले आ! श्वेतकेतु झट एक फल लाकर बोला भगवन! फल ले आया, पिताने कहा इसे तोड डाल! पुत्रने झट तोडकर कहा भगवन्! तोडदिया पिताने कहा तू इसमें क्या देखता है? पुत्रने कहा मैं इसके भीतर बहुतसे छोटे-छोटे बीजोंको देखता हूं

पिताने कहा इन बीजोंमेंसे एक बीज तोडडाल ! पुत्रने झट तोडकर कहा ! भगवन् तोडदिया, तब पिताने पूछा, कि अब तू इसमें क्या देखता है ? पुत्रने कहा भगवन् ! मैं तो अब इसमें कुछ नहीं देखता हूं, तब पिताने कहा हे पुत्र ! जिसे तू कुछ नहीं कहता है वही ब्रह्म सत्ता इस बीजमें स्थित है। जिसका विस्तार यह सम्पूर्ण वृक्ष है।

अभिप्राय इस युक्तिका यह है, कि जैसे सम्पूर्ण बरगदके वृक्षका विस्तार एक अत्यन्त छोटेसे बीजमें समाया हुआ है इसी प्रकार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका विस्तार हिरण्यगर्भरूप बीजमें समायाहुआ है सो हिरण्यगर्भ ब्रह्मस्वरूप ही है।

तात्पर्य यह है कि उद्दालकने युक्तिद्वारा ब्रह्मको निरूपण कर अपने पुत्र श्वेतकेतुके हृदयमें ब्रह्मसत्ताका निश्चय करादिया इसीको भगवान्ने "हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" कहा है ॥ ५ ॥

एवम्प्रकार श्रीभगवान् इस विषयका विस्तार दिखलाकर अब अगले दो श्लोकोंमें संक्षिप्तरूपसे 'क्षेत्रका' स्वरूप वर्णन करते हैं।

मू०— महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— महाभूतानि (पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि) अहंकारः (महाभूतकारणमहंप्रत्ययलक्षणः) बुद्धिः (निश्चयात्मिका वृत्तिः) अव्यक्तम् (प्रकृतिः ईश्वरशक्तिः सूक्ष्मं सर्वकारणं सत्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानम्) च, एव, दश इन्द्रियाणि (श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राण-

ख्यानि ज्ञानोत्पादकत्वात् ज्ञानेन्द्रियाणि पंच पादपायूपस्थाख्यानि कर्मनिर्वर्त्तकत्वात् कर्मेन्द्रियाणि पञ्च) एकम् (संकल्पविकल्पात्मकं मनः) च, इच्छा (पूर्वोपलब्धसुखहेतुसजातीये हेतौ उपलभमान इदं मे स्यादिति स्पृहा) द्वेषः (अनुभूतदुःखहेतुसजातीये हेतावुपलभमाने इदं मे मा भूदिति चित्तवृत्तिः) सुखम् (प्रसन्नत्वात्मकमनुकूलम्) दुःखम् (अप्रसन्नत्वात्मकं प्रतिकूलम्) संघातः (देहेन्द्रियाणां संहतिः) चेतना (चैतन्याभासरसविद्धान्तःकरणवृत्तिः । शुद्धसत्त्वमयत्वाद्विमलादर्शवच्चित्प्रतिबिम्बग्राहिणी बुद्धिः) धृतिः (ययावसादप्राप्तानि देहेन्द्रियाणि ध्रियन्ते सा) एतत्, सविकारम् (विकारेण महदादिना तद्विकारेण चेच्छादिना सहितम् । इन्द्रियविकारादिसहितं वा) क्षेत्रम्, समासेन (संक्षेपेण) उदाहृतम् (उक्तम्) ॥ ६, ७ ॥

पदार्थः— (महाभूतानि) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांचों महाभूत तथा (अहंकारः) उक्त पांचों भूतोंके उत्पन्न होनेका कारण जो अहंकार फिर (बुद्धिः) तिस अहंकार का कारण जो अध्यवसाय लक्षण करके अन्तःकरणकी निश्चयात्मिका वृत्ति जिसके द्वारा सब कुछ जानाजाता है जिसे महत्तत्त्वके नामसे भी पुकारते हैं फिर (अव्यक्तम्) तिसका भी कारण जो ईश्वरकी महासूक्ष्म प्रधान शक्ति (च, एव) फिर निश्चय करके (दश इन्द्रियाणि) श्रवण, चर्म, चक्षु, जिह्वा और नासिका ये पांचों ज्ञानेन्द्रियां और वाक्, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ ये पांचों कर्मेन्द्रियां सब मिलकर जो दश हैं (एकम्, च) फिर एक जो मन

तथा (पंचेन्द्रियगोचरा च) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पांचों विषय महाभूतोंके गुण हैं फिर (इच्छा) पहले जो किसी वस्तु सें सुखकी प्राप्ति होचुकी है फिर उसी प्रकारकी वस्तु सम्मुख होनेसे जो ऐसा मन करता है, कि यही फिर मुझे प्राप्त हो उसीको इच्छा कहते हैं ऐसी जो इच्छा फिर (द्वेषः) पहले जिस किसी वस्तुसे दुःख उत्पन्न होचुका है वैसी वस्तुके सम्मुख आनेसे जो ऐसी मनोवृत्ति होती है, कि यह मुझसे दूर रहे उसे द्वेष कहते हैं सो जो द्वेष है तथा (सुखम) मनको प्रसन्न करनेवाली अपने अनुकूल जो दशा फिर (दुःखम) अपने मनको अप्रसन्न करनेवाली जो अपनी प्रतिकूल दशा (संघातः) इस पांचभौतिकशरीरके साथ जो इन्द्रियों का संग है ऐसा जो संघात (चेतना) चैतन्यका आभास (छाया) जो बुद्धिपर पडती हैं (धृतिः) अत्यन्त क्लेशकी अवस्थाको देखकर जो मनमें धीरज धारण करनेका प्रयत्न है (एतत) ये सब (सविकारम) उत्पत्ति और नाशके विकार सहित (समासेन) संक्षेप करके (क्षेत्रम) क्षेत्र (उदाहृतम) कथन किया गया है ॥ ६, ७ ॥

भावार्थः— श्रीआनन्दकन्द भगवानने जो अर्जुनके प्रति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके स्वरूपोंको संक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है इन दोनोंमें पहले क्षेत्र (शरीर) का संक्षेपसे वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**] अर्थात १. महाभूत, २. अहंकार, ३. बुद्धि, ४. अव्यक्त, तथा [**इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः**] ५. दशों इन्द्रियां-

और ६. मन, ७. पांचों इन्द्रियगोचर फिर [इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः] ८. इच्छा, ९. द्वेष, १०. सुख, ११. दुःख, १२. संघात, १३. चेतना; और १४. धृति [एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्] ये सब १४हों तत्त्व एकसाथ मिलकर सर्वप्रकारके विकारोंके सहित संक्षेपकरके एक क्षेत्र कहेगये हैं इसलिये यह एक ही शरीर क्षेत्रके नामसे पुकारा जाता है।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ ये सब तत्त्व सांख्य और वेदान्त दोनों के मतसे वर्णन कियेजाते हैं—

१. महाभूतानि—'महाभूतानि पंचैव खानिलाग्न्यम्बुभूमिभिः' (शब्दचन्द्रिका) अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वीसे पांचों महाभूतोंका बोध करना। क्योंकि ये ही पंचमहाभूत सृष्टिके कारण हैं इन पांचोंकी उत्पत्ति इनकी तन्मात्रासे है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचों तन्मात्रा हैं जो अत्यन्त सूक्ष्मस्वरूपमें रहती हैं। प्रमाण— "तन्मात्रेभ्यो वियद्वायुर्वन्ह्यम्बुचवसुन्धरा। एतानि पंच जायन्ते महाभूतानि तत्क्रमात्" अर्थात् आकाश वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी ये पांचों क्रमसे अपनी-अपनी सूक्ष्म तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे उत्पन्न होते हैं। जैसे अत्यन्त छोटे सूक्ष्म बरगदके बीजसे सारे बरगदका महा विस्तारस्वरूप बन जाता है ऐसे तन्मात्रासे ये महाभुत उत्पन्न होते हैं। कैसे उत्पन्न होते हैं ? इनका क्या क्रम है ? सो पाठकोंके कल्याणार्थ वर्णन कियाजाता है।

शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं वियज्जायते । शब्दतन्मात्रासहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुर्जायते । शब्दतन्मात्रास्पर्शतन्मात्रासहितात् रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणो वह्निर्ज्जायते । शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्रसहितात रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणं वारि जायते । शब्दतन्मात्रास्पर्शतन्मात्रारूपतन्मात्रारसतन्मात्रासहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणावसुन्धरा जायते " (इति भावप्रकाशस्य पूर्वखण्डे प्रथमभागे)

अर्थ— शब्द तन्मात्रासे शब्द गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। फिर इसी शब्द तन्मात्राके सहित स्पर्श तन्मात्रासे अर्थात् शब्द और स्पर्श दोनों तन्मात्राओंके मेलसे शब्द और स्पर्श गुणवाला वायु उत्पन्न होता है । तथा शब्द तन्मात्रा और स्पर्श तन्मात्रा सहित रूप तन्मात्रासे शब्द, स्पर्श और रूप गुणवाली अग्नि उत्पन्न होती है। अर्थात् शब्द, स्पर्श और रूप इन तीनों बीजोंके मिलनेसे अग्निकी उत्पत्ति होती है । तथा शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा और रूप तन्मात्राके साथ रस तन्मात्राके मिलनेसे शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला जल उत्पन्न होता है। फिर शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा और रसतन्मात्राके साथ गन्ध तन्मात्राके मिलनेसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है । (यह भावप्रकाश ग्रन्थके पूर्वखंड प्रथम भागमें वर्णन कियाहुआ है)

अब इन पांचों भूतोंके कौन-कौनसे विकार हैं अर्थात् इनसे कौन-कौन विषय बनते हैं ? वे विलग-विलग कर दिखलाये जाते हैं ।

१. आकाशात्मकम्— शब्दः, श्रोत्रम्, लाघवम्, सौक्ष्म्यम्, विवेकः।

२. वाय्वात्मकम्— स्पर्शः, स्पर्शनम्, रौक्ष्यम्, प्रेरणम्, धातुव्यूहनम्, चेष्टा ।

३. अग्न्यात्मकम्— रूपम्, दर्शनम्, प्रकाशः, पंक्तिः, औष्ण्यम्।

४. अबात्मकम्— रसो, रसनम्, शैत्यम्, मार्दवम्, स्नेहः, क्लेदः।

५. पृथिव्यात्मकम्— गन्धः, घ्राणम्, गौरवम्, स्थैर्यम्, मूर्त्तिः।

(चरके शरीरस्थाने चतुर्थोऽध्याये)

इनके अर्थ स्पष्ट हैं।

पहले जो कथन करआये हैं, कि इन पांचों तत्त्वोंमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पांचों गुणोंका परस्पर सम्बन्ध है उसे स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं—

" प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीति शब्दनम् । अनुष्णाशीतसंस्पर्शौ वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः । उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुदबुद ध्वनिः । शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् । भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते । नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः सुरभीतरगन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः। श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् "॥ (वेदान्तपंचदशी प्रकरण २ श्लो० ३, ४, ५)

अर्थ— आकाशमें जो केवल शब्द गुण है सो प्रतिध्वनि रूप है अर्थात् किसी प्रकारकी ध्वनि आकाशमें टकराकर उलट पडती है उसे प्रतिध्वनि कहते हैं। जैसे किसी बहुत बडे ऊंचे मन्दिरके भीतर

जाकर किसीका नाम लेकर पुकारो तो उस मन्दिरमें जो मठाकाश है तिससे टकराकर उलटकर फिर वही नाम तुम्हारे कानमें पड़ेगा मानो कोई दूसरा पुकाररहा है यही प्रतिध्वनि आकाशका गुण है। वायुमें जो शब्द और स्पर्श दो गुण हैं उनमेंसे शब्द बीसीके समान होता है और जो स्पर्शगुण है सो अनुष्णाशीत कहागया है अर्थात् शुद्ध वायुके स्पर्शमें न उष्णता है न शीतलता है वायुमें जो उष्णता ज्ञात होती है सो तेजके सम्बन्ध करके है और शीतलता जलके सम्बन्ध करके है।

अग्निमें जो शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण हैं तिनमें भुक्-भुक् ऐसी जो ध्वनि है सो शब्द गुण है और उष्णता (गरमी) स्पर्श गुण है तथा शुक्लता रूप गुण है।

जलमें जो शब्द, स्पर्श, रूप और रस ये चारों गुण हैं तिनमें बुद्-बुद् ऐसी जो ध्वनि है सो शब्द गुण है, शीतलता यह स्पर्श गुण है, शुक्लता रूप गुण है तथा मिठास यह जलका रसरूप है अग्नि और जल दोनोंके रूपमें जो शुक्लता कथन कीगयी है सो इन दोनोंकी शुक्लतामें भेद यह है, कि अग्निकी शुक्लता परायी वस्तुके प्रकाश करनेमें समर्थ है पर जलकी शुक्लता परायी वस्तुके प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं है।

पृथ्वीमें जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचों गुण हैं तिनमें कड-कड ऐसा शब्द गुण है, कठिनता स्पर्श गुण है, अरुण, कृष्ण इत्यादि रूप गुण है, खट्टा, मीठा इत्यादि रस गुण है तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध पृथ्वीका निज गंध गुण है।

अब इन पांचों भूतोंके कौन-कौनसे कार्य इस शरीररूप क्षेत्रमें प्रत्यक्ष देखे जारहे हैं ? सो कहते हैं— आकाशका कार्य श्रोत्र है, वायुका कार्य त्वचा है, अग्निका कार्य चक्षु है, जलका कार्य जिह्वा है और पृथ्वीका कार्य घ्राण है । ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय कहीजाती हैं । फिर इन्हीं पांचों भूतोंसे " वाक्पाणिपादपायूपस्थैरेतैस्तत्क्रियाजनि " वचन, हाथ, पांव, गुदा और लिंग ये पांचों कर्मेन्द्रिय कहीजाती हैं जो क्रमशः इन पांचों तत्त्वोंसे बनी हैं।

सो भगवान भी इन दशों इन्द्रियोंको इसी क्षेत्रमें दिखला रहे हैं ।

तहां सांख्य सूत्रके आचार्य कपिलदेव कहते हैं, कि " स्थूलात पञ्च तन्मात्रस्य " (सांख्यदर्शन अ० १ सू० ६२) स्थूल जो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी हैं इन पांचोंसे इनकी तन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका अनुमान होता है ये तन्मात्रा अत्यन्त ही सूक्ष्म परमाणुरूप हैं ।

आकाशसे शब्द तन्मात्राका अनुमान कैसे होता है? सो कहते हैं, कि जिस वस्तुमें जहां-जहां आकाश अधिक है तहां-तहां शब्द भी अधिक होता है । जैसे किसी मृदंग वा पखावजके भीतर अधिक पोल होनेसे शब्द अधिक होता है यदि इनकी पोलमें मिट्टी भरदें तो उतना शब्द नहीं होगा हां कुछ थोडासा शब्द फट-फट इत्यादिका होहीगा इसका कारण यही है, कि कोई भी वस्तु बिना आकाशके नहीं है । जहां घन मिट्टी वा काष्ठ है तहां भी आकाश तो है ही । क्योंकि यदि आकाश न हो तो काष्ठमें कील तथा पृथ्वी वा दीवालों

में खूंटियां कैसे गाडीजावें। आकाश रहनेके कारण ही काष्ठ वा मृत्तिका के परमाणु इधर उधर दबजाते हैं तथा कील और खूंटोंको प्रवेश करनेका स्थान मिलता है इससे सिद्ध होता है, कि आकाश सर्वत्र है जहां अधिक है तहां अधिक और जहां जितना न्यून है तहां तितना न्यून शब्द होता है।

अब देखाजाता है, कि वायुसे स्पर्श तन्मात्राका अनुमान होता है जो शरीरके चर्मद्वारा जानाजाता है किन्तु वायुमें आकाशका भी मेल है इसलिये किंचित् शब्द भी होता है। जैसा पहले दिखला आये हैं।

इसी प्रकार अग्नि अर्थात् तेजसे रूपतन्मात्राका अनुमान यों होता है, कि घोर अंधकारमें किसी पदार्थकी आकृतिका बोध नहीं होता है न उसके रंगका बोध होता है। अँधेले घरमें थाली, लोटे, सन्दूक, वस्त्र, बिछावन इत्यादि अनेक वस्तु पडी रहती हैं तहां वायुसे आकाशसे, जल वा पृथ्वी किसीसे भी किसी रूपका बोध नहीं, होगा पर एक छोटासा दीपक हाथमें लेते ही सब वस्तुओंके रूप रंग दीखने लगजावेंगे। इससे तेजद्वारा रूपका अनुमान होना सिद्ध होता है इस तेजमें वायु और आकाशका भी संयोग है सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि दीपकको किसी ढक्कनसे ढकदो तो आकाश और वायुकी न्यूनताके कारण दीपक बुझजावेगा। इसी कारण तेजमें स्पर्श और शब्दका भी अनुमान होता है।

जलसे रस तन्मात्राका अनुमान होता है क्योंकि मीठापन खारा-पन, कडुआपन इत्यादि जितने स्वाद हैं सब रस द्वारा जानेजाते हैं।

देखो ! आम, लीची इत्यादि फल जबतक कच्चे रहते हैं तब ही तक उनमें भिन्न-भिन्न स्वाद हैं सुखजानेपर स्वाद नहीं रहता । क्योंकि उनमें जलका भाग न्यून होता चलाजाता है, जैसे २ जलका भाग न्यून होता चलाजाता है स्वाद भी घटता चलाजाता है । यदि शंका हो, कि स्वाद रस ही से अर्थात् वस्तुके आर्द्र रहनें ही से होता है तो चावल, मक्का, चना इत्यादिको भूनडालनें पर स्वाद नहीं होना चाहिये फिर इनमें स्वाद क्यों होता है ? । इसका उत्तर यह है, कि भुनीहुई वस्तुमें जो स्वाद है सो पहले सिद्ध होचुका है वह पृथ्वीका है क्योंकि पृथ्वीमें भी स्वाद है, कि किसी स्थूल तत्त्वमें उससे सूक्ष्म तत्त्वोंका गुण भी मिला रहता है । सो स्थूल पृथ्वीमें जो जलका मेल है तिसका स्वाद अवश्य रहता है । इसी कारण भुनी वस्तुमें भी स्वाद है । दूसरी बात यह है, कि जिह्वामें रस है सूखी वस्तु भी जिह्वापर पडती है तो जिह्वासे रस निकलकर उस सूखी वस्तुको सरस करदेता है सो पहले दिखलाआये हैं, कि जलका कार्य जिह्वा है । इस जलमें भी शब्द, स्पर्श, रूप और रस चारोंका अनुमान होता है ।

पृथ्वीसे गन्ध तन्मात्राका अनुमान होता है क्योंकि जितने पदार्थ पृथ्वीसे निकलते हैं सबोंमें गंध होती है जैसे चमेली, गुलाब, केवडा जूही, मालती, मन्दार, वकुल इत्यादि पृथ्वीमें अन्य चारों तत्त्वोंका भी मेल है इसलिये शब्द स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांचोंका अनुमान पृथ्वीसे ही होता है ।

यदि शंका हो, कि पृथ्वीसे पत्थर अर्थात् पर्वत भी तो बनता है तो पत्थरमें गंध क्यों नहीं होती ? उत्तर इसका यह है, कि पत्थरके

परमाणुओंके अत्यन्त घन होजानेके कारण वायुसे वे उडकर नासिका तक नहीं पहुंच सकते इसी कारण गंधका बोध नहीं होता।

यहां तक पांच महाभूत और उनकी तन्मात्राओंका विचार किया गया सो सब इसी शरीररूप क्षेत्रके साथ हैं अर्थात् इनहीके मेलसे यह क्षेत्र तयार हुआ है।

अब ये कहांसे आये अर्थात् इनके आनेका कारण क्या है? सो भगवान् कहते हैं—

२. अहंकारः— इन सब भूत और तन्मात्रा तथा इनके कार्य इन्द्रिय इत्यादिका भी कारण अहंकार है इनही पूर्वोक्त तन्मात्रा और इन्द्रियादिके द्वारा इस अहंकारका अनुमान किया जाता है सो सांख्य के सूत्रकार भी कहते हैं, कि "बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहंकारस्य" (सां० द० अ० १ सू० ६३) अर्थात् बाहरके कार्योंसे और अन्तः की इन्द्रियोंसे तथा (तैः) पांचों तन्मात्राओंसे अहंकारका अनुमान होता है। यदि यह अहंकार न होता तो इन इंद्रियों द्वारा तन्मात्राओं का बोध कौन करसकता? ये सब इंद्रियां तथा तन्मात्रा इत्यादि अपने महाभूतोंके साथ जडवत् पत्थरके समान निरर्थक पडी रहती हैं पर केवल अहंकार है जो इन सबोंका मुख्य कारण है अर्थात् अहंकारसे इनकी उत्पत्ति समझनी चाहिये। तात्पर्य यह है, कि बाह्यके सब कार्योंको अन्तःकी इंद्रियों द्वारा बोध करानेके लिये मुख्य तत्त्व अहंकार ही है, जिससे बोध होता है, कि मैं मनुष्य हूं, ब्राह्मण हूं, क्षत्रिय हूं, राजा हूं, यह मेरा शरीर है, मैं ऐसा करता हूं, मैं जीता हूं, मैं मरता हूं, मैं नरक और स्वर्ग जाता हूं और मैं इसका हूं यह मेरा है।

पुराणादिकोंमें कई ऋषियोंके मतानुसार यह अहंकार तीन प्रकारका है—

"सात्विकः राजसः तामसश्च। सात्विकाहंकारात् इन्द्रियाधिष्ठातारो देवामनश्च जातम् । राजसाहंकारात् दशेन्द्रियाणि जातानि । तामसाहंकारात् सूक्ष्मपंचभूतानि जातानि" ।

अर्थ— सात्विकादि तीनों प्रकारके अहंकारोंमें सात्विक अहंकारसे सब इंद्रियोंके देव तथा मनकी रचना हुई, राजसी अहंकारसे सब इंद्रियां उत्पन्न हुई और तामसी अहंकारसे पांचों सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति हुई ।

३. बुद्धिः— इसी बुद्धिको सांख्य शास्त्रवाले महत्तत्त्वके नामसे भी पुकारते हैं यह अहंकारका भी कारण है अर्थात् इसी बुद्धि नाम महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है इसी कारण यह बुद्धि नाम महत्तत्त्व पूर्वोक्त अहंकारका भी कारण है सो अन्तःकरणकी एक केवल वृत्ति है जिसे निश्चयात्मिका वृत्ति कहते हैं। बिना बुद्धि * अहंकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि जब बुद्धि पूर्णप्रकार निश्चय करलेती है, कि अमुक वस्तु यही है तब अहंकार स्वीकार करता है, कि यह जो वस्तु निश्चय होचुकी है वह मेरी है। जैसे यही शरीर है जिसमें हाथ, पांव, नाक इत्यादि हैं तब यह कहाजाता है, कि यह मेरा शरीर है, इसी प्रकार जब बुद्धि

* यहां अहंकार शब्दसे मलिन अहंकारसे जिसे काम, क्रोध, लोभ, मोहके साथ संयुक्त करते हैं तात्पर्य नहीं है वरु उस अहंकारसे तात्पर्य है, कि जो शुद्ध, निर्मल, निर्विकार अहंकार है और जिससे सारी सृष्टिमात्र ग्रहण करनेमें आती है और जो सम्पूर्ण चेतका कारण है ।

निश्चय करलेती है, कि यह जो एक पर्वताकार ईंटके खम्भ और लकडियोंके कपाटादिसे संयुक्त एक विशाल अटारी है तब अहंकार स्वीकार करता है, कि यह मेरी अटारी है।

जितने पदार्थ नाम और रूप वाले हैं तथा इंद्रियों द्वारा जितनी क्रियाएं होती हैं सबोंको बुद्धि निश्चय करती जाती है और अहंकार स्वीकार कर अपने भण्डारमें रखता जाता है। जैसे बनारस (काशी) के हाटमें एक किसी मनुष्यने किसी मारवाडीकी दूकानसे सौ थान मलमल मोल लेनेके पश्चात् उस दूकानमें जो सहस्रों थान नैनसुख एकरंगे, डोरिये इत्यादिके रखेहुए हैं उनमेंसे केवल एक थान मलमल का लेकर लेनेवाला अपनी बुद्धिसे पहचानताजाता है, कि अन्य थानों से इतर यही मलमलका थान है और अहंकार कहताजाता है, कि हां यह मेरा है मेरा-मेरा करताहुआ सौ मलमलके थानोंको एकलकर एक भण्डारमें रख एक गट्ठर बना कहदेता है, कि अन्य सब गट्ठर मारवाडीके हैं और यह मेरा गट्ठर है उठावो मेरे घरपर पहुँचादो।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इस शरीररूप क्षेत्रमें महाभूतोंके जितने विस्तार हैं सब बुद्धिद्वारा निश्चय होतेजाते हैं और प्राणी कहता है, कि यह मेरा शरीर अर्थात् क्षेत्र है इन इसलिये अहंकार और बुद्धिको भी क्षेत्र ही जानना क्षेत्रज्ञ नहीं। क्षेत्रज्ञ तो इनसे इतर है सो भगवान् आगे दिखलावेंगे।

अहंकारका भी कारण बुद्धि है तिसमें बुद्धिको अहंकारके कारण होनेमें सांख्य शास्त्रका भी प्रमाण है, कि " तेनान्तःकरणस्य "

(सां० द० अ० १ सू० ६४) अर्थात् तिस अहंकारसे बुद्धिका अनुमान होता है तात्पर्य यह है, कि अहंकारका कारण बुद्धि है जिसे महत्तत्त्व कहते हैं यही बुद्धि पहचानती है, कि यह सुख है, यह दुःख है, यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है, यह दिन है, यह रात्रि है, यह दैत्य है, यह देव है यह चोर है, यह साधु है इत्यादि ।

४. अव्यक्त— अव्याकृत जो यह प्रकृति है सो प्रकृति उस पूर्वोक्त कथन कीहुई बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्वका भी कारण है। प्रमाण- " तत् प्रकृतेः " (सां० द० अ० १ सू० ६५) अर्थात् तिस बुद्धि नाम महत्तत्त्वसे अव्यक्त जो प्रकृति तिसका अनुमान होता है । मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस महत्तत्त्वका भी कारण प्रकृति है जिसे भगवान्ने इस श्लोकमें अव्यक्तके नामसे उच्चारण किया है । इस श्लोक में भगवान्ने कार्य कारणके क्रमसे पदोंका उच्चारण किया है अर्थात् प्रथम कार्य फिर उसका कारण कहते चलेगये हैं जैसे " महाभूता-न्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च " पहले पांचों महाभूत, फिर तिनका कारण अहंकार, अहंकारका कारण महत्तत्त्व (बुद्धि) बुद्धिका कारण अव्यक्त (प्रकृति) जहां सब महाभूत और प्राण समुदाय स्थूल-धर्म छोड, सूक्ष्म होकर लय होजाते हैं और फिर वहांहीसे निक-लते हैं ।

सांख्य शास्त्रने इसी प्रकृतिको प्रधान माना है और कहा है, कि " मूले मूलाभावादमूलमूलम् " (सां० द० अ० १ सूत्र ६७) अर्थात् मूलमें मूलका अभाव होता है इसलिये मूलका मूल नहीं

होता। क्योंकि मूलका भी यदि मूल हो तो अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी इसलिये मूलका भी मूल कहना नहीं बनता। इसी कारण अव्यक्त प्रकृतिको सबका मूल मानना चाहिये। यद्यपि इस सिद्धान्त को वेदान्त खण्डन करता है क्योंकि जैसे सांख्य शास्त्रवालोंने महाभूतादिकी रचनाको कारणकार्य द्वारा मानतेहुए अन्तमें सबका मूल कारण प्रकृतिको माना है जिसे प्रधानके नामसे पुकारा है। पर वेदान्त इसे प्रधान नहीं मानता इससे दूसरे प्रकार कुछ अधिक किसी अन्य वस्तुको प्रधान मानता है। अर्थात् ब्रह्मको ही सृष्टिका मुख्य कारण मानता है और तिस ब्रह्मके ईक्षणको प्रधान मानता है। तहां ब्रह्मसूत्रका प्रमाण है- " ईक्षतेर्नाशब्दम " (अ० १ पाद १ सू० ५) अर्थात् ब्रह्मके ईक्षणसे सारी रचना हुई प्रधानसे नहीं। तहां श्रुति भी ऐसे ही कहती है- " स ईक्षत लोकान्नुसृजा " (ऐ० अ० १ खं० १ श्रु० १) "तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय" अर्थात् उस ब्रह्मने आपसे अपनेको अवलोकन किया और कहा, कि सृष्टिकी रचना करूं तथा मैं एक हूं बहुत होजाऊं। ऐसी इच्छा करते ही 'स इमान् लोकानसृजत' उसने इन लोकोंकी रचना करदी। सो रचना किस क्रमसे हुई? तो कहते हैं, कि " ॐ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः" (तैत्ति० अ० २ ब्रह्मानन्द वल्ली श्रु० १ में देखो)

अर्थ— तिस आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे औषधियां, औषधियोंसे अन्न, अन्नसे रेत

(बीज) रेतसे पुरुष, एवम् प्रकार क्रमशः इस पुरुषका शरीररूप क्षेत्र उत्पन्न हुआ यह वेदान्तसे सिद्ध किया गया है। क्योंकि वेदान्त प्रधान प्रकृतिको जगत्का कारण न मानकर केवल आत्माको ही सम्पूर्ण सृष्टिका कारण मानता है। वरु वेदान्त तो सदा यही निश्चय करता है, कि ये पंच महाभूत और उनकी तन्मात्रा सब आत्मा ही में रहती हैं और उसीसे निकलकर सर्वत्र फैल जाती हैं।

तहां प्रमाण श्रु०— " ॐ एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥"

(प्रश्नोप० प्रश्न ४ श्रु० ७, ८)

अर्थ— पिप्पलादमुनि अपने शिष्य गार्ग्यमुनिको उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे सौम्य! जैसे सन्ध्याकालमें सर्व पक्षीगण बसेरा लेनेके लिये वृक्षकी ओर जाते हैं इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अविनाशीरूप परमात्मामें लय होजाता है। क्योंकि अग्निके विस्फुलिंग के समान ये सब उसी परमात्मासे निकलते और फिर उसीमें लय होजाते हैं।

अब वे कौन २ पदार्थ हैं ? सो कहते हैं– पृथिवी और तिसकी मात्रा गन्ध, जल और तिसकी मात्रा रस, अग्नि और तिसकी मात्रा रूप, वायु और तिसकी मात्रा स्पर्श। आकाश और तिसकी माला शब्द अर्थात् गन्धादि अपंचीकृत महाभूत सूक्ष्म और पृथिवी इत्यादि पंचीकृत महाभूत स्थूल। फिर चक्षु और तिससे देखने योग्य वस्तु। श्रोत्र (कान) और तिससे सुनने योग्य वस्तु। घ्राण (नाक) और तिससे गन्ध लेने योग्य वस्तु। रसना (जिह्वा) और उससे रस लेने योग्य वस्तु, त्वचा (चर्म) और उससे स्पर्श करने योग्य वस्तु। वाचा और बोलने योग्य वस्तु। दोनों हाथ और उनसे लेने देने योग्य वस्तु। उपस्थ (शिश्नेन्द्रिय) और आनन्द देने योग्य वस्तु। तथा दोनों पांव और उनसे चलने योग्य वस्तु अर्थात् सब ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां और तिनके जितने विषय हैं तथा मन और मनन करने योग्य वस्तु, बुद्धि और उससे बोध करने योग्य वस्तु, अहंकार और उसके द्वारा अहंकरने योग्य वस्तु तथा चित्त और चिन्तन करने योग्य वस्तु, पुनः प्रकाश और तिससे प्रकाशित करने योग्य वस्तु और प्राण तिससे धारण करने योग्य वस्तु, ये सबकी सब उसी परमात्मासे निकलती हैं फिर उसीमें लय होजाती हैं ?

सांख्यने जो अव्यक्त (प्रकृति) महत्तत्त्व और अहंकार ये तीन तत्त्व स्वीकार किये हैं उनको वेदान्त अंगीकार नहीं करता वेदान्त तो अव्यक्त (प्रकृति) को ईश्वरकी माया करके स्वीकार करता है जिसके विषय आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र प्रथम इसी गीताके अ० ७ श्लो० १४ में कह आये हैं कि "मम माया दुरत्यया" बुद्धि जिसे सांख्यने

महत्तत्त्वके नामसे पुकारा है उसे वेदान्त भगवत्का ईक्षण मात्र कहता है अर्थात 'तदैक्षत' श्रुतिके वचनमें जो ईक्षण है वही बुद्धि है और इसी श्रुतिमें " बहु स्यां प्रजायेय " जो भगवान्में उस अपनी मायाको एकसे अनेक करदेनेका संकल्प है वही अहंकारके नामसे प्रसिद्ध है।

सांख्य और वेदान्तमें इतना ही अन्तर है, कि केवल शब्दोंका झगडा है। बहुतेरे प्राणी ऐसा कह पडते हैं कि सांख्यने ईश्वर नहीं माना सो कहनेवालेकी भूल है हां! जिस प्रकार वेदान्त मानता है ऐसे माने वा न माने पर आरंभके संयोग में तो सांख्यने पुरुषको माना ही है फिर "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि" महावाक्योंके द्वारा पुरुष और महेश्वरको एक माननेमें सन्देह क्या रहा? सांख्यने स्वयं कहा है, कि " प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वमनित्यम् " (सांख्य० अ० ५ सू० ७२) अर्थात कारण रूप प्रकृति और चेतन रूप पुरुष ये दोनों नित्य हैं, और इनसे इतर जितने कार्य्य रूप पदार्थ हैं सब अनित्य हैं। वेदान्त भी कहता है, कि " मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् " अर्थात मयाको प्रकृति जानो और तिस मायावीको महेश्वर जानो! इन दोनों वाक्योंमें समता देख पडती है, इसलिये सांख्य वा वेदान्त में कोई उलझन नहीं, परस्पर सिद्धान्त सबोंका एकही है। देखो! सांख्य ने कहा है, कि " स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता " (सांख्य० अ० ३ सू० ५६) अर्थात वह परमपुरुष निश्चयकरके सर्वज्ञ है और सबका कर्त्ता है, फिर कहा है, कि " ईदृशेश्वरसिद्धिःसिद्धा " (सांख्य० अ० ३ सू० ५७) अर्थात् ऐसे ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। जो लोग सांख्यके अध्याय १ सू० ९२ " ईश्वरासिद्धेः का " अर्थ यों समझरहे हैं, कि

सांख्य ईश्वरको असिद्ध कहकर ईश्वर नहीं मानता सो कहने वालों-को इसके यथार्थ अर्थका बोध नहीं है। सांख्यकर्त्ता श्रीकपिल-देवके कहनेका यह अभिप्राय है, कि जैसे योगियोंकी सिद्धियां और इन्द्रजालकी सिद्धियां बडे २ बुद्धिमानोंके तर्कमें नहीं आसकतीं और उनके यथार्थ भेद समझनेके लिये कोई प्रमाण भी नहीं है इसी प्रकार ईश्वर तर्क और प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होसकता। यदि सांख्य ईश्वरको नहीं मानता होता तो पहले जो अ० ३ सू० ५६, ५७ में ईश्वरको सिद्ध किया तिनसे और इस अ० १ के ६२ सूत्रसे विरोध पडता है सो यह दोष कपिलदेवमें नहीं होसकता क्योंकि वह तो साक्षात् भगवतके अवतार हैं इससे सिद्ध होता है, कि कपिलदेवने केवल तर्क और प्रमाणोंके द्वारा ईश्वरकी सिद्धि नहीं मानी और इस "ईश्वरासिद्धेः" प्रथम अ० के सूत्र ६२ का यही भाव रखा, कि यदि प्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती है तो इसमें "न दोषः" दोष नहीं है। सो यह "न दोषः" पद इसी सूत्रके पूर्व ६० सूत्रसे लेकर अर्थ करना चाहिये अर्थात "ईश्वरासिद्धेर्न दोषः+" यदि प्रमाणोंसे और तर्कोंसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती है तो न हो इसमें दोषनहीं है।

सो प्रमाणोंसे वा तर्कोंसे अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा वा मनबुद्धिद्वारा उस महाप्रभुका ग्रहण न होना तो वेदान्त भी मानता है "श्रुतिः—

+ "सूत्रेष्वदृष्टपदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयम् सर्वत्र" इस व्याकरणकी आज्ञानुसार सूत्र ६० से "न दोषः" पद लेकर सू० ६२ में जोडकर अर्थ करलो।

"ॐ न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो विजानीमः" (केन० श्रु० ३ में देखो) तथा "यत वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे भी तर्क और प्रमाणों द्वारा ईश्वरका ग्रहण न होना ही माना है, इसलिये वेदान्त और सांख्य दोनोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। व्यास और कपिल दोनों भगवानके अवतारे ही हैं संसारके कल्याण निमित्त एकने वेदान्त और एकने सांख्य शास्त्र कथन किया फिर विरोध क्यों होवे ?

इसी कारण भगवान्ने इस श्लोकमें महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्तका वर्णन किया सो सांख्य और वेदान्त दोनोंसे सिद्ध है और ये सभी इसी क्षेत्र (शरीर) में वर्त्तमान हैं अर्थात् इनको भी क्षेत्ररूप ही कहना चाहिये।

५. इन्द्रियाणि— पांचों ज्ञानेन्द्रियां और पांचों कर्मेन्द्रियां ये ही दशों इन्द्रियां हैं जिनका वर्णन ठौर-ठौरपर होचुका है।

६. मनः— (एकञ्च) एक जो मन है जिसे संकल्पविकल्पात्मक-वृत्ति कहते हैं। यह मन यथार्थमें कुछ नहीं है पर सबकुछ हुआ भासता है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः" मनुष्यों को संसारमें जकड़कर मुशकोंसे बांध डालना फिर सबको हटा मुक्त करदेना इसी मनका काम है सो जैसे आकाशकी नीलिमा वा मृगजल की लहरें देखनेमात्र हैं ऐसे यह भी कहनेमात्र है पर यह मन ऐसा बलवान् होरहा है, कि बुद्धिसे बाहर और अहंकारके भीतर केवल मध्यमें खड़ाहुआ दोनोंको अपनी कला दिखलारहा है। पर आप तो

निर्लेप रहता है तथा बुद्धि और अहंकारको व्यवहारोंमें फँसाकर बाजीगरके समान सर्वप्रकारकी धूर्तता, छल, कपट और प्रपंचके फन्दोंसे खेल कराताहुआ बड़े-बड़े बुद्धिमान, योगी, ऋषि और मुनियों को भी ठगलेता है । कई सहस्र हस्तियोंका बल धारण कियेहुए महाराज जीवके द्वारपर मतवाले गजराजके सदृश लापरवा झूमता रहता है । यही इन्द्रियोंको विषयका घोर देदेकर फँसाता रहता है फिर यही मन है जो संकल्पसे सारी सृष्टिकी रचना करडालता है और विकल्पसे नाश करडालता है । जो इस जीवको बन्दी बनाकर चौरासीलाख द्वारोंपर नचाता रहता है जो मनोरथोंका भण्डार, संसारका सार और प्रपंचका आगार है ।

इस मनकी स्तुति यजुर्वेदने यों की है ।श्रुतिः— " ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्चयज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु । यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु । "

अर्थ— प्रज्ञा अर्थात् शरीरके अवयवोंके मध्य जो मन अति उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है तथा चैतन्यस्वरूप है तथा धैर्यका स्वरूप ही है एवं आत्मस्वरूप होनेसे अक्षय प्रकाशस्वरूप है जिसके बिना किसी भी कार्यका सम्पादन नहीं होसकता वह मेरा मन परम कल्याणमय होवे ।

७. इन्द्रियगोचराः— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध जिनका वर्णन पूर्वमें होचुका है वे ही इन्द्रियगोचरनामकरके भी कहेजाते हैं । ये सब भी क्षेत्र ही के अन्तर्गत हैं । अर्थात् महाभूत, अहंकार,

बुद्धि, अव्यक्त, दशों इन्द्रियां, मन और पांचों इंद्रियगोचर ये सबके सब क्षेत्र ही हैं इनमें कोई भी क्षेत्रज्ञ नहीं है ।

उपर्युक्त विषयोंसे इतर भी कौन-कौनसे तत्त्व क्षेत्रके अन्तर्गत हैं? सो भगवान् कहते हैं—

"इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः" ८. इच्छा ९. द्वेष, १०. सुख, ११. दुःख, १२. संघात, १३. चेतना और १४. धृति ये सब भी क्षेत्रके अन्तर्गत ही हैं। जिनका वर्णन नीचे किया जाता है ।

८. इच्छा— पहले जो किसी सुखकी वस्तुसे आनन्दलाभ हुआ है वही वस्तु अथवा उसी प्रकारकी कोई दूसरी सुखदायिनी वस्तु जब फिर इस जीवके सम्मुख आनकर उपस्थित होती है तब उसे देख उसके प्राप्त होनेकी स्पृहा जो मनोवृत्तिमें उत्पन्न होती है उसे इच्छाके नामसे पुकारते हैं। जिसकी प्रबलता होनेसे मनुष्य अपनी सर्व-प्रकारकी मर्यादा तथा गौरवको त्याग द्वार २ दांत निपोडता फिरता है। यही इच्छा है जो बडों-बडोंको दीन बनादेती है। क्योंकि इस इच्छाके हृदयमें उपजते ही बहुत बडे-बडे नरेश और महान् योगीजन भी दीन होजाते हैं। देखो! नारद ऐसे ऋषिके हृदयको शीलनिधि नरेशकी कन्या विश्वमोहिनीके मिलनेकी इच्छाने किस प्रकार दीन बनादिया।

किसीने कहा है, कि 'तबलौं योगी जगतगुरु, जबलौं रहै निराश। जब इच्छा उपजी हिये जगगुरु योगी दास" यह इच्छा योगियोंको भी दास बना छोडती है। जैसे बाजीगर एक छोटेसे दण्डके आश्रय बान्रोंको नचाते हैं ऐसे यह इच्छा बडे-बडे महापुरुषोंको नचा डालती है।

९. द्वेषः— जिस वस्तुकी प्राप्तिसे पहले दुःख प्राप्त होचुका है वही वस्तु तथा उसकी सजातीय वस्तु जब इस जीवके सम्मुख आती है तब चित्तवृत्ति घृणा करती है, कि यह कभी समीप न आवे। ऐसी दशाको द्वेष कहते हैं। इसका वर्णन स्थान-स्थानपर कियाजा-चुका है विस्तारके भयसे यहां नहीं दियागया।

१०. सुखम्— प्रसन्नात्मिका जो वृत्तिकी अनुकूलता है उसे सुख कहते हैं जो प्राप्त होते ही मनको ऐसा प्रसन्न और आनन्दके समुद्रमें डुबादेती है, कि अन्य किसी भी व्यवहारकी सुधि नहीं रहती। मन उस दशामें अपने आप विषयके साथ ऐसा चिपटजाता है, कि शीघ्र छुडाये नहीं छूटता ऐसी दशाको सुख कहते हैं।

"आत्मवृत्तिगुणविशेषः" (इति नैयायिकाः) 'मनसो धर्मः' (इति वेदान्तिकाः) अर्थात् आत्मवृत्तिमें जो एक प्रकारका गुण विशेष है उसे सुख कहते हैं ऐसे नैयायिक कहते हैं। पर वेदविद् ऐसा कहते हैं, कि यह सुख मनका एक धर्म है।

११. दुःखम्— अधर्मसे उत्पन्न जीवके प्रतिकूल सदा अप्रसन्न रखने वाला जो मनका धर्म है उसे दुःख कहते हैं। यह दुःख तीन प्रकारका होता है—

" आध्यात्मिकमाधिभौतिकमाधिदैविकञ्च। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्। मानसं कामक्रोधलोभमोहभयेर्षाविषादविषयाविशेषादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्। बाह्योपायसाध्यं च

दुःखं द्वेधा । आधिभौतिकमाधिदैविकं च । तत्र आधिभौतिकं मानुष-पशुपक्षिसरीसृपस्थावरनिमित्तम् । आधिदैविकं यक्षराक्षसविनायकग्रहा-वेशनिबन्धनम् ।

अर्थ— आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक ये ही तीन प्रकारके दुःख हैं । तहां आध्यात्मिकके दो भेद हैं 'शारीरिक' और 'मानसिक' । वायु, पित्त, कफादिकी विषमताके कारण जो नाना प्रकार के रोग हैं ये शारीरिक दुख कहेजाते हैं। फिर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्षा, विषाद, साधारण विषयोंकी नहीं प्राप्तिका कारण इत्यादि मानस दुःख हैं ये सब आन्तरिक उपायोंसे साधन होनेके कारण आध्यात्मिक दुःख कहेजाते हैं । वाह्य उपाय द्वारा जो दुःखसाध्य हैं उनके दो भेद हैं आधिभौतिक और आधिदैविक । तहां मनुष्य पक्षी, सर्प तथा अन्य स्थावर पदार्थोंके द्वारा जो दुःख हो उसे आधि-भौतिक कहते हैं । फिर यक्ष, राक्षस, विनायक तथा अनेक प्रकारके ग्रहोंके द्वारा जो दुःख हो उसे आधिदैविक कहते हैं ।

वाराहपुराणमें भगवान वाराहने पृथ्वीके प्रति विशेष दुःखोंकी गणना करायी है सो पाठकोंके कल्याणार्थ यहां कथन कियेजाते हैं—

मोह और अहंकारवश भगवानका भजन न करना, विषयभोगमें असन्तुष्टता, परस्त्रीगमन, परोत्ताप करना, नीचबुद्धि होना, हाथी, घोडे इत्यादिपर चढेहुओंको देखकर तरसना, भोजनमें गोरसका नहीं मिलना, शय्याहीन होकर सोना, विद्वानोंकी मण्डलीमें आप मूर्ख होकर टक-टक ताकना, धन रहतेहुए कृपण होना, दो स्त्रियोंका होना, इन

स्त्रियोंमें एकका प्रशंसा योग्य होना और एकका अभागी होना और ब्राह्मण होकर पापमें रत रहना। ये सब बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें अत्यन्त दुःखके मूल हैं।

अब साधारण प्राणियोंको जो दुःखदेनेवाली वार्त्ताएं हैं वे कथन कीजाती हैं "**पारतन्त्र्यम्, आधिः, व्याधिः, मानच्युतिः, शत्रुः, कुभार्या, कुग्रामवासः, कुस्वामिसेवनम्, वहुकन्या, वृद्धत्वम् परगृहवासः, वर्षाप्रवासः, भार्याद्वयम्, कुभृत्यः, दुर्हलंकरणकृषिः**"

उक्त सर्वप्रकारके दुःखोंके निस्तार अर्थात् इनसे छूटनेके अनेक उपाय हैं पर इनमें एक दुःख जो भगवतका भजन न करना है इस का कहीं भी निस्तार नहीं है।

१२. संघातः— देह और इंद्रियोंका जो एकसाथ समूह है उसे संघात कहते हैं सो इस देहके साथ किन-किन इंद्रियोंका संग है ? तिस समूहका वर्णन ऊपर होचुका है।

१३. चेतना— प्रज्ञानाम जो चित्तकी वृत्ति है तिसका नाम चेतना है अर्थात् जैसे तपेहुए लोहेके पिण्डके ऊपर अग्निका आभास देखपड़ता है ऐसे आत्माके तेजके प्रतिबिम्बसे व्याप्त अन्तःकरणों की निश्चयात्मिकावृत्तिका नाम बुद्धि है उसे चेतना कहते हैं। इसीको ज्ञानात्मिकामनोवृत्ति भी कहते हैं। "**सा गर्भस्थबालकस्य सप्तमि-मासैर्भवति**" सो गर्भके बालकोंको सातवें महीने उत्पन्न होती है इसी कारण मन, बुद्धि, अहंकार सब हरेभरे रहते हैं। जैसे वसन्तऋतु किसी वाटिकाके पुष्प, मंजर, पत्ते और फलोंको सुशोभित किये रहती है ऐसे ही यह चेतना इस शरीररूप बाटिकाके मन बुद्धि और इंद्रियोंको सुशोभित

किये रहती है । जैसे शरद् ऋतुकी पौर्णमासीका पूर्ण चन्द रजनीको सुशोभित कर पृथ्वीपर एक अनोखी शोभा प्रदान करता है ऐसे यह चेतना इस क्षेत्रको सुशोभित करती है। अथवा जैसे लोह जड पदार्थ है चुम्बकके सम्मुख हो चारों ओर हिलने, डोलने और नृत्य करने लगजाता है ऐसे यह सम्पूर्ण क्षेत्र तथा इन्द्रियादि और इसके अवयव इस चैतनाके सम्मुख होते ही जडसे चैतन्य होजाते हैं अधिक कहां तक कहाजावे बिना इसके यह शरीर मृतकके समान है ।

१४. धृतिः— आपत्कालमें जिस मनोवृत्तिके बलसे व्याकुलताको दूर हटाकरे सम्पूर्ण शरीरको इन्द्रियोंके साथ स्थिरता रखते हैं उसे धृति कहना चाहिये। यह धृति धर्मका भी अंग है। इसका वर्णन पहले किया जाचुका है ।

अब आनन्दकन्द श्रीसच्चिदानन्द कहते हैं, कि [**एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्**] ये जो मैंने महाभूतोंसे लेकर धृति पर्यन्त ३१ तत्त्व कहे हैं ये सब विकारवान् पदार्थ एक-संग मिलकर क्षेत्र के नामसे कहेगये हैं। इनको मैंने हे अर्जुन! तुझसे संक्षेप करके कह दिया। अर्थात् पांच महाभूत, एक अहंकार, एक बुद्धि, एक अव्यक्त (प्रकृति) दश इन्द्रियां, एक मन, पांच इन्द्रि-यगोचर, एक इच्छा, एक द्वेष, एक सुख, एक दुःख, एक संघात, एक चेतना और एक धृति ये सब मिलकर जो ३१ तत्त्व हुए इनहीके समुदायको क्षेत्र कहते हैं। अर्थात् इस शरीररूप क्षेत्रमें ये ३१ प्रकारके बीज उपजते और विनशते रहते हैं इसीलिये इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं।

इस भूमण्डलमें चौरासी लक्ष योनियां, अन्तरिक्षमें चन्द्र-लोक, सूर्य्यलोक तथा नवों ग्रह छत्तीसों नक्षत्रोंमें जितने शरीरधारी हैं तथा स्वर्गलोकके जो तेतिसकोटि देवोंके शरीर हैं ये सब क्षेत्रके ही नामसे पुकारे जाते हैं। इन सबोंको एक शब्दमें 'क्षेत्र' कहना उचित है ॥ ६, ७ ॥

श्री जगत्‌हितकारी गोलोकविहारीने यहांतक संक्षेपकरके क्षेत्रका स्वरूप वर्णन कर अर्जुनको सन्तुष्ट कर दिया।

अब रहा क्षेत्रज्ञका स्वरूप सो क्षेत्रज्ञके दो भेद हैं— प्रथम व्यष्टिरूप क्षेत्रज्ञ जिसे जीव कहते हैं दूसरा समष्टिरूप क्षेत्रज्ञ जिसे ईश्वर कहते हैं। इन दोनोंके स्वरूपोंका वर्णन भी करना चाहिये था सो यहां न किया गया। इसका कारण यह है, कि जीवरूप क्षेत्र-ज्ञका वर्णन अ० ७ श्लो० ५ में परा प्रकृति कहकर पूर्णप्रकार कर आये हैं। इसलिये पुनरुक्ति दोषके कारण फिर यहां कहना उचित न समझा बच रहा दूसरे क्षेत्रज्ञ ईश्वरका वर्णन सो भगवान् स्वयं अर्जुन के सम्मुख खडे हैं और कहचुके हैं, कि " क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! " (श्लो० २) हे अर्जुन! सब क्षेत्रोंका क्षेत्रज्ञ मुझहीको जान ! अर्थात् सर्वक्षेत्रोंका समष्टिरूप क्षेत्रज्ञ जो ईश्वर सो मैं ही हूं जिसे विराट्‌के नामसे भी पुकारते हैं। तिस विराट्‌रूपका दर्शन अर्जुन रथपर करचुका है और पूर्णप्रकार समझचुका है इस कारण फिर इसके वर्णन करनेकी भी आवश्यकता न रही अतएव भग-वान् अगले पांच श्लोकोंमें केवल ज्ञानका ही वर्णन करना आरम्भ

करते हैं, जिस ज्ञानके द्वारा जीवरूप क्षेत्रज्ञ अपने परम सखा× ईश्वररूप क्षेत्रज्ञके सम्मुख होजाता है इनकी परस्पर प्रीति इसी ज्ञान-द्वारा दृढ होजाती है, क्योंकि जब ज्ञानद्वारा जीव अपने परम मित्र परमेश्वरकी प्रीतिको दृढ करलेता है तब ही इस संसारबन्धनसे छूट परमानन्दको प्राप्त होता है।

मू०— अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥
॥ ८, ९, १०, ११, १२ ॥

पदच्छेदः— अमानित्वम् (विद्यमानाविद्यमानगुणयोरात्मना श्लाघनं मानित्वं तद्वर्जितत्वम् । स्वगुणश्लाघाराहित्यम् वा)

× "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इस श्रुतिके वचनसे जीव और ईश्वर दोनों क्षेत्रज्ञोंका परस्पर सखा होना सिद्ध है ।

अदम्भित्वम् (पूजालाभाख्यात्यर्थं स्वधर्मानुष्ठानप्रकटीकरणं दम्भित्वं तद्वर्जितत्वम्) अहिंसा (कायवाङ्मनोभिः प्राणिनामपीडनम्) क्षान्तिः (सत्यपि सामर्थ्ये अपकारिणि अपकाराचिकीर्षा । परेणापकृतेऽपि निर्विकारचित्ततया तदपराधसहनम् सहिष्णुत्वम्) आर्जवम् (अकौटिल्यम् यथा हृदयं व्यवहरणम्) आचार्योपासनम् * (मोक्षसाधनोपदेष्टुः कायादिना शुश्रूषानमस्कारादिप्रयोगेण सेवनम्) शौचम् (कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनमन्तश्च मनसः प्रतिपक्षभावनया रागादिमलानामपनयनम्) स्थैर्य्यम् (मोक्षसाधने प्रवृत्तस्य विघ्नसद्भावेऽपि तदगणनम् । सन्मार्गे प्रवृत्तस्य तदेकनिष्ठता) आत्मविनिग्रहः (आत्मोपकारत्वादात्मनो देहेन्द्रियादिसंघातस्य स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सर्वस्मान्मोक्षप्रतिकूलमार्गात्प्रतिरुध्य सन्मार्गे स्थापनम्) इन्द्रियार्थेषु (शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु भोगेषु) वैराग्यम् (रागविरोधिन्यस्पृहात्मिका चित्तवृत्तिः) एव, च, अनहंकारः (अहं सर्वोत्तम इति मनसि प्रादुर्भूतो गर्वोऽहंकारस्तदभावः) जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् जन्मनो गर्भवासयोनिद्वारा निस्सरणरूपस्य, मृत्योः प्राणत्यागरूपस्य सर्वमर्मच्छेदनरूपस्य वा, जरायाः प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधपरपरिभवादिरूपायाः, व्याधीनां ज्वरातिसारादिरूपाणां दुःखानामिष्टवियोगानिष्टसंयोगजानामध्यात्माधिभूताधिदैवनिमित्तानां, दोषस्य वातपित्तश्लेष्ममलमूत्रादिपरिपूर्णत्वेन कायजुगुप्सितत्वस्य चानुदर्शनम् पुनःपुनरालोचनम्) पुत्रदारगृहादिषु (आत्मजेषु, जायासु, गेहेषु, आदि ग्रहणात् अन्येष्वपि भृत्यादिषु सर्वेषु स्नेहविषयेषु) असक्तिः (अरतिः । प्रीतित्यागः)

* मोक्षसाधनस्योपदेष्टाऽत्रविवक्षितो न तु भनूक्त उपनीयाध्यापकः ।

अनभिष्वंगः (पुत्रादीनां सुखे दुःखेवाऽहमेव सुखी दुःखी चेत्यध्यासातिरेकाभावः) इष्टानिष्टोपपत्तिषु (हर्षविषादप्राप्तिषु) नित्यम् (सर्वदा) समचित्तत्वम् (तुल्यचित्तता । हर्षविषादराहित्यम् वा) च (तथा) अनन्ययोगेन (अन्याश्रयाणां त्यागेन । अपृथक् समाधिस्तेन) मयि (वासुदेवे) अव्यभिचारिणी भक्तिः (न केनापि प्रतिकूलेन हेतुना व्यभिचरणशीला प्रीतिः) विविक्तदेशसेवित्वम् स्वभावतः संस्कारतो वा अशुच्यादिभिः सर्पव्याघ्रादिभिश्च वर्जितं वननदीतटदेवालयादिदेशं सेवितुं शीलत्वम्) जनसंसदि (जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानामविनीतानां कलहोन्मुखितचित्तानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटोपदेशकानाम् सभायाम्) अरतिः (अरमणम्) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् (अध्यात्मशास्त्रजे ज्ञाने निष्ठावत्त्वम् । आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानमध्यात्मज्ञानं तस्मिन्नित्यत्वम्) तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् (तत्त्वज्ञानस्य प्रयोजनमविद्यानिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च तयोर्दर्शनम् । अथवा अहं ब्रह्मास्मीति साक्षात्कारस्य वेदान्त वाक्यकरणकस्य अमानित्वादिसर्वसाधनपरिपाकफलस्यार्थः प्रयोजनं अविद्या तत्कार्यात्मकनिखिलनिवृत्तिरूपः परमानन्दात्मावाप्तिरूपश्च मोक्षस्तस्यालोचनम) एतत (अमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम) ज्ञानम् (विवेकः) इति, प्रोक्तम् (प्रकर्षेणोक्तम् सम्यक्प्रकारेणोदाहृतम) अतः (अस्मात) अन्यथा (विपरीतम) यत् [तत] अज्ञानम् (संसारेप्रवृत्तिकारणम्) ॥ ८, ९, १०, ११, १२ ॥

पदार्थः— (**अमानित्वम्**) अपनी विद्या तथा धन इत्यादि के अधिक होनेके कारण अपने मान करवानेकी इच्छासे रहित होना

फिर (अदम्भित्वम्) अपनेको पुजवानेकी इच्छासे लोगोंको केवल दिखलानेके लिये धर्मका अनुष्ठानादि न करना (अहिंसा) जीवों को न सताना (क्षान्तिः) जो कोई अपने साथ बुराई करे उसे सहन कर उसके अपराधको जीमें न लाना (आर्जवम) सीधा रहना अर्थात् कुटिलता वा कपट न करके जैसा भीतर हृदयमें हो वैसा ही बाहरे भी व्यवहार करना (आचार्योपासनम्) मोक्षमार्गके उपदेश करनेवाले गुरुदेवकी सेवा करना (शौचम्) पवित्र और निर्मल रहना (स्थैर्य्यम) ईश्वर निष्ठामें स्थिर रहना (आत्मविनिग्रहः) अपनेको कुमार्गोंसे हटाकर मोक्षमार्गकी ओर स्थापन करना (इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्) विषयोंमें अनुरक्त नहीं होना (एव, च) फिर इस प्रकार निश्चय करके (अनहंकारः) अभिमानका त्याग करना (जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम) जन्म, मरण, वृद्धता, रोग इत्यादि दुःखोंके दोषोंकी ओर सदा दृष्टि रखनी और उनसे डरते रहना (पुत्रदारगृहादिष्वसक्तिः) स्त्री, पुत्र, घरबार इत्यादि में स्नेह न होना तथा (अनभिष्वंगः) पुत्र, स्त्री इत्यादिके दुःख सुखसे अपनेको दुःखी सुखी न समझना । फिर (इष्टानिष्टोपपत्तिषु) इष्ट और अनिष्टकी अर्थात् हर्ष और विषादकी प्राप्तिमें (नित्यम्) सदा (समचितत्वम) चित्तका एक समान रहना (च) फिर (अनन्ययोगेन) अन्य सब आश्रयोंको छोड केवल अनन्य योगसे (मयि) मुझ वासुदेव ही में (अव्यभिचारिणी भक्तिः) स्थायी प्रेमरूप भक्तिका होना अर्थात् जो प्रेम किसी प्रकारके उपद्रवसे न टलसके ऐसे प्रेमका हृदयमें होना फिर (विविक्तदेश-

सेवित्वम) एकान्त स्थानका सेवन करना (अरतिः जनसंसदि) बहुतेरे ज्ञानहीन इत्यादि मनुष्योंकी संगतिसे अरुचिका होना (अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्) आत्मज्ञानके प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंमें सदा निष्ठा रखना (तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्) तत्त्वज्ञानका जो प्रयोजन (अविद्याकी निवृत्ति और आनन्दकी प्राप्ति है) उसपर सदा दृष्टि रखना अर्थात ऐसा कुकर्म न करना जिससे ज्ञानतत्त्वका अथवा तत्त्वज्ञानका लोप होजावे (एतत्) यही इतना (ज्ञानम) यथार्थ ज्ञान है अर्थात् अमानित्वसे लेकर तत्त्वज्ञानार्थदर्शन तक जो ज्ञान साधन के बीस (२०) मुख्य लक्षण और यत्न हैं इतना ही ज्ञान है (अतः) इससे (अन्यथा) विपरीत (यत) जो कुछ है [तत्] सो (अज्ञानम्) अज्ञान ही है ॥ ८, ९, १०, ११, १२ ॥

भावार्थः— अब यदुवंशप्रदीप आनन्दनिकेतन भगवान् केशव अर्जुनके प्रति क्षेत्रका स्वरूप वर्णन करके क्षेत्रज्ञोंका वर्णन पुनरुक्ति समझकर केवल ज्ञानके ही अंगोंका वर्णन करना आरम्भ करते हैं जिनके अभ्याससे साधारण क्षेत्रज्ञको विशेष क्षेत्रज्ञ अर्थात् ईश्वरस्वरूपकी प्राप्ति होजावे। तात्पर्य यह है, कि जीवको जिन अंगों के साधनसे पूर्णपरब्रह्म जगदीश्वरकी प्राप्ति होजावे उन्हीं तत्त्वोंके स्वरूप इन पांच श्लोकोंमें वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अमानित्वम-दम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्**] १. अमानित्वम् किसी प्रकारके प्राणीसे अपने मान वा आदर करानेकी इच्छा न करना, चाहे सहस्रों उत्तम गुण, सहस्रों विद्याओंकी कलाएं, सहस्रों वीरोंकी वीरता, सहस्रों स्वरूपवानोंका स्वरूप और सहस्रों चक्रवर्त्तियोंका

ऐश्वर्य क्यों न प्राप्त होजावे अर्थात् जितना मानुषी आनन्द उसमें होना चाहिये सब एक ठौर क्यों न होजावें तथापि अपनेको तृणसे भी लघु समझते रहना ' अमानित्व ' कहाजाता है । यह गुण केवल ज्ञानियों ही में पायाजाता है। क्योंकि यही ज्ञानका प्रथम लक्षण, प्रथम यत्न वा उपाय कहाजासकता है ।

जो प्राणी इस अमानित्व गुणका (जो ज्ञानका प्रथम अंग है) साधन करचुका है और जिसका स्वभाव ही अमानित्वके रंगसे रंगगया है वरु जो अपनी योग्यताका वर्णन सुननेसे लज्जित होकरे मस्तक नीचे झुकालेता है, जो किसी प्रकारकी बडाई अपनी ओर नहीं आनेदेता है, अपनी कीर्तिको कानोंसे सुनना भी नहीं चाहता और तृणके समान दीनता ही जिसका भूषण है ऐसा पुरुष अवश्य ज्ञानी है इसमें तनक भी सन्देह नहीं है ।

२. " अदम्भित्वम् " दंभसे रहित रहना अर्थात् अपनेको पूज्य एवं माननीय बनानेके लिये, केवल लोगोंको दिखानेके लिये बाह्य हृदयसे धर्मोंका अनुष्ठान करना । जैसे बहुतेरे दम्भी आंखें मूँदकर लोगोंके बीच माला जपा करते हैं और जब सुनते हैं, कि आज बडे बाबूके यहां साधुओंका भण्डारा है साधुओंकी पूजा द्रव्य और वस्त्र इत्यादिसे कीजावेगी तब झट मस्तकपर बडा चौडा ऊर्द्धपुण्ड्र धारण कर हाथमें बहुत मोटी-मोटी मणिकाओंकी माला लिये, चरणपादुकापर चढेहुए, सम्पूर्ण शरीरमें विभूति रमाकर जटा बांधेहुए, बडे अहंकार के साथ परम निर्मल दर्शनीय साधु बनकर आपहुंचते हैं यही दम्भ है

और इसीके प्रतिकूल जो प्राणी अपने श्रेष्ठ कर्म, धर्म, दान, पुण्य, कीर्त्ति, परोपकार और यश इत्यादिको ऐसे छिपाकर सम्पादन करता है जैसे अच्छे कुलकी स्त्री अपने स्वामीके मिलनेके समयकी क्रीडाओं को छिपाती है। अर्थात् जो प्राणी पूजा, पाठ, जप, तप, हरिभजन इत्यादि लोगोंपर प्रकट नहीं होने देता छिपाकर करता रहता है और ऐसा समझता रहता है, कि मैंने कुछ भी नहीं किया अपनी आयुको निरर्थक व्यय करदिया वही यथार्थ दम्भरहित कहाजाता है। इसीका नाम अदम्भित्व है जो ज्ञानीका दूसरा स्वरूप है।

३. अहिंसा— हिंसा शब्दका अर्थ (हिंस् + अ + टाप) किसी प्रकार परायेके घात करनेको हिंसा कहते हैं और तिस हिंसाके न करनेको अहिंसा कहते हैं तहां व्यासदेव लिखते हैं, कि " प्राणवियोगप्रयोजनव्यापारो हिंसा सा च सर्वाऽनर्थहेतुस्तद-भावोऽहिंसा " अर्थात् किसी प्रकारका व्यापार जो प्राण निकालदेने के तात्पर्यसे कियाजावे उसे हिंसा कहते हैं यह हिंसा सर्वप्रकारके अनर्थोंका कारण है। ऐसी हिंसा न करनेको अहिंसा कहते हैं। यह सनातनधर्मका तथा अष्टांगयोगका प्रथम अंग है।

किसी धर्ममें जीवमारनेकी आज्ञा नहीं है देखो! मनु लिखते हैं, कि " योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया। स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते " (मनु० अ० ५ श्लो० ४५) अर्थात् जो पुरुष अपने सुखके लिये पराये निरपराध जीवोंको मारडा-लता है वह इस लोकमें तथा परलोकमें तनक भी सुख प्राप्त नहीं

करसकता । कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो हिंसक है निर्दयी है वह इस लोकमें हिंसाके कारण नाना प्रकारके रोगोंसे पीडित रहता है वह शरीरसे सुखी कदापि नहीं रहसकता । फिर वही हिंसक मरजानेपर नरकके दु:खोंको भोगता है । यदि शंका हो, कि बहुतेरे हिंसा करतेहुए देखेजाते हैं पर उनको रोगी नहीं देखते तो उत्तर यह है, कि सैकडोंमें दो ही चार हिंसक ऐसे मिलेंगे जो रोगग्रस्त न हों।

शंका— हिंसा करनेमें अवश्य दोष होवे तो होवे पर बिना किसी जीवके मारे यदि मांस मिलजावे तो मांस खानेमें क्या हानि है?

समाधान— अवश्य हानि है इसी मांसाहारके विषय मनु कहते हैं, कि " ना कृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित् । न च प्राणिवधस्स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् " (मनु अ० ५ श्लो० ४८)

अर्थ— बिना किसी जीवके मारे मांस उत्पन्न होही नहीं सकता और जीवोंको मारना स्वर्गका कारण नहीं है वरु नरक भोगना है इसलिये मांस खाना वर्जित करे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि केवल जीव मारनेवाला ही दोषी है वरु मनु तो ऐसा कहते हैं, कि " अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः " (मनु० अ० ५ श्लो० ५१)

अर्थ—मारनेकी आज्ञा देनेवाला, मांसके टुकडे २ कर काटनेवाला, मारडालनेवाला, मोललेनेवाला, बेचनेवाला, पकानेवाला, आगे लाकर खानेके लिये रखनेवाला और खानेवाला ये आठों हिंसाके दोषी हैं ये सब नरकगामी हैं ।

देखो ! मैं तुमको लौकिकव्यवहारमें भी दिखलादेता हूं । आज-कल अंग्रेजी सरकारके राज्यमें यदि किसी खूनका मुकद्दमा आवे उस में आठ आदमी पकड करे लायेजावें और सिद्ध होजावे, कि इन आठोंमें एकने उस मारेगयेहुए प्राणीको घरसे बुलालाया था, दूसरेने मिष्टान्न भोजन कराया था, तीसरेने उसको सुलादेनेके लिये बिछावन बिछाया था, चौथेने मुखपर पंखा झला था, पांचवेंने उसका पांव दबाया था, छठवेंने हारमोनियम बजाया था, सातवेंने गान किया था, एवम्प्रकार जब निद्रा आयी तो आठवेंने मारडाला। अब विचारने योग्य है, कि इस हत्याके अभियोगमें ये आठों दोषी ठहराये जाकर दण्ड पावेंगे वा नहीं ? बुद्धिमानको अवश्य स्वीकार करना पडेगा, कि ये आठों दण्डनीय हैं क्योंकि इनमेंसे मारनेवाला तो एक ही है पर शेष सातों उसके सहायक हैं इसलिये राजनीतिके व्यवहारसे भी सहायकोंका वही दण्ड नियत है जो उस कार्यके करनेवालोंका है अतएव जीवोंके मारनेमें आठ आदमियोंको दण्डनीय बनाना मनुका उचित विचार है इसे अनुचित नहीं समझना चाहिये।

हिंसा करना अन्य किसी मतानुयायीके धार्मिक ग्रन्थोंमें भी नहीं लिखा है। मुसलमान, ईसाइयोंके कुरान और इंजील (Bibile) में भी जान मारनेकी आज्ञा नहीं है।

देखो ! अब मैं तुमको सृष्टिके प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे मांसाहारनिषेध सिद्ध करताहूं उस सृष्टिकर्ताने दो प्रकारके पिंडजोंको बनाकर संसारे

सब धर्मोंसे अहिंसाका प्रमाण देखना हो तो श्रीस्वामी हंसस्वरूपजी महाराज रचित हंसनाद नाम ग्रन्थके द्वितीय भागको देखो।

में यह प्रत्यक्ष दिखलादिया, कि मनुष्य मांसाहारी पिंडजोंमें नहीं है इसलिये मनुष्यको मांसके लिये हिंसा नहीं करनी चाहिये। प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि संसारमें दो प्रकारके पिंडज जीव हैं घासाहारी, और मांसाहारी तहां गाय, बैल, घोडे, गधे, ऊंट, बकरे, मेंढे, बानर इत्यादि तो घासाहारी हैं इसी कारण इनके दांत और नख चौडे-चौडे बनायेगये, कि ये किसी पशु पक्षीको मार नहीं सकते और उनके शरीरसे मांस नहीं निकाल सकते पर मांसाहारी पिंडजोंके नख और दांत ऐसे नोकीले बनादियेगये हैं, कि वे एक झपटमें अपने दांत और नखोंसे परायेके शरीरसे मांसका लोथडा निकालकर खाजाते हैं। फिर इन दोनोंके मुखकी रचनामें भी बनावटका भेद यह है, कि घासाहारी होठ जुटाकर पानी पीते हैं और मांसाहारी जिह्वा लटकाकर पानी चाटते हैं। इन दोनोंके नेत्रोंमें भी प्रत्यक्ष भेद देखाजाता है, कि घोडे, हाथी, गाय बैल, गधा, ऊंट, बकरे, बानर इत्यादि घासाहारियोंको अँधेरी रातमें सूझता ही नहीं पर कुत्ते, बिल्ली, व्याघ्र, भेडिये, जंबुक इत्यादि मांसाहारियोंको गम्भीर रात्रिमें अधिक सूझता है इसी कारण अपने आहार निमित्त रात्रिके समय जीवोंको पकडलेते हैं और झट मारडालते हैं।

अब बुद्धिमान् विचार सकते हैं, कि नख और दांतोंका चौडा होना, घासाहार करना, होंठ जुटाकर पानी पीना, रात्रिके समय नहीं सूझना इत्यादि जितने लक्षण बनस्पति आहार करनेवाले पिण्डजोंके हैं सब मनुष्यमें पायेजाते हैं इसलिये मनुष्य मांसाहारी नहीं बनायागया, मांसाहारियोंके लक्षणोंमें एक लक्षण भी इन मनुष्योंमें परमात्माने

नहीं दिया इससे सिद्ध होता है, कि मनुष्य मांसाहारी पिण्डजोंमें नहीं है मनुष्य स्वयं पिण्डज है इसलिये पिंडजोंकी रचनासे इसकी समता और विषमता दिखलायी गयी। शेष रहगये अण्डज, ऊष्मज और स्थावर इनसे मनुष्योंको कोई तात्पर्य भी नहीं है ये जो चाहे खावें न खावें। यह अहिंसा ज्ञानियोंका तीसरा स्वरूप है।

अब एक शंका यह उत्पन्न होती है, कि "यज्ञीया हिंसा हिंसा न भवति" अर्थात् यज्ञोंमें अश्व, गौ, अजा इत्यादि के बलिदान देनेकी आज्ञा वेदोंमें दीगयी है इसलिये यज्ञमें जो हिंसा है वह हिंसा नहीं है ऐसा क्यों कहा?

समाधान— जैसे साधारण जीव खड्ग इत्यादिसे मारडाले जाते हैं और नाना प्रकार कष्ट पाते हैं ऐसे यज्ञोंमें जीव नहीं मारे जाते। यज्ञोंमें जो पश्वालम्भनकी विधि है उसका तात्पर्य ही भिन्न है हिंसासे तो उसे तनक भी सम्बन्ध नहीं है वह तो पशुओंको संसार बन्धन तथा अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेसे बचाकर मुक्त करदेना है सो कैसे है? तो कहते हैं सुनो! सर्वशास्त्रज्ञ तथा बुद्धिमानोंपर प्रकट है, कि इस जीवात्माकी चार अवस्थाएं होती हैं जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय जिनका वर्णन अध्याय ३ श्लोक १८ में होचुका है।

इन चारोंमें जाग्रत् अवस्थामें प्राणवियोग होनेसे प्राणी फिर मनुष्य होता है, स्वप्न अवस्थामें शरीर छूटनेसे पशु, पक्षी इत्यादि

तिर्यक् योनियोंमें शरीर पाता है सुषुप्ति अवस्थामें शरीर छूटनेसे वृक्ष इत्यादि स्थावरोंमें उत्पन्न होता है और तुरीय अवस्थामें प्राणका वियोग होवे तो मुक्त ही होजाता है। मनुष्योंको तो गुरुद्वारा शिक्षा मिलनेसे मरणकालमें तुरीय अवस्थाकी प्राप्ति होसकती है और योगी-जन अन्तकालमें इसी अवस्थामें प्राणको त्याग मुक्त होजाया करते हैं पर पशुओंको तुरीय प्राप्त होना दुर्लभ है। क्योंकि उनको तो इस अवस्थाका बोध ही नहीं है इसलिये उनका मुक्त होना किसी प्रकार नहीं बन सकता और वे तो चौरासीलक्ष योनियोंमें बारंबार भ्रमण करते रहते हैं तथा नाना प्रकारके दुःख भोगते रहते हैं।

इसी कारण पूर्वके महात्माओंने ऐसा विचार किया, कि यदि इन पशुओंमें किसीको मुक्त करें तो अत्यन्त पुण्यकी प्राप्ति हो। सहस्रों जीवोंके मुक्त करदेनेका फल लाभ हो ऐसा विचार अश्वमेध और गोमेध इत्यादि यज्ञोंकी ओर दृष्टि की जिनके द्वारा पशुओंको तुरीय अवस्थामें लाकर शरीरसे वियोग करादेना उचित जाना, जिससे वे बिना परिश्रम आवागनके दुःखोंसे बचकर मुक्त होजावें। इसलिये इन यज्ञोंमें जो पशु यज्ञशालामें लाये जाते हैं उनपर तुरीय अवस्था लानेकी युक्तियां की जाती हैं। क्योंकि यह प्रकट है, कि नाद द्वारा पशुओंमें भी तुरीय अवस्था प्रकट होआती है।

देखो! बहेलिया जब वीणा बजाता है तो मृगा उस नादको श्रवण कर तुरीय अवस्थामें प्राप्त हो परमानन्दको प्राप्त होजाता है। इसी प्रकार यज्ञोंमें जब सामवेदके मन्त्र सातों स्वरोंमें नाना प्रकारकी वीणा इत्यादि बाजाओंके साथ उद्गातावृन्द गाते हैं तब पशुओंको

तुरीय अवस्था प्राप्त होजाती है। तिसकी पहचान यह है, कि तुरीय प्राप्त होते ही पशुका मस्तक नीचे झुकजाता है और पुतलियां आखोंके भीतर चली जाती हैं इसका पहचाननेवाला महात्मा यज्ञशालामें उस पशुके सम्मुख बैठा रहता है और एकटक लगाये देखता रहता है, कि इस पशुपर तुरीया आयी वा नहीं। जब देखता है, कि तुरीय अवस्था आगयी झट खड्गवालेकी ओर जो खड्ग लिये पशुके समीप खडा रहता है संकेत करदेता है अर्थात् खड्गवाला पशुकी गर्दनपर खड्ग डाल देता है इसमें इतनी शीघ्रता कीजाती है, कि ऐसा न हो, कि जो तुरीया पशुपर आयी है वह मिट जावे क्योंकि तुरीयाका शीघ्र मिट जाना भी संभव है। यदि मारनेसे पहले पशुकी तुरीय अवस्था टूटजाती थी और उसे अपने शरीरकी सुधि होजाती थी तो मारनेवालेको हिंसाका दोष लगता था और यज्ञ भ्रष्ट समझा जाता था इसी कारण पशुको तुरीय अवस्थाके भीतरे २ यज्ञमें मारते थे जिससे हिंसा न होने पावे अर्थात् जीवको किसी प्रकारके क्लेशका बोध न हो और झट मुक्त होजावे।

यदि पशु अर्थात् अश्वमेधमें अश्व, गोमेधमें गौ, अजमेधमें अजकी मुक्ति होगयी तो यज्ञ सम्पादन करनेवालेको कितना बडा पुण्य हुआ, कि एक पशुको जो अपने कर्मानुसार सहस्रों जन्मोंके पश्चात् मनुष्य शरीरको पानेसे किसी गुरुद्वारा योगविद्या प्राप्तकर तुरीय अवस्थामें प्राप्त होता तब मुक्ति लाभ करता उसने केवल इसी जन्ममें अनेक जन्मोंके दुःखसे बचकर सहजमें मुक्ति लाभ करली मानों हीरा कौडियोंके मोल विकगया, दरिद्रीको चक्रवर्तीका सुख लाभ

होगया। इसीकारण "यज्ञीया हिंसा हिंसा न भवति" यह बात प्रसिद्ध है, कि यज्ञमें हिंसा हिंसा नहीं होती।

पर अब इस कलिमें ऐसे यज्ञ रोक दियेगये क्योंकि अब तो स्वयं मनुष्य भी कोई ऐसा योगी नहीं होता जो तुरीयको समझसके तो फिर पशुओंमें तो तुरीयलाना असंभव ही है इसलिये अब वर्तमान-कालमें जो वलिदान इत्यादि होते हैं तहां हिंसा होती है और वलि-दान करनेवालोंको घोर पाप लगता है जिससे वे नरकके भागी होते हैं इसी कारण कहा है कि—"अश्वालम्भं गवालंभं सन्न्यासं पल-पैतिकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिः कलौ पञ्च विवर्जयेत्।"

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जीवहिंसाका एकबारगी निषेध है इस-लिये अहिंसाधर्म्मका प्रतिपालन करना चाहिये।

बहुतेरे बुद्धिमानोंका यह सिद्धान्त है, कि रोगियोंकी जान बचाने के लिये दूसरेकी जानकी हिंसा करनेमें कुछ हानि नहीं जैसे उदावर्त्तादि रोगोंमें कुत्ती इत्यादिका मांस देना। पर यह बडा अंधेर है, कि एक जान बचानेके लिये कई दूसरी जानोंकी हत्या कीजावे जैसे इन दिनों प्लेगसे बचानेके लिये सहस्रों मूषकोंकी हिंसा कीजाती है कैसा अंधेर है? यह तो वही बात हुई जैसे कोई ब्राह्मणकी बस्तीमें आग लगाकर उसे नाश करके उस ठौरपर किसी देवताका मन्दिर बनावे अथवा कोई शीतके क्लेशसे अपने कुटम्बियोंको बचानेके लिये घरमें आग लगादे ऐसा सिद्धान्त बुद्धिमानों और ज्ञानियोंका नहीं होसक्ता। देखो! ज्ञानी तो वही है जिसके रोम २ से अहिंसाकी सुगन्ध फैल रही हो, जो चलनेके समय छोटी २ चींटियोंको पांवके तले आती हुई देख

पीछे हटजाता है परायी जान बचानेके लिये अपना सारा पुरुषार्थ लगा देता है । उसके खेतके नाजोंको चिड़ियां आनन्दपूर्वक चुगती रहती हैं पर उनके उडानेके लिये अपना मुंह तक नहीं खोलता ।

कहांतक कहूं जिस प्राणीमें इस अहिंसाधर्म्मके विशेष लक्षण पाये जाते हैं वही यथार्थ ज्ञानी है और सदा बन्दनीय है ।

यदि यह शंका हो, कि स्नानादि करनेमें, मुखप्रक्षालनमें, कपडे धुलानेमें, नाजोंको खेतोंसे काटने, मूशलसे कूटने, हांडीमें पकाने तथा ईंधन इत्यादिके जलानेमें बहुतेरे जीव मरते हैं तो यदि प्राणी हिंसाका इतना विचार रखेगा तो उसे कहीं पांव रखने तथा किसी भी व्यवहार करनेका ठिकाना नहीं लगेगा प्रत्येक व्यवहारमें पग २ पर हिंसा लग ही जावेगी ।

तो उत्तर यहहै, कि जो पाप अज्ञात होजाते हैं तथा जिनका रोकना मानुषी शक्तिसे बाहर है उन पापोंकेलिये वेदने नाना प्रकारके प्रायश्चित्त कथन करदिये हैं सो यदि प्राणीसे ऐसे पाप नित्यके होते रहते हैं जिनसे बचना दुस्तर है तो ऐसेही पापोंकी शान्तिके लिये पंच-महायज्ञको नित्यकर्म्ममें प्रधान करदिया है जिससे स्नानादिमें जीवहत्याके पापोंकी निवृत्ति होती रहती है ।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि यथाशक्ति हिंसासे बचो ! बचो !! बचो !!! अहिंसाको स्वीकार करो ! वरु इस अहिंसापालनके लिये यहांतक सूक्ष्मबुद्धि रखो, कि आकाशमें हाथ फैलानेसे किसी जीवको नख न लगजावे और वायुका धक्का न लगजावे ।

४. क्षान्तिः– (क्षम-भावे-क्तिन्) "सत्यपि सामर्थ्ये अपकारिणि अपकाराचिकीर्षि" अर्थात् जो कोई अपने साथ बुराई करे उस का बदला लेनेमें समर्थ होनेपर भी बदला न लियाजावे वरु उसका अपराध सहन करलियाजावे उसे क्षान्ति वा क्षमा कहते हैं। शीत, उष्ण, दु:ख, सुख, घोर आपत्ति इत्यादिका सहन भी इसी धर्मका काम है।

५. आर्ज्जवम्— सीधे स्वभावसे रहना, कुटिलता वा धूर्तता नहीं करना, कपटव्यवहार नहीं रखना, छलसे हँसकरे वा मुसकरा कर बातें नहीं करना वरु जैसा भीतर वैसा ही बाहरका भी व्यवहार स्वच्छ रखना, जैसे कमल विकसते हुए अपने परागके एक अणुको भी गुप्त नहीं रखता सर्वत्र वायुमें फैलादेता है ऐसे जो अपना अन्तर्हृदयको छिपाता नहीं सीधा-सीदा खुल्लम-खुल्ला प्रकट करदेता है और जिसका अन्तःकरण दर्पणके समान ऐसा निर्मल है, कि जो उसके सम्मुख जावे अपना मुंह उसमें देखलेवे उसीको आर्ज्जव कहते हैं।

अब भगवान कहते हैं, कि [आचार्य्योपासनं शौचं स्थैर्य्यमात्मविनिग्रहः] अर्थात आचार्य्यकी उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मविनिग्रह ये चारों साधन भी ज्ञानियोंके लक्षणोंमें हैं तथा ज्ञानको शीघ्र सिद्ध करदेनेवाले हैं। इनका विलग-विलग वर्णन कियाजाता है।

६. आचार्योपासनम्— मोक्षमार्गके उपदेश करनेवाले गुरुदेवके चरणकमलोंकी सेवा मन, वच और कर्मसे करना, उनकी शरण जा

दण्डवत नमस्कारादिसे उनको प्रसन्न करना, उनकी रुचिके अनुसार कर्मोंका सम्पादन करना और एवम्प्रकारे उनको प्रसन्न कर अपने मोक्ष-मार्गका यत्न पूछना । जैसा, कि भगवान् अ० ४ श्लोक ३४में कह-आये हैं, कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" ऐसी गुरु-सेवा करनेवालोंको बहुत बडा भाग्यवान समझना चाहिये क्योंकि यह गुरुभक्ति महा दरिद्रको चक्रवर्ती बनादेती है इस कारण सकल सौभाग्यरूप वृक्षका बीज ही है संसाररूप महा अजगर सर्पसे डसेहुए मृतकके लिये यह सेवा गारुडीमन्त्रके तुल्य है । जिस गुरुचरणकी महिमाका गान गोस्वामी तुलसीदासजी बडी श्रद्धाके साथ रामायणमें यों कररहे हैं, कि— " वन्दौं गुरुपदपद्मपरागा । सुरुचि सुवास सरस अनुरागा ॥ अमियमूरिमय चूरण चारू । शमन सकल भवरुज परिवारू ॥ सुकृतशंभुतन विमल विभूती । मंजुल मंगलमोदप्रसूती ॥ श्रीगुरुपदनख मणिगणज्योती । सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती ॥ " फिर शास्त्रका वचन है, कि " अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् । तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥" (अर्थ स्पष्ट है) श्रुति भी ऐसा ही उपदेश करती है, कि " ॐ उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत " ।

अधिक क्या कहाजावे जैसे कोई पतिव्रता अपने परदेश गये-हुए पतिकी बाट जोहती रहती है और उसके विरहमें उदास रहती है ऐसे जो शिष्य गुरुदेवके विरहमें व्याकुल गुरुदेवके देशसे आये हुए पवनको भी दौडकर नमस्कार करता है, गुरुदेवके विरहमें एक पलको

युगके समान जानता है, गुरुदेवका नाम सुनते ही चौंककर चारों ओर देखने लगता है, कि किधरसे गुरुदेव आरहे हैं जो सदा गुरुदेवके स्नेहरूप अगाध जलमें अपने मनको मीन बनाकर परम सुख में मग्न रखता है, इस भवसागरके पार होजानेके लिये श्रीगुरुदेव के चरणकमलोंको नौका बना रखता है, जिसने श्रीगुरुदेवके चलने के लिये अपने नेत्रोंको पांवडी बनारखी है, श्रीगुरुदेवके पीछे-पीछे चलता हुआ जो उनके चरणोंसे उडतीहुई धूलिकणोंको अपने शरीरमें लपेटकर अपने शरीरको परम पवित्र करडालता है वही शिष्य बहुत बडा भाग्यवान है, वही ज्ञानकी मूर्ति है, वही सच्चा ज्ञानी है, उससे इन्द्रादि देव भी भय खाते हैं। ऐसे गुरुभक्तसे ज्ञानको शोभा प्राप्त होती है और ऐसेको देख सनातनधर्म नृत्य करने लगता है। अधिक कहां तक कहूं जो श्रीगुरुदेवके पीछे-पीछे फिरता है उसके पीछे भगवान स्वयं फिरा करता है यही गुरुसेवाकी महिमा है, इसीको भगवानने "**आचार्य्योपासनम्**" कहा है।

अब शौचकी महिमा वर्णन कीजाती है—

७. शौचम्— "**शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं भावशुद्धिरथान्तरम्।**" (गारुडे अ० २१५)

अर्थात गरुडपुराणके २१५वें अध्यायमें लिखा है, कि शौच दो प्रकारका है वाह्यशौच और आभ्यन्तरशौच तहां शरीरके अवयवोंकी शुद्धि जो मिट्टी और पानीसे होती है उसे वाह्यशौच कहते हैं। जैसे दन्तधावन, आचमन, हस्तप्रक्षालन और स्नान इत्यादि।

मनसे छल, कपट, राग, द्वेष इत्यादिको दूर करदेना तथा सत्य बोलना आभ्यन्तरशौच कहाजाता है।

यदि शंका हो, कि वाह्यशौचसे ज्ञानको क्या सम्बन्ध है ? ज्ञानीको तो शरीर इत्यादिके धोने पखारनेकी कोई आवश्यकता नहीं है केवल आभ्यन्तरशौच जिसे मन और हृदयसे सम्बन्ध है ज्ञानीको रखना चाहिये। तो उत्तर यह है, कि वाह्यशौचसे शरीरके अवयव अर्थात् आंख, नाक, कान, हाथ, पांव इत्यादि सब शुद्ध रहते हैं, इनके शुद्ध रहनेसे किसी प्रकारका शारीरिक रोग उत्पन्न नहीं होता, शरीरके रोगरहित रहनेसे मन, बुद्धि इत्यादि अन्तःकरणकी स्थिरता बनी रहती है और इनके स्थिर रहनेसे सम्यग्ज्ञानका उदय होता है इसलिये वाह्यशौचको भी थोडा बहुत ज्ञानसे सम्बन्ध है।

अन्तःकरणकी पवित्रता ज्ञानियोंके लिये अति ही आवश्यक है क्योंकि पवित्रता द्वारा अन्तःकरण शुभ कर्मोंके विचारसे पूर्ण रहता है उसमें यदि बाहरसे कैसा भी विषयीभाव क्यों न लिपट-जावे परन्तु अन्तःशौचवालेको अपवित्र नहीं करसकता। जैसे पुरुष उन्हीं अपनी दोनों भुजाओंसे अपनी स्त्रीका आलिंगन करता है तहां अन्तःकरणमें विषयका भाव बना रहनेसे वह आलिंगन विषयसे लिप्त कहाजाता है पर वही पुरुष उन्हीं अपनी दोनों भुजाओंसे अपनी पुत्रीको हृदयसे लगाता है पर अन्तःकरणका विषयरहित होनेके कारण उस आलिंगनको शुद्ध और निर्मल आलिंगन कहते हैं। कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरण पवित्र रहनेके कारण बाहरसे सहस्रों विषयभरेहुए आचरणोंको करता हुआ भी ज्ञानी सदा निर्लेप रहता है।

जैसे श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं सहस्रों गोपिकाओंके संग रासक्रीडा करते हुए निर्लेप रहे। जैसे कमल जलमें ही उत्पन्न होता है पर जल उसे स्पर्श नहीं करता। जैसे पत्थर गरम जलमें पकानेसे नहीं पकता ऐसे विषयके मध्यमें डूबाहुआ ज्ञानी भी उस विषयसे अशुद्ध नहीं होता सदा पवित्र ही रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, कि "नभ तम धूर धूम जिमि सोहा" अर्थात् निर्मल आकाशके समान शुद्ध अन्तःकरणवाले ज्ञानीके हृदयमें बाहरके लिपटेहुए विषयरूप धूल वा धूम शोभायमान देख पडते हैं। जैसे आकाशमें अन्धकार, धूलि और धूआं इत्यादि शोभायमान होते हैं क्योंकि आकाशको इनसे किसी प्रकारकी हानि नहीं होती वह तो सदा पवित्र और निर्मल रहता है इसी प्रकार ज्ञानीको भी जानना यह शौचकी महिमा है।

८. ५ र्थम— जो प्राणी मोक्षमार्गमें प्रवृत्त है, अहर्निश भगवत्प्राप्तिकी इच्छा रखता है उसे उपद्रव करनेके लिये चाहे सहस्रों विघ्न क्यों न उपस्थित होजावें पर वह अपनी निष्ठाका परित्याग न करके अपने नियमोंपर दृढ जमाहुआ रहे वही प्राणी इस स्थैर्यधर्मका यथार्थ पालनेवाला है। इस प्रकार अपने कर्म, धर्म, निष्ठा, जप, पूजा, हवन, सत्य, अस्तेय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादिमें तथा भगवद्भक्तिमें स्थिर रहनेहीको स्थैर्य कहते हैं। जैसे लोभी (महाकृपण) अपने धनमें अहर्निश अपने मनको लगाये रहता है ऐसे भगवत्प्रेममें ज्ञानी सदा अपनेको स्थिर किये रहता है। जैसे ध्रुव अपने स्थानसे किसी कालमें न हटा, न हटता है और न हटेगा ऐसे जो सच्चे ज्ञानी हैं उनका

चित्त अपनी निष्ठासे कभी न हटा, न हटता है, न हटेगा। भूकम्पसे पृथ्वी टूटजावे तो टूटजावे, समुद्रके भाठाज्वारसे पृथ्वी डूबजावे तो डूबजावे, प्रलयकालमें पाताललोकसे ब्रह्मलोक पर्यन्त छिन्न-भिन्न होजावे तो होजावे, पर धैर्ययुक्त ज्ञानीकी मनोवृत्ति कभी छिन्न-भिन्न नहीं होती, सुमेरु-पर्वतके सदृश अटल खडी रहती है। इसी दशाको स्थैर्य कहते हैं यह ज्ञानियोंका परम धन है।

६. आत्मविनिग्रहः— स्वभावतः जो देह और इन्द्रियोंका संग होनेसे चित्तवृत्ति नाना प्रकारके संकल्पविकल्पोंसे भरीहुई सदा प्रपंच-साधनमें लगीरहती है उसे मोक्षसाधनके प्रतिकूलमार्गोंसे हटाकर अपने कल्याणार्थ ब्रह्मज्ञान तथा भगवत्प्रेमके मार्गपर खैंचकर स्थिर करदेनेको आत्मविनिग्रहके नामसे पुकारते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे चतुर रक्षक बडी सावधानताके साथ अपने अधीन वस्तुओंका रातभर पहरा देताहुआ चोर और डाकुओंसे बचाता है, जैसे ग्वालिन काक और चीलोंकी झपटसे अपने मस्तकपर लियेहुए दहीको बचाती है ऐसे इन्द्रियोंको उनके बिषयोंकी झपटसे बचाना आत्मनिग्रह कहाजाता है जो ज्ञानका परमसाधन है। चतुरज्ञानी सदा अपनी दृष्टि इसपरे दृढ जमाये रहता है, कि ऐसा न हो, कि कभी कोई इन्द्रिय धोखा देकर अपने विषयकी ओर खैंच लेजावे। जैसे घोडेका सवार चंचल घोडेकी बागडोरको बडी सावधानतासे पकडे रहता है और घोडेकी चंचलतापर ध्यान रखता है, कि कहीं उछल कूदकर पीठसे बाहर न पटकदेवे। ऐसे अपनी इन्द्रियरूप

अश्वोंकी बागडोरोंको सावधानीसे पकड रखनेका नाम आत्मनिग्रह है। मूर्ख और चतुर सवारका दृष्टान्त देकर श्रुति इस आत्मनिग्रहके स्वरूपको जताती है—

श्रुतिः— " ॐ यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥" (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० ५, ६)

अर्थ— जो पुरुष अपने मनको युक्त नहीं रखनेके कारण सदा विज्ञानसे रहित रहता है उसकी इन्द्रियां उसके वशीभूत नहीं रहती हैं जैसे अज्ञानी और मूर्ख सारथीके दुष्ट अश्व उसके वशमें नहीं रहते। इसीके प्रतिकूल जो प्राणी अपने मनको सदा आत्मामें युक्त रखने से विज्ञान सहित सदा स्थिर रखता है उसकी इन्द्रियां उसके हाथ ऐसी वशीभूत रहती हैं जैसे अच्छे ज्ञानवान् चतुर सारथीके हाथके अश्व।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि आत्मनिग्रहवाले ज्ञानीकी इन्द्रियां उसके मनके साथ उसके हाथ रहती हैं। आत्मनिग्रह ज्ञानीके लिये ऐसी प्रिय वस्तु है जैसे योद्धाओंको अपना शस्त्र प्रिय होता है और रक्षा करता है इस शस्त्रके डरसे कामरूपी शत्रु सम्मुख नहीं आता, तृष्णारूपिणी डाकिनी दूर भागजाती है, लोभरूप कुत्ते भांव-भांव नहीं करते। इस आत्मनिग्रहरूप शस्त्रको धारण किये मायाकी घोर अंधकारमयी रात्रिमें चाहे किसी भी प्रकारके विषयरूप गम्भीर वनमें घुसजाइये पर किसी प्रकारका कुकर्मरूप भयानक बनैला जीव आप पर

आक्रमण नहीं करसकता। यही आत्मनिग्रह अभयरूप गृहका दीपक है, मोक्षरूप आकाशका परम प्रकाश है और शान्तिरूप शरदृतुकी रजनीका पूर्ण चन्द्र है अधिक कहां तक कहूं आत्मनिग्रह सब लोक-लोकान्तरोंमें आनन्दपूर्वक विचरआनेका विमान है, भवसागरसे पार होनेका महा विशाल जलयान है तथा ज्ञानियोंका तन, मन, धन और प्राण है।

अब भगवान कहते हैं, कि [**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च**] अर्थात इन्द्रियार्थेषु वैराग्य और अनहंकार ये दोनों भी ज्ञानियोंके अपूर्व भूषण हैं अब इन दोनोंका विलग-विलग वर्णन कियाजाता है।

१० इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्—इन्द्रियोंके जो भिन्न-भिन्न शब्द, रूप, रसादि अर्थ हैं जिनको विषयके नामसे पुकारते हैं उनसे घृणा करना अर्थात उनको नहीं भोगनेकी जो अभिलाषा है उसीको इन्द्रियार्थेषु-वैराग्यके नामसे पुकारते हैं। पहले जो आत्मनिग्रह कहआये हैं उसे इस इन्द्रियार्थेषु वैराग्यसे परम मित्रता है और अन्योन्य सम्बन्ध है, अर्थात जहां आत्मनिग्रह है वहां ही इन्द्रियार्थेषु वैराग्य है और जहां इन्द्रियार्थेषु वैराग्य है वहां ही आत्मनिग्रह है। जैसे राम-लक्ष्मण, कृष्ण-बलदेव, अश्विनीकुमार ये दो सदा एकसाथ रहते हैं इसी प्रकार उपर्युक्त दोनों तत्त्व एकसाथ जुटे रहते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियोंके जितने विषयभोग हैं उनसे ज्ञानी ऐसा भागता रहे जैसे बच्चे भूत और प्रेतसे। जैसे अपने

उवान्तसे अपनेको घृणा होती है ऐसे ज्ञानी विषयसे घृणा करता रहे, जैसे किसी मरीहुई मृगनयनीसे कोई भोग नहीं किया चाहता, अग्निसे खौलतेहुए दूध वा घृतके कडाहमें कोई मुख डुबाकर पीना नहीं चाहता, जैसे अमृतके कुण्डमें कोई डूबकर मरेजाना नहीं चाहता और जैसे तपेहुए स्वर्णकी बटिकाओंको हाथमें लेकर कोई अपनी कमरमें रखना नहीं चाहता ऐसे ज्ञानी इन्द्रियसुखोंका स्पर्श करना नहीं चाहता इन्द्रलोककी अप्सराओंके भोगसुखको जो कूकरके मलके समान जानता है वही सच्चा वैरागी है। अब अनहंकारका विषय सुनो—

११. अनहंकार:— भगवान कहते हैं, कि ज्ञानी सदा अहंकारसे रहित रहे अर्थात् किसी प्रकारका अभिमान न करे श्यामसुन्दरने जो अर्जुनसे आत्मनिग्रह और विषयोंसे वैराग्य ये दो ज्ञानके तत्त्व वर्णन किये तहां ऐसा विचार किया, कि जो ज्ञानी इन दोनों शुभगुणों से सुशोभित है उसे अपने गुणोंपर अहंकार न होजावे इसी कारण भगवानने यह उपदेश किया, कि कोई ज्ञानी अपने इंद्रियजित होनेका कभी भी किसी प्रकार अहंकार न करे क्योंकि अहंकार इतना बड़ा अवगुण है, कि सारे बनेबनाये घरको बिगाड डालता है।

यही अहंकार है, कि नारद ऐसे महर्षिके चित्तमें उदय होते ही उनको ऐसा करदिया, कि बानरका मुख स्वीकार करना पडा इसलिये प्राणी किसी भी अपने गुणका अहंकार न करे, ज्ञानीको उचित है, कि चाहे सैकडों अश्वमेधादि यज्ञ सम्पादन करडाले, इष्ट, दत्त, पूर्त इत्यादि कर्मोंमें प्रवीण होकर अहर्निश वर्णाश्रम धर्मका प्रतिपालन करनेवाला हो, सैकडों दरिद्रोंको दान द्वारा सुखी करदिया हो, सैकडोंको घोर आप-

त्तियोंसे छुडाकर प्रसन्न करदिया हो, दधीचिके समान अपना मांस और अपनी हड्डी निकालकर परायेका उपकार किया हो, शिविके समान अपना मांस काटकर छोटे-छोटे जन्तुओंकी रक्षा की हो तथापि भूल-करे भी कभी अपने चित्तमें ऐसा न लावे, कि मैंने ऐसे उत्तम २ कार्य किये हैं क्योंकि ऐसा चित्तमें आते ही सारे रंगमें भंग पडजाता है और ज्ञानीको पछताना पड़ता है। इसीकारण अनहङ्कारको स्वीकार कर निर्भय हो किसी भी कार्यमें घुसजाइये कोई भी कर्म तनक भी बाधा न करसकेगा।

वर्तमानकालमें कलियुगकी प्रबलताके कारण बहुतेरे विद्वान् भी अहंकारी होरहे हैं ऐसोंके विषय श्रुति कहती है— " ॐ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः " (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रुति ५)

अर्थ—जो मूर्ख अविद्यामें सदा वर्तमान रहते हैं और अपनेको बहुत गंभीर विद्वान् मानते हैं, अत्यन्त कुटिल, नाना प्रकारके वेषोंको बनाये हुए ऐसे चलते हैं जैसे एक अन्धा अनेक अन्धोंको अपने पीछे लेकर चलता हो ऐसा न करे वरु अहंकार ऐसे निन्दनीय तत्त्वका विद्वान सदा परित्याग करे।

भगवान्‌का मुख्य अभिप्राय यह है, कि अनहंकार ज्ञानियोंका परम रत्न है सो यथार्थ अनहंकारका रूप तो यह है, कि इस देहमें रहतेहुए भी जिसको अपने अस्तित्वकी कुछ भी सुधि नहीं है वही परमहंस यथार्थ निरहंकारी है। जैसे वृक्षगण अपने फलोंसे उपकार

करतेहुए यह नहीं जानते, कि मैं फलता हूं वा उपकार करता हूं इसी प्रकार ज्ञानी सदा निरहंकार रहे ।

१२. अब भगवान् कहते हैं, कि [जन्ममृत्युजराव्याधि-दु:खदोषानुदर्शनम्] अर्थात् मातृगर्भसे, जन्म लेने, मरने, वृद्धता तथा व्याधि इत्यादिसे जो दु:खकी प्राप्ति होती है उसके दोषोंके ऊपर दृष्टि रखना अथवा जन्म, मरण, वृद्धता, रोग नाना प्रकारके दु:खोंके दोषोंपर विचार करना । तात्पर्य यह है, कि सदा अपने मनसे ऐसा विचारते रहना, कि फिर माताके गर्भमें न आना पडे, फिर मरना न पडे, फिर बूढा होना न पडे, पुन: २ ज्वरातिसारादि रोगोंसे पीडित न होना पडे, अर्थात् नाना प्रकारके आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक दु:खोंको न भोगना पडे और बहुत प्रकारके दुष्टकर्मोंके अधीन न होनापडे ।

भगवानने जो यहां सबसे पहले जन्मका दु:ख और दोष दिख-लाया है सो यथार्थ है यह दु:ख जीवको उस समय होता है जब,कि वह गर्भमें रहता है सो दु:ख कैसा है ? और यह जीव तिस दु:खको कैसे गर्भमें भोगता है सो दिखलायाजाता है प्रमाण श्रुति:—

" ॐ पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया । आहारा विविधा भुक्ता: पीताश्च विविधा: स्तना: ॥ जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुन:पुन: । यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिन: । अहो दु:खोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् " ॥ (गर्भो० श्रु० ४)

अर्थ— यह जीव गर्भरूप नरककुण्डमें मल, मूत्र, मांस, शोणित इत्यादिके कीचमें पडाहुआ अशक्य, सर्वसामर्थ्यहीन निरवलम्ब, निराश्रय, उलटा लटकाहुआ जब गर्भके घोरे दुःखको सहता है तब उस समय अपने मनही मन बोलता है, कि अहा ! देखो तो एकको कौन पूछे सहस्रों प्रकारकी योनियोंके दुःख मुझसे झेले जाचुके हैं सहस्रों प्रकारके अशुद्ध जूठे अहार मुझसे भक्षण किये जाचुके हैं अर्थात मछलियोंकी योनियोंमें मृतक शरीरोंके मांस भक्षण करने पडे, शूकरीके गर्भमें सहस्रों मनुष्योंके मलमूत्र मुझे भक्षण करने पडे। एवम्प्रकार विचित्र गर्भोंमें निवास कर विचित्र भक्ष्याभक्ष्य मेरे द्वारा ग्रहण कियेगये शूकरी, कूकरी, गर्दभी, खच्चरी, चाण्डाली इत्यादि के स्तन मुझसे पान कियेगये एवम्प्रकार जन्म लेने और मरनेके दुःख मुझसे बार-बार झेलेगये। ऐसे पछताता हुआ यह जीव कहता है, कि अहा ! हे नाथ ! दुःखके सागरमें डूबाहुआ जो मैं सो अपने उद्धारकी कोई प्रतिक्रिया अपने सम्मुख नही देखता हूं, इस गर्भके दुःख से छूटनेके निमित्त इस समय कोई यत्न करनेको समर्थ भी नहीं हूं क्या करूं ? कैसे करूं ? एवम्प्रकार दुःखको भोगताहुआ कहता है, कि हा ! जिन अपने कुटुम्बियोंके लिये मैं बहुतेरे शुभाशुभ कर्मों को कर इस घोर गर्भके नरककुंडमें पडा हूं अकेला जलरहा हूं वे मेरे संगी साथी मेरी कमायी खानेवाले मुझे छोड किधर चलेगये ॥

एवम्प्रकार यह जीव गर्भमें पछताताहुआ महीनों दुःख भोगने के पश्चात जब वैष्णवी वायुसे प्रेरित होकर गर्भसे निकलने लगता है

तत्र " ॐ अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणाऽऽपीड्यमानो महता दुःखेन ...." (गर्भोप० श्रु० ४)

अर्थ— जैसे मोटे लोहके तारको यन्त्रीमें डाल लोहकार खैंचता है ऐसे अपानवायु मातृयोनिद्वारा होकर जब इसके शरीरको खैंच बाहर करना चाहता है तब चारों ओरसे दबकर और पिचककर इसे मानों कठिन-कठिन यातनायन्त्रमें खैंचेजानेका कष्ट अनुभव होता है।

इसी कारण भगवान श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्रने सबसे प्रथम जन्मके दुःखोंके दोषका अनुदर्शन करनेका उपदेश किया है अर्थात् ज्ञानीको सदा इस बातपर दृष्टि रखना चाहिये, कि यदि मैं ज्ञानसे चूकजाऊंगा तो जन्मके दुःख मुझे सहने पड़ेंगे इस कारण भगवतकी आज्ञाके प्रतिपालन करनेमें सदा तत्पर रहूं। इसीको जन्म-दोषानुदर्शन कहते हैं जैसे भूत झाडनेवाला ओझा दूरहीसे प्रेतको देखलेता है अथवा जैसे हस्ती दूरहीसे ज्वरको देखलेता है ऐसे ज्ञानीको दूर हीसे जन्मके दुःखोंको देखते रहना चाहिये।

अब मरणके दुःखोंको सुनो! यह मृत्यु जीवमात्रके साथ ही साथ उत्पन्न होती है। तहां वसुदेवजी कंससे कहते हैं, कि " मृत्युर्जन्मवतां वीर! देहेन सह जायते। अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः। " (श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अध्याय १ श्लो० ३८)

अर्थात् हे वीर कंस! मृत्यु तो देहधारियोंकी देहके साथ ही साथ उत्पन्न होती है सो आज अथवा सौ वर्षके पश्चात् कभी न कभी इस प्राणीको मृत्युके मुखमें जाना निश्चय है॥

इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि ज्ञानी सदा मृत्युके दुःख और दोषोंपर पूर्णप्रकार विचार करता रहे। क्योंकि जिस समय प्राण कण्ठगत होता है तब प्राणी सर्वपुरुषार्थ और सर्वप्रकारके आश्रयोंसे रहित होजाता है, क्या पुत्र, क्या पौत्र, क्या पिता, क्या बन्धु क्या राजा महाराजा, क्या अस्त्र शस्त्र, क्या बडे-बडे दुर्ग (किले) किसीसे भी मरनेवालेकी कुछ सहायता नहीं होती। मरनेवाला टकटकी लगाये चारों ओर देखता रहता है पर कुछ भी बोल नहीं सकता। कण्ठ तो कफसे रुँधजाता है बोले कैसे? हा! कैसा शोक? प्यारा बेटा गलेमें लिपटाहुआ रोरहा है, बाबा बोलते क्यों नहीं? हमको छोड कहां जारहे हो? अब हमें कौन चूमेगा? कौन गले लगावेगा? प्यारी बेटी पैतानेकी ओर पैरोंको पकडे रोरही है हा! बाबा जरा उठकर बैठो तो सही! आज मुझे गले क्यों नहीं लगाते? मुझे कुमारी क्यों छोड चलेजाते हो? एवम्प्रकार मरनेवाला सबका रोना सुनता हुआ मोहसे ग्रसित, इनके छूटनेके शोकसे व्याकुल हो कैसी घोर आपत्तिको प्राप्त होता है। इधर इन प्यारोंके मुखसे वियोगभरी कथा उधर रोगोंकी दारुण व्यथा इत्यादि क्लेशोंकी धारमें पड 'किंकर्त्तव्यविमूढ' हो नेत्रोंसे अश्रुपात करता जाता है। यमदण्डोंसे ऐसा कष्ट पाता है, कि मल मूत्र तक बाहर निकल आते हैं। शरीरकी सब नाडियां खिंचने लगजाती हैं, प्राण सकुचने लगजाते हैं और इन्द्रियां व्याकुल होने लगजाती हैं। इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि ज्ञानी इस मृत्युके दुःख और दोषोंको जीवतेहुए अनुभव कर दिव्य दृष्टिसे मरनेके पहले ही इन कष्टोंके नहीं स्पर्श होनेका

यत्न करता रहे अर्थात् भगवत्के चरणारविन्दोंमें इतना स्नेह बढावे, कि अन्तकालमें भगवान् स्वयं अपने चक्रेम इन क्लेशोंको छेदनकर अपने संग वैष्णवी विमानपरे चढाकर अपने परमधामको लेजावे। ऐसे सावधान रहनेका नाम "मृत्युदुःखदोषानुदर्शन" कहाजाता।

मृत्युसे पहले देहावसान होनेके समयके लक्षणोंका वर्णन अ० ७ पृष्ठ १८२२में होचुका है देखलेना। शेष अन्य लक्षण भी यहां वर्णन कियेजाते हैं—

"ऋक्षवानरयुग्मस्थो गायन् यो दक्षिणां दिशम्।
स्वप्ने प्रयाति तस्यापि न मृत्युः कालमृच्छति ॥
स्वप्नेऽग्निं प्रविशेद्यस्तु न च निष्क्रमते नरः।
जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥
येषां विनीतः सततं यस्य पूज्यतमाः मताः।
तानेव योऽवजानाति तानेव च विनिन्दति ॥
देवतानार्चयेद् वृद्धान् गुरून् विप्रांश्च निन्दति।
मातापित्रोरसत्कारं जामातॄणां करोति यः ॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषाञ्च महात्मनाम्।
प्राप्तान्तकालः पुरुषस्तद्विज्ञेयं विचक्षणैः ॥"
(मार्कण्डेयपुराणे अलर्कोपाख्याने अ० ४३)

अर्थ— जो प्राणी स्वप्नमें ऋक्ष (भालु) और वानरको एक साथ गान करतेहुए दक्षिण दिशाको जातेहुए देखे तो जानो, कि उसकी मृत्युमें अब विलम्ब नहीं है।

जो प्राणी स्वप्नमें देखे, कि मैं अग्निकुंडमें प्रवेश करगया हूं फिर वहांसे निकल न सका अथवा जलके कुंडमें प्रवेश करगया हूं तो जानो, कि उसके जीवनका अब अन्त होगया ।

प्राणीने जिसको सदा पूज्य मान रखा हो उसीका अपमान करने लगे और उसकी निन्दा करने लगे तथा देवताओंकी, वृद्धोंकी, गुरुओंकी और ब्राह्मणोंकी निन्दा करने लगे, माता, पिता और जामाता (दामाद) का निरादर करे, योगियोंकी, ज्ञानवानोंकी तथा अन्य महात्माओंकी निन्दा आरम्भ करदे तो ज्ञानी लोगोंसे ऐसा कहागया है, कि वह शीघ्र मृत्युको प्राप्त होगा ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि ज्ञानी सदा अपनी मृत्युको अपने आगे खडीहुई देखे और उसके दुःख और दोषोंसे बचनेके उपायपर दृष्टि रखे ।

अब जरा (वृद्धता) के दुःख और दोषोंका वर्णन किया-जाता है—

अहा! देखो ! वह चली आरही है, वह आयी देखो ! आही तो गयी । इसके रोकनेकेलिये केशोंमें बार-बार निर्यास (खिजाब) (Hair dye) लगायागया, दांतोंमें बहुत प्रकारके मंजनोंका प्रयोग कियागया, दूध, दही, घी, मिश्री, किशमिश, बादाम, अंगूर और नाशपातीकी कलई चढ़ायीगयी पर वृद्धताने नहीं माना आही तो गयी अंग-अंग कांपने लगगये, इन्द्रियोंकी गति मन्द होगयी केश चांदीके होगये, सो चांदी भी नहीं रही सारा शरीरका सिक्का बदलगया सब सिलवरी होगया कास श्वासने हल्ला मचाना आरम्भ करदिया अर्द्ध-

रात्रिको खांसनेका शब्द सुनकर महल्लेवाले कहने लगगये, कि यह बूढा सोने भी नहीं देता, नींद नहीं लगने पाती, यह शीघ्र मर भी तो नहीं जाता है, महल्लेवाले क्यों अपने ही घरके सोनेवाले ऐसा मनाने लगगये, कि भगवन्! इस वृद्धरूप महा घोर आपत्तिको शीघ्र शान्त करो। शिरे ऊंटके समान निकलआया, चलते समय पांवमें पांव लगने लगे सहस्रों बार पीपल और शहत चाटा करो पर यह बुढिया नहीं मानती अपना पुराना चरखा लिये पहुंचजाती है। हाथमें लाठी लिये युवापनको खोजती फिरती है, कि जवानी किधर गयी? रोटी खानेको दांत नहीं, मालपूये पचानेको अब आंत नहीं कितना रोको पर जिस मुंहसे पान चबाया करते थे अब उससे लार निकलने लगगयी कहां तक कहूं यह वृद्धता अत्यन्त दुःखदायिनी चुडेल है, हाड, मांस, रुधिर सबको गटागट पीती ही चली जाती है दोनों नेत्र जो इस युवापनमें कमलको लज्जित कररहे थे थोडे दिनमें एकहुए चैंचडेके समान होगये जिन नाकोंमें इतरके फाहे स्पर्श करते थे अब उनमें से कफके अपवित्र लोथडे लटकने लगगये।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी इस जराके दुःख और दोषोंपर सदा विचार रखे और इसके कठिन दुःखसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्य इत्यादिका पालन करता जावे जिससे वृद्धता आवे भी तो अधिक न सतावे।

अब व्याधिके दुःखोंको दिखलाते हैं इस शरीरमें साढेतीनलक्ष नाड़ियां हैं। एक २ नाडियोंकेसाथ अनेक प्रकारकी व्याधियां हैं जिनकी गणना नहीं होसकती है।

" द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते " (महाभारत
अ० १२।१६८)

अर्थ— शारीरिक और मानसिक दो प्रकारकी व्याधियां होती हैं इनका जन्म परस्पर है अर्थात् शारीरिकसे मानसिक और मानसिकसे शारीरिक रोग उत्पन्न होते हैं ज्ञानी सदा इन व्याधियोंकी ओर पूर्ण दृष्टि रखे अर्थात् आहार विहारमें पथ्य अपथ्य समय कुसमयका ध्यान रखे, जिसमें व्याधिसे पकडा न जावे। कुविचारी पुरुष सदा व्याधिसे ग्रस्त रहता है व्याधिके उत्पन्न होनेका सबसे श्रेष्ठ कारण यह है, कि ब्रह्मचर्य्यका विचार प्राणी नहीं करता। सब रोगोंका मूलकारण ब्रह्मचर्य्यका नष्ट होना है अर्थात् कामक्रीडा द्वारा शरीरसे वीर्य्यका निकाल देना रोगोंका मूलकारण है। जितना कुसमय अर्थात् बचपनमें प्राणी वीर्य्यको नष्ट-करेगा उतनाही खिन्न शरीर होकर रोगोंसे पीडित रहेगा शारीरिक और मानसिक दोनों व्यथाएं इसे दुखी करेंगी और शरीरमें नाना प्रकारके अन्य दोष भी उत्पन्न होंगे, शरीरको रोगग्रस्त होनेसे मृतकसे भी अधिक अपवित्र होना पडेगा, मलमूत्रसे वस्त्र मलीन रहेंगे सारा शरीर दुर्गन्धका भण्डार होजावेगा, पिशाचके समान देख पडेगा, उठना बैठना, चलना फिरना इत्यादि सब चेष्टाएं मिटजावेंगी खाटपर पडा हुआ प्राणी आह-आह मचाया करेगा, मूर्छापर मूर्छा आने लगेंगी, दूसरेके कन्धोंको पकड चलना-पडेगा, नाना प्रकारके मिष्टान्न इत्यादि भोगोंके पदार्थ विषके समान होजावेंगे और घरकी सुन्दरी रमणी षोडशी फीकी पडजावेंगी और केवल वैद्यदेवकी उपासना छोड अन्य देव भी भूलजावेंगे। तात्पर्य्य

यह है, कि रोगीको जीना जंजाल होजाता है इसलिये ज्ञानीको उचित है, कि इन दुःख और दोषोंको पहलेहीसे अपनी दृष्टिमें रख केवल भगवद्भजनमें चित्त लगावे। यदि पूर्वजन्मार्जित पापसे कोई भयंकर रोग भी सम्मुख आनेवाला होगा तो भजनके प्रभावसे ऐसे रुकजावेगा जैसे घरमें घुसते समय दीपकको बलतेहुए देख चोर रुक जाता है। यदि कहो तो प्रारब्ध भोगसे ही शान्त होता है फिर रुकेगा कैसे ? तो इतना जाने रहो, कि भगवद्भजनसे प्रारब्धकी शूली भी केवल एक साधारण कंटकके समान चुभकर बीत जाती है दुःखदायी नहीं होती। पहले जो कहा गया है, कि शारीरिक और मानसिक दो प्रकारके रोग होते हैं, इनका वर्णन संक्षेपसे पाठकोंके कल्याणार्थ किया जाता है—

> " शारीरो बहुभिर्भेदैर्भिद्यते श्रूयतां च सः ।
> शिरोरोगप्रतिश्यायज्वरशूलभगन्दरैः ॥
> गुल्मार्शः श्वासश्वयथुच्छर्द्यादिभिरनेकधाः ।
> तथाक्षिरोगाऽतिसारकुष्टांगमयसंज्ञकैः ॥
> विद्यते देहजस्तापो मानसं श्रोतुमर्हसि ।
> कामक्रोधभयद्वेषलोभमोहविषादजः ॥
> शोकाऽसूयाऽवमानेर्षामत्सरादिमयस्तथा ।
> मानसोपि द्विजश्रेष्ठ दुःखो भवति नैकधा ॥ "
>
> (विष्णुपुराणे)

अर्थ— नाना प्रकार वात, पित्त, कफ तथा सन्निपातके भेदसे शिरके रोग (प्रतिश्याय) श्लेष्मोंके रोग, ज्वर, शूल, भगन्दर, गुल्म (पेटमें

वायुगोला) बवासीर, श्वास (दम्मा) श्वयथुः (शोथ, शोफ, गण्ड) छर्दिः (वमनकरना) तथा अक्षिरोग (नेत्रोंके रोग) अतिसार, (बार-बारे मलका प्रमाणसे अधिक कुसमय उतरना) कुष्ट (कोढ) ये सब नाना प्रकारके रोग शरीरमें उत्पन्न होकर शरीरको नाना प्रकारसे दुःख देते हैं और ये सब शारीरिक रोग कहे जाते हैं अर्थात् इनको व्याधिके नामसे पुकारते हैं ।

अब मानसरोगोंको सुनो ! काम, क्रोध, भय, द्वेष, लोभ, मोह नाना प्रकारके विषादोंसे उत्पन्न, शोक, असूया, अपमान, ईर्षा, मात्सर्य इत्यादि ये मानस रोग हैं ।

इनको आधिके नामसे पुकारते हैं ज्ञानियोंको इन दोनोंसे बचनेकी युक्तियां करते रहना चाहिये ।

सच तो यह है, कि इस शरीरका रोम २ रोगसे भरा हुआ है । ज्ञानी वही है जो इनको पहले ही से देखे और ऐसा यत्न करे, कि ये समीप न आने पावें इनसे बचनेके लिये ब्रह्मचर्य्यका सदा पालन करता रहे इसीको व्याधिदुःखदोषानुदर्शन कहते हैं ।

अब भगवान् ज्ञानके अन्य लक्षणोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु**] अपने पुत्र, स्त्री, घरबार तथा धन सम्पत्तिसे असक्ति और अनभिष्वंग होना चाहिये । ये दोनों क्या हैं सो कहते हैं —

१२. **असक्तिः**— जैसे मूढ अपने पुत्र, स्त्री और गृहादिमें परम स्नेह रखता है, अहर्निश इनहीके ध्यानमें रत रहता है, सदा मनमें ऐसाही विचारता रहता है, कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है और

यह मेरा घर है अधिक क्या कहूं अपने घरबारके प्रपंचोंमें पडकर फांसीके बल्लेतक चढ जाता है। इसीको सक्ति कहते हैं और इनसे अनभिस्नेह अर्थात् स्नेहरहित रहनेको असक्ति कहते हैं। जो ज्ञानी है वह सदा इनसे विलग रहता है इनको सदा मार्ग चलनेवाले बटोहीके समान जानता है अथवा नौकापर चढेहुए यात्रियोंके समान समझता है तथा अपने घरको ऐसा समझता है जैसे बाटमें चलते हुए बटोही वृक्षकी छाया पाकर क्षणिक विश्रामकर आगे अपना मार्ग लेता है। एवम्प्रकार जो अपनी शरीरयात्रामें अपने विशाल महलों और अटारियोंको मार्गके वृक्षकी छायाके समान जानता है वही सच्चा ज्ञानी है इसीको असक्तिके नामसे पुकारते हैं। अब अनभिष्वंग क्या है? सो सुनो!

१४. अनभिष्वंगः— ऊपर जो पुत्रदारा इत्यादि कथनकर आये हैं उनके सुखदुःखसे सुखी दुखी न होनेका नाम अनभिष्वंग है। जो ज्ञानी हैं वे उनके मरने जीनेसे दुखी सुखी नहीं होते। ये कितना भी सुखी होजावें चक्रवर्त्तीका सुख क्यों न इनको लाभ होजावे पर ज्ञानी इनके सुखसे सुखी नहीं होते। जैसे सुदामाको जब श्रीकृष्ण-भगवानकी दयासे सम्पत्ति प्राप्त हुई है तब इनकी स्त्री शुकी अत्यन्त सुखको प्राप्त हुई पर सुदामा तो अपना कमण्डलु लिये हुए उसी प्रकारकी झोंपडीमें रहे जैसीमें पहले रहते थे और वही चबेना चबाकर भगवानका भजन करते रहे जैसे पहले चबाते थे। इसीके प्रतिकूल ये चाहें कितना भी दुखी क्यों न होजावें और घोर दुःखको प्राप्त होते जावें पर ज्ञानी इनके दुःखोंसे अप्रसन्न वा दुखी न होवें।

१५.. अब भगवान कहते हैं, कि [**नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**] **समचित्तत्वम्** सदा ज्ञानीको समचित्तत्वमें आनन्द करना चाहिये अर्थात् इष्ट जो अपनी अभिलाषाकी प्राप्ति तथा अनिष्ट जो अपनी अभिलाषाकी अप्राप्ति दोनोंमें समानचित्त रहना चाहिये। तात्पर्य यह है, कि सुख, दुःख, लाभ, हानि, मान, अपमान, स्तुति वा निन्दा सब दशामें ज्ञानीको पर्वतके समान स्थिर रहना तनक भी हर्षविषादको नहीं प्राप्त होना चाहिये। जैसे गम्भीर सागर वर्षाकालमें बहुतेरी नदियोंके जलके मिलनेसे अथवा ग्रीष्मकालमें अत्यन्त ताप पडनेसे न घटता है न बढता है ऐसे ही ज्ञानी इष्ट अनिष्ट दोनों अवस्थाओंमें समानचित्त रहे सो भगवान पहले भी कह आये हैं, कि " **यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥**" (अ० २ श्लो० ५७) अर्थात जो सब विषयोंसे स्नेहशून्य और तिस २ शुभ वा अशुभको प्राप्त होकर प्रसन्न वा अप्रसन्न नहीं होता उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता है।

फिर भगवान कह आये हैं, कि " **न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः** " (अ० ५ श्लो० २०) अर्थात् जो ब्रह्मविद् है, ब्रह्ममें अवस्थित है और मोहसे रहित है वह प्रियवस्तु अर्थात् इष्टकी प्राप्तिसे हर्षित नहीं होता अनिष्टकी प्राप्ति होनेसे विषाद नहीं करता है। अथवा शत्रु वा मित्रको देख जो समभाव रखता है वही कट्टर ज्ञानी है इसी लक्षणको समचित्तत्व कहते हैं।

१६. अब भगवान् कहते हैं, कि [**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**] मुझ वासुदेव महेश्वरस्वरूपमें अनन्य योग करके अव्यभिचारिणी भक्ति रखे। तात्पर्य यह है, कि अनन्ययोग उसे कहते हैं, कि अन्य सब प्रकारके देव, देवी इत्यादिके आश्रय वा अवलम्बको त्यागकर केवल उसी महेश्वर वासुदेवमें भक्ति करना सो भक्ति कैसी हो, कि अव्यभिचारिणी हो अर्थात् किसी भी प्रतिकूल कारणके डालनेसे न डोलसके कितनी भी आपत्ति क्यों न प्राप्त होजावे चाहे किसी अन्य देव देवीकी श्रेष्ठसे श्रेष्ठ तथा अधिकसे अधिक सहस्रों प्रकारकी सिद्धियां क्यों न देखनेमें आवें पर प्राणी उस वासुदेवकी भक्ति छोड लोभवश उस देव देवीकी ओर न जावे इसे " अव्यभिचारिणी भक्ति " कहते हैं। जैसे कोई परम पवित्र चरित्रवाली पतिव्रता अन्य किसी पुरुषको अत्यन्त सुन्दर चिकना चुलबुला धनवान् देखकर अपने दरिद्र प्राणपतिका त्याग कभी नहीं करती है इसी प्रकार इस भक्तिवाला अपने इष्टको छोड किसी अन्य देव देवीकी भक्ति नहीं करता है। ज्ञानी सदा इसी प्रकार भगवन्की भक्तिमें लीन रहता है॥

१७. अब भगवान कहते हैं, कि [**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि**] विविक्त देशसेवित्व अर्थात् एकान्तस्थानमें जाकर निवास करनेको " विविक्तदेशसेवित्व " कहते हैं। किसी नदीका तट, पर्वतकी गुफा, वन, वाटिका अथवा शून्यमन्दिरको विविक्तस्थान कहते हैं। सो जो ज्ञानी है उसे इन एकान्तस्थानोंमें जाकर निवास करना चाहिये। एकान्तस्थानमें बास करनेसे शरीर भी रोगरहित

रहता है और अन्तःकरण शुद्ध रहनेसे एकाग्रताका लाभ होता है तिस एकाग्रतासे भगवतस्वरूपका चमत्कार प्रत्यक्ष होता है।

१८. दूसरा लाभ यह है, कि एकान्तमें निवास करनेसे किसीका संग नहीं होनेके कारण बुद्धि भ्रष्ट नहीं होती इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानी एकान्तसेवी होवे जिसमें लोगोंका संग न हो यदि शंका हो, कि एकान्तस्थानसेवी तो है पर उसके पास लोग दौडजाते हैं और रात्रिको सुन्दर २ स्त्रियां पहुंचती हैं तो एकान्तस्थान का सेवन गुणदायक न होकर अवगुणका कारण हुआ और सारे तपके बनको भस्म करदेनेवाला हुआ ऐसे एकान्त सेवनसे क्या लाभ? तो उत्तर यह है, कि योग और भोग ये दोनों एकान्तस्थान खोजते हैं इसलिये केवल एकान्तसेवन करना उचित न समझकर भगवान्ने उसके साथ झट कहदिया, कि " **अरतिजनसंसदि** " लोगोंके संगसे अरुचि हो अर्थात् उस एकान्तमें कोई प्राणी न जाने पावे न जावेगा न विकार उत्पन्न होगा सब विकारोंका कारण लोगोंका संग है। जो विषयी है, लम्पट है, व्यभिचारी है और शिश्नेन्द्रियपरायण है वह यदि एकान्त सेवन करेगा तो महाघोर अनर्थका मूल होगा। क्योंकि वहां बुरे २ मनुष्योंका आगमन होने लगजावेगा, फिर धीरे २ पुंश्चली स्त्रियों का प्रवेश होगा ऐसे वह पुरुष नष्ट होजावेगा, अन्तमें उसकी दुर्दशा होजावेगी क्योंकि वह पुरुष विषयी है विषयके ध्यानमें पचारहता है। इस विषयका ध्यान करते २ उसे संग उत्पन्न होजाता है सो भगवान पहलेभी कह आये हैं, कि ' **ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते** " से "**बुद्धिनाशात् प्रणश्यति**" तक (देखो अ० २ श्लो० ६२-६३)

विषयका ध्यान करते-करते उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे कामना, तिससे क्रोध, तिससे मोह, मोहसे स्मृतिविभ्रम, तिससे बुद्धि-नाश और तिससे अन्तमें नाशको प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यह है, कि एकान्तस्थान में भी यदि मनुष्योंका संग होगा तो प्राणी नाशको प्राप्त होगा। इस-लिये कहते हैं, कि उस एकान्तसेवनके साथ-साथ जनसमूह अर्थात् लोगोंकी संगतिसे अरुचि हो अर्थात् कोई राजा रंक वा स्त्री पुरुष उसके पास न जानेपावे।

शंका— सर्वत्र सब शास्त्रोंमें सत्संगकी महिमा अमोघ कही गयी है। नारदभक्तिसूत्रमें कहा है— "कस्मात्तरति ? कस्मात्तरति ? कस्मात्तरति ?। सत्संगात्तरति ! सत्संगात्तरति ! सत्संगात्तरति !" अर्थात् प्राणी कैसे तरता है ? कैसे तरता है ? कैसे तरता है ? ऐसे तीन बारे प्रश्न कियागया है और इसी प्रश्नके उत्तरमें दृढ करनेके तात्पर्य से तीन बार कहागया है, कि सत्संगसे तरता है ! सत्संगसे तरता है !! सत्संगसे तरता है !!! फिर जब कोई प्राणी ज्ञानियोंके समीप जिज्ञासु होकर नहीं जावेगा तो उस प्राणीका उद्धार कैसे होगा ? यदि ज्ञानका गठ्ठर बांधकर आप ही अकेला हो अपना ही लाभ देखता रहेगा तो फिर जिज्ञासुओंके उद्धारका क्या उपाय है ? इसलिये एकबारगी जनसंसद् से घृणा करनेमें कुछ अनुचितसा जानपड़ता है।

समाधान— जिज्ञासुओंका संग करनेसे अरुचि करना भगवानका तात्पर्य नहीं है वरु 'जन' शब्द कहनेसे उन लोगोंको

समझना चाहिये जो भगवद्विमुख हैं भगवद्वार्त्ता सुनकर जिनको निद्रा आने लगती है और विषयवार्त्ता कानमें पडते ही जो झट जाग उठते हैं ऐसोंके संगसे अरुचि करना ही भगवानका तात्पर्य है।

इसी कारण इस दशवें श्लोकके " अरतिर्जनसंसदि " वाक्य का अर्थ श्रीशंकराचार्यने यों किया है, कि " अरतिररमणं क्व ? जनसंसदि जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानामविनीतानां कलहोन्मुखितचित्तानां संसृतिसमवायो जनसंसन्नसंस्कारवतां विनीतानां संसत्तस्याज्ञानोपकारकत्वादतः प्राकृतजनसंसद्यरतिः"

अर्थ— कहां अरुचि होना चाहिये सो कहते हैं कि जो प्राकृत मनुष्य हैं जिनको केवल गप्प, मसखरी और उपन्यासोंका पढना तथा लम्पटोंका संग अच्छा लगता है, जो संस्कारशून्य हैं, अविनीत, (नम्रता-रहित,) घोर उद्दण्ड हैं जिनका चित्त सदा कलह करनेको उद्यत रहता है ऐसोंके संगसे अरुचि। पर जो प्राणी संस्कारी हैं विनीत हैं अर्थात जिज्ञासु हैं उनसे अरुचि रखना भगवानका तात्पर्य नही हैं।

इसी प्रकार इस वाक्यका अर्थ मधुसुदन स्वामी भी करते हैं, कि " जनानामात्मज्ञानविमुखानां विषयभोगलम्पटोपदेशकानां संसदि समवाये तत्त्वज्ञानप्रतिकूलायामरतिररमणम् । साधूनां तु संसदि तत्त्वज्ञानानुकूलायां रति रुचिरेव " । तथाचोक्तम् " संगः सर्वात्मना हेयः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते । स सद्भिः सह कर्त्तव्यः सतां संगो हि भेषजम् " (अर्थ स्पष्ट है)

इसी प्रकार भाष्योत्कर्षदीपिकावाले तथा श्रीधरस्वामी प्रभृति महात्माओंने अर्थ किया है। विषयोंके संगसे वर्जित, एकान्तस्थान, शुद्ध,

रमणीय, सर्प, कीडे, मकोडे, व्याघ्र, भालू इत्यादि तथा विषयियोंसे वर्जित स्थान जो विविक्तस्थान तहां निवास करे जनसंगसे वर्जित रेहे यह ज्ञानीकी परम शोभा है । शंका मत करो !

शंका— क्या अपने घरहीमें विविक्तस्थान नहीं होसकता है ?

समाधान— यदि घरहीमें विविक्तस्थान मिलजावे तो दूर जानेकी क्या आवश्यकता है ? श्रीजनकजी महाराज तथा सुदामा-ब्राह्मण तो घरहीमें विविक्तस्थानसेवी हुए हैं । यदि घरमें विविक्त-स्थानसेवा बनपडे तो सोनामें सुगन्ध जानना चाहिये । जनकके समान जो नरेश हैं उनको तो ईश्वरने ऐसे उत्तम ठौरमें जन्म दिया है, कि वे सर्वोत्तम विविक्तस्थान बनासकते हैं वे तो सात-महलका मन्दिर बनवाकर सातवें महलमें जा चुपचाप एकान्त निर्भय बैठ भगवान्का भजन करसकते हैं उनके महलोंमें तो संगीनके पहरे-ऐसे पडते हैं, कि किसी एक चिडियाका भी प्रवेश उनके समीप नहीं होसकता यदि वे सब प्रकारके विषयोंसे उदासीन हों और जो लक्षण भगवान पहले कहआये हैं, कि " **असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु** " अर्थात् पुत्र, स्त्री, घर, द्वार, धनसम्पत्तिमें यदि उनकी रुचि न हो, इन सबोंसे वैराग्य हो तो इनसे बढकर दूसरा कोई विविक्तस्थानसेवनका सुख प्राप्त नहीं करसकता । इसी कारण भगवानने पहलेही कहदिया है, कि " **शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते** " अर्थात् पवित्र धनवान् कुलमें पूर्वजन्मका योग-भ्रष्ट प्राणी उत्पन्न होता है जिससे आगे उसको योगके पूर्ण करनेका पूर्ण अवकाश मिले ।

१६. अब भगवान कहते हैं, कि [**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**] अध्यात्मज्ञाननित्यत्व अर्थात आत्म-विद्याकी प्राप्तिमें नित्य अपने मन वचन, और कर्मको लगाये रहना। जैसे नदीके तटपर बक पक्षी बैठाहुआ एकटक मछलियोंकी ओर दृष्टि लगाये रहता है और नित्य अपने नियत समयपर प्रातःकाल ही जलाशयोंके तटपर आबैठता है और एकाग्रचित्त हो ध्यान लगाता है ऐसे आत्मज्ञानमें प्रवेश करनेके तात्पर्यसे नित्य अपने चित्तका समाधान करना।

२०. **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम** अर्थात तत्त्वज्ञान जो विषयोंके दुःखसे निवृत्ति और परमात्माकी प्राप्ति है तिसे देखते रहना। तात्पर्य यह है, कि कैवल्यपरमपद जो साक्षात तत्त्वज्ञानका मुख्य प्रयोजन है तिसे अवलोकन करते रहना, कि इसकी प्राप्तिमें मैं दिन-दिन उन्नति कररहा हूं वा नहीं?

ये दोनों उपर्युक्त लक्षण विशेषकर ज्ञानियोंमें ही पायेजाते हैं जो सब साधनोंमें उत्तम और श्रेष्ठ हैं। इसी कारण भगवानने इन दोनों लक्षणोंको सब लक्षणोंके अन्तमें उपदेश किया है सो पाठकोंको ध्यानमें रखना चाहिये, कि वे इस आत्मज्ञान तथा तत्त्वज्ञानमें ध्रुवके समान निश्चल और अटल निष्ठाको धारण किये रहें। पर इतना तो अवश्य स्मरण रखना चाहिये, कि ज्ञानका केवल वार्तालाप करने अर्थात बकवाद करनेसे कुछ लाभ नहीं होगा। ज्ञानीके सदृश अपनी चाल, चलन, ढंग और अपने आचरण बनाने चाहिये। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है, कि "**निशि गृह दीपशिखाकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई**" अर्थात रात्रिके समय अँधेले घरमें बैठकर कोई दीपशिखाकी

बातें कियाकरे तो केवल दीपककी बातें करनेहीसे घरकी अँधियाली नहीं जावेगी वरु दीपकके बालने ही से घरमें उजियाली होगी। इसी प्रकार ज्ञानकी कोरी बातें करनेसे कुछ भी लाभ नहीं जब तक ज्ञानकी प्राप्ति गुरु द्वारा न होवे। बहुतेरोंका स्वभाव है, कि इधर-उधरकी पोथियां पढकर ज्ञानकी बातें तो बहुत गहरी करते हैं पर चाल भेंडकी चलते हैं " **कथनी करें अगाधकी करें भेडव्यवहार। तुलसी ऐसे पतितको बार-बार धिक्कार** "।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा**] अर्थात् १. **अमानित्वम्**, २. **अदम्भित्वम्**, ३. **अहिंसा**, ४. **क्षान्तिः**, ५. **आर्जवम्**, ६. **आचार्योपासनम्**, ७. **शौचम्**, ८. **स्थैर्यम्**, ९. **आत्मनिग्रहः**, १०. **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**, ११. **अनहंकारः**, १२. **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**, १३. **असक्तिः**, १४. **अनभिष्वंगः**, १५. **समचित्तत्वम्**, १६. **भक्तिरव्यभिचारिणी**, १७. **विविक्तदेशसेवित्वम्**, १८. **अरतिर्जनसंसदि**, १९. **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**, २०. **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**। इतने २० लक्षण ज्ञानियोंके हैं इनसे जो अन्यथा वा प्रतिकूल हैं वे सब अज्ञान हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जहां प्रकाश नहीं होता तहां अन्धकार ही बना रहता है इसी प्रकार जहां ज्ञान नहीं होता तहां अज्ञान ही रहता है।

अब जैसे ज्ञानके बीसों अंगोंका वर्णन ऊपर कियागया है इसी प्रकार प्रतिकूल दशा अर्थात् सर्वसाधारण प्राणियोंके कल्याण निमित्त अज्ञानियोंकी दशाका वर्णन करदिया जाता है—

प्रथम अमानित्वके प्रतिकूल मानित्व जो घोर अज्ञानका स्वरूप है तिसे त्याग करना चाहिये क्योंकि मानित्व घोर मूर्खताका कारण है अपना मान चाहनेवाला मूर्ख अपना मस्तक ऊँटके समान ऊंचा कियेहुए और अपनी छातीको निकालेहुए अपनेको सम्पूर्ण संसारसे बढकर विद्वान और चतुर समझता है जहां कहीं किसीको उससे तनक भी उपकार होजावे तो उसे लोगोंपर जनानेके लिये ढोल पीटता है और चाहता है, कि सभामें सब विद्वानोंसे ऊंची बैठक मुझे ही मिले ऐसा प्राणी संसारसे पुजानेके लिये बडे-बडे योगी और तपस्वियोंका रूप बनाकर संसारको धोखा देता है। आज इस दम्भित्वके अवगुणोंको वर्णन करतेहुए एक साधु बाबाका समाचार महिलादर्पण नामक समाचारपत्रमें देखागया वह यह है, कि मुम्बईमें एक प्रेसके मालिक रामनारायणदासजी अपनी स्त्रीके साथ बैठे थे एक साधु उनके समीप ढोंग बनायेहुए पहुंचा और बोला, कि तुम अपना हाथ दिखाओ मैं तुम्हारा भविष्य बतादूंगा यद्यपि नारायण-रामने इस बातको स्वीकार न किया तथापि वे दूसरे दिन फिर आन पहुंचे और नारायणको अपना बक्स खोलते देखा उस बक्समें पुष्कल द्रव्य देखकर बाबाजी लालचमें आ तीसरे दिन तीन गुडकी गोली लिये आये और नारायणराम, उनकी स्त्री तथा उनके नौकरको पुष्टई की गोली कहकर खिलादिया थोडी ही देरमें तीनों बेहोश होगये और बाबाजी बक्स लेकर चम्पत हुए पर पकडेगये सेसन जजने उनको काला पानी भेजने और सख्त कैद रहनेकी सजा दी। इसी प्रकार जो मूर्ख हैं वे दम्भ बनाकर संसारको दुःखी करते हैं इनसे सदा सचेत रहना चाहिये।

ऐसे दम्भी मनुष्योंको अज्ञानकी खानि समझना चाहिये। ऐसे दम्भियोंकी बातें बरछीसे भी तीक्ष्ण कलेजेको बेधती हैं। फिर जो प्राणी हिंसक हैं किसी न किसी उपायसे सैकड़ों जीवोंकी हिंसा करते रहते हैं और हिंसा करनेमें अपनी वीरता प्रकट करते हैं तो जानो, कि ये महामूर्ख घोर नरकगामी हैं।

फिर जो मनुष्य बाहरसे तो हँसकर चिकनी चुलबुली प्रसन्न करने वाली बातें बनाकर अपना काम निकाललेता है मानों नाटकके स्वांग के समान भले पुरुषका स्वांग बनाये रहता है पर सच पूछो तो भीतर का बहुत ही टेढ़ा है भीतरसे सदा निन्दा ही करता रहता है उस मूर्खका स्वरूप ऐसा है जैसे स्वर्णके घड़ेमें ऊपरे तो थोड़ा दूध हो परे भीतर विष ही विष भरा हो। वह अवश्य कुम्भीपाकका भागी होगा। वह यदि कभी कुछ किसीकी भलायी करे तो ऐसा जानो, कि जैसे व्याधा मृगाके आगे चारा डालता हो। जिसके चित्तमें स्थिरताका कहीं नामभी नहीं जैसे पारा एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता ऐसे अज्ञानीका चित्त सदा डावांडोल रहता है अथवा जो वानरके समान एक डालसे दूसरे डालपर उछलता रहता है कभी किसी विशेष टहनी को पकड़ स्थिर नहीं रहता फिर जिस मूर्खमें आत्मनिग्रहका तो कहीं लेश भी नहीं है उदण्डके समान सदा इन्द्रियोंके भोगोंमें लीन रहता है। अभिप्राय यह है, कि अपनेको जिसने सर्वप्रकारकी मर्यादाके बन्धनसे अलग करडाला है, जो कुलकी मर्यादाको उल्लंघन कर बाहर निकल भागता है और सब कार्य मनमाना करने लगता है,

वेदकी सीमा तोडतेहुए जिसे लज्जा नहीं आती अन्धा हस्ती जैसे पागल होकर गडहेमें जा गिरता है ऐसे विषयके मदसे उन्मत्त और अन्धा होकर अज्ञानी नरककी खाईमें गिरजानेका काम करता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो अपने शरीर तथा अपनी इन्द्रियोंको अपने हाथ नहीं रखता सो ही घोर अज्ञानी है। कुष्ट-ग्रस्त (कोढी) जैसे अपने सडे रुधिरके भरे कपडोंसे अपना मुंह पोंछ कर अपनेको शुद्ध समझता है ऐसे जो सडे विषयसे विषयका सुख भोगकर अहंकार करता है, कि मैं बडा बाबू हूं और मेरे पास ७० वेश्याएं रहती हैं मारे घमगडके फूला नहीं समाता है ' मदग्रे कोऽपि नास्ति " जो मूर्ख गर्भके दुःख तथा मृत्यु, बुढापा और नाना प्रकार के रोगोंकी ओर पहले ही से नहीं देखता अर्थात् अपने नेत्रोंसे अन्य बच्चोंको गर्भसे निकलते समय उनके चिल्लाने और रोनेका शब्द सुनकर भी ऐसा नहीं समझता, कि जन्मसमय बच्चोंके रोने कराहनेका क्या कारण है ? तथा गर्भमें जो घोर नरककुण्ड है उसमें रहने से कितना दुःख पाया है फिर अपनी स्त्रीकी गोदमें अपने बालक को मल मूत्र करते तथा पालनेपर सोयेहुए मल मूत्रके कीचमें लोटते हुए तथा क्षुधा लगनेपर माको पुकारनेकी शक्तिसे हीन केवल रोते चिल्लाते चीखमारते देखकर जो अपने जन्मके समयका दुःख स्मरण नहीं करता तथा जो ऐसा नहीं विचारता, कि मैं मरकर फिर इसी प्रकार जन्मका दुःख सहूंगा। फिर सैकडों मनुष्योंको चिताकी भयंकर शय्यापर जलतेहुए देखकर भी अपनी मृत्युका स्मरण नहीं करता रहा घोर आलसी जैसे सोयाहुआ हो और सारा घर अग्निसे जल

रहा हो पर वह मूर्ख मारे आलस्यके क्रीडासुखको छोड घरको बचाने का कोई उपाय नहीं करता सारे घरको जलताहुआ देख कुछ परवा नहीं करता ऐसे जो मूर्ख अपनी आयुको धीरे २ छीजतीहुई देख मृत्युको तनक भी ध्यानमें नहीं लाता। नमककी डली पानीमें जैसे धीरे २ गलती जाती है और जैसे कर्पूर वायुमें धीरे २ उडताजाता है ऐसे जो मूर्ख अपनी आयुको छीजते देख कुछ भी परवा नहीं करता कभी भगवत्को स्मरण नहीं करता सो घोर अज्ञानताका पुतला है ।

फिर जो अपनी जवानीके घमण्डमें वृद्धताका स्मरण नहीं करता जैसे अन्धा मार्ग चलताहुआ आगेके खड्डेको नहीं देखता ऐसे जो आगे आनेवाली वृद्धताको तनक भी ध्यानमें नहीं लाता उसे घोर नारकी जानना चाहिये ।

फिर जो प्राणी किसी बड़े चिकित्सालय (Hospital) में नाना प्रकारके रोगियोंके अंग-अंग चीरेजानेका दुःख देखताहुआ भी व्याधिके भयसे कांपताहुआ भगवत्शरण जा 'त्राहिमाम्' नहीं बोलता रोगियोंके दुःखोंसे जो अपनी रोगग्रस्त अवस्थाके दुःखको स्मरण नहीं करता उसे मूर्खराट् और अविवेकका विराट् ही कहना चाहिये ।

फिर भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो मेरी भक्ति न करके इधर-उधर प्रेत पिशाचादिको पूजता फिरता है और जो कभी किसी अच्छे पुरुषकी संगतिसे मेरी कुछ भक्ति करने भी लगजाता है तो मारे मनःकामनाके रागी भक्तिको निरर्थक करडालता है

यदि कोई मनःकामना उसकी मनकी चंचलताके अनुसार शीघ्र सिद्ध न हुई तो मेरी मूर्ति अथवा शालिग्रामजीको घरमेंसे निकाल नदी में बहा आता है फिर कभी पूजापाठका नाम भी नहीं लेता। यदि किसी ठगने कहदिया, कि मूर्तियोंकी पूजा क्यों करते हो ? केवल ब्रह्मकी आराधना करो! तो थोड़े दिनमें ब्रह्म-ब्रह्म करने लगगया इससे भी उसकी मनःकामनाएं न पूरी हुईं तो ब्रह्मको भी झूठ समझने लगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब कुछ दुःख पड़ा तो आर्त होकर कभी दुर्गाकी, कभी कालीकी, कभी शिवकी, कभी गंगाकी और कभी लोना चमारीकी पूजा करता फिरा पर अन्तमें सब छोडछाड किसीका भी न हुआ तो जानो, कि यह काठका घोडा ही है मनुष्य नहीं है। क्योंकि भगवतमें उसकी अनन्य और अव्यभिचारिणी भक्ति न हुई जैसे वेश्या लाख भर्तारी होती है ऐसे जो सहस्रों देवों का आश्रय लेता फिरता है सतीके समान जो केवल एक पुरुष श्रीआनन्दकन्दका आश्रय लेकर नहीं रहता वही घोर मूर्ख है।

कहावत है, कि " सती रही सो एकपुरुषपर वेश्या लाख-भतारी। कहे कबीर काके सँग जरिहो बहुत पुरुषकीनारी "

फिर जिसे एकान्त स्थान नहीं भाता जो किसी शुभ निर्मल वनमें वा नदीके तटपर तथा एकान्त किसी वृक्षके नीचे रहना स्वीकार नहीं करता जैसे बालक अकेला डरता है ऐसे जो एकान्तस्थानमें भयभीत रहता है, सदा लोगोंकी बस्तीमें वा बड़े-बड़े नगरोंमें सहस्रों

मनुष्योंके बीच रहनेसे प्रसन्न रहता है, जो वेश्याओंके टोले (मंहल्ले)में जाकर घर बनाता है दिन रात दंगे, झगडे, कोलाहल तथा नाना प्रकारके धूमधाममें जिसका चित्त लगता है, दश पांच मनुष्योंको जो अपने आगे पीछे चलानेमें परम प्रसन्न होता है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिसे एकान्तसे प्रसन्नता नहीं होती और जो बहुत मनुष्योंके झमेलेमें रहना उत्तम जानता है वह अज्ञानका चाकर ही है ।

फिर जो पुरुष चौदहों विद्या निधान हैं, सकल वेद वेदान्त विशारद है, चारों वेदोंका जो वक्ता है, षड्दर्शन जिसकी जिह्वापर नृत्य करते हैं, स्मृतियां जिसके घरमें बुहारीदेती हैं काव्यशास्त्र जिसके घरमें बिछावन बिछाते हैं, नीतिशास्त्र जिसका भण्डार बनाता हैं और शिल्पशास्त्र जिसके घरमें ईंट चुनता है अधिक कहां तक कहूं जो सर्वज्ञ होरहा है पर एक आत्मज्ञान जिसमें न हुआ तो उसे ऐसा समझो जैसे किसी परम सुन्दरी स्त्रीके घरमें श्वेत पलंग सज. सजाया हो, चारमहलोंके ऊपर चौमुख बत्तियां जलरही हों सहस्रों दासियां और दास हाथ बांधे खडे हों पर एक उसका परम प्रिय भर्ता जो उसका प्राणप्रिय घरमें न हो तो सब निरर्थक हैं. ऐसे ही आत्मज्ञान विहीन सर्वशास्त्रवेत्ताओंको जानना चाहिये ।

मुख्य अभिप्राय यह हैं, कि जो सर्वशास्त्रवेत्ता हो पर अध्यात्म-ज्ञान विहीन हो तो वह ऐसा है जैसे किसी सुन्दर नारीकी नाक कटीहुई होवे। ऐसे नकटे विद्वानोंको भी अज्ञानी ही जानना चाहिये

क्योंकि आत्मविद्या हीन विद्वानको तत्त्वज्ञानके अर्थका अनुदर्शन नहीं होता अर्थात् ऐसे अज्ञानीको मोक्षका आनन्दलाभ नहीं होता और परमपदके आनन्दमें वह कदापि विहार नहीं करसकता॥ ८, ९, १०, ११, १२ ॥

भगवानने जो ज्ञानके बीस लक्षण पहले वर्णन किये उन्हींके प्रतिकूल लक्षणोंका यहां वर्णन करदियागया।

इतना सुन अर्जुनको यह शंका हुई, कि भगवान्ने जो ज्ञान का स्वरूप २० लक्षणोंकरके वर्णन किया है सो ज्ञान किन ज्ञेयोंको बोध कराता है? तिन्हें भगवान्ने नहीं कहा इतना विचारते ही आनन्दकन्द ने अर्जुनके हृदयकी गति जान ज्ञेयका स्वरूप इस ज्ञानाख्य षट्कके अन्तर्गत दिखलाना आरम्भ करदिया।

मू०— ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२

पदच्छेदः— यत्, ज्ञेयम् (ज्ञानविषयम्। उक्तज्ञानसाधनपरिपाकलब्धसाक्षात्कारवृत्तिविषयम्) तत्, प्रवक्ष्यामि (प्रकर्षेण कथयिष्यामि) यत्, ज्ञात्वा (अनुभूय) अमृतम् (मोक्षम्) अश्नुते (प्राप्नोति) तत्, अनादिमत् (आदिरहितम्) परम् (निरतिशयम्) ब्रह्म (सर्वतोऽनवच्छिन्नम् बृहत्वाद्व्यापकम्) न, सत् (विधिमुखेन प्रमाणस्य विषयः। स्थूलं वा) उच्यते, न, असत् (निषेधमुखेन प्रमाणस्य विषयः। सूक्ष्मं वा) उच्यते (कथ्यते) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (यत्) जो विषय (ज्ञेयम्) पूर्वोक्त ज्ञानद्वारा जानने योग्य है (तत्) तिस विषयको (प्रवक्ष्यामि) पूर्णप्रकार उत्तम रीतिसे मैं कथन करूंगा (यत) जिसको (ज्ञात्वा) जानकर प्राणी (अमृतम्) मोक्षपदको (अश्नुते) प्राप्त करता है (तत) सो (अनादिमत) आदिसे रहित अर्थात उत्पत्ति रहित (परम) अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म) सर्वव्यापी सच्चिदानन्द परमात्मा (न, सत्) न तो सत् (उच्यते) कहाजासकता है (न, असत्) न असत् कहा जासकता है ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब सर्वघटनिवासी सदा अविनाशी श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अर्जुनके हृदयकी गति जानकर कहते हैं, कि [**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते**] हे अर्जुन ! मैंने जो पूर्वमें ज्ञानके २० साधन तुम्हारे प्रति कथनकिये हैं उन साधनोंके द्वारा जो जानने योग्य वस्तु है उसे सम्पूर्ण संसारके कल्याण निमित्त मैं विधिपूर्वक उत्तम रीतिसे तेरे प्रति कथन करूंगा जिसके जाननेसे प्राणी मोक्षपदको प्राप्त करता है ।

यहां भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि प्राणियोंका स्वभाव है, कि जबतक उनके चित्तमें किसी परिश्रम वा साधनका परिणाम पहले न ज्ञात होजावे तबतक उनका चित्त भली भांति उस साधनमें नहीं लगता । देखो ! किसान ग्रीष्म ऋतुके परम घोर तापमें हल द्वारा वा कुदाली द्वारा बीवेंके बीवे खेतोंकी मिट्टीको कुरेद डालता है घोर वर्षाके समय कीचमें खड़ा और जलके आघातोंको

सहता हुआ अनाजोंके बीजोंको वपन करता रहता है उस समय यदि उसे यह बोध न हो, कि मेरे इस परिश्रमसे नाज उत्पन्न होकर मेरे जीवनका हेतु होगा तो कदापि वह इतना परिश्रम करना स्वीकार नहीं करेगा। इसी प्रकार उक्त बीसों साधनों द्वारा अर्थात् उक्त ज्ञान द्वारा कौनसे ज्ञेयकी प्राप्ति होगी इसका आशय जब तक प्राणीको न विदित होजावे तब तक उक्त साधनोंमें प्राणियों का चित्त कदापि नहीं लगेगा तिसमें भी जो निष्काम हैं वे तो संसार का कुछ भी वैभव नहीं चाहते धन, सम्पत्ति, पुत्र, दारा इत्यादिकी तनक भी आकांक्षा नहीं रखते फिर यदि उक्त बीसों साधनोंके द्वारा किसी विषयकी प्राप्ति हुई तो उनके लिये घोर अनर्थका कारण होजावेगा क्योंकि वे तो निष्कामकर्मोंके सम्पादन करनेवाले हैं उनकी तो वही दशा होगी, कि " खोदा पहाड और निकला चूहा " इसलिये भगवान् अर्जुनके मिससे संसारको तथा जिज्ञासुओंको यह दिखलाना चाहते हैं, कि उक्त बीसों ज्ञानके साधनोंका फल विषय नहीं है, न संसारके किसी सुखसे प्रयोजन है न स्वर्गके सुखसे प्रयोजन और न ब्रह्मलोकके सुखसे प्रयोजन है। निष्काम कर्मवाले जिज्ञासुओं को तो किसी अन्य सुखसे प्रयोजन कुछ भी नहीं है। इसी कारण भगवान यहां ज्ञेयके स्वरूपको कहना चाहते हैं जिससे जिज्ञासुओंको पूर्ण सन्तोष होजावे, कि जो ज्ञानके साधन ऊपर कथन कियेगये हैं उनसे किसी संसृतिविषयप्राप्तिका तात्पर्य नहीं है वरु साक्षात् परमपदको प्राप्त होना है इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि " यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते " जिसे जानकर प्राणी अमृत अर्थात् मृत्युसे

छूटकर मोक्षको प्राप्त होता है अथवा जिसे प्राप्त कर फिर मृत्युके हाथ बिकना नहीं पड़ता मृत्यु स्वयं लज्जित हो रूठकर उसके समीपसे भागजाती है फिर कभी उसके समीप आनेका साहस नहीं करती।

अब तिस ज्ञेयका स्वरूप कहना आरम्भ करते हैं [**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते**] सो जो ज्ञेय है वह आदिवाला नहीं है अर्थात् उसका कहीं किसी समय आदि नहीं है इसी कारण उसको " **अनादिमत्** " कहा है। तात्पर्य यह है, कि जिसके कारण और जिसकी उत्पत्तिका कहीं भी पता न लगे उसे अनादिमत् कहते हैं सो केवल वही परब्रह्म है जो निरवच्छिन्न व्यापक है अर्थात् परम शब्दका अर्थ है, कि जिससे अधिक महान वा श्रेष्ठ कोई न हो अथवा जिसके महत्वकी बराबरी अन्य कोई न करसके। फिर परम कहिये निरतिशय को और ब्रह्म कहिये जो सर्वव्यापक, देश, काल तथा वस्तुके परिच्छेदसे रहित सर्वत्र परिपूर्ण और विभु है। इसलिये वही परब्रह्म बीसों साधनयुक्त ज्ञान का ज्ञेय है।

शंका— अमानित्व इत्यादि साधनोंका ज्ञेय वह ब्रह्म कैसे होसकता है ? क्योंकि जैसा ज्ञान हो वैसा ही ज्ञेय भी होना चाहिये। अन्य प्रकारके ज्ञानसे अन्य प्रकारके ज्ञेयका ग्रहण नहीं होसकता। जैसे कुलालको मृत्तिकामर्दन, चक्रचालन इत्यादि साधनों से केवल घट इत्यादिका ज्ञान होता है और जैसे तन्तुवाय वा पट-कार (जुलाहा) को कपास इत्यादिके धुनने तथा तन्तुओंके बुनने

के साधनोंसे केवल पटका ही ज्ञान होता है इसी प्रकार अमानित्व अदम्भित्व, अनहंकार इत्यादि साधनोंसे उत्तम और श्रेष्ठ स्वभावका ही ज्ञान होसकता है ब्रह्मका ज्ञान नहीं होसकता फिर भगवान्ने इन साधनोंका ज्ञेय ब्रह्मको क्यों कहा ?

समाधान— अमानित्व इत्यादि साधन ज्ञानके निमित्तमात्र हैं अर्थात् ये स्वयं ज्ञान नहीं हैं वरु ज्ञानके लक्षणमात्र हैं इनका साधन करते-करते जब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तब उस ज्ञानका ज्ञेय साक्षात् ब्रह्म ही होता है इतर कुछ भी नहीं । इसी कारण उक्त बीसों लक्षणोंको कहते-कहते अन्तमें जो **अध्यात्मज्ञाननित्यत्व और तत्त्वज्ञानार्थदर्शन** दो साधन कथन किये हैं ये दोनों मानो इनसे पहलेवाले १८ साधनोंके फलरूप कहेगये हैं । जिससे बोध होता है, कि इस आत्मज्ञानका ज्ञेय वह परब्रह्म ही है जो अनादिमत् है अर्थात् कारण और उत्पत्तिसे रहित है ।

कोई-कोई विद्वान् कहते हैं, कि अनादिमत् शब्दमें अनादि बहुव्रीहि समास करके अर्थ करनेसे तो ब्रह्मका बोध हो ही जाता है फिर इस अनादि शब्दके साथ मतुप् प्रत्ययकर अनादिमत् कहनेकी क्या आवश्यकता थी? ऐसा कहनेसे पुनरुक्तिदोष आता है । इसलिये यहां अनादिको और **मत्परम्**को विलग-विलग कर अर्थ करना उत्तम है अर्थात् उत्कृष्ट-शक्तिसे युक्त जो वासुदेवरूप हैं तिसे कहिये **मत्परम्** अर्थात् उससे शक्तिमान इतर कोई नहीं है । यह अर्थ केवल साकार उपासनावालों को अत्यन्त सुखदायी है पर निराकार उपासनावालोंको भी इस अर्थसे

घृणा नहीं होगी क्योंकि भगवान् पहले ही कहचुके हैं, कि निराकार उपासनावाले भी मुझ ही को प्राप्त करते हैं। इस गीताके अ० १२ श्लो० ३ और ४ में निराकारवालोंका वर्णन करतेहुए अन्तमें भगवानने कहा है, कि " ते प्राप्नुवन्ति मामेव " सो निराकार उपासनावाले भी मुझको ही प्राप्त होते हैं।

यदि इस मतुप् प्रत्ययको यहां छान्दस मानकर एक ही अर्थ करें तो भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है क्योंकि ये जो चौरासी लक्ष योनियोंके शरीर इत्यादि हैं वे नाना प्रकारकी रचनाओंकी प्रतीति इन्द्रियों द्वारा करारहे हैं सो ये सब आदिमत हैं। इन सबोंकी उत्पत्ति कहींसे अवश्य हुई है और ये तो केवल कार्यमात्र हैं इनका कोई कारण अवश्य है जो इनसे विलक्षण और सर्वविकारोंसे रहित है अतएव वही अनादिमत कहाजासकता है।

किसी २ टीकाकारने अनादिमत्परम् दोनोंको एक करके यों अर्थ करदिया है, कि आदिमत् कहते हैं कार्यको और पर कहते हैं तिसके कारणको अतएव जिसका कुछ आदि अर्थात् कारण हो उसीका नाम 'पर' है इसलिये कार्य और कारण दोनोंसे जो रहित होवे उसे कहिये " अनादिमत्परम् "। पर ये सब अर्थ खैंचातानीके हैं इनसे ग्रन्थकर्ताको कुछ तात्पर्य नहीं है।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! वह जो अमृतानन्द प्रदान करनेवाला तुम्हारा ज्ञेय है सो " न सत्तन्नासदुच्यते " न वह सत है न असत है अर्थात न तो उसको विधिमुखसे, कहसकते

हैं, कि वह वर्तमान है और न निषेधमुखसे कहसकते हैं, कि वह नहीं है अर्थात् सत्य और असत्य दोनोंसे विलक्षण है।

शंका— जब वह 'सत्' 'असत्' कुछ भी नहीं कहाजासकता तो फिर भगवानने ऐसा क्यों कहा, कि हे अर्जुन! "**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि**" जो ज्ञेय है सो मैं तुझसे कहूंगा। क्योंकि जब वह सत् असत् दोनोंसे विलक्षण और वाणीसे परे हुआ तो फिर उसे क्या कहना बनसकता है अतएव भगवानका यह वचन कि मैं तुझसे कहूंगा निस्सारमात्र जान पडता है।

समाधान— भगवान्का यह वचन निरर्थक नहीं है यहां यह विषय इतना गूढ है, कि सर्वसाधारणकी बुद्धि भगवान्के वचनोंके अभिप्राय तक पहुंच नहीं सकती भगवान्के इस 'सत्' और 'असत्' इन दोनों विशेषणोंके साथ-साथ कहनेका तात्पर्य यही है, कि वह ब्रह्म 'सत्' और 'असत्' दोनोंसे विलक्षण है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यदि उस ज्ञेय अर्थात् ब्रह्मको सत् कहकर पुकारें तो वह बुद्धिसे ग्रहण करनेमें आजावेगा। क्योंकि जो वस्तु सत् होती है वह आंखसे देखी जाती है और उसका व्यवहार भी 'अस्ति' शब्द करके कियाजाता है। जैसे "**घटोस्ति सन् घटः**" अर्थात् जब नेत्रोंके सामने घट रखाजाता है तब यह घट है ऐसा कहा जाता है फिर वह देखाजाता है, हाथोंसे स्पर्श भी कियाजाता है इसलिये घट अवश्य है और सत् है ऐसा कहाजाता है और जब वही घट वहांसे हटादियाजाता है तब ऐसे बोलते हैं, कि

" नास्ति घटः असन् घटः " अर्थात् यहां घट नहीं है सो यहां निश्चयात्मिका वृत्ति जिसे बुद्धि कहते हैं सो इन दोनोंको जानजाती है अर्थात् ' ना ' और ' हां ' दोनोंको बुद्धि समझजाती है सद्बुद्धि और असद्बुद्धि दोनोंका विषय ग्रहण करनेमें आजाता है और उस ब्रह्मको बार-बार सर्वशास्त्रवेत्ताओंने सर्वप्रकारके मतावलम्बियोंनें और × श्रुतियोंने बुद्धिसे परे कहा है तथा भगवान भी इस गीताशास्त्रमें उसको बार-बार बुद्धिसे परे कहते चले आये हैं जैसे " **मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः** " अतएव भगवान्का यह कहना, कि न वह सत् है और न वह असत् है अत्यन्त युक्त और परम सिद्धान्तका वचन है। क्योंकि जो बुद्धिसे ग्रहण करनेमें आता है उसीके विषय सत् और असत् शब्दका प्रयोग करना पडता है, जो बुद्धिमें आता ही नहीं उसे सत् वा असत् कैसे कहना बने? क्योंकि यदि कहो, कि वह सत् है तो घट वा पटके समान उसका स्थूलस्वरूप है अथवा हर्ष वा शोकके समान उसका कुछ सूक्ष्मस्वरूप है सो वह ज्ञेय (ब्रह्म) न स्थूल है न सूक्ष्म है। इसी कारण श्रुति कहती है "**ॐ यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह**" जहां मनके साथ वचन जिसे न प्राप्त होकर मूक होजाते हैं। इसलिये हे प्रतिवादी! 'प्रवक्ष्यामि' (मैं कहूंगा) ऐसा जो भगवानने कहा तिसका तात्पर्य यही है, कि उस ज्ञेयको सत और असत्से विलक्षण कहूंगा। शंका मत करो!

× "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥" (कठो० अ० १ वल्ली ३)
"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया" (मुं० ३ खं० २ श्रु० ३०)

शंका— अब यहां यह विचारने योग्य है, कि जब वह ज्ञेय एवम्प्रकार सत् और असत् दोनों प्रकारकी बुद्धिसे परे होजाता है तो फिर अब उसके जाननेके निमित्त कौनसी तीसरी बुद्धि है जिससे वह जानाजावेगा । यदि वह किसी प्रकार न जानागया तो भगवान्ने ज्ञेय क्यों कहा ? क्योंकि जो किसी प्रकार जाना जावे उसीको तो ज्ञेय कहते हैं ।

समाधान— भगवान्के कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि वह ज्ञेय (ब्रह्म) परमात्मदेव है ही नहीं । यदि उसका न होना सिद्धान्त होजावे तब तो नास्तिकोंका मत सिद्ध होजावेगा इसलिये ज्ञेय है तो अवश्य पर वह सत् और असत् किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होसकता । सांख्यने भी तो कहा है — "ईश्वरासिद्धेः" अर्थात् ईश्वरको प्रमाणोंसे असिद्ध कहें तो इसमें कोई दोष नहीं है । तात्पर्य यह है, कि वह है तो अवश्य परन्तु न सत् है न असत् है दोनोंसे विलक्षण है पर वस्तुतः क्या है ? सो न आज तक बुद्धिद्वारा जानागया न जानाजावेगा । प्रमाण श्रुति--"ॐ अन्यदेव तद्विदिता-दथोऽविदितादधि" अर्थात् ब्रह्म विदित और अविदित दोनोंसे न्यारा है । जितनी वस्तु आज तक सद्बुद्धिसे विदित होचुकी हैं उनसे वह अन्यत (न्यारा) है और असद्बुद्धिसे जो वस्तु विदित नहीं हुई उनसे भी वह अधि (ऊपर) है इस श्रुतिसे इतना तो अवश्य सिद्ध होता है, कि कोई न कोई ब्रह्म है। नहीं है ऐसा नहीं कहना चाहिये। है अवश्य परे बुद्धिसे नहीं जानाजाता जिसने उसको जाना वह 'मूकास्वादनवत्' गूंगेके समान उसके स्वादके कहनेमें समर्थ नहीं हुआ जो उधरको गया वह उधर ही लीन होगया ।

"गयी पूतली लवणकी थाह सिन्धुकी लेन, गलत-गलत पानी भयी लौटि कहे को बैन" शंका मत करो।

अब यदि पुनः ऐसी शंका हो, कि यह श्रुति भी उलटा ही कहती है क्योंकि जानने योग्य और नहीं जानने योग्य पदार्थोंसे जब इतर हुआ तो ब्रह्मका होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि इन दोनों प्रकारके पदार्थोंसे और तीसरा कौनसा पदार्थ है? जो इनसे इतर हो तो उत्तर यह है, कि श्रुतिसे विरुद्ध अर्थ सिद्ध नहीं होता वरु श्रुतिका तो यही अभिप्राय है, कि जानने योग्य जो यह जगत् उससे वह ब्रह्म बिलक्षण है और नहीं जानने योग्य जो अव्याकृत प्रकृति उससे भी वह ब्रह्म बिलक्षण है अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दो ही प्रकारकी प्रकृतियां जानने और नहीं जानने योग्य हैं इन दोनोंसे वह न्यारा है। ऐसा तो कदापि हो ही नहीं सकता, कि जो स्वयं प्रकाश होकरे सब लोकलोकान्तरोंको प्रकाशमान कररहा है उसकी स्थिति नहीं है ऐसा कौन कहसकता है। परन्तु उसका होना ऐसा नहीं है जैसी; कि इस जगत्की वस्तु-वस्तु होती हैं। इसी कारण ब्रह्मको सत् वा असत् कहना नहीं बनता क्योंकि जितने सत् पदार्थ हैं सब शब्दोंके द्वारा जानेजाते हैं और उन शब्दोंसे ही वे सुनेजाते हैं तथा देखे जाते हैं। तिनके जाननेमें चार बातें अवश्य होती हैं—१. जाति. २. गुण ३. क्रिया, और ४. सम्बन्ध। इनही चार बातोंसे प्रत्येक वस्तुको जान सकते हैं। जैसे 'मनुष्य' इतना शब्द उच्चारण करने ही से जानाजाता है, कि पृथ्वीमण्डलके मनुष्यमात्र और अश्व कहनेसे सारे संसारके अश्वोंका बोध होता है। यह जातित्व है।

एवम्प्रकार गुणवाचक शब्दोंसे प्राणीमात्र तथा वस्तु-तस्तुके गुणहीका बोध होता है। जैसे अरुण वा श्वेत ऐसा कहनेसे जिस वस्तु में वा प्राणीमें लाल रंग है उसे अरुण कहते हैं और जिसमें उजला रंग है उसे श्वेत कहते हैं। यही गुण कहाजाता है।

इसी प्रकार नृत्यति, गायति, रौति इत्यादि शब्दोंसे नाचने, गाने और रोने इत्यादि क्रियाओंका बोध होता है । इसीको क्रिया कहते हैं ।

फिर सम्बन्धवाचक शब्दोंसे किसी प्रकारके सम्बन्धका बोध होता है जैसे धनी और गोमान् कहनेसे उसीका बोध होगा जिसके पास धन और गौ हो। इसीको सम्बन्ध कहते हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितने सत् मात्र पदार्थ हैं उनको जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध इन चार प्रकारके बोध करानेवाले शब्दोंसे जानसकते हैं जिसे सुनकर यह प्रतीति होती है, कि अमुक वस्तु, अमुक जाति, अमुक गुण, अमुक क्रिया और अमुक सम्बन्धवाली है ।

पर जो इन चारोंसे इतर होवे वह सत् नहीं कहाजावेगा सो भगवान्के कहनेका यहां यही अभिप्राय है, कि वह ज्ञेय (ब्रह्म) इन चारोंसे रहित है इसी कारण श्रुतिने " न विजानीमः " ऐसा कहकर उच्चारण किया । अतएव भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका ' न सत् ' ऐसा कहना सर्वांग शुद्ध है । अन्य श्रुतियोंमें भी ऐसा ही कहा है— " ॐ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा " (मुं० ३ खं० १ श्रु० २)

अर्थात् न वह आंखोंसे देखाजाता है और न वचनसे बोलाजाता है पर ऐसा होनेपर भी वह अवश्य है " दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः " (मुं० २ खं० १ श्रु० २)

देखो ! यह श्रुति किस प्रकार उस ज्ञेय (ब्रह्म) को सत और असत् दोनोंसे विलक्षण वर्णन करतीहुई उसका अस्तित्व (होना) सिद्ध कररही है । श्रुतिने पहले दिव्य कहा, फिर अमूर्त कहा, पश्चात् पुरुष कहा, पीछे वाह्याभ्यन्तर कहा और फिर अज कहदिया। तिसके पश्चात् अप्राण और अमनाः कहकर झट शुभ्र कहदिया। पश्चात् अक्षरात्परतःपरे कहा। इन नव शब्दोंमें पांच शब्दोंसे विधिमुख और चार शब्दोंसे निषेधमुख वर्णन किया अर्थात् पांच शब्दोंसे सत् और चार शब्दोंसे असत् दिखलाया जिसमें पांचसे तो सिद्ध होता है, कि वह असत् नहीं है और चारसे यह सिद्ध होता है, कि वह सत् भी नहीं है फिर ऐसा भी सिद्ध होता है, कि वह सत भी है और असत् भी है।

पहले इन नवों शब्दोंके अर्थोंको दिखलाते हैं फिर इस गोरखधनारी बट्टाबाजीके खेलको सच कर दिखलावेंगे।

१. दिव्यः— जो द्योतनात्मक अर्थात् प्रकाशमान हो।

२. अमूर्तः— जिसका कुछ भी रूप न हो।

टि०-दिव्यः, पुरुषः, वाह्याभ्यन्तरः, शुभ्रः, अक्षरात्परतःपरः, ये पांच विधिमुख और अजः, अमूर्तः, अप्राणः, अमनाः ये चार निषेधमुख हैं।

३. पुरुषः— जो सबके शरीरमें शयन करे तथा सोलहों कला-ओंसे परिपूर्ण हो।

४. बाह्याभ्यन्तरः—जो सबके बाहर-भीतर है।

५. अजः— जो कभी उत्पन्न न हुआ जो न जन्मता है न मरता है।

६. अप्राणः— जिसको प्राण नहीं हैं अर्थात् कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय तथा बुद्धि आदिसे रहित है।

७. अमनाः— जिसे मन भी नहीं है अर्थात् जो मनवाला नहीं है।

८. शुभ्रः— अत्यन्त निर्मल है।

९. अक्षरात्परतःपरः— अक्षर जो कूटस्थ मायाविशिष्ट चैतन्य तिससे भी परे है।

पाठक स्वयं समझजावेंगे, कि कौन-कौन शब्द निषेधमुख हैं और कौन-कौन विधिमुख हैं।

※ विचारनेसे ऐसा बोध होता है, कि वह न असत् है न सत् है।

वाहरे गोरखधन्धा! वाहरे बट्टेबाजी! जैसे इन्द्रजालवाला बाजीगर हाथमें बट्टा लेकर एकबार तो उसी हाथमें बटिका दिखाता है फिर देखनेवालेके देखते-देखते उसे लोप भी करदेता है एक ही बारमें

※ यहां यह विषय अत्यन्त गम्भीर है अनुभवसिद्ध है अक्षरोंमें समझाये नहीं समझमें आसकता गुरुकृपासे जब आत्मज्ञान लाभ होवे तब आपसे आप समझमें आजावे। गूंगेकी मिठाईके समान कहने में नहीं आता।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्रियाएं दिखादेता है बडे-बडे बुद्धिमान् उसकी बाजीगरीकी मायावी कलाओंको नहीं समझ सकते इसी प्रकार इस (सत् और असत् दोनोंसे रहित) को नहीं समझ सकते ।

भगवान् तो पहले कहचुके हैं, कि " आश्चर्यवत्पश्यति कश्चि-देनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः " (अ० २ श्लो० ४९) अर्थात् कोई इसको आश्चर्यवत् देखता है और कोई इसको आश्चर्यवत् कहता है किंकर्त्तव्यविमूढ होकर रहना पडता है ॥ १३ ॥

अब यहां भगवान्ने जो ऐसा कहा, कि वह ज्ञेय (ब्रह्म) " न सत् उच्यते " सत् नहीं कहाजाता इतना कहनेहीसे ऐसी शंका उत्पन्न होआती है, कि जब वह सत् नहीं है तो उसकी स्थिति भी कहीं नहीं होगी इसी शंकाको दूर करनेके निमित्त अब भगवान् उस ज्ञेय (ब्रह्म) के अस्तित्वको विस्तारपूर्वक अगले श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं ।

मू०— सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४

पदच्छेदः— तत्, सर्वतः पाणिपादम् (ब्रह्मादिपिपीलि-कापर्य्यन्तम् सर्वेषु देहेषु हस्ताश्च चरणाश्च सन्तीति) सर्वतोऽक्षिशिरो-मुखम् (सर्वासु दिक्षु सर्वस्मिन् शरीरे वा नेत्राणि मस्तकानि आन-नानि च यस्येति) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वासु दिक्षु श्रवणेन्द्रियैर्यु-क्तम्) लोके (प्राणिनिकाये) सर्वम् (अचेतनवर्गम) आवृत्य

(स्वसत्तया स्फूर्त्या चाध्यासिकेन सम्बन्धेन व्याप्य) तिष्ठति (निर्विकारेमेव स्थितिं लभते) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (**तत्**) वह जो क्षेत्रज्ञ है सो (**सर्वतः पाणिपादम्**) सब ओरसे सब ठौरमें हाथ पांववाला है फिर (**सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**) सर्वत्र सब ओर आंख, शिर और मुंहवाला है तथा (**सर्वतः**) सब ठौर सब ओर (**श्रुतिमत्**) श्रवणेन्द्रियोंसे युक्त है (**लोके**) इस सम्पूर्ण प्राणीसमुदायमें अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में (**सर्वम्**) सब वस्तु-तस्तुओंको (**आवृत्य**) घेरकर (**तिष्ठति**) स्थित होरहा है ॥ १४ ॥

भावार्थः— अर्जुनके तथा गीताशास्त्र अध्ययन करनेवालों के हृदयमें ऐसा विश्वास न जमजावे, कि जब भगवान् उसे "न सत्" कहरहे हैं तब तो ऐसा सिद्ध होता है, कि वह कदाचित् है ही नहीं इसी शंकाको दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वतः पाणिपादन्तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**] वह जो विशेष क्षेत्रज्ञ अर्थात् परब्रह्म जगदीश्वर है सो सर्वत्र हाथ, पांव, आंख और शिर वाला है। तात्पर्य यह है, कि इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्तके जितने मस्तक, आंख वा हाथ पांव हैं सब उसीके हैं। अर्थात् यदि वह परब्रह्म जगदीश्वर सब जीवोंके हाथ पांव में प्रवेश कर कुछ करने धरने वा चलने फिरनेकी सत्ता न बनगया होता तो प्राणियोंके हाथ पांव मृतकके समान जडवत् देखपडते केवल पंचभूतमात्रके लट्ठ बनेहुए देखपडते । पर वाहरे रचयिता ! धन्य

तेरी शक्ति हैं जो सबका हाथ पांव बनकर विचित्र चमत्कार दिखला रही है। देखो! वह जो सामने दीवालमें एक चित्र टँगाहुआ देख-पडता है किसी मनुष्यके हाथकी रचना है जो केवल एक पत्र और थोडेसे काले, पीले नीले रंगोंमे टेढी सीधी लकीरें खैंचीहुई हैं पर इसीके देखनेसे चित्तको विषयसे दूर रहनेका कैसा उपदेश मिल रहा है? जब, कि उस चित्रमें देखरहे हो, कि रंभा कैसी सुन्दरता और शृंगारसे भरीहुई एक ऋषिके सम्मुख उनसे बातें कर उनको विषयकी ओर खैंचने गयी है उस समय कैसी दृढताके साथ परमहंस शुकदेव दूरसे ही उसका तिरस्कार करतेहुए प्राणीमात्रको मानो उप-देश कर रहे हैं, कि विषयसे बचो! बचो!! बचो!!!

इस चित्रको देख कई बातें विचार करने योग्य हैं। प्रथम चित्र-कारके हाथकी शक्ति फिर उस हाथमें किसी दूसरे हाथकी शक्ति फिर उस शक्तिमें साकार निराकारकी रचनाओंके भेद इत्यादि।

अब इन तीनोंका विचार कर यह सिद्ध कियाजाता है, कि उस देवज्ञ (ब्रह्मदेव) के हाथ सर्वत्र फैलेहुए हैं। देखो! यदि उसका हाथ इस चर्म और मांसके हाथोंके अन्तर्गत न हो तो इस एक साधारण पत्रपर केवल थोडीसी रंगीहुई टेढी सीधी रेखाओंके संयुक्त होनेसे इतना प्रभाव मनुष्यके हृदयपर नहीं पड सकता था। प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि रम्भाकी मूर्तिकी ओर दृष्टि करनेसे मनुष्यके चित्तमें विषयकी स्मृति फिर शुककी ओर देखनेसे वैराग्यकी इच्छा उदय होआती है। यह क्या है? मनुष्योंके हाथोंके अन्तर्गत उस ब्रह्मदेवके हाथ की शक्ति है।

इतना ही नहीं वरु इस सृष्टिमें जितने महल, अटारी, नाना प्रकारके रत्नोंसे रचित राजमहल इत्यादि तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके रेशमी सुनहले बेलबूँटोंसे संयुक्त वस्त्र तथा हीरे, पन्ने, लाल, फीरोजाओंसे जडेहुए भिन्न-भिन्न प्रकारके आभूषणोंकी रचनाएं जिनसे सुन्दरियोंके शृंगार कियेजाते हैं तिन्हें देखकर विषयियोंको परम आनन्द लाभ होता है यह क्या है ? केवल इस पांचभौतिक हाथमें उस परब्रह्मके हाथोंकी शक्ति हीतो है। एवम्प्रकार इस भूलोकमें जितनी तरहकी कृत्रिम रचनाएं मनुष्यके हाथोंसे बनीहुई हैं उनको मानुषी हाथकी रचना न जानकर जगदीश्वरके हाथकी रचना समझना चाहिये।

अब यहां यह भी विचारने योग्य है, कि उस ब्रह्मदेवके साकार हाथोंकी शक्तिसे अर्थात् विराट्मूर्तिवाले हाथोंसे तो संसारके कृत्रिम पदार्थ बनेहुए देखपडते हैं परे उसके निराकारे हाथोंकी शक्तिसे भी जितने पदार्थ इस संसारमें बनेहुए देखपडते हैं वे सब अकृत्रिम अर्थात् प्राकृतिक (Natural) हैं। जैसे भिन्न २ प्रकारके पुष्पोंकी रचना, पत्तियां, बेलियां और फलोंकी रचना, सागर, पर्वतोंकी रचना तथा चौरासी लक्ष योनियोंकी रचना, सूर्य चन्द्र, तारागणोंकी रचना, देव, गन्धर्व, किन्नर और दानवोंकी रचना कहां तक कहाजावे संपूर्ण ब्रह्माण्डकी रचनाएं सब ब्रह्मदेवके निराकार हाथकी शक्तिसे रची हुई हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जितने कृत्रिम (Artificial) पदार्थ इस संसारमें हैं सब उस ब्रह्मदेवके साकार हाथोंकी शक्तिसे

रचेहुए हैं और जितने प्राकृतिक (Natural) पदार्थ हैं सब उसके निराकार हाथोंकी शक्तिको प्रकट कररहे हैं।

फिर देखो! वह शक्ति भी कैसी सस्ती है, कि जिससे सहस्रों, लक्षों, करोडों तथा अनगिनत सुन्दर सुन्दर-मनको मोहनेवाली मूर्तियां इस संसारमें प्रकट होती हैं फिर विनशजाती हैं जिनकी तनक भी चिन्ता उस रचनेवालेको नहीं है। कैसे २ सुन्दर चित्र-विचित्र पुष्प जंगलोंमें उत्पन्न होकरे क्षणमात्रमें मुरझाजाते हैं जिनकी तनक भी परवा उस परम चतुर रचयिताको नहीं है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिधर देखो उधर ही उस महा-प्रभुके हाथ पूर्ण शक्तिके साथ साकार और निराकार रूपसे फैलेहुए हैं और ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितनी रचनाएं जहां-जहां होरही हैं सब उसीके हाथसे होरही हैं इसी कारण वह विश्वबाहु कहा जाता है।

अब चलिये उसके पैरोंकी शक्तियोंकी ओर चलें। वह देखो! आज मेरे किसी शिष्यका विवाह है जिसमें देशदेशान्तरोंकी वारांग-नाएं और कत्थक इकट्ठे होरहे हैं वे आज रात्रिके समय नृत्य करेंगे। विचारो तो सही, कि इनके पांचभौतिक जड पैरोंमें कौनसे अद्भुत पैर हैं? जो भिन्न-भिन्न गीतों और तालोंपर बडी चतुराईके साथ ऐसे फिरेंगे और उछलें कूदेंगे जिनको देख सहस्रों प्राणी मोहित हो परम प्रसन्नताको प्राप्त होंगे। यदि थोडे ही विचारकी दृष्टिसे देखोगे तो अवश्य इनमें उसी परब्रह्मके पैरोंकी अद्भुत शक्ति दीखपडेगी

इतना ही नहीं वरु वृक्षोंपर जो कपि-समूह किल-किल शब्दोंसे कोलाहल मचातेहुए एक डालसे दूसरी डालपर कितनी फुरती और शीघ्रता से उछलते और लटकतेहुए सुशोभित होरहे हैं। फिर वह देखो! नाना प्रकारके अश्व अज इत्यादि पशु कैसी सुन्दर २ चालसे दौडे चले आरहे हैं। अधिक क्या कहूं वह जो घोर जलकी धारा अत्यन्त वेगसे पर्वतसे नीचेकी ओर गिररही है जिसको उलटा काटकर ऊपर चढजाना बडे-बडे वीरोंके लिये दुस्तर है उसे एक छोटीसी सफरी मछली अपने अत्यन्त छोटे पैरोंसे धार काटकर उलटी चढजाती है यह अद्भुतशक्ति कहांसे आयी? तो कहना पडेगा, कि उसी परब्रह्म के पैरोंकी शक्ति है।

अहा! वह देखो! मयूर आज घनघोर घटाको उमडीहुई देख किस प्रकार नृत्य कररहे हैं? जिनका नाच देखनेको बडे-बडे बुद्धिमान् कैसा भी आवश्यक कार्य क्यों न हो एक क्षणके लिये छोडकर मार्गमें चलते-चलते रुकजाते हैं यह क्या है? मयूरके पैरोंमें उस ब्रह्मदेवके पैरोंकी शक्ति ही तो है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उस ब्रह्मदेवके साकार पैरोंकी ये शक्तियां हैं।

अब उस महाप्रभुके निराकार पैरोंकी शक्तियोंको भी अवलोकन कीजिये! देखिये! ये चन्द्र, तारागण इत्यादि जो अहर्निश आकाशमें चल रहे हैं ये उसके निराकार पैरोंकी शक्तियोंको प्रकट कररहे हैं यदि इन ग्रहोंमें तथा नक्षत्रोंमें निराकार पैरोंकी शक्ति न

हैं तो ये सबके सब पृथ्वीपर गिरजावें फिर पृथ्वी भी इनके साथ टूटकर न जाने किस रसातलको चली जावे ये केवल उसके निराकारे पैरोंकी शक्ति है जिसके सहारे ये चन्द्र, तारागण इत्यादि अन्य लोकलोकान्तरोंके साथ दिवा-रात्रि एक ओरसे दूसरी ओर चलरहे हैं। फिर दूसरा अभिप्राय यह है, कि उस महाप्रभुको जहां पुकारो वहां ही दौडकर पहुंचा हुआ है द्रौपदी और गजको देखलीजिये। इसी कारण उसे विश्वपाद कहते हैं। इन्हीं कारणोंसे श्रीआनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुन से कहरहे हैं, कि " **सर्वतः पाणिपादन्तत्** " वह क्षेत्रज्ञ (परब्रह्म) सब ठौर सब ओरसे हाथ और पांववाला है वेदने भी उसे " सहस्रपात् " कहकर पुकारा है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर पिपीलिका पर्यन्त जितने पांव हैं सब उसी ब्रह्मदेवके हैं।

अब भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि " **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्** " वह ब्रह्म सब ओर नेत्र, शिर और मुखवाला है अर्थात् दशों दिशाओंकी ओर उसके नेत्र, शिर और मुख हैं तथा ब्रह्मासे लेकर पिपीलिका पर्यन्त जितने नेत्र, शिर और मुख हैं सब उसीके हैं। मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह सब ओर देखता है और सबोंसे देखाजाता तथा सब ओर सबसे बोलता है। किस प्रकार बोलता है ? सो आगे चलकर सुनिये।

आनन्दकन्दने जो यों कहदिया, कि वह सब ओर नेत्रवाला है इसके भी भिन्न २ तात्पर्य हैं सो कहते हैं— प्रथम तो ब्रह्मासे चींटी पर्यन्त जितने नेत्र हैं सब उसीके हैं सो प्रत्यक्ष देखलीजिये, कि

यदि सब नेत्रोंमें उस ब्रह्मदेवके नेत्रोंकी सत्ता न हो तो सर्वत्र घोर अन्धकारसा पडा रहे तनक कहीं भी कुछ न दीखे ये सब नेत्र चित्र के नेत्रोंके समान जडवत् पडेरहें परन्तु वह कैसी अद्भुत शक्ति है, कि जिसके द्वारा इस पृथ्वीपर खडे-खडे करोडों योजन दूरस्थ सूर्य, चन्द्र इत्यादि ग्रहोंको, अनुराधा, विशाखा इत्यादि नक्षत्रोंको, ध्रुव और सप्तर्षियोंको स्वच्छ देख लेते हैं फिर इन्हीं नेत्रों द्वारा सहस्रों हाथ नीचे समुद्रके भीतरसे एक छोटासा मोती तक निकाललाते हैं।

देखो वह चील जो आकाशमें उड रहा है उसकी आंखें कितनी छोटी हैं पर उनकी शक्ति देखो, कि मीलों ऊपरसे नीचे एक छोटेसे मांसके खण्डको देखलेती हैं। एक विचित्र शक्ति और भी देखो, कि बिल्ली घोर अँधियाली रात्रिमें घरोंके भीतर कैसी शीघ्रतासे चूहे देख-लेती है और पकडलेती है। तात्पर्य यह है, कि बिल्ली, कुत्ते, व्याघ्र इत्यादि मांसाहारी जीवोंकी आंखोंमें यह विचित्र शक्ति है, कि रात्रिको उन्हें दिनकी अपेक्षा अधिक सूझता है फिर चमगादड और उलूक इत्यादि को तो रात्रिको ही सूझता है दिनमें कुछ भी नहीं। यह विचित्र शक्ति किन आंखोंकी है? तो कहना पडेगा, कि उस परब्रह्मकी आंखोंकी है जो इन जीवोंकी आंखोंमें प्रवेश कियेहुआ है।

इतना ही नहीं वह इन नेत्रोंमें कुछ एक न्यारी अद्भुत शक्ति और भी है जिससे बडे-बडे बुद्धिमानोंका मन एकबारगी खैंचलियाजाता है न जाने इन नेत्रोंमें कैसे वशीकरण मन्त्रका सुरमा बनाकर लगादिया है, कि जिसका कहीं कुछ पता नहीं लगता, देखिये!

मेनकाकी जहरीली आंखोंने विश्वामित्र ऐसे तपस्वीको अपने वश करही लिया ये कौन आंखें हैं ? उसी परब्रह्म जगदीश्वरकी ही साकार आंखे तो हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त जितने शिर हैं सब उसीके हैं, इन शिरोंमें अद्भुत शक्तिका अवलोकन कर विचारो तो सही, कि यह शक्ति कहांसे आयी? क्योंकि दीवालमें जो एक 'यामनाली' घडी (Clock) टँगी हुई है, फिरे आकाशमें जो व्योमयान (विमान) (Aeoroplan) उडा चलाजाता है तथा गंभीर सागरके मध्य जो जलयान चलरहा है और सडकोंपर जो धूमयान (Engine) की धक-धकाहटके शब्द आरहे हैं ये कहांसे निकले ? तो कहना पडेगा, कि मनुष्योंके शिरके भीतर जो ब्रह्मदेवके शिरकी अद्भुत शक्ति है वहांसे ही ये सब यन्त्र निकल पडे हैं और जड होकर चेतनका काम देरहे हैं।

फिर बडे-बडे विद्वानों ज्योतिषियों, शास्त्रवेत्ताओं तथा न्याय-कर्त्ताओंकी ओर देखो, कि इनके मस्तिष्क कैसे कैसे अद्भुत कार्योंको कर दिखलाते हैं ऐसे-एसे मस्तिष्क पूर्वकालमें भी थे, अब भी हैं और आगे भी होंगे जो प्राणियोंके भूत भविष्यको भली भांति विचारकर और गणनकर कहचुके हैं और कहते हैं तथा आगे कहेंगे। यह केवल मस्तिष्क है जिसने घोर क्लेशदायक नाना प्रकारके रोगोंसे पीडित प्राणियोंको क्लेशसे मुक्तकरनेकेलिये ऐसी २ जडी बूँटियां प्रकट करदी हैं जिनको निचोड एक बूंद मुहमें डालनेसे अद्भुत प्रभाव प्रकट होता है।

यह केवल मस्तिष्क है जो दूसरोंके हृदयकी बात आपसे आप समझजाता है । जिसने मनुष्योंके खानेपीनेकेलिये तथा गृह-कार्योंके साधनकेलिये अन्नोंको कूटने, छांटने, पकाने तथा मिष्टान्न, पक्वान्न बनानेकी रीतियां बतलादी हैं यह केवल मस्तिष्क है। जिसने अँधेरे घरमें व्यवहार करनेके लिये दीपककी रचना करली है, यह केवल मस्तिष्क है। जिसने शीत निवारणार्थ नाना प्रकारके गरम वस्त्र और घामसे बचनेके लिये छतरियां बनाली हैं यह केवल मस्तिष्क है। जिसने नाना प्रकारके बाजे वीणा, वंशी, सितार, पखावज, तबले, हारमोनियम इत्यादिकी रचना करे उनसे मधुर शब्दोंको भिन्न २ स्वरोंमें बांधलिया है जिनके श्रवण करते ही मनुष्योंके मुखोंसे अहा! हा! हा!! अहो ! हो !! हो !!! इत्यादि हर्षजनक शब्द एकाएक निकल पडते हैं।

अब विचारने योग्य है, कि यदि इन मनुष्योंके मस्तिष्कमें किसी अन्य अद्भुत मस्तिष्कका प्रवेश न हो तो इन रूखी सूखी हाड मांसकी खोपडियां तूंबियोंके समान इधरसे उधर लुढकतीं फिरैं और इनसे कोई भी कार्य सिद्ध न हो। देखो! श्मशानकी ओर देखो, कि सैकडों खोपडियां इधर-उधर लुढकती फिरती हैं। जबतक इनमें किसी शक्तिका प्रवेश था इनने कैसे २ अलौकिक कार्य करे दिखलाये जिनके आगे सैकडों मस्तक झुकाते थे सो अब उस दिव्यशक्तिके निकल जानेसे धूलमें लोटती फिरती हैं।

अब निराकार मस्तिष्ककी शक्तियोंको श्रवण कीजिये, कि वह कैसी सुन्दरताके साथ सब खोपडियोंके पाप, पुण्य तथा शुभाशुभका लेखा

रखताहुआ कर्मानुसार उत्पत्ति और नाश करता रहता है क्षणमें ब्रह्माको मशक और क्षणमें मशकको ब्रह्मा बनासकता है। यदि उसके निराकारशिरसे यों प्रश्न किया जावे, कि हे निराकार ब्रह्मशिरे! तू मुझे यह बतादे, कि आज यह एक छोटीसी चींटी जो मेरे घरकी दीवालपर चलीजारही है सौ वर्ष पहले किस योनिमें थी और पिछली सदीमें आजके दिन क्या कर रही थी तो वह परब्रह्मशक्तिमय शिर बिना किसी बहीके देखे बतादेनेको समर्थ है, कि सौ वर्ष पहले यह वानरकी योनिमें थी और आजके दिन इस समय बच्चा जना रही थी। क्यों न हो वाहरे निराकार मस्तिष्क जिसने अनादिकालसे अनगिनत जीवोंके असंख्य शुभाशुभ कर्मोंको हस्तामलकके समान कररखा है।

अब उसके मुख भी चारों ओर हैं सब ठौर हैं इसका भी यही तात्पर्य है, कि ब्रह्मासे चींटी पर्य्यन्त जितने मुख हैं सब उसीके हैं। स्वर्गलोकमें जितने सुन्दर-सुन्दर मुख अप्सराओंके हैं सब उसीके हैं पाताललोकमें नागकन्याओंके जितने मुख हैं सब उसीके हैं, माताओंकी गोदमें जितने बच्चोंके प्यारे २ मुख जो आनन्दपूर्वक दुग्धपान कररहे हैं सो सब उसीके हैं फिर पुरुषोंकी गोदमें तथा हृदयसे लगीहुई उनकी प्यारी धर्मपत्नी पतिव्रताओंके जितने मुख हैं सब उसीके हैं, गौओंके स्तनोंमें दुग्धपान करतेहुए जितने बछड़ोंके मुख हैं सब उसीके हैं तथा मधुरस्वरसे वेदगान करतेहुए उद्गाताओंके जितने मुख हैं सब उसीके हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति**] इस ब्रह्माण्डमें सर्वत्र सब ठौर वह श्रोत्रसे युक्त है अर्थात् वह सबकी सुनरहा है और सबोंको घेरेहुए स्थित है। जो प्राणी जहां उसे पुकाररहा है वहां ही सुनलेता है उसके पुकारनेके लिये सहस्रों योजन दूर समुद्र तट जानेकी आवश्यकता नहीं है पर्वतोंपर चढकर पुकारनेकी आवश्यकता नहीं है एक छोटी सी चींटीके पावोंके शब्दको भी वह सुनता रहता है इसलिये उसे " श्रुतिमत् " कहकर पुकारते हैं। फिर वह सब जड, चेतन, स्थूल, सूक्ष्म, दीर्घ, लघु, उत्तम इत्यादि वस्तुवस्तुओंको सब ओरसे घेरे हुए स्थित है। तहां प्रमाण श्रु०—

" ॐ ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥"

(मु० २ ख० २ श्रु० ११)

इस श्रुतिका अर्थ स्पष्ट है और ठौर-ठौरपर दिखलाया भी जाचुका है।

इतना कहकर भगवानने क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म)को अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूपके अस्तित्वको स्थिरकर " न सत् " होनेकी शंका अर्जुनके हृदय से दूर करदी और यह उपदेश करदिया, कि जितने अचेतनरूप हाथ, पांव, आंख, शिर, मुख और कान हैं सबको वही क्षेत्रज्ञ (चेतन ब्रह्म) अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त कररहा है सबका अधिष्ठान रूप वही है। यहां केवल भगवान्‌ने ६ इन्द्रियोंके नाम लिये हैं पर इनको

सब कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणोंका उपलक्षण समझना चाहिये पहले भी बार-बार भिन्न २ अध्यायोंमें इनको कहते चलेआये हैं, कि उस चेतनके बिना इन्द्रियों सहित अन्तःकरण इत्यादि सब जडवत् हैं ॥ १४ ॥

अब यहां शंका यह होती है, कि जब वही ब्रह्म सबमें रहकर प्रपंचके व्यवहारोंका साधन कररहा है तो उसे इस प्रपंचमें लिप्त क्यों न समझाजावे । इसी शंकाको भगवान् आगेके श्लोक द्वारा दूर करते हैं—

मू०— सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (कालत्रयेऽपि सर्व-करणरहितम्) सर्वेन्द्रियगुणाभासम् (अन्तःकरणबहिष्कर-णोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणैरध्यवसायसंकल्पश्रवणवचनादिभिरवभासत इति । अथवा समस्तग्राह्यग्राहकवदवभासत इति) असक्तम् (सर्व-संश्लेषवर्जितम् । सर्वबन्धशून्यम्) सर्वभृत् (सर्वं बिभर्तीति । सर्वं कल्पितं धारयति पोषयतीति च) च, एव, निर्गुणम् (सत्वरज-स्तमोभिः शून्यम्) च (तथा) गुणभोक्तृ (सत्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारेण सुखदुःख मोहाहंकारपरिणतानामुपलब्धृ । पालकम् वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (सर्वेन्द्रियविवर्जितम्) वह सब इन्द्रियोंसे विलग है (सर्वेन्द्रियगुणाभासम्) फिर सब इन्द्रियोंके जो गुण

संकल्प विकल्प तथा श्रवण इत्यादि हैं सबोंको भासमान करनेवाला है इसीसे उसको सबोंका आभास कहते हैं (असक्तम्) कहीं किसी भी वस्तुतस्तुमें आसक्त नहीं है सबसे अलग है फिरे (सर्व-भृत्) सब वस्तुतस्तुको धारण करनेवाला है और पोषण करनेवाला (च, एव) भी निश्चय करके है फिर (निर्गुणम्) मायाके तीनों गुणोंसे रहित है (गुणभोक्तृ च) तथा सब मायाके गुणोंका भोगने वाला अर्थात् उपलब्ध करनेवाला अथवा पालन करनेवाला भी वही है ॥ १५ ॥

भावार्थः— श्री जगत्हितकारी गोलोकविहारीने जो अर्जुन के प्रति क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म)को सर्वत्र हाथ, पांव, आंख, शिर, मुख और कान वाला बतलाया यह सुनकर यहां शंका उत्पन्न होती है, कि जब वही ब्रह्म सब ओर सब ठौर हाथ, पांव इत्यादि इन्द्रियां बनकर विदित-अवि-दित, विधि-निषेध, उत्तम-मध्यम, शुभ और अशुभका सम्पादन करने-वाला सिद्ध होता है तो उसे अवश्य इन प्रपंचोंके व्यवहारोंमें, पाप-पुण्य में, हानि-लाभमें, बन्ध और मोक्षमें लिप्त और बद्ध होना चाहिये।

इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् अब अर्जुनके प्रति कहते, हैं, कि [**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**] वह ब्रह्मदेव सब इन्द्रियोंके व्यापारका प्रकाशक भी है तथा [illegible] इन्द्रियोंसे वर्जित भी है। यहां दो विरुद्ध धर्म एक ब्रह्ममें दिखला रहे हैं सो यहां ऐसे दिखलानेका कारण यह है, कि श्रीआनन्दकन्दने पहले १२ वें श्लोकके अन्तमें कहा है, कि " **न सत्तन्नासदुच्यते** " अर्थात् वह

जो सर्वकारणरहित स्वभू स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मदेव है सो न सत् कहा जासकता है और न असत् कहा जासकता है इसी सिद्धान्त को पुष्ट करनेके तात्पर्यसे भगवान् इस श्लोकके द्वारा दोनों विरुद्ध बातें एक ब्रह्ममें दिखलारहे हैं।

पहली तो यह है, कि जितनी इन्द्रियां हैं वे अन्तःकरणके सहित ग्राहकके नामसे पुकारी जाती हैं और इन ही इन्द्रियोंके जितने गुण हैं अर्थात् करना, चलना, देखना, सुनना, इत्यादि ये ग्राह्य कहे जाते हैं। सो वह ज्ञेय (ब्रह्म) इन दोनों ग्राहक और ग्राह्योंका आभासमात्र है अर्थात् इन सबोंको अपनी चेतनसत्तासे प्रकाशमान किये हुआ है पर ऐसा होनेपर भी वह सब इन्द्रियों के कार्य्योंसे वर्जित है अर्थात् सबका प्रकाश करने वाला सबोंको अपने-अपने कार्य्योंमें प्रवृत्त कराने वाला सबोंका प्रवर्त्तक भी है और सबोंसे न्यारा भी है। तहां श्रुतियां भी इसी प्रकार वर्णन करती हैं। प्रमाण श्रु०— "ॐ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (कठो० अ० २ वल्ली २ श्रु० ११)

अर्थ— जैसे सूर्य सब लोकोंका नेत्र होकर सबको प्रकाश करताहुआ संसारकी शुद्धाशुद्ध वस्तुओंको देखता है पर वह किसीमें भी लिप्त नहीं होता अर्थात् अशुद्ध वस्तुओंके प्रकाश करनेसे अशुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार यह सब भूतोंका जो अन्तरात्मा सब इन्द्रियों तथा उनके गुणोंका आभास (प्रकाश) होताहुआ इन इन्द्रियोंके शुभ

वा अशुभ कर्मफलोंसे लिप्त नहीं होता । जैसे रज्जु सर्प होकर भासता है पर उसमें सर्पका विष नहीं है अविद्यामात्र है इसी प्रकार वह ज्ञेय (ब्रह्म) सबमें भासरहा है पर यथार्थमें वह सबोंसे न्यारा है ।

अर्थात् सर्व व्यापार करते कराते हुए भी वह व्यापार करनेवाले के समान प्रतीत नहीं होता है । तहां श्रुति भी कहती है, कि "ध्यायतीव लेलायतीव" अर्थात् ध्यान करनेवालेके समान और चलनेवालेके समान वह प्रतीत होता है यहां श्रुतिने सब "ध्यायतीव" ध्यान करनेवालेके समान कहकर जितने अन्तःकरण हैं तथा ज्ञानेन्द्रियां हैं सबोंका संकेत करदिया और "लेलायतीव" अर्थात् चलनेवालेके समान कहकर जितनी कर्मेन्द्रियां हैं उनका संकेत करदिया । इसी कारण उसीकी मायासे मोहित होकर प्रत्येक जीवात्मा यों कह पडता है, कि मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं करता हूं, पर जब उसे शुद्ध ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होजाती है तब ऐसा समझने लगजाता है, कि मैं स्वयं चेतन-आत्मस्वरूप सबसे न्यारा हूं, न कुछ करता हूं, न सुनता हूं, न देखता हूं सो भगवान् पहले भी अ० ५ श्लोक ८ में कहआये हैं, कि "नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्" अर्थात् जो तत्त्ववेत्ता सदा आत्मामें युक्त है वह सब कुछ करता हुआ भी ऐसा समझता है, कि देखना, सुनना, स्पर्श करना इत्यादि कर्मोंमें मैं कुछ भी नहीं करता सबोंसे न्यारा हूं क्योंकि आत्मा सबसे न्यारा है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि वह ज्ञेय (ब्रह्म) सबकुछ करताहुआ भासता है पर यथार्थमें परमार्थदृष्टिसे पूछो तो वह सबसे न्यारा है

तहां बिना आंख कानके सब कुछ देखता है और सबोंकी सुनता है बिना शरीरके सबके शरीरमें निवास करता है। प्रमाण श्रुति— "ॐ अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्" (कठो अ० १ वल्ली २ श्रुति २१)

अर्थ— देवता पितर मनुष्योंके शरीरमें बिना किसी शरीरके निवास कररहा है तथा अवस्थिति रहित जो वस्तु है तिसमें भी निवास किये हुआ है।

आगे चलकर श्रुतिने ऐसा भी कह दिया है, कि "ॐ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० १५ में देखो)

अर्थात वह ज्ञेय (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप इत्यादिसे रहित अकर्म अर्थात आकृति रहित और अविनाशी है। इसलिये इन श्रुतियोंके प्रमाणोंसे भी सिद्ध होरहा है, कि ग्राह्य ग्राहकोंका आभास अर्थात प्रकाश करनेवाला और सबोंका प्रवर्त्तक होनेके समान वह भास रहा है फिर सर्व इन्द्रियोंसे रहित भी है, जब ही तो श्रीकृष्णभगवान् उसे सत् और असत् दोनोंसे परे कथन करचुके हैं।

अब कहते हैं, कि [असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च] वह सब सम्बन्धसे रहित सबोंका भोक्ता और उपलब्धा भी है वह ज्ञेय (ब्रह्म) असक्त अर्थात किसी वस्तुवस्तुमें अथवा देव, गन्धर्व, अप्सरा, मनुष्य इत्यादि किसीके साथ आसक्त नहीं है अर्थात

सबोंसे निःसंग है, जैसे आकाश सर्वत्र है पर उसको किसीका भी संग नहीं है। देखो! मठमें, घटमें आकाश मठ और घटके समान रूपवान् प्रतीत होता है पर यथार्थमें आकाश घट-मठके समान टेढा नहीं होता। इसी प्रकार वह व्यापक ब्रह्म सर्वत्र व्यापता हुआ भी असंग ही है, फिर क्या अद्भुत लीला है ? कैसी जादूगरी है ? मायावीकी कैसी विचित्र कला है? कि सबोंमें भासता हुआ सबोंसे न्यारा भी है फिर " सर्व-भृत् " अर्थात् सबोंको धारण करनेवाला, सबोंका आधार तथा सबोंको पोषण करने वाला भी वही है। जैसे जलमें सूर्य्यका बिम्ब देखा जाता है पर सूर्य्यका एक कणमात्र भी उसमें नहीं है, फिर जैसे दर्पणके भीतर सारा शरीर देख पडता है पर शरीरका एक रोम भी उस दर्पणमें नहीं है इसी प्रकार सब जड चेतनमें वह देख पडता है। अथवा यों कहो, कि सब जड चेतन उसमें देख पडते हैं पर न यथार्थमें वह किसीमें है क्योंकि सबसे असंग है, जब वह स्वयं सबसे असंग रहा तो कोई भी वस्तु उसमें न रही पर क्या ही अद्भुत लीला है, कि सारा घर दर्पणमें फिर दर्पण घरमें देखा जाता है, जो सच पूछो तो न घर दर्पणमें है, न दर्पण घरमें है क्योंकि दर्पण तोड डालो घरका एक कोना भी नहीं टूटेगा तथा घर तोड डालो तो दर्पणका एक कण भी दर्पणसे टूटकर विलग नहीं होता इसी प्रकार न वह सबमें है न सब उसमें है फिर वह सबमें है और सब उसमें हैं।

टि०— अये कि दर हेच जान दारीजा, बुल अजब माद अम कि हरजाई।
न गौहरमें है वह न है संगमें वह, लेकिन चमकता हर रंगमें।

जैसे स्वप्न मनुष्यमें है और मनुष्य स्वप्नमें है क्योंकि जो स्वप्नलगता है वह मनुष्यके शरीरके भीतर लगता है और स्वप्नमें गन्धर्वनगर देखने वाला मनुष्य उस गन्धर्वनगरमें किसी गन्धर्वके साथ बातचीत करता हुआ अपनेको देखता है । इसी प्रकार इस प्रपंच और ब्रह्मकी भी प्रतीति जानो पर यथार्थमें न कहीं स्वप्नका गन्धर्वनगर है न गन्धर्वनगरमें वह मनुष्य है वह तो अपनी फूसकी झोंपडीमें खर्राटे लेरहा है और दसपांच मक्खियां उसके मुँहपर बैठी हुई हैं। इसी प्रकार वह देव सबसे असंग है फिर सबके संग सबको पालन पोषण करनेवाला भी है। उस महाप्रभुकी ऐसी बाजीगरी और कारीगरीपर बार-बार आश्चर्य है।

अब श्यामसुन्दर कहते हैं, कि " निर्गुणं गुणभोक्तृ च " वह ज्ञेय ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् मायाके रज, सत्व, और तम इन तीनों गुणोंसे रहित है फिर इन्हीं तीनों गुणोंका भोगनेवाला भी है। अर्थात् इन तीनों गुणोंसे जो नाना प्रकारके हर्ष, विषाद, शोक, मोह इत्यादि परिणाम उत्पन्न होते हैं उनका भोगनेवाला अर्थात् उनका उचित रीतिसे पालन करनेवाला है अथवा उन सबोंका भर्त्ता है। तात्पर्य यह है, कि +-भोक्तृ नाम विष्णुका है जो संपूर्ण संसारका पालन करनेवाला है इसलिये यहां भोक्तृ शब्दसे पालन करनेवाले विष्णुका ही अर्थ लेना चाहिये।

+ "भ्राजिष्णुर्भोजनं भोक्ता सहिष्णुर्जगदादिजः"
इति महाभारते तस्य सहस्रनामस्तोत्रम्।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे शिष्टाचारमें कहाजाता है, कि राजा अपने राज्यका भोगनेवाला है अर्थात् उसके राज्यभरमें जितनी प्रजा, है सबके बुरे-भले कार्योंपर दृष्टि रखताहुआ यथायोग्य पालन करता है इसी प्रकार भगवत् अपने राज्यमें तीनों गुणोंके परिणाम को यथायोग्य पालन करता है ।

यदि भोक्तृका अर्थ भोगनेवाला भी कियाजावे तो कोई हानि नहीं जब पालन करनेमें उसकी सत्ता सहायता करती है तो भोगनेमें भी अवश्य साथ देवेगी ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सबसे न्यारा भी है फिर सबोंके साथ भोगनेवाला भी है ॥ १५ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें उस (ब्रह्म) के ' सत् ' और ' असत् ' सिद्धान्तको अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

मू०— बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १६

पदच्छेदः— तत् (ज्ञेयं । ब्रह्म) भूतानाम् (चराचराणाम) बहिः (बाह्यः । देहमात्मत्वेनाऽविद्याकल्पितमपेक्ष्य तमेवावधिं कृत्वा त्वक्पर्यन्तमें बहिरुच्यते) अन्तः (प्रत्यगात्मानमपेक्ष्य देहमेवावधिं कृत्वा हृत्पर्यन्तम् । अथवा सृष्टेः पूर्वकारणरूपेण भूतेष्ववस्थानम्) च, अचरम् (स्थावरजातम्) चरम् (जंगमजातम्) च, एव, तत्, सूक्ष्म-

त्वात् (रूपादिहीनत्वात् । सर्वान्तरत्वात् । कारणत्वात् । व्यापकत्वात्) अविज्ञेयम् (न ज्ञातुं योग्यम्) [तत्] दूरस्थम् (अविदुषां तत्प्राप्तिसाधनशून्यानामविज्ञातं तथा वर्षसहस्रकोट्याप्यप्राप्यत्वात् योजनलक्षान्तरितमिव स्थितम्) अन्तिके (विदुषां तु नित्यविज्ञातं तथा स्वयम्भूतत्वात् व्यवधानरहितम् । समीपे स्थितं वा) च ॥ १५ ॥

पदार्थः— (तत्) वह जो ज्ञेय ब्रह्म है सो (भूतानाम्) सब चराचरोंके (वहिः) बाहर है और (अन्तः च) भीतर भी है फिर वह (अचरम्) स्थावर है (एव) यह निश्चय करके जानना (चरम् च) जंगम भी है फिर (तत्) वह ज्ञेय ब्रह्म (सूक्ष्मत्वात्) अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् रूप रहित होनेके कारण (अविज्ञेयम्) जानने योग्य नहीं है फिर वह कैसा है, कि (दूरस्थम्) बहुत ही दूर है (अन्तिके च) फिर बहुत ही समीप भी है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब आनन्दनिकेतन भक्तजनरंजन अर्जुनपर दया करके उस ज्ञेय ब्रह्मकी विलक्षणताको विस्तारपूर्वक दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**] वह ज्ञेय ब्रह्म सब भूतोंके बाहर और भीतर व्यापरहा है तथा चर भी है और अचर भी है क्योंकि एक तिल रखनेका स्थान भी उससे शून्य नहीं है । क्योंकि जितने पदार्थ उसकी आत्मसत्तासे प्रकट हो भासरहे हैं उनको विचारकर देखनेसे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि यह जो

अपना शरीर है तिसके त्वचा तक अर्थात् बाहरकी ओर अपनी त्वचातक व्याप रहा है फिर यदि भीतरकी ओर दृष्टि करो तो अपने शरीरकी रचनाके भीतरे घुसते हुए रोमसे चलकरे चर्म, मांस, रुधिर, हाड, मज्जा और शुक्र अर्थात सातों धातुओंमें व्यापताहुआ शरीरके अन्त तक पहुँचा हुआ है तथा अन्नमयकोशसे लेकर आनन्दमय कोश पर्यन्त कहीं उससे कोई कणमात्र स्थान शून्य नहीं है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब अपनी देहकी अपेक्षा कीजाती है तब बाहर और भीतरके शब्दोंको प्रयोग करना पडता है यदि शरीरकी अपेक्षा न कीजावे, सर्व प्राणीमात्रके शरीरको लोप करदिया जावे, कोई शरीर कहीं न रहे तो सर्वत्र शून्यस्थानमें वह व्यापक है। जैसे आकाशको सर्वत्र व्यापक देखरहा है पर आकाश जड है और वह चैतन्य प्रकाश है।

तात्पर्य्य यह है, कि वह सर्वत्र ओत-प्रोत है। तहां प्रमाण श्रुतिः— "ॐ यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरीक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं जानथ।" (मुण्ड० २ खण्ड २ श्रुति ५ में देखो) अर्थ- हे शिष्य तू उसी एकको जान जिस एक अक्षर पुरुषमें यह देवलोक, पृथिवी तथा अन्तरीक्ष लोक इत्यादि तथा मनके साथ २ सब इन्द्रियां ओत- प्रोत हैं अर्थात् जो सबके बाहर भीतर भरा हुआ है फिर "स बाह्या- न्तरो ह्यजः" इस श्रुतिके वचनसे भी वह अज ज्ञेय ब्रह्म सबके बाहर भीतर एक रस व्याप रहा है। श्रुतिः—"ॐ तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्व- स्यास्य बाह्यतः" (ईश०) अर्थात् वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म इस सम्पूर्ण

ब्रह्माण्डके भीतर भी है और बाहर भी है तथा यों भी अर्थ करलो, कि सम्पूर्ण जड चेतनके भीतर भी है और बाहर भी है ।

अब भगवान् कहते हैं कि "अचरं चरमेव च" वही अचर अर्थात् जड भी है और वही निश्चय करके चर अर्थात् चैतन्य भी है सो जड पदार्थोंमें जितने पदार्थ हैं जैसे रजत, सुवर्ण, हीरा, लाल, पिरोजा, पन्ना, पुखराज, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य्य, चन्द्र, तारागण और जितने चैतन्य हैं जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शेष, गणेश, शारदा, लक्ष्मी तथा स्वर्गकी सुन्दर २ अप्सराएं फिर इस पृथ्वीमें बडी २ सुन्दरियां तथा गज, तुरंग, सिंह, व्याघ्र, गौ, महिष, मनुष्य इत्यादि सबके सब वही है । उससे इतर किसी जड वा चेतन की स्थिति नहीं होसकती इसी कारण जडमें जड और चेतनमें चेतन होकर वह ब्रह्म एक रस व्याप रहा है । इसलिये सब वही है । प्रमाण श्रु०—

"ॐ एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव ॥ बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जेरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्......" (ऐत० अ० ३ श्रु० ३)

अर्थ— वही ज्ञेय (ब्रह्म) ब्रह्मा है, वही इन्द्र है, वही प्रजापति है तथा सर्वदेवगण भी वही है, फिर ये पांचों भूत पृथ्वी, वायु, आकाश,

जल, अग्नि, भी वही है फिर छोटे २ बीज जैसे अश्वत्थ, बरगद इत्यादिका बीज भी वही है। फिर अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज्ज भी वही है। फिर अश्व, गौ, मनुष्य, हस्ति इत्यादि जो कोई प्राणी जंगम हो, चाहे उडनेवाला हो, चाहे स्थावर हो, सब वही है।

पर इस स्थानपर ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि इन ब्रह्मा, इन्द्रादि देवगणोंमें तथा पांचों भूतोंमें, बीजोंमें, चारों खानिके प्राणियोंमें, जंगम वा स्थावरमें भिन्न २ होकर व्यापता है ऐसा नहीं, इसमें तो सन्देह नहीं है, कि " तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् " इस श्रुतिके अनुसार वह सब वस्तुओंको रचकर उसीके समान होकर प्रवेश करगया है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है, कि कूकर-शूकरमें वह कूकर शूकर होगया है ऐसा नहीं, यहां यह तात्पर्य्य नहीं है वरु श्रुति का यथार्थ अर्थ यह है, कि जैसे सूर्य्य चाण्डालके और ब्राह्मणके घरमें समान प्रकाश करता है पर उसके दोष गुणसे लिप्त नहीं होता इसी प्रकार वह सर्वत्र व्यापता हुआ भी सबसे असंग है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि व्यापताहुआ भी इतना सूक्ष्म है, कि कोई उसे देख नहीं सकता इसी कारण भगवान् इसी श्लोकमें कहते हैं, कि [सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्] अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह जानने योग्य नहीं है और फिर दूर भी है और समीप भी है श्रुतियोंने भी उसे " सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम् " ऐसा कहा अर्थात् वह आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है और नित्य है।

इस ज्ञेय (ब्रह्म) के विषय श्रुति भी कहती है, कि " ॐ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके " (ईश०)

अर्थ— वह चलता है और नहीं भी चलता है फिर वह दूर भी है और समीप भी है । फिर श्रुतिः— "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् " अर्थात् दूरसे भी दूर है फिर अत्यन्त समीप ऐसा है कि अपने हृदयकी गुहामें ही निवास करता है ।

मुख्य अभिप्राय भगवानके वचनका तथा इन श्रुतियोंका यह है, कि जो लोग अज्ञानके अन्धकारसे भरेहुए घरमें कुविचार और कुसंग की खाटपर मोहकी निद्रामें खर्राटे लेरहे हैं उनके लिये तो वह ब्रह्मदेव दूरसे भी दूर है अर्थात् सात समुद्रपार न जाने करोडों योजन पर कहां पडाहुआ है । पर जो लोग जिज्ञासु हैं जिनके हृदयमें ज्ञानका सूर्य उदय होनेसे मोहकी अन्धकार-रात्रि फटगयी है तथा जो श्रीपरमगुरुके चरणोंकी सेवासे विवेक और वैराग्यके साधनोंसे सम्पन्न हैं उनके-लिये वह ब्रह्म अत्यन्त ही समीप है अर्थात् उनके हृदयकी गुहामें निवास कियेहुआ है ।

शंका—पहले तो कहचुके हैं, कि वह ब्रह्म चाण्डाल और ब्राह्मणके घरमें सूर्यके समान एक रस प्रकाश करनेवाला है और अब कहते हैं, कि अज्ञानियोंसे दूर और ज्ञानियोंके अत्यन्त समीप है ऐसा क्यों ? ये वचन तो परस्पर पूर्वापरविरोधसे दूषित होगये ।

समाधान— सच पूछो तो इन वचनोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है केवल विद्या और अविद्याके चक्षुओंका भेद है । इसमें तो

तनक भी सन्देह नहीं है, कि उस ब्रह्मकी व्यापकता सर्वत्र समान है चोर, साधु, चाण्डाल, ब्राह्मण, कादर और वीरोंमें सर्वत्र सूर्यके प्रकाशके समान एक रस प्रकाश कररहा है । पर जैसे आंख वाले और अंधे दोनोंके घरमें सूर्यका प्रकाश एक समान पडरहा है पर आंखवालेको उस प्रकाशसे पूर्ण लाभ है वह अपने घरकी सब वस्तु वस्तुओंको देखता है और अन्धोंको घरकी वस्तुवस्तु कुछ भी नहीं सूझती । इसी प्रकार ज्ञानचक्षुवालोंको ब्रह्मकी व्यापकतासे पूर्ण लाभ होता है और अज्ञानचक्षुवालोंको नहीं ।

लो सुनो ! किसी नगरमें एक गडरिया रहता था मार्गमें चलते-चलते अकस्मात उसने एक हीरा पाया, वह मूर्ख यह नहीं समझ सकता था, कि हीरा क्या है ? इसलिये उसे एक प्रकारका चमकीला कंकड समझकर एक चिथडेमें लपेट अपनी भेडीके गलेमें बांधदिया वह भेड वरषों उस बँधेहुए हीरेके साथ उसके पास रही अकस्मात् उस नगरमें घोर दुर्भिक्ष होगया उस गडरियेको बिना अन्न कई दिवस बीतगये भूखा प्यासा रोता कराहता अपने घरमें पडारहा । इसी बीचमें उसका एक मित्र जो कुछ दिन किसी जौहरीकी दुकान में चाकरी करता था उस ग्राममें आया । आते ही वह अपने मित्रके पास गया और उसकी बुरी दशा देख बोला मित्र ! तेरी ऐसी दशा क्यों ? उसने उत्तर दिया भाई नगरमें घोर दुर्भिक्ष पडाहुआ है इस कारण बिना अन्न मेरी ऐसी दशा होरही है इतनेमें वह भेडी दौडीहुई उसके समीप आयी उसकी खुरी उसके गलेके बँधेहुए कपडेसे जो लगी तो वह पुराना कपडा झट फटगया और उसमेंसे वही हीरा निकलकर

उसके सम्मुख आगिरा जौहरीके चाकरने पूछा मित्र ! यह भेडी किसकी है ? और यह हीरा किसका है ? गडरिया बोला यह भेडी मेरी है और यह कंकड भी मेरा है चाकर ठहाका लगाकर हँसा और बोला मित्र ! जिसे तू कंकड कहरहा है वह एक बहुमूल्य रत्न है जौहरी की दुकानमें लेजा तुझे पुष्कल धन मिलेगा । वह जौहरीके पास लेगया और एक लक्षमुद्रा लेआया फिर तो घरमें पूर्ण अन्न होगया और वह सुखी होगया ।

इसी तात्पर्यको गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, कि "अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ॥ नाम निरूपण नाम यतनते । सोउ प्रकटत जिमि मोल रतनते ॥"

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे उस हीराका मूल्य गडरिया की दृष्टिसे बहुत ही दूर था पर उस चाकरकी दृष्टिके बहुत समीप था। इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानीसे उस प्रभुको समीप और दूर समझो पर यथार्थमें वह किसीसे भी दूर नहीं है । स्थानभेदसे वह दूर अथवा समीप नहीं कहागया है केवल बोधके भेदसे वह दूर अथवा समीप कहागया है । इस कारण यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है। इसी कारण भगवानने कहा है, कि "दूरस्थं चान्तिके च तत्"॥ १६ ॥

एवम्प्रकार वह ब्रह्मदेव सर्वत्र एक रस व्यापरहा है देहके भिन्न-भिन्न होनेसे भिन्न नहीं कहा जासकता । इसी तात्पर्यको भगवान् अगले श्लोकमें दिखलातेहुए कहते हैं ।

मू०— अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१७॥

पदच्छेदः— च, भूतेषु (स्थावरजंगमात्मकेषु) अविभक्तम् (प्रतिदेहं व्योमवदेकम् । विभागमप्राप्तम् । अभिन्नम् । विभागरहितम्) च विभक्तम् (मूढ दृष्ट्या दूरदेशस्थम् । भिन्नम्) इव, स्थितम्, तत्, भूतभर्तृ (स्थितिकालपर्यन्तम् भूतानाम् पालयितृ) च, ग्रसिष्णु (संहारकाले भूतानां ग्रसनशीलम्) च, प्रभविष्णु (उत्पत्तिकाले भूतानामुत्पादकम् प्रभवनशीलम् वा) ज्ञेयम् (ज्ञातुम् योग्यम्) ॥ १७ ॥

पदार्थः— (च) फिर वह ज्ञेय ब्रह्म (भूतेषु) सब स्थावर जंगम भूतोंमें (अविभक्तम्) बटाहुआ नहीं है वरु आकाशके समान एक होकर एकसाथ मिलाहुआ है फिर (विभक्तम् च) शरीरोंकी उपाधि करके विलग—विलगके (इव) समान भी (स्थितम्) स्थित है (तत्) वह चेतन ब्रह्म (भूतभर्तृ) इस सृष्टिके स्थितिकाल पर्यन्त सबोंका पालन और भरण पोषण करनेवाला तथा धारण करनेवाला है (च) फिर (ग्रसिष्णु) प्रलयकालमें सबोंका संहार करजाने वाला (च) फिर (प्रभविष्णु) उत्पत्तिकालमें सबोंका उत्पन्न करनेवाला भी (ज्ञेयम्) हे अर्जुन ! इसको जान ॥ १७ ॥

भावार्थः— पहले जो भगवानने उस ज्ञेय ब्रह्ममें विरुद्ध-धर्मोंको दिखलाया है सो उसमें विरुद्धधर्म नहीं हैं इस विषयको अब

परिष्कार करे दिखलानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्**] वह ब्रह्म यदि सच पूछो तो सब देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सागर और तरंग, जड, चेतन इत्यादिमें एक रस व्यापरहा है अर्थात् एक ही ज्ञेय (ब्रह्म) सबोंमें बाहर भीतर व्यापरहा है पर शरीरकी उपाधिसे भिन्नहुएके समान भासता है । जैसे आकाश सर्वत्र सबके बाहर भीतर एक रस व्यापता है । दो सहस्र घट वा दो सहस्र मठके भीतर व्यापनेसे वह भिन्न २ दो-दो सहस्र नहीं बनजाता केवल घट मठकी उपाधिसे भिन्न २ देखपडता है अथवा जैसे किसी समुद्रमें दो सहस्र लोटे, ग्लास, घडे इत्यादि डुबादो तो प्रत्येक पात्रमें जो जल है वह भिन्न नहीं है एक ही जल है परे भिन्न हुआ भासता है। तहां प्रमाण श्रुतिः—

" ॐ अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ।"

अर्थ— जैसे आग जो संसारभरमें एक ही है समान रूपसे व्यापरही है पर इस सृष्टिमें वही आग भिन्न रूपकी लकडियोंमें प्रवेश कर गोल लकडीमें गोले, लम्बीमें लम्बी, त्रिकोणमें त्रिकोणरूप भासने लगजाती है पर यथार्थमें अग्नि एक ही हैं, गोल लम्बी वा तिकोण नहीं है । इसी प्रकार (सर्वभूतान्तरात्मा) जो ज्ञेय ब्रह्म सो एक ही है सबोंमें समान व्यापरहा है । परे शरीरों की उपाधिसे देवमें देव, गन्धर्वमें गन्धर्व, मनुष्यमें मनुष्य, पशुमें पशु और पक्षियोंमें पक्षी रूप होकर भास रहा है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उपाधिभेदसे चाहे वह सहस्रों और करोडों क्यों न भासे यद्यपि वह "एकोऽहं बहु स्याम" कहकर सहस्रों बनगया तथापि वह एकका एक ही है ।

इसी कारण श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पाण्डव ! वह ज्ञेय (ब्रह्म) अविभक्त है पर विभक्त ऐसा भासताहुआ सबोंमें स्थित है ।

शंका— यद्यपि वह संपूर्ण सृष्टिमें एकरस होकर व्यापरहा है तथापि सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय तो वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश होकर तीन रूपोंमें विभक्त होजाता हैं फिर उसे अविभक्त क्यों कहा ?

समाधान— तीनों दशाओंमें वही ब्रह्मदेव एक रस हैं रचना, पालन और संहारमें वह तीन भागमें नहीं बटता न वह तीन प्रकार का होता है इसी शंकाके दूर करनेके निमित्त भगवान कहते हैं, कि (भूतभर्तृ) अर्थात् वही एक ब्रह्मदेव सृष्टिके स्थितिकालमें सर्व भूतोंका भरण, पोषण और धारण करनेवाला तात्पर्य यह, कि चार भुजा वाला विष्णु हो भासता है पुनः (ग्रसिष्णु) संहारके समय अर्थात प्रलयकालमें सारी सृष्टिको ग्रसजानेवाला पांच मस्तक युक्त रुद्ररूप हो भासता है फिर उत्पत्तिकालमें सारी सृष्टिको (प्रभविष्णु) उत्पन्न करनेवाला चतुर्मुख ब्रह्मा होकर भासता है ।

पर इतना होनेपर भी उस ब्रह्मदेवकी शक्तिका यथार्थमें कोई भिन्न २ भाग नहीं होता जैसे नाट्यशालामें एक ही पुरुष चोर, साधु

तथा दण्ड देनेवाला न्यायकर्त्ता बनकर आता है पर यथार्थमें उस के निजस्वरूपका न कोई विभाग होता है और न उसके अंगका एक रोम भी कहीं बदलता है वह तो तीनों दशाओंमें एक ही रूप रहता है केवल वस्त्रों और रंगोंकी उपाधिभेदसे देखनेवालोंकी दृष्टिमें तीन होकर भिन्न २ भासता है पर यथार्थमें वह एक है। ऐसे ही वह ब्रह्म केवल गुणोंकी उपाधिके भेदसे तीन रूपसे भासने लगता है पर यथार्थमें एक ही है।

अथवा यों कहलीजिये, कि जैसे बालक, युवा और वृद्ध इन तीनों अवस्थाओंमें शरीर एक ही है केवल अवस्था-भेदसे भिन्नता भासती है। अथवा जैसे प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में आकाशका रूप रंग कुछ भी नहीं बदलता पर सूर्यके उदय और अस्तके भेदसे आकाशमें भिन्नता भासती है यथार्थमें भेद कुछ भी नहीं।

इसी प्रकार उस ब्रह्ममें नाना प्रकारकी उपाधियोंके भेदसे भिन्नता भासती है पर यथार्थमें वह एकरस है। यदि यह कहो, कि उस शुद्ध और निर्मल ब्रह्ममें उपाधि क्यों हुई ? तो कहना पडेगा, कि यथार्थमें उपाधिका स्वरूप कुछ भी नहीं और यदि कुछ माना भी जावे तो वह उपाधि ब्रह्ममें नहीं है कहनेवाले और सुननेवालोंके अन्तःकरणमें है। जैसे ' दिग्भ्रम ' यथार्थमें कुछ नहीं है। न तो पूर्वका पश्चिम होता और न दक्षिणका उत्तर होता पर दिग्भ्रम वालोंके अन्तःकरणमें उलटा पुलटा हो भासता है। यदि यह कहो, कि वह उपाधि रोगरूपसे अन्तःकरणमें उत्पन्न हुआ तो ऐसा भी

नहीं कहना चाहता क्योंकि दिग्भ्रमवालेके अन्तःकरणमें रोग नहीं हुआ। इसलिये यह कहना पडेगा, कि जो यथार्थमें कुछ न हो पर हुआ ऐसा भासे उसे उपाधि कहते हैं। इसे भी मायाका एक चमत्कार समझनेमें कोई दोष नहीं है।

जैसे रज्जुको सायंकालके समय देखते ही उसमें सर्पकी उत्पत्ति होआती है फिर रात्रिभर उस सर्परूपका पालन देखनेवालेकी दृष्टिमें बना रहता है। क्योंकि जब वह रज्जुको सर्प २ कहकर अपने घरके पिछवाडे वाली गलीसे भागकर घरमें चलाआता है तो अपने घरके किसी बच्चेको रातभर उस गलीकी ओर जाने नहीं देता एवम्प्रकार मानो उस सर्पकी स्थिति देखनेवालेके मस्तिष्कमें बनीरही फिर जब वह सूर्य निकलते ही उस गलीकी ओर जाता है तो सर्पका नाश होजाता है रज्जु ही रज्जु रहजाती है सो केवल प्रकाश और अन्धकारकी उपाधिभेदसे है यथार्थमें सर्प तीन कालमें भी नहीं है केवल रज्जु ही रज्जु है। इसी प्रकार सर्वत्र सर्वकालमें केवल ब्रह्म ही ब्रह्म है अविद्याके अन्धकारकी उपाधिसे सृष्टिकी रचना, पालन और संहारके समय तीन रूप हो भासता है पर विद्याके प्रकाशसे सब नष्ट होकर केवल ब्रह्म ही ब्रह्म रहजाता है।

इसी कारण आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे धनुर्धर! यही ज्ञेय (ब्रह्म) उत्पत्ति, पालन और संहारका कारण है इसीसे ये तीनों क्रियाएं होती रहती हैं इसी कारण इसको भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु और प्रभविष्णुके नामसे जानना चाहिये।

इतना ही नहीं, वरु श्रुति कहती है, कि " ॐ एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता घ्राता रसयिता मन्त्रा बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः " (प्रश्नो० प्रश्न० ४ श्रु० ६)

अर्थ— यही विज्ञानात्मा पुरुष देखनेवाला है स्पर्श करनेवाला है, सुननेवाला है, सूंघनेवाला है स्वाद लेनेवाला है, और सबकुछ करनेवाला है ॥ १७ ॥

अब यहां यह शंका उत्पन्न होती है, कि वह सर्वत्र एकरस व्यापक होनेपर भी नहीं जानाजाता तो सम्भव है, कि वह जडवत् हो। इसी शंकाके दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान उसका यथार्थ स्वरूप और लक्षण अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं। क्योंकि अब तक जो कुछ उसके विषय वर्णन करआये हैं सब उसके तटस्थलक्षण हैं अब स्वरूपलक्षणका वर्णन करते हैं।

मू०— ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य +विष्ठितम् ॥ १८

पदच्छेदः— तत् (ज्ञेयं ब्रह्म) ज्योतिषाम् (अवभासकानामादित्यादीनाम्) अपि, ज्योतिः (अवभासकम्) तमसः (अज्ञानात्) परम् (अस्पृष्टम् । विलक्षणम् । दूरस्थम्) उच्यते (कथ्यते) ज्ञानम् (ज्ञायते सर्वमनेनेति) ज्ञेयम् (परमपुरुषार्थत्वात् मुमुक्षुभिः ज्ञातुं योग्यम्) ज्ञानगम्यम् (अमानित्वादिना ज्ञानसाधनेन प्राप्यम् । ज्ञानेन प्राप्तुमिष्टतमम् । ज्ञानफलम्)

सर्वस्य (प्राणिमात्रस्य) हृदि (बुद्धौ) + विष्ठितम् (विशेषेण प्रच्युतस्वरूपेण स्थितम् । विविधाकारसमुदायरूपेण स्थितम् ॥ १८ ॥

पदार्थः— (तत) सो जो ज्ञेय ब्रह्म है वह (ज्योतिषाम) सूर्य इत्यादि ज्योतियोंका अर्थात प्रकाश करनेवालोंका (अपि) भी (ज्योतिः) प्रकाशक है फिर वह (तमसः परम) अज्ञानरूप अन्धकारसे परे (उच्यते) कहाजाता है फिर वह (ज्ञानम्) स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है तथा (ज्ञेयम्) जानने योग्य भी वही है तथा (ज्ञानगम्यम्) अमानित्वादि ज्ञानसाधन जो पहले कहेगये हैं तिन साधनोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला भी वही है फिर (सर्वस्य) सब प्राणीमात्रके (हृदि) हृदयमें * (विष्ठितम्) विविध प्रकार से स्थित है ॥ १८ ॥

भावार्थः— पहले जो यह शंका उत्पन्न हुई है, कि वह ज्ञेय (ब्रह्म) सर्वत्र व्यापक होनेपर भी नहीं जानाजाता है इस कारण वह जडके समान पडा होगा इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् अर्जुनके

+ किसी-किसी गीतामें " धिष्ठितम् " ऐसा भी पाठ है । यहां ऐसा अर्थ चाहिये, कि " अधिष्ठाय स्थितम् " किसी किसी टीकामें ऐसा लिखा है, कि भाष्य-कारने " विष्ठितम् " । ऐसे पाठको स्वीकार नहीं किया इसका कारण यह अपाठ है (भाष्योत्कर्षदीपिका)

* यदि (धिष्ठितम्) पाठ कियाजावे तो श्रीनरस्वामीके मतानुसार " अधिष्ठाता होकर स्थित है " ऐसा अर्थ करना चाहिये।

प्रति कहते हैं, कि [ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते] जितने ज्योतिर्मय पदार्थ हैं अर्थात् इस सृष्टिमें जितने प्रकाश करनेवाले पदार्थ सूर्य, अग्नि इत्यादि हैं उन सबोंका वह प्रकाश करनेवाला है और अन्धकारसे परे कहाजाता है । तात्पर्य यह है, कि यह जो सूर्य अपने प्रकाशसे तीनों लोकोंको तथा चन्द्र तारागण इत्यादिको प्रकाशमान कररहा है, जिसकी किरणोंके सम्मुख हमलोगोंकी आंखें नहीं ठहरती हैं वह भी इसी परम ज्योतिसे प्रकाश पारहा है । इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द उसे सब ज्योतियों की ज्योति बतारहे हैं । क्योंकि जैसे दीपक सूर्यके सम्मुख ज्योतिहीन होजाता है ऐसे ये सूर्य, विद्युत तथा अग्नि इत्यादि सब उस महाप्रभु के तेजके सामने जाते-जाते ज्योतिहीन होजाते हैं । श्रुतिने भी उसे ज्योतियोंकी ज्योति ही कही है-"तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः" अर्थात् वह अत्यन्त शुभ्र है और सब ज्योतियोंकी ज्योति है । श्रुतिः– "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डकोप०)

अर्थ– उस ब्रह्मके सामने सूर्य प्रकाश नहीं कर सकता, न चन्द्र, न तारागण, न बिजलियां प्रकाश कर सकती हैं फिर अग्नि की वहां गिनती ही क्या है ? उसके प्रकाशमान् होते रहनेसे ये सब प्रकाशमान् होते हैं उसीकी प्रभासे ये सब प्रकाशमान होते हैं ।

इसका कारण यह है, कि यह प्रकाश उसमें नहीं वरु ऐसा कहना चाहिये, कि वह स्वयं इन तेजोंके अन्तर्गत व्यापरहा है इसी

कारण इनमें तेजका अनुभव होता है श्रुतिः— यस्तेजसि तिष्ठं स्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमय-त्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ” (बृहदा० अ०३ ब्राह्म०७ श्रु० १४)

अर्थ— जो तेजमें टिकाहुआ, तेजके अभ्यन्तर है, जिसको तेज स्वयं नहीं जान सकता, जिसका तेज ही शरीर है और जो तेजके भीतर रहकर उस तेजको नियममें रखता है सो यह अन्तर्यामी आत्मा अमृत-स्वरूप है।

यदि यहां यह शंका हो, कि प्रकाशस्वरूप कहनेसे जडत्वकी शंका तो निवृत्त नहीं हुई क्योंकि प्रकाश वा तेज भी जडस्वरूप ही है।

तो उत्तर यह है, कि जिस प्रकाशको भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अथवा उपर्युक्त श्रुतियां "ज्योतिषां ज्योतिः" सब ज्योतियोंकी ज्योति कहकर पुकारती हैं वह जड नहीं है। चेतनात्मा होकर सबको प्रकाश कररहा है इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि वह वहिर्मुख होकर सब तेजोंको प्रकाशमान कररहा है पर अन्तर्मुख हो सबोंके भीतर चेतनरूपसे निवास करता है। सो चेतन भी ज्योतिःस्वरूप ही है जिससे बुद्धि इत्यादि अन्तःकरणोंमें चेतना आती है।

कहनेका अभिप्राय यह है, कि वह बाहर भीतर दोनों ओर प्रकाश कररहा है तहां बाहर जो प्रकाश सो सूर्य, अग्नि, विद्युत इत्यादिमें तथा छवि होकर सुन्दर पुरुष और स्त्रीमें प्रकाश कररहा है और

भीतर वही प्रकाश चेतनरूप है जो बुद्धि इत्यादि अन्तःकरणोंको प्रकाश कररहा है । प्रमाण श्रुतिः— " ॐ य आदित्ये तिष्ठन्नादित्याद्न्तरो यमादित्यो न वेद यस्य आदित्यः शरीरं य आदित्यमतरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः " (बृहदा० अ० ३ श्रु० ६)

अर्थ— जो ज्ञेय ब्रह्म इस सूर्यमें ठहराहुआ तिस सूर्यके भीतर है जिसे स्वयम् यह सूर्य भी नहीं जानता वरु यह सूर्य जिसका शरीर है जो इस सूर्यके भीतर ही भीतर प्रकाशरूपसे बैठाहुआ इस सूर्यको अपनी आज्ञामें रखता है सो ही यह आत्मा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप है अर्थात् चैतन्य है ।

इस कारण यह जो शंका हुई थी, कि वह व्यापक ब्रह्म जड होगा सो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने " ज्योतिषां ज्योतिः " कहकर शंका का समाधान करदिया । यहां शंका मतकरो !

अब कहते हैं, कि " तमसः परमुच्यते " सो ज्ञेय ब्रह्म तम से परे कहाजाता है अर्थात् यह तो सभी कहसकते हैं, कि जहां प्रकाश होगा वहां तम तो हो ही नहीं सकता । जैसे सूर्य जहां २ जावेगा तहां २ दिन ही होता चलाजावेगा तम तो उसके समीप जाही नहीं सकता । इसी प्रकार उस ब्रह्मतेजके समीप तो तम (अज्ञानता) अर्थात् जडत्वका कहीं लेश भी नहीं रहसकता । जब, कि सूर्यको देख तम (अन्धकार) करोडों योजन दूर भागजाता है तो कब सम्भव है, कि कि वह ब्रह्मतेज जो करोडों सूर्योंके प्रकाशसे भी अधिक प्रकाशमान है तमको अपने समीप आनेदे । इसलिये श्रीआनन्दकन्द कृष्ण-

चन्द्र अर्जुनके प्रति उस ब्रह्मको तमसे भी परे कहते हैं पर यहां विचारने योग्य है, कि केवल इतना कहनेसे किसी प्रकारका विशेष अर्थ नहीं निकलता है । जब, कि पहले ' **ज्योतिषां ज्योतिः** ' कह-चुके तो फिर ' **तमसः परम्** ' कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर यह है, कि प्रकाशस्वरूपकी जडताकी शंका दूर करने के तात्पर्यसे तथा चेतन है इस अर्थको स्पष्ट करनेके तात्पर्यसे '**तमसः परम्**' कहना पडा। क्योंकि तम जो अविद्या तथा उस अविद्या करके जो मिथ्या प्रपञ्च जिस अन्धकारके कारण जीव शोक, मोह इत्यादि क्लेशोंमें पडाहुआ कराहता है सो जो अपने स्वरूपसे इतर अन्य प्रकारकी वृत्तियोंका प्रवेश वही घोर तम है जिसे अविद्या वा अज्ञान के नामसे पुकारते हैं तिस तम वा अज्ञानसे वह परे है जो, कि सब कुछ जाननेवाला सर्वज्ञ है चैतन्य है जड नहीं है । जहां जडता है तहां ही तम है और जहां चेतनता है तहां प्रकाश है सो भगवान्ने इस क्षेत्रज्ञ ब्रह्मको जड न कहना पडे इसकी दृढताके लिये ' **तमसः परम्** ' कहा अर्थात् चैतन्य कहा ।

इसलिये भगवान् उसके यथार्थस्वरूपको कहते हैं, कि [**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**] ज्ञान भी वही है, ज्ञेय भी वही है तथा ज्ञानगम्य भी वही है ।

यहां भगवान्ने तीन शब्दोंका भिन्न २ उच्चारण किया पहले तो उस ब्रह्मको " ज्ञानम् " कहा अर्थात् जिसके द्वारा कुछ जाना जावे उसे कहिये ज्ञान सो केवल वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है। जिसके

द्वारा सब कुछ जानते हैं क्योंकि जडके द्वारा तो कुछ जानना हो ही नहीं सकता इसलिये वही चैतन्य ज्ञानस्वरूप है प्रमाणजन्य चित्त-वृत्ति करके अभिव्यक्त संवित् रूप है। ज्ञेय भी वही है अर्थात् जानने योग्य भी वही है। फिर **ज्ञानगम्य** भी वही है अर्थात् अमानित्वादि जो ज्ञानके २० साधन पिछले श्लोकोंमें कहेगये हैं उन साधनोंके द्वारा जिज्ञासुओंको प्राप्त होनेवाला भी वही है।

इन तीनों शब्दोंको कहकर भगवानने उस प्रकाशस्वरूप ज्ञेय ब्रह्मके जड होनेकी शंका दूर करदी।

इतना कहनेसे यह शंका उत्पन्न होआती है, कि जब वह **ज्ञानगम्य** है तब सामान्य पुरुषोंसे बहुत दूर होगा।

इसीके निवारणार्थ श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द कहते हैं, कि "**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**" वह किसीसे दूर नहीं क्योंकि वह सबोंके हृदयस्थानमें स्थित है पर किसी-किसीमें विशेषरूपसे स्थित है। यहां विशेषरूपसे स्थित कहनेका यह तात्पर्य है, कि वह ज्ञेय ब्रह्म यों तो सामान्यरूपसे सब छोटे, बडे, पशु, पत्ती, कीट, पतंगमें निवास कररहा है पर जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं तथा ज्ञानियोंके हृदयमें तो विशेषरूपसे निवास करता है। जैसे सूर्यकी किरणें अथवा सूर्य का बिम्ब तो सब प्रकारके काचोंमें और पत्थरोंमें तथा हीरा, लाल, पिरोजा, मणि, माणिक इत्यादिमें एकसमान प्रकाश कररहा है पर इन पत्थरोंके हृदयमें विशेषरूपसे नहीं पडता। विशेषरूपसे सूर्यकान्त-मणिमें ही पडता है अर्थात् इस मणिमें सूर्यकी पूरी गरमी

प्रवेश करती है और उसके हृदयमें सारी किरणें सिमटकर ऐसी एक ठौरमें जमजाती हैं, कि झट उससे आग निकलआती है। इसी प्रकार जिज्ञासुओंके हृदयमें उस ज्ञेय ब्रह्मका प्रकाश जमजाता है जिससे प्रेमकी ज्वाला झट भडक उठती है ॥ १८ ॥

इन श्लोकोंको पढते-पढते बहुतेरे प्राणियोंके हृदयमें यह भी शंका उत्पन्न होजावेगी, कि भगवान् ज्ञेय ब्रह्म तथा क्षेत्रज्ञ ब्रह्मका शब्द बारे-बार कहते चले आरहे हैं और तत् शब्द लगाते चलेआरहे हैं जिससे बहुतेरे मतावलम्बियोंको तो ऐसा कहनेका पूर्ण अवकाश मिल रहा है, कि वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म वा ज्ञेयब्रह्म श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र से अन्य कोई पुरुष होगा इसी शंकाको दूरकरनेके तात्पर्यसे भगवान् इस विषयका उपसंहार करतेहुए अगले श्लोकमें पूर्णरूपसे यह प्रकट करते हैं, कि वह ज्ञेय वा क्षेत्रज्ञ ब्रह्म मुझसे कोई इतर नहीं है।

मु०—इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— इति (अनेन प्रकारेण) क्षेत्रम् (महाभूतानि " इत्यारभ्य " धृत्यंतं " शरीरम्) तथा, ज्ञानम् (अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम्) ज्ञेयम् (" अनादिमत्परं ब्रह्म " इत्यारभ्य "हृदि सर्वस्य विष्ठितम्" इत्यन्तम्) च, समासतः (संक्षेपतः) [मया] उक्तम् (कथितम्। प्रतिपादितम्) मद्भक्तः

(मां अनन्यत्वेन भजतीति । मयि सर्वेश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ भगवति वासुदेवे समर्पितसर्वात्मभावो । मदेकशरणः) एतत् (क्षेत्रम ज्ञानं ज्ञेयम्) विज्ञाय (याथात्म्येनज्ञात्वा) मद्भावाय (मम स्वरूपभवनाय । सर्वानर्थशून्यपरमानन्दस्वरूपाय मोक्षाय) उपपद्यते (योग्यो भवति) ॥ १९ ॥

पदार्थः— श्रीगोलोकविहारी मदनमुरारी जगत्‌हितकारी अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे अर्जुन ! (इति) इस प्रकार (क्षेत्रम्) महाभूतोंसे लेकर धृति पर्यन्त शरीररूप क्षेत्रका स्वरूप फिर (ज्ञानम्) अमानित्वसे लेकर तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त ज्ञान का स्वरूप और (ज्ञेयम्) 'अनादिमत्परं ब्रह्म'से लेकर 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' पर्यन्त ज्ञेयका स्वरूप (च) भी अर्थात् क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंके स्वरूप (समासतः) संक्षेपसे मेरे द्वारा (उक्तम्) कथन कियेगये सो (मद्भक्तः) मेरा अनन्य भक्त (एतत्) इन तीनोंको (विज्ञाय) यथार्थ रूपसे जानकर (मद्भावाय) मेरा स्वरूपप्राप्त करने के (उपपद्यते) योग्य होजाता है ॥ १९ ॥

भावार्थः— अब तक जो भगवान उस ब्रह्मको अपनेसे पृथक् किसी अन्य पुरुष के समान संकेत करते चलेआते थे अर्थात उसके विषय अन्य पुरुषका प्रयोग करते चलेआते थे, कि जिससे यह अनुभव हो रहा था, कि इनसे इतर कोई दूसरा ब्रह्म है तिसी शंकाके दूर करने के तात्पर्यसे अब तक जो कुछ इस अध्यायमें अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंका वर्णन किया उनका उपसंहार

करतेहुए कहते हैं, कि [**इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः**] हे अर्जुन ! अब तक तेरे प्रति जो मैंने संक्षेपसे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनोंके स्वरूपोंका वर्णन किया तिनको तूने भली भांति श्रवण करलिया ।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य यह है, कि इन तीनोंका वर्णन तो इस अध्यायके श्लोक ११, १२ में होचुका है पर यहां मैंने पांचों महाभूतोंसे लेकर धृति पर्यन्त क्षेत्रके सब अंग श्लोक ५ और ६ में संक्षेपसे कथन करदिये ।

फिर भगवान‌ने श्लोक ७ से लेकर ११ पर्यन्त अमानित्वसे लेकर तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त जो ज्ञानके २० स्वरूप हैं स्पष्ट कर दिखला- दिये जिससे सर्वसाधारण जिज्ञासुओंको ज्ञानसाधन करनेका पूर्ण उपाय ज्ञात होगया और जिज्ञासु कृत-कृत्य होगये । क्योंकि बहुतेरे जिज्ञासु जो द्वार २ ज्ञान प्राप्त करनेके निमित्त मारे २ फिरते हैं तथा कोरे और स्वच्छ हृदय होनेके कारण जिसी तिसी कपोलकल्पित मतवालेके फन्देमें फँसकर ज्ञानहीन होजाते हैं उनके लिये तो भग- वान‌ने सब कुछ इनही पांच श्लोकोंमें बता दिया । उनको चाहिये, कि इन पांचों श्लोकोंका आदर पंचमेरु (मिष्टान्न) के समान करतेहुए तथा अपने हृदयरूप जिह्वापर इनका स्वाद लेतेहुए अपनी ज्ञानप्राप्तिरूप अभि लाषाकी क्षुधाको शान्त करलें । एवं इन पांचों अपूर्व पुष्पोंका हार बनाकर अपने गलेमें डाललें जिससे फिर उनको कहीं भटकना न पडे । क्योंकि इनसे इतर जो कुछ कोई ज्ञान बतावे सो अज्ञान है ।

पश्चात् भगवानने श्लोक १२ से १८ पर्यन्त अर्थात् 'अनादिमत्पर ब्रह्म' से लेकर 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' पर्यन्त उस ज्ञेय ब्रह्मका स्वरूप कथन करदिया।

इनही उपर्युक्त तीनों विषयोंके विषय अब भगवान् कहते हैं, कि मैंने जो संक्षेपसे क्षेत्र ज्ञान और ज्ञेयका वर्णन करदिया है और इन तीनोंके स्वरूपोंको जतादिया है सो [**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते**] जो मेरा अनन्य भक्त है जिसने अन्य सब आश्रयोंको त्याग मेरी ही शरण ली है वह तीनोंको पूर्णप्रकार जान मुझ परमानन्दस्वरूपको प्राप्त करने योग्य होजाता है। इससे सिद्ध होता है, कि क्षेत्रज्ञ वा ज्ञेय ब्रह्म श्रीभगवान् कृष्णसे अन्य कोई दूसरा नहीं है। इसी कारण भगवान्ने '**मद्भावायोपपद्यते**' कहकर भिन्न२ मतावलम्बियोंकी क्रूर शंका (अर्थात कृष्णस्वरूपसे इतर किसी अन्य ब्रह्मका समझना) को दूर करदिया ॥ १६ ॥

इस अध्यायके आरम्भमें जो अर्जुनने पहले श्लोकमें कई प्रश्न भगवान्से किये थे उनमें यहांतक भगवान्ने अर्जुनके चारप्रश्नोंका अर्थात् क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेयका उत्तर समाप्त करदिया।

अब शेष दो प्रश्न अर्थात् प्रकृति और पुरुषका विषय अगले श्लोकमें वर्णन करते हैं—

मू०— प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥
॥ २० ॥

पदच्छेदः— प्रकृतिम् (प्रकर्षेण सृष्ट्यादिकं करोति या सा भगवती मायाख्या परमेश्वरी शक्तिः ताम्) पुरुषम (पूर्षु शेते यः तम् क्षेत्रज्ञोपलक्षितं जीवस्वरूपक्षेत्रं) च, उभौ (द्वौ) अपि, अनादी (न विद्यते आदिर्ययोस्तौ उत्पत्तिरहितौ) एव (निश्चयेन) विद्धि (जानीहि) विकारान (देहेन्द्रियादीन) च, गुणान (कर्तृत्व-भोक्तृत्वसुखदुःखादीन्) च, एव (निश्चयेन) प्रकृतिसम्भवान (प्रकृतेः सम्भवो येषां तान् । प्रकृतिपरिणामान वा) विद्धि ॥ २० ॥

पदार्थः (प्रकृतिम) सृष्टिके रचनेवाली मायाको तथा (पुरुषम्) इस शरीरमें शयन करनेवाले क्षेत्रज्ञ जीवको (च) भी अर्थात (उभौ) इन दोनोंको (अनादी) आदि रहित अर्थात् कारण वा उत्पत्तिरहित (एव) निश्चय करके (विद्धि) हे अर्जुन तू जान तथा (विकारान च) यह जो पांचभौतिक शरीर इन्द्रियोंके सहित विकाररूप हैं तिनको भी तथा (गुणान्) रज, सत्व और तम तीनों गुणोंसे बनेहुए जो सुख, दुःख, मोह इत्यादि हैं उनको भी (एव) निश्चय करके (प्रकृतिसम्भवान्) इसी प्रकृतिसे उत्पन्न (विद्धि) जान ॥ २० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो इस अध्यायके आरम्भ होते ही प्रथम श्लोकमें छौ बातोंका प्रश्न किया अर्थात भगवानसे यों पूछा, कि

प्रकृति, पुरुष, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय क्या हैं? सो हे भगवन्! आप कृपा कर कहो। तिन छवों प्रश्नोंसे भगवान्‌ने १९ वें श्लोक पर्यन्त क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय चार प्रश्नोंका उत्तर देदिया। शेष दो प्रश्न अर्थात् प्रकृति और पुरुषका स्वरूप बतातेहुए साथ-साथ यह भी दिखलावेंगे, कि यह क्षेत्र कहांसे है? कैसा है? और कितने प्रकारके विकारोंसे युक्त है।

इसी प्रकृति पुरुषके विधिपूर्वक जाननेके लिये भगवान् यहां कहते हैं, कि [**प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि**] अर्थात् हे अर्जुन! तू प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि जान। यहां प्रकृति कहिये परमेश्वरकी उस महान् शक्तिको जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व रचाजाता है, जिसे मायाके नामसे भी पुकारते हैं, जो सदा अपने मायावी महेश्वरके साथ निवास करती है। जैसे आगमें दाह, जलमें शीतलता, तिलमें तेल, और पुष्पमें गन्ध है इसी प्रकार उस महेश्वर महाप्रभुमें उसकी माया निवास करती है। इसी कारण जहां-जहां वह शक्तिमान् उसे पुकारता है तहां-तहां उसे जानाही पडता है। यह प्रकृति अनादि कही जाती है इसका मुख्य कारण यही है, कि यह इसका अधिष्ठान जो साक्षात् महेश्वर है वह स्वयं अनादि है। जैसे छाया शरीरके साथ २ रहती है इसी प्रकारे माया मायावीके साथ २ रेहती है इसका कुछ भी दूसरा कारण नहीं है, क्योंकि यदि इसका भी अन्य कारण हो तो फिर उस कारणका भी कारण होना चाहिये तथा फिर उस कारणका तीसरा एक कारण होना चाहिये ऐसा होनेसे अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी। इसीलिये सांख्यशास्त्रके

कर्त्ताने कहा है, कि " **मूले मूलाभावादमूलं मूलम्** " (सांख्यद० अ० १ सू० ६७)

अर्थात् मूलमें मूलके अभावसे मूल रहित मूल है, तात्पर्य्य यह है, कि जडका फिर भी जड नहीं होता क्योंकि जडका जड माननेसे अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी इसलिये मूल जो प्रकृति तिसका मूल नहीं होसकता इसीको सम्पूर्ण सृष्टिका मूल जानना चाहिये। इसी कारण इसे प्रधानके नामसे भी पुकारते हैं और यह सदा आनन्दमय अपने अधिष्ठान उस परब्रह्ममें निवास करती है। प्रमाण श्रु०— " **अजामेकां लोहितकृष्णशुक्लां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः** " (श्वेताश्वतर अ० ४ श्रु० ५)

अर्थ— वह जो एक अजा प्रकृति है सो लोहित, शुक्ल और कृष्णवर्णकी है अर्थात् अरुणवर्ण जो रजोगुण, शुक्ल वर्ण जो सत्त्व गुण तथा कृष्णवर्ण जो तमोगुण इन तीनों गुणों वाली है और एवम् प्रकार अपनी शक्तिसे बहुतेरी रूपवाली प्रजाओंको रचा करती है।

इस श्रुतिसे भी प्रकृतिका अनादि होना सिद्ध होता है इस प्रकृतिसे यह सृष्टि कैसे २ बन जाती है सो बार-बार ठौर-ठौरपर इस गीतामें दिखलाया जाचुका है।

इसी प्रकृतिको भगवान्ने इस गीताके सातवें अध्यायमें 'द्विधा' दो प्रकारकी वर्णन किया है एक अपरा और दूसरी परा। अपरामें तो पांचों भूत मन, बुद्धि, अहंकार इन आठों तत्त्वोंको कहा और इस जीवको जिसे पुरुष भी कहते हैं परा प्रकृतिके नामसे पुकारा है। देखो

अध्याय ७ में श्लो० ४, ५ " भूमिरापो " से " धार्य्यते जगत् " पर्य्यन्त ।

इन दोनों से प्रकृति और पुरुष दोनोंका ग्रहण होगया इसी पुरुष को अर्थात् परा प्रकृतिको भी अनादि कहते हैं क्योंकि यह परा प्रकृति भी उस महाप्रभुकी अपरा प्रकृतिके साथ २ रहती है इस कारण इसे भी अनादि कहनेमें दोष नहीं है, सो श्रुति भी कहती है—

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" (श्वेताश्व० अ० ५ श्रु० ५) इस श्रुतिसे यह सिद्ध होता है, कि जो एक अज है जो जन्मता नहीं है जो इस शरीररूप क्षेत्रमें क्षेत्रज्ञ होकर शयन कर रहा है वह भी अनादि है।

इन वचनोंसे प्रकृति और पुरुष इन दोनोंका अनादि होना सिद्ध है सो इन दोनोंके अनादि होनेका कारण यही है, कि ये दोनों उस अनादि परब्रह्मके साथ २ हैं मानों थोडी देर तक वाचारम्भणविकारके कारण यों कहना पडता है, कि ब्रह्म, माया और जीव ये तीनों अनादि हैं पर इनके अनादि होनेसे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि ये तीनों कुछ बिलग-बिलग तत्त्व हैं नहीं २ ! ऐसा कदापि नहीं यथार्थमें अनादि तो केवल एक वही ज्ञेय ब्रह्म है पर उसके अनादि होनेसे इन दोनों प्रकृति और पुरुषको भी अनादि कहना पडता है। क्योंकि जो शक्तिमान् अनादि हुआ तो उसकी शक्ति भी अनादि होगी, फिर ये प्रकृति पुरुष दोनों उसीकी शक्तिके दो भेद होगये हैं, एक जड और दूसरा चेतन तहाँ जड शक्तिका नाम अपरा प्रकृति और चैतन्य शक्ति अर्थात् पुरुषका नाम परा प्रकृति है।

दूसरे शब्दोंमें इनहीको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं, तहाँ क्षेत्रज्ञके दो भेद कहआये हैं, साधारण क्षेत्रज्ञ जिसे पुरुष कहते हैं और विशेष क्षेत्रज्ञ जिसे पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वर कहते हैं ये दोनों भी अनादि हैं। दूसरी बात यह है, कि यदि पुरुष अर्थात इस जीवको अनादि नहीं मानेंगे तो " * **अकृताभ्यागम** " दोषकी प्राप्ति होगी अर्थात् बिना कुछ किये सुख दुःख इत्यादिके आगमका दोष प्राप्त होगया और भोगना सिद्ध होगया। क्योंकि जीवमात्र सुख दुःखको भोगते हुए देख पडते हैं। यदि ऐसा मानाजावे, कि यह जीव पहले-पहल उत्पन्न हुआ है तो यह जो राजा रंकका भेद है तथा एक जीव अत्यन्त सुन्दर, धनवान, विद्वान, सर्वगुण सम्पन्न, एक उँगलीके हिलानेसे लाखोंको दायेंबायें करताहुआ गजराजके मस्तकपर बैठा पृथ्वीराजकी उपाधिसे युक्त श्रीप्रयागराजकी यात्रा कररहा है और दूसरा अत्यन्त कुरूप पावभर अनाजके लिये दुखी दरिद्रराजकी उपाधिसे युक्त द्वार-द्वार मारा फिरता है ऐसा भेद क्यों ? इससे बोध होता है, कि पूर्व में भी ये दोनों जीव थे जिनमेंसे एक शुभ और दूसरा अशुभ कर-चुका था इसलिये ये दोनों अपना-अपना फल भोगरहे हैं। अत-एव " अकृताभ्यागम " का दोष नहीं लगसकता और इनका अना-दित्व सिद्ध होना परम्परासे चला आरहा है।

---

* **अकृताभ्यागम**--जो कर्म नहीं किया उसके फलका सामने आना जो महा अन्याय है और बुद्धिसे भी बहुत दूर है। ऐसा अन्याय ईश्वरके राज्यमें नहीं होसकता इसलिये जीवका पूर्वजन्म मानते-मानते इसको अनादि मानना पडेगा।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**] हे अर्जुन ! जितने विकार हैं और जितने गुण हैं सबोंको तू इसी प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ जान ! अर्थात आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ये पांचों तत्त्व और दशों इन्द्रियां तथा एक **मन** ये मिलकरे जो १६ विकार हैं फिरे रज, सत्त्व और तम ये तीनों गुण हैं जिनसे हर्ष, शोक, मोह इत्यादि उत्पन्न होते रहते हैं इन्हें भी तू इसी प्रकृतिसे उत्पन्न जान ! ॥ २० ॥

इन प्रकृति और पुरुष दोनोंमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व अर्थात् करने कराने तथा भोगने भुगानेकी शक्ति किसमें है ? एकमें है ? वा दोनोंमें है अर्थात् सुख दुःखके भोगने भुगानेका कारण प्रकृति है ? वा पुरुष है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं ।

मू०— कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१

पदच्छेदः— कार्यकारणकर्तृत्वे (कार्यं शरीरं तदारम्भकाणि भूतानि विषयाश्च कारणं दशेन्द्रियाणि तदाश्रिताश्च सुखदुःखमोहात्मकगुणाश्च तयोः कर्तृत्वे तदाकारपरिणामे वा) प्रकृतिः (पूर्वोक्ताऽपरा प्रकृतिः) हेतुः (कारणम्) उच्यते (कथ्यते) सुखदुःखानाम्, भोक्तृत्वे (उपलब्धृत्वे) पुरुषः (क्षेत्रज्ञः । जीवः) हेतुः (कारणम्) उच्यते ॥ २१ ॥

टि०— " करणेति पाठेऽपि स एवार्थः " यहां कारण और करण दोनो प्रकारके पाठ हैं अर्थमें कुछ भेद नहीं ।

पदार्थः— (**कार्यकारणकर्तृत्वे**) कार्य जो यह पांच-भौतिक शरीर तथा इसका कारण जो दशों इन्द्रियां और मन, बुद्धि, तीन अन्तःकरण फिर इनके आश्रित जो सुख, दुःख, मोह इत्यादि गुण इन दोनोंका जो कर्तृत्व तिसमें (**प्रकृतिः**) यह जड अपरा प्रकृति ही (**हेतुः**) उपादान कारण (**उच्यते**) कहीजाती है फिर (**सुखदुःखानाम्**) सुख और दुःखोंके (**भोक्तृत्वे**) भोग करने करानेमें (**पुरुषः**) चैतन्य जो यह क्षेत्रज्ञ पुरुष है (**हेतुः**) उपादान कारण (**उच्यते**) कहाजाता है। अर्थात् करने करानेमें प्रकृति और भोगनेमें पुरुष कारण है ॥ २१ ॥

भावार्थः— अब श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति प्रकृति और पुरुषके कार्योंको बतातेहुए कहते हैं, कि [**कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**] कार्य जो यह शरीर तथा कारण वा करण जो इन्द्रियां और अन्तःकरण इनके कर्तृत्वमें अर्थात् इनके द्वारा प्रत्येक कर्मके सम्पादन करनेमें चाहे वे कर्म सुखदायी हों वा दुःखदायी हों प्रकृति ही मुख्य हेतु है। अर्थात् इस सृष्टिमें जो कुछ शुभाशुभ कर्म होरहे हैं सबको करानेवाली यही प्रकृति है।

शंका— प्रकृति तो स्वयं जड है फिर जडमें करने-करानेकी शक्ति कहां से आयी ?

समाधान— यद्यपि प्रकृति स्वयं जडरूप है पर यह सदा पुरुषके साथ है जहां पुरुष है तहां प्रकृति है जहां प्रकृति है तहां पुरुष है ये दोनों अन्योन्य सम्बन्ध रखते हैं। फिर जैसे अयस्कान्त (चुम्बक

पत्थर) के समीप जड लोह भी हिलने, हटने, दौडनेकी शक्तिवाला होजाता है इसी प्रकार पुरुषके समीप रहनेसे यह प्रकृति सर्वप्रकारके कार्योंके करनेमें समर्थ होती है ।

अब भगवान कहते हैं, कि [**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**] सुख दुःखोंके भोगने में पुरुष ही हेतु है अर्थात् प्रकृति करनेवाली है और पुरुष भोगने वाला है ।

जो कुछ प्रकृति करती चलीजाती है पुरुष भोगता चलाजाता है । जैसे किसी घरमें स्त्री रोटी पकाती जाती है और उसका पुरुष आनन्द-पूर्वक बैठाहुआ खाता चलाजाता है ।

शंका— करे कोई, और भोगे कोई पकावे कोई और खावे कोई यह तो न्यायकी दृष्टिसे अति ही अनुचित देखपडता है ऐसा क्यों ?

समाधान—अपराप्रकृति और पराप्रकृति (पुरुष) दोनोंके एक संग जुटे रहनेसे कर्तृत्व और भोक्तृत्वका साधन होता है न तो अकेली अपराप्रकृति कुछ करसक्ती है न अकेला पुरुष (परा प्रकृति) कुछ भोगसकता है क्योंकि दोनोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है दोनोंसे एकको विलग कर दो तो दोनों निरर्थक होजावेंगे। इसलिये इन दोनोंके सम्बन्धके विषय श्रीअभिनवगुप्ताचार्यने अपनी टीकामें यों कहा है, कि " **प्रकृति-पुरुषयोः पंग्वन्धवत्किलान्योन्यापेक्षावृत्तिः** " अर्थात् लँगडे और अन्धेके समान इन दोनोंको एक दूसरेकी अपेक्षा है । जैसे लौह-पिण्डके साथ अग्नि होनेसे अग्निमें त्रिकोण, वर्तुल इत्यादि

आकारोंका बोध होता है और लोहको अग्नि मिलनेसे उसमें तेज, ताप और प्रकाश आते हैं। अथवा जैसे किसी दीपकको नदीके तटपर रखनेसे जलमें प्रकाश थर्राने लगता है पर यथार्थ पूछो तो न प्रकाशमें थर्राहट है और न जलमें प्रकाश है। इसी प्रकार पुरुषको तटस्थ जानो क्योंकि प्रकृति और पुरुष दोनोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेसे संपूर्ण संसारका काम चलता है और प्रकृतिके धर्मोंको यह पुरुष अपना मानकर करता है। जैसे मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं, मैं वीर हूं, मैं कातर हूं, मैं अमुकका पुत्र हूं, अमुकका पिता हूं इत्यादि। यद्यपि ये सब कार्य और कारण प्रकृतिके विकारसे हैं पर यह पुरुष (जीवात्मा जिसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं) इन सब धर्मोंको अपनेमें मानता जाता है। इस कारण कर्तृत्वाभिमानके अंगीकार करनेसे इसको सुख, दुःख मोहादिका भोक्ता बनना पडता है। इन ही दोनोंके मेलने संपूर्ण प्रपंचका विस्तार करडाला है।

प्रमाण— " द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यांसविराजमसृजत् प्रभुः ॥ "
(मनु० अ० १ श्लोक ३२) अर्थ स्पष्ट है

तहां श्रुतिका प्रमाण भी यों है—

" स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् सहैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ सम-

भवत्ततो मनुष्या अजायन्त " (बृहदा० अ० १ ब्राह्म० ४ श्रु० ३) इसका अर्थ अ० १० श्लो० ६ में होचुका है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उस महाप्रभुने जब सृष्टिकी इच्छा की और अपनी शोभाको देख विस्तार करना चाहा तो अपनी शक्तिके दो विभाग करडाले एकका नाम पुरुष और एकका नाम प्रकृति रखा और इन ही दोनोंके मेलसे संपूर्ण प्रपंचकी रचना कर इनसे करते-कराते भोगते भोगाते आप इनका खेल एकान्त बैठकर देखने लगा।

इसी कारण भगवानने इस श्लोकमें प्रकृति पुरुषका पूर्ण वृत्तान्त अर्जुनके प्रति कह सुनाया है, कि प्रकृति करनेका हेतु और पुरुष भोगनेका हेतु है पर यह विभाग केवल जिज्ञासुओंके समझाने के निमित्त है यथार्थमें किसी प्रकारका विभाग नहीं है केवल वाचा-रम्भण विकारके कारण इतना कहना पडता है ॥ २१ ॥

और इसी प्रकृति पुरुषके संगको भगवान् अगले श्लोकमें पूर्णरूपसे और भी स्पष्ट कर दिखलाते हैं—

मू०— पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २२

पदच्छेदः— हि (यस्मात) पुरुषः (क्षेत्रज्ञः) प्रकृतिस्थः (प्रकृतावविद्यालक्षणायां कार्यकारणरूपेण स्थितः । देहेन्द्रियमनः-संघातमध्यारूढः) प्रकृतिजान (प्रकृतेः जातान् । व्यक्तान्)

गुणान् (सुखदुःखमोहादीन्) भुंक्ते (उपलभते) अस्य (पुरुषस्य) सदसद्योनिजन्मसु (सद्योनिजन्मानो देवाः असद्योनिजन्मभाजस्तिर्यंचः स्थावराश्च । सदसद्योनिजन्मानो मनुष्या एतेषु त्रिषु जन्मसु) गुणसंगः (सुखादिष्वभिष्वंगः) कारणम् (हेतुः) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (हि) क्योंकि (पुरुषः) यह जो क्षेत्रज्ञ वा परा प्रकृति नाम करके पुरुष है सो (प्रकृतिस्थः) इस प्रकृतिके भीतर कार्य कारण रूपसे स्थित है इसीलिये (प्रकृतिजान्) प्रकृतिसे उत्पन्न (गुणान) सुख, दुःख, मोह इत्यादि गुणोंको (भुंक्ते) भोगा करता है (अस्य) इस पुरुषका जो (सदसद्योनिजन्मसु) सत् और असत् योनियोंमें जन्म है अर्थात् देव, पशु, मनुष्य इत्यादि योनियोंमें जन्म है तिसके (गुणसंगः) गुणोंका जो संग है सो ही (कारणम्) कारण है । अभिप्राय यह है, कि प्रकृतिके गुणोंके संगसे यह पुरुष सुख दुःखका भोगनेवाला होता है सो पहले भी दिखलाआये हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः— इस पुरुषको सुख, दुःख इत्यादि प्रकृतिजन्य गुणोंके भोगनेका क्या कारण है ? सो भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि **[पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्]** यह क्षेत्रज्ञ नामा पुरुष प्रकृतिके भीतर स्थित है अर्थात् प्रकृतिके साथ ऐसे मिलाहुआ है जैसे क्षीरमें घृत अथवा जैसे तिलमेंतैल । इसी संगके कारण यह बिचारा पुरुष जो सदा निःसंग, सर्वविकाररहित, आंख,

कान, नाक, मन, बुद्धि इत्यादि इन्द्रियोंके संगसे वर्जित, निर्मल और शुद्ध स्फटिकके समान है जो कभी जन्मता मरता नहीं जन्म और मरणवाला कहलाता है और आंख, नाक, कान, मन, बुद्धिवाला कहलाता है यद्यपि न यह स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक है तथापि यह इसी प्रकृतिके रचेहुए शरीरसंघातके साथ स्त्री, पुरुष, नपुंसक, वीर, कातर, साहूकार और चोर कहलाता है। यह प्रकृति ही अपनी मोहिनी मूर्त्ति दिखलाकरे इसे ठगलेती है और इसीसे सब कार्य करवाती है और भोगवाती है। क्योंकि यह जानती है, कि मैं तो स्वयं जड हूं मुझसे तो कुछ होनेजानेका नहीं। यद्यपि मैंने बहुतसी वस्तु-तस्तु इकट्ठी करली हैं और जैसे श्मशानमें इधर-उधर खोपडियां पडी रहती हैं ऐसे अनेक खोपडियां भी इकट्ठी करली हैं पर मेरा संगी 'पुरुष' जब तक मेरे साथ न हो तब तक इन सबोंसे कुछ भी सिद्ध नहीं होसकता। ऐसे मनमें विचार यह प्रकृति अपने पुरुषका फेंटा पकड करे दोनों हाथोंसे उसकी कटिमें लिपट अपने घरके भीतर लेआती है और बडे आदर सम्मान पूर्वक उत्पत्तिसे प्रलय पर्यन्त घरसे बाहर नहीं जानेदेती। इसी पुरुषकी सत्तासे उसकी इधर-उधरकी गढीहुई खोपडियां नाचने लगती हैं तीनों गुणोंमें काम करने लगजाती हैं॥ आंखमें दृष्टि, कानोंमें श्रवणशक्ति, मनमें मनन, बुद्धिमें विचार, निरहंकारमें अहंकार, सब इसीके कारण होते हैं। क्योंकि यह पुरुष ही विज्ञानात्मा है जिसमें सर्वकारणोंकी शक्तियां इकट्ठी हैं। अथवा यों कहो, कि यही सब कुछ करनेवाला है। प्रमाण श्रु०— "ॐ एष हि द्रष्टा स्पष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।"

(प्रश्नो, प्र० ४ श्रु० ६)

अर्थ — यह विज्ञानात्मा पुरुष देखनेवाला है, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूंघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला समझनेवाला और सब समझानेवाला है । यह प्रकृति ऐसी चतुर नटी है, कि पुरुष भी इसके फन्देमें आ स्वर्गलोकमें इन्द्र बन अप्सराओंके साथ नाचने लगजाता है। रज, सत और तम जो तीनों गुण इस प्रकृतिरूप नटीकी अद्भुत कलाएं हैं उनसे तीनों देव अपना-अपना कार्य कररहे हैं । इसीके अधीन सब दायेंबायें होरहे हैं कोई बनाता है कोई बिगाडता है, कोई इस सारे खेलको कुछ काल पर्यन्त स्थिर रखता है । पर जो कुछ है सब इसीकी महिमा है पुरुष तो निःसंग है वह बेचारा क्या करे यह उसको स्थिर नहीं रहने देती । जैसे कोई किसी घरवालेसे आग लेकर उसीके घरको जलादे और फिर उसीसे पानी लेकर उसीका आटा गीला करदे, उसीसे खड्ग मांगकर उसीकी गर्दन काटदेवे ऐसे यह प्रकृति बिचारे पुरुषकी सत्तासे उसीको फुसलाती है और उसीसे अपने गुणोंको भोगवाती है।

यदि यह पुरुष इस प्रकृतिके भीतर नहीं निवास करता और उसके पाशमें नहीं फँसता तो यह सुख दुःखका भोगनेवाला नहीं होता ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु**] सत् असत् योनियोंमें जन्मका कारण यही प्रकृति है। अर्थात् इसमें जब सत्वगुणकी विशेषता वा अधिकता होती है तब यह देव आदि योनियोंमें जन्म लेता है। जब इसमें तमो-

गुणकी विशेषता वा अधिकता होती है तब पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि योनियोंमें जन्म लेता है । इसी प्रकार जब इसमें रजोगुणकी विशेषता वा अधिकता होती है तो यह मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह पुरुष जिधर अपना मुंह करता है वैसी ही अभिलाषा इसमें उत्पन्न होती है इसी अभिलाषाको कामना कहते हैं । इसी कामनाके अनुसार कर्म करने लगता है उस कर्मके अनुसार फल भोगने लगता है । तहां प्रमाण श्रुतिः– " ॐ स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते " ।

अर्थ— यह पुरुष जिस प्रकारकी कामना वाला होता है तदाकार ही कर्मोंका करनेवाला होता है फिर जिस प्रकारके कर्मोंका करनेवाला होता है उसी प्रकारके फलोंको भोगता है ।

इससे यह सिद्ध होता है, कि यह पुरुष यदि प्रकृतिके कार्य्य इस देहके साथ रहते हुए भी इसके गुणोंकी ओर अभिलाषा न करे तो यह सदा इसके उपजाये सुख दुःखसे विलग और निर्लेप रहसकता है । सो प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि जिस समय इस शरीरमें सुषुप्ति व्यापती है उस समय यह पुरुष इन्द्रिय और अन्तःकरणसे रहित होनेके कारण सुख दुःखका कुछ भी अनुभव नहीं करता ।

प्रश्न— जब ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि यह पुरुष इस शरीरके साथ रहते हुए सुषुप्तिके समय सब विकारोंसे निर्लेप रहता है

तो क्या ऐसा भी होसकता है? कि जागृत अवस्थामें भी यह कामना न करे तो सब विकारोंसे रहित रहे और सुख दुःखके भोगोंसे छूट जावे।

उत्तर— हां ऐसा होसकता है, इसमें तनक भी सन्देह नहीं है, कि यह पुरुष इस शरीरके साथ रहते हुए जागृतमें भी विकारोंसे रहित रहे। यदि देखना हो तो शुकदेव, जडभरत इत्यादि परमहंसोंकी ओर देखो, कि जो शरीर रहते हुए भी प्रकृतिके विकारोंको त्यागकर विदेहमुक्त कहे जाते थे। इन्होंने आत्मज्ञानद्वारा प्रकृतिके संग रहते हुए इसके गुणोंको जीतकर इनसे विलग परमानन्दमें मग्न कुणप (मृतक) के समान पडेहुए देखे जाते थे। तहां प्रमाण श्रु०-"ॐ न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमान इति षडूर्मिवर्जितो । निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते।" (परमहंसोप० श्रु० २)

अर्थ— जो परमहंस हैं उनको इस शरीरमें रहते न सरदी है, न गरमी है, न सुख है, न दुःख है, न मान है, न अपमान है तथा जो जन्म-मरण इत्यादि षडूर्म्मियोंसे वर्जित हैं, निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, निन्दा अहंकारादिको त्यागकर अपने शरीरको कुणप (मृतक) के समान देखते हैं।

इन वचनोंसे सिद्ध होता है, कि पुरुषको केवल इस प्रकृतिके गुणोंके संगका ही दोष है, समीपताका दोष नहीं । कमल तो जलके समीप ही रहता है जल ही से उत्पन्न होता है पर जल उसे स्पर्श नहीं करता ।

अथवा संगदोष और समीपताका भेद एक दूसरे उदाहरणसे भी समझ लीजिये ।

जैसे किसी एक महाराजाधिराजके समीप उसकी महारानी और चाण्डाली जिसने किसीके बच्चेको मार डाला है उपस्थित हैं, तहां चाण्डालीको तो राजशासनसे संग है इसलिये राजाके द्वारा उसे शूली चढनेका भय है और महारानीको राजशासनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है इसलिये वह हँसती खेलती आनन्दमें अपने महलको जाती है । इसी प्रकार जिस पुरुषको प्रकृतिके शासनमें किसी भी गुणका सम्बन्ध है वह उसके फलको भोगेगा और जिसे सम्बन्ध नहीं है वह निर्लेप और मुक्त रहेगा ।

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि संगदोषसे यह पुरुष विकारोंके साथ बांधा जाकर कर्तव्यके फलोंको भोगता है ॥ २२ ॥

प्रकृति और पुरुष दोनोंके साथ-साथ वह परमपुरुष परमात्मा भी निवास करता है जिसके प्रभावसे ये दोनों सृष्टिके कार्य्योंका सम्पादन कररहे हैं जिसे स्पष्टरूपसे भगवान् अगले श्लोकमें दिखलाते हैं—

मू०— उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥
॥ २३ ॥

पदच्छेदः— अस्मिन् देहे (शरीरसंघाते) पुरुषः (पूर्षु शेते यः) परः (निरतिशयो यस्मान्न परमस्तिकिंचित् सः) उपद्रष्टा (समीपस्थः सन् द्रष्टा) अनुमन्ता (स्वव्यापारेषु प्रवृत्तान् तत्साक्षिभूतः कदाचिदपि न निवारयति यः कुर्वत्स्वनुमन्तानुमोदनकर्ता वा) च, भर्त्ता (देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्यात्मपारार्थ्येन निमित्तभूतेन चैतन्याभासानां यत्स्वरूपधारणं तच्चैतन्यात्मकृतमेवेति भर्त्ता । अथवा देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्याध्यासविशिष्टानां स्वसत्तया स्फुरणेन च धारयिता पोषयिता च) भोक्ता (बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकान् प्रत्ययान् स्वरूपचैतन्येन प्रकाशयति. यः निर्विकार एव उपलब्धा) महेश्वरः (महानीश्वरः) परमात्मा (देहादिबुद्ध्यन्तानामचेतनानामविद्यात्मत्वेन कल्पितानां परमः प्रकृष्ट उपद्रष्टत्वादिविशेषेण विशिष्ट आत्मा) इति, अपि, उक्तः (कथितः) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (अस्मिन् देहे) इस शरीरमें (पुरुषः परः) एक परपुरुष है जो (उपद्रष्टा) उपर्युक्त दोनों क्षेत्रज्ञोंके समीप बैठा हुआ इन दोनोंके कार्य्योंका देखनेवाला है (अनुमन्ता) दोनोंके व्यवहारमें अनुमति देनेवाला वा आज्ञा देनेवाला है (च) फिर (भर्त्ता) अपनी सत्ता वा स्फुरणतासे दोनोंका पोषण करनेवाला है तथा (भोक्ता) अपनी चैतन्यसत्तासे दोनोंको प्रकाश करते हुए

उनके परिणामको भोगनेवाला अर्थात् लाभ करनेवाला है, सो ही (महेश्वरः) इन सबोंका महान् ईश्वर तथा (परमात्मा) परमात्मा (इति अपि) इस शब्दसे भी (उक्तः) पुकारा गया है॥ २३ ॥

भावार्थः— अब यहां इस श्लोकके अर्थमें भिन्न २ मत वालोंने अपना २ सिद्धान्त लेकर तदनुसार अर्थ किया है पर मेरे विचारमें ऐसा करनेसे एक २ प्रकारके मतकी दृढता तो अवश्य होती है पर उन पढने वालोंको जो किसी विशेष मत वा सिद्धान्तके अनुयायी नहीं हैं, नाना प्रकारके भ्रम उत्पन्न होजाते हैं। अन्ततो गत्वा वे किसी भी अर्थको स्वीकार नहीं करते। इसी दोषको हटानेके तात्पर्य्यसे ही सब मतमतान्तरोंके पक्षपातको छोड करे इस का यथार्थ अर्थ क्या है ? और श्रीकृष्णभगवान्के कहनेका मुख्य आशय क्या है ? सो मैं अपने विचारानुसार जना देना चाहता हूं। पर ऐसा लिखनेसे विविधमतावलम्बनशील ऐसा कभी न समझें, कि मैं उनके आचार्य्योंके किये हुए अर्थोंका खण्डन करता हूँ। नहीं ! नहीं। यह मेरा तात्पर्य्यकथमपि नहीं है ये जो अद्वैत, द्वैत और विशिष्टाद्वैतमें भेद देखाजाता है सो तो अवस्थाके भेदसे मतभेद होना निश्चय ही है। जैसे किसी पांच, छै सालके बच्चेको उसके बाप मां कहते हैं, कि बेटा रातको घरसे बाहर न निकलना घोघर घरके द्वारपरे चुपके छिपा हुआ बैठा है वह तुम्हें पकड़ कर लेजावेगा। अथवा जब कोई बच्चा अधिक रोने लगता है तब उसे गोदमें लेकर उसकी मां उसके रोनेको रोकनेके तात्पर्यसे हव्वा कहकर डराती है पश्चात्

जब वह बच्चा युवा होजाता है और कभी किसी विशेष कार्य्यके लिये वे ही उसके माता पिता बाहर जानेकी आज्ञा देते हैं तब वह युवक आलस्यमें आकर कह पडता है, कि कैसे जाऊं डर लगता है। तब वे ही मां बाप यों कह पडते हैं, कि अबे क्या घोघर वा हव्वा बैठा है जो तुझे खा जावेगा ? जा ! जा ! बेटा कुछ डर नहीं है ।

अब विचारने योग्य है, कि उसी मां बापने तो उसके ध्यानमें बचपनके समय हव्वाका स्वरूप जमा दिया था और अब वे ही हव्वाका निषेध करते हैं। तात्पर्य्य इसका यही है, कि जबतक हव्वाकी आवश्यकता थी तबही तक हव्वाकी स्थिति थी और जब आवश्यकता नहीं रही तब हव्वा तीन कालमें भी कहीं नहीं है ।

इसी प्रकार ब्रह्म, माया और जीव इन तीन विशेष शक्तियोंके मानने की तबही तक आवश्यकता है, जबतक अधिकारी इस संसारके प्रपंचोंको सच्चा समझ रहा है और संसारकी स्थिति उसके ध्यानमें बनी हुई है, फिर जब सदुपदेश सुनते २ सत्संग करते कराते जगतके मिथ्यात्वका निश्चय उसके मनमें होजाता है तब उसे अपनी और ईश्वरकी भिन्नताका बोधमात्र रहजाता है । एवम् प्रकार कर्म-काण्ड, उपासना इत्यादिके साधन करते-करते जब उसे यथार्थ बोध उत्पन्न होता है तब वह सर्वत्र ब्रह्मसत्ताको व्यापक जानकर ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगजाता है। अर्थात साधनकाल पर्य्यन्त ही दो और तीनका

बोध बना रेहता है पर सिद्धान्तकालमें जब ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय, ध्यान, ध्याता ध्येय, क्रिया, कर्ता, कर्म इत्यादिकी त्रिकुटी टूटकरे सर्वत्र एक ही रसका दृश्य होने लगजाता है और भगवानका वचन " **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति** " उसके हृदयपर अंकित होजाता है अर्थात् जब सर्वत्र सब ठौर उस महाप्रभुको देखने लग जाता है तब वह केवल एक अद्वैतरूप ही होजाता है । इसलिये तीनों मतवालोंके अर्थ करनेमें मैं दोष नहीं लगाता पर इतना अवश्य कहूंगा, कि अवस्थाभेदसे इन अर्थोंमें भेद है इसलिये मैं यहां केवल वही अर्थ करूँगा जिससे सबोंको एक समान लाभ हो और अर्थ भी वही हो जो सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें एक सम्मति वाला हो । अतः चलिये अब अपने विषयकी ओर चलें ।

यहां प्रथम प्रकृति और पुरुषका वर्णन करते हुए अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका स्वरूप दिखलातेहुए श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्र जगत्के कल्याणनिमित्त अर्जुनसे कहते हैं, कि [+ **चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**] इस शरीरमें (च) फिर एक " पुरुषः परः " पर पुरुष (अपि) भी कहा गया है अर्थात् पहले जो प्रकृतिके दो विभाग करके एकका नाम अपरा और दूसरेका नाम परा कर-दिया । इन दोनोंमें परा प्रकृतिको ही पुरुषके नामसे पुकारा है जिसको

+ अर्थको ठीक करनेके तात्पर्य्यसे इस श्लोकका अन्तिम भाग यहां पहले ही ग्रहण कियागया है ।

दूसरे शब्दमें जीव भी कहते हैं भगवानने भी अध्याय ७ श्लोक ५ में कहा है, कि " **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीव-भूताम् महाबाहो ययेदं धार्यते जगत** " अर्थात मेरी जो पराप्रकृति है वह इस अपरा प्रकृतिसे अन्य है सो हे महाबाहो! जीवके नामसे भी पुकारीजाती है और जो इस जगत्को धारण कियेहुए भी है तात्पर्य यह है, कि जीवको भी भगवान्ने अपनी प्रकृतिका एक भाग माना है ।

फिर इसको इस अध्यायमें क्षेत्रज्ञ भी कहा है भाष्यकार शंकराचार्यने भी इस तेरहवें अध्यायका भाष्य आरम्भ करतेहुए कहा है, कि " **सप्तमेऽध्याये सूचिते द्वे प्रकृती ईश्वरस्य । त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽपरा संसारहेतुत्वात् । पराचान्या जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्षणेश्वरात्मिका । याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रतिपद्यते** " ॥

अर्थ— सातवें अध्यायमें ईश्वरकी दो प्रकृतियां कथन कीगयीं एक तो रज, सत्व, तम त्रिगुणात्मिका। अष्टधा जो पांचों भूत और मन, बुद्धि, अहंकार इन आठोंसे संसारके रचनेका कारण होती है और इस से इतर एक जीवभूता क्षेत्रज्ञ लक्षण करके ईश्वरात्मिका कहीजाती है। इन ही दोनोंसे ईश्वर संसारकी उत्पत्ति, पालन और संहार करता रहता है।

इस भाष्यसे प्रकृति, जीव और ईश्वर इन तीनोंका होना सिद्ध होता है इसी कारण यहां इस २३वें श्लोकमें भी इसी तारतम्यको रखना उचित है।

पहले श्लोकमें जो प्रकृति और जीव दोनोंका वर्णन करआये और यह दिखला आये, कि पंगु और अन्धेके समान इन दोनोंके मिलनेसे सृष्टिका व्यवहार चलरहा है सो इन दोनोंको ईश्वरके अधीन समझना चाहिये। क्योंकि ईश्वरसे जीवको और जीवसे अपरा 'जड' प्रकृतिको प्रत्येक कार्य करनेकी सत्ता प्राप्त होरही है। जैसे आंखसे दर्पणको और दर्पणमें अपने मुखको देखते हैं। यदि आंख न हों तो न दर्पण देखाजावे न दर्पणमें अपना मुख देखाजावे। इसी प्रकार इन तीनोंमें ईश्वरको मुख्यता है। इसी आशयको भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि एक परपुरुष भी इस शरीरमें है अर्थात् जीवके साथ ईश्वर है। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...." दो पक्षी जीव और ईश्वर एक वृक्षपर एक साथ मिलेहुए सखाके समान बैठे हुए हैं जिनमें एक करता और भोगता है और दूसरा देखता रहता है। इसी परपुरुष ईश्वरके विषयमें भगवान् कहते हैं, कि [**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति**] यह परमात्मपुरुष उपद्रष्टा है, भर्ता है, भोक्ता है और महेश्वर है। परपुरुषके इन विशेषणोंका स्वरूप सर्वसाधारणके कल्याणनिमित्त विलग-विलग कर स्पष्टरूपसे दिखलाया जाता है।

१. **उपद्रष्टा**— जैसे बहुतेरे यजमान और पुरोधा मिलकर किसी यज्ञका सम्पादन करते हैं तो उस समय एक निरीक्षक जो यज्ञके कार्यमें कुशल और चतुर होता है उनके समीप बैठकर उनके हवन इत्यादि कर्मोंके दोष और गुणोंको चुपचाप देखा करता है ऐसे ही

वह ईश्वर जो परमपुरुष है इन अपनी दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंके व्यवहारोंको बैठा २ देखा करता है इसी कारण उसे उपद्रष्टा कहते हैं ।

२. अनुमन्ता— फिर वह पुरुष कैसा है, कि " अनुमन्ता " अनुमति देनेवाला है अर्थात् जो व्यवहार करनेवालोंको व्यवहार करतेहुए निवारण न करे सो वह ईश्वर तटस्थ (इनके समीप) रहकरे इनके कार्योंका साक्षीभूत होताहुआ भी रोकता नहीं है इसी लिये अनुमन्ता कहाजाता है । जैसे कोई न्यायकर्ता, राजा, महाराजा वा उसका अधिकारी दो पुरुषोंको मार्गमें लडतेहुए देखताहुआ चलाजाता है पर वह उन्हें रोकता नहीं है क्योंकि वह जानता है, कि इन दोनोंकी लडायी मेरे पास न्याय करानेके लिये आवेगी तब मैं जैसा उचित देखूँगा करूँगा । इसी प्रकार वह साक्षीरूप परपुरुष इनके व्यवहारमें कुछ नहीं बोलता है । उपस्थित होनेके समय न्यायानुसार जैसा उचित होता है करता है । श्रुतिः— " ॐ अनुमन्ता साक्षी च उपद्रष्टानुद्रष्टानुमनसैष आत्मा " ।

अर्थ— यह आत्मा ही अनुमन्ता है, साक्षी है, उपद्रष्टा और अनुद्रष्टा है ।

३. भर्ता— फिर वह कैसा है, कि " भर्ता " इन दोनोंका भरण पोषण करनेवाला है अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका

जो साधन है अर्थात् देह और इन्द्रियोंका समुदाय जो चैतन्यके आभाससे युक्त होकर कार्य सम्पादन करता रहता है तिस समुदायको जो अपनी सत्ता और स्फुरणासे पोषण करे उसे " भर्ताके " नाम से पुकारते हैं।

४. भोक्ता— फिर वह परपुरुष "भोक्ता" भी है अर्थात् प्रकृति और जीवके कर्तव्यसे जो सुख, दुःख इत्यादि भोगनेवाली वृत्ति उत्पन्न होती है उस वृत्तिको अपनी सत्तासे प्रकाश करनेवाला है। इसका तात्पर्य यह है, कि जीवके समान यह परपुरुष सुख दुःखका भोगनेवाला नहीं है पर उसके संग रहनेसे उस सुख दुःखको उपलब्ध करके उससे फलोंका ज्ञाता होता है इसीसे उसको भोक्ता कहते हैं यथार्थमें वह भोक्ता नहीं है। अतएव भगवान् कहते हैं, कि वह महेश्वर है और परमात्मा है। अर्थात जितने ब्रह्मादि देव इस संसारमें ईश्वरके नामसे पुकारेजाते हैं उन सबोंका भी वह ईश्वर है। प्रमाण—

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।"

(योगसूत्र अ० १ सूत्र २)

अर्थात् सो महेश्वर ब्रह्मादि देवोंका भी गुरु है क्योंकि वह अनादि होनेके कारण काल करके अवच्छिन्न नहीं है। इसीसे श्रुतियोंने इसे " महतो महीयान " बडेसे भी बडा कहकर पुकारा है। फिर उसे परमात्मा भी कहते हैं जिसके विषय भगवान् भी आगे कहेंगे, कि " उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः " (अ० १५ श्लो० १०) अर्थात इस प्रकृति और जीव नाम क्षेत्रज्ञसे इतर एक परपुरुष है जो परमात्मा कहागया है।

शंका— आत्मा और परमात्मा भिन्न नहीं है उसी आत्माको तमोगुणप्रधान होनेसे जीव कहते हैं और सत्वगुणप्रधान होनेसे ईश्वर। जब यह महेश्वर उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता होकर जीवके संग निवास करता है तो उसके पाप पुण्यके भोगनेमें फँस क्यों नहीं जाता ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि पुरुष और परपुरुष अर्थात् जीव और महेश्वर ये दोनों समान तत्त्व हैं । पर उसी चैतन्यात्मा महेश्वर परपुरुषकी जितनी सत्तामें अहंकारका अभिनिवेश होता है अर्थात् जहांतककी सत्ता अहंकारको प्रकाश करती है वहां तककी सत्ताको जीव कहते हैं जो इस अहंकार ही के कारण सुख, दुःख इत्यादिका भोक्ता कहाजाता है ।

जैसे सूर्य और चन्द्र ग्रहणके समय जितना भाग सूर्यका चन्द्रमासे छिपजाता है वा चन्द्रमाका पृथ्वीसे छिपजाता है उतने भागको अज्ञानीजन राहुसे ग्रसित कहते हैं। अरु बहुतेरे मूर्ख तो ऐसा भी समझते हैं, कि सूर्य और चन्द्रको राहुने टुकडे-टुकडे करडाला है पर यथार्थ पूछो तो सूर्य वा चन्द्रका रत्तीमात्रभी अंश ग्रसित नहीं होता और न काटाजाता है केवल हम पृथ्वीनिवासियोंकी आंखसे उतने भागकी ओट होजाती है इसलिये हमारी आँखकी उपाधिके कारण ग्रहणका बोध होता है यथार्थमें सूर्य चन्द्र दोनों सदा एकरस प्रकाशित हैं इनमें कहीं कुछ भी विकार नहीं होता । इसी प्रकार उस परपुरुषको सदा एक रस प्रकाशित जानो । पर यहां जो जीव कहदिया सो केवल

अहंकाररूप दृष्टिकी उपाधिसे कहदिया इतना ही नहीं वरु उस महेश्वरको जो उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता चार विशेषणोंसे विभूषित किया है सो चारों क्रमशः एक दूसरेकी उत्तरोत्तर अवस्थाओं के भेदसे कहेगये हैं ।

जैसे जब सायंकाल होना आरम्भ होजाता है तब पहले सूर्यकी किरणें मलीन होतीहुई देखपडती हैं फिर सूर्य किरणोंसे हीन होता हुआ देखपडता है पश्चात् सूर्यास्त होनेपर कुछ काल आकाशमें अरुणता दिखायी देकरे कुछ श्यामसा होजाता है जिसे सन्धिकाल बोलते हैं और सब प्राणीमात्र शोर मचाने लग पडते हैं, कि सूर्यदेव डूबगया अँधियाली होगयी । पर यथार्थ पूछो तो सूर्य तो ज्योंका त्यों जैसे मध्यान्ह कालमें था वैसा ही सायंकाल और रात्रिमें भी है सूर्यमें तो रंचकमात्र भी विकार नहीं होता ज्योंका त्यों सदा निर्विकार रहता है केवल हम पृथ्वीनिवासियोंकी आंखोंकी उपाधिके कारण चार प्रकारकी अवस्थाएं बदलती हुई देख पडती हैं । इसी प्रकार वह महेश्वर परमात्मा परपुरुष तो सदा एक रस है उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं होता पर ये जो उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और भोक्ता चार अवस्थाएं कही गयी हैं वे केवल प्रकृतिजन्य अहंकारकी उपाधिसे कहीगयी हैं तिनमें प्रथम उपद्रष्टाकी अवस्था उत्तम है क्योंकि इस अवस्थामें केवल अहंकारको उस ब्रह्मसत्ताकी समीपता होती है और अनुमन्ताकी अवस्था मध्यम है क्योंकि इस अवस्थामें अहंकारकी अधिक समीपता होती है फिर भर्ताकी अवस्था अधम है क्योंकि इस अवस्थामें अहंकारका स्पर्श होजाता है फिर भोक्ताकी दशा अधमाधम है इसमें तो

सारा अहंकार उस तेजसे भरजाता है इसलिये जीव कहलाकर सुख-दुःखका भोगनेवाला वा उपलब्धा कहलाता है। ये सब विकार प्रकृति की उपाधिसे हैं यथार्थमें वह निर्विकार महेश्वर परमात्मा तो एक रस है न उपद्रष्टा है, न अनुमन्ता है, न भर्ता है और न भोक्ता है।

भगवान् श्लोक ४ में चार बातोंके समझानेकी प्रतिज्ञा करचुके थे अर्थात् "तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्। स च यो यत्प्रभावश्च····" इनका तात्पर्य अर्जुनको स्पष्टरूपसे समझानेको कहचुके थे उस अपनी प्रतिज्ञाको यहांतक पूर्ण करदिया ॥ २३ ॥

अब इस पुरुष और प्रकृतिके जाननेवालेको क्या लाभ होता होता है सो कहते हैं—

मू०— य एवं वेत्ति * पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २४

पदच्छेदः— यः (जिज्ञासुः) एवम् (यथोक्तप्रकारेणोपदेशादिरूपेण) पुरुषम् (जीवेश्वरादिसर्वकल्पनाऽधिष्ठानम) [तथा] गुणैः (सुखदुःखादिविकारैः) सह, प्रकृतिम् (अनाद्यनिर्वाच्यां सर्वाऽनर्थोपाधिभूतामविद्याम्) च, वेत्ति (साक्षाज्जानाति) सः, सर्वथा (सर्वस्मिन् काले) वर्तमानः (प्रकृतिजन्यकार्येष्ववस्थितः) अपि, भूयः (पुनः) न, अभिजायते (देहान्तराय नोत्पद्यते । देहान्तरं न गृह्णाति) ॥ २४ ॥

---

* यहां " पुरुषः " कहनेसे भगवान्का तात्पर्य दोनों पुरुषोंसे है अर्थात् सामान्य क्षेत्रज्ञ और विशेष क्षेत्रज्ञ जिसे जीव और ईश्वर भी कहते हैं ।

पदार्थः— (यः) जो अधिकारी (एवम्) उपर्युक्त प्रकारसे (पुरुषम्) पुरुषको (गुणैः सह) सुखदुःखादि गुणोंके साथ (प्रकृतिम्) सर्वप्रकारके अनर्थोंकी करनेवाली त्रिगुणात्मिका मायाको (च) भी (वेत्ति) याथातथ्यसे जानता है (सः) सो प्राणी (सर्वथा) भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें (वर्तमानः) प्रकृतिजन्य सब कार्योंमें प्रवृत्त रहताहुआ (अपि) भी (भूयः) फिर (न अभिजायते) शरीर छोडनेके पश्चात् जन्म नहीं लेता अर्थात् ऐसा प्राणी जन्ममरणसे छूट जाता है ॥ २४ ॥

भावार्थः— श्रीराजीवलोचन सकलदुःखविमोचन सच्चिदानन्द आनन्दकन्द जो प्रकृतिपुरुष तथा परपुरुष अर्थात् क्षेत्र (शरीरसंघात) और व्यष्टिमात्र क्षेत्रज्ञ (जीव) एवं समष्टि विहित क्षेत्रज्ञ (महेश्वर) इन तीनोंका वर्णन ऊपर करचुके हैं उसी विषयका उपसंहार करते- हुए कहते हैं, कि [य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह] जो प्राणी एवम्प्रकार पुरुष और प्रकृतिको उसके गुणों सहित जानता है अर्थात् दोनों प्रकारके क्षेत्रज्ञोंको और इस प्रकृति नामा मायाको जानता है तात्पर्य यह, कि ब्रह्म, माया और जीव तीनोंका पूर्ण बोध रखता है वह प्राणी [सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते] सदा कार्योंमें वर्तमान रहनेपर भी उन कार्योंसे अर्थात् उनके फलोंसे लिप्त न होनेके कारण शरीर छूटनेके पश्चात्-फिर किसी गर्भमें जन्म नहीं पाता क्योंकि ज्ञान उदय होजानेसे उसके सब पूर्वजन्मार्जित (संचित) कर्म नष्ट होजाते हैं ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि उसका फिर किसी शरीर में ज़न्म नहीं होता ।

पहले भी भगवान बार-बार इस विषयको कहते चलेआरहे हैं, कि ज्ञानियोंका पुनर्जन्म नहीं होता क्योंकि उनके सब कर्म ज्ञानाग्निमें भस्म होजाते हैं और वे मुझमें समाजाते हैं । (देखो अ० ४ श्लोक ६, श्लोक ३३,३७, अ० ५ श्लोक १७, अ० ८ श्लोक १५, १६, २१)

शंका— वेद वेदान्तसे यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानीको प्रारब्ध-कर्म भोगना ही पडता है तो क्या कारण है, कि उसे अपने संचित-कर्म नहीं भोगने पडेंगे ?

समाधान— ऐसो शंका मत करो! भगवानका कहना तीन काल में भी अयुक्त नहीं होसकता सुनो ! मैं जो कहता हूं उसपर विचार-पूर्वक ध्यान दो प्रमाण श्रुतिः— " ॐ ❀ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे " (मु० २ ख० २ श्रु० ८)

अर्थ— ज्ञानीको उस पर अपर ब्रह्मस्वरूपमें दृष्टि होनेके कारण इसके सब संचितकर्म नष्ट होजाते हैं भाष्यकारने भी इस श्रुतिका यही अर्थ किया है ।

फिर " तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्य-मुपैति " (मु० ३ ख० १ श्रुतिः ३)

❀ क्षीयन्ते— निवृत्तिविषयस्य यानि विज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनानि जन्मान्तरे च प्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तिसहभावीनि च क्षीयन्ते कर्माणि । (भाष्यकाराः)

अर्थ— जब ज्ञानी उस परब्रह्म जगदीश्वरको देखता है तब वह अपने पूर्व जन्मार्जित समस्त पाप पुण्यको नाश करके निरंजनस्वरूप अर्थात् सर्वक्लेशरहित परमपुरुषको प्राप्त होता है ।

श्रुतिः— " एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति " (छां० उत्तरे प्र० ६ खं० १४ श्रु० २)

अर्थ— आचार्यवान् पुरुष इस प्रकार जानता है, कि उसको यह शरीर तब ही तक वर्तमान है जब तक उसके प्रारब्धकर्मोंका भोग नहीं होजाता भोगनेके पश्चात् तहां ही सत्को प्राप्त होजाता है ।

अर्थात् संचितकर्म भोगनेके लिये फिर अगले जन्मोंको नहीं पाता । श्रुतिः— " ॐ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते " (छां० अ० ५ खं० २४ श्रु० ३)

अर्थ— जैसे मूंजकी तूलिका (भूआ) आगमें डालनेसे झट भस्म होजाती है ऐसे इस प्राणीके सब संचित पाप पुण्य ज्ञानाग्नि द्वाराभस्म होजाते हैं। यहां पाप शब्द पुण्यका भी उपलक्षण है। ये तो मैंने तुमको श्रुतियोंके प्रमाणोंसे सुनाये अब युक्तियोंसे सुनो !

किसी वस्तुका आरम्भ बिना बीजके नहीं होता तो पहले विचारना चाहिये, कि इन कर्मोंका बीज क्या है !

तहां योगसूत्र कहता है, कि " अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः " (योगसूत्र अ० १ पाद २ सू० ३) अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश कहेजाते हैं

इनही पांचोंके एक संग होनेसे कर्मोंका बीज बनता है जिसे क्लेशके नामसे पुकारते हैं। क्लेशको ही कर्मोंका बीज कहते हैं।

अब इन पांचोंके स्वरूपका विलग-विलग वर्णन कियाजाता है—

१. अविद्या — "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" (योगदर्शन पा० २ सू० ५)

अर्थ— जो अनित्य है उसमें नित्य, जो अशुचि है उसमें शुचि, जो दुःख है उसमें सुख और जो अनात्मा है उसमें आत्मबुद्धिका होना अविद्या है। यही अविद्या इस सम्पूर्ण संसारका कारण है अविद्याने ब्रह्मासे कीट पर्यन्तकी रचना करली है इसी कारण इस जीवको सब बातें प्रतिकूल भासती हैं। अर्थात् यह संसारे जो अनित्य है नश्वर है मिथ्या है उसे यह जीव इसी अविद्यावश होकर नित्य जानता है। इसी प्रकार इस अपने अनित्य शरीरको जो महा घोर मलमूत्रका भण्डार अपवित्र है उसे पवित्र जानकर तेल फुलेल सुगन्धादिका लेपन करता है। यह जगत और अपना शरीर अनात्मा है उसे आत्मा करके मानना अविद्या है इसीको दूसरे शब्दमें माया कहते हैं। सर्वप्रकारके अनर्थोंका यही कारण है। इसी अविद्यासे प्राणी अपने नित्य शुद्ध मुक्त स्वरूपको भूलाहुआ उसी माहेश्वरी इन्द्रजालमें फँसाहुआ है।

२. अस्मिता— "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता"

(योगद० द पाद २ सू० ६)

अर्थ— दृक् शक्ति जो पुरुष और दर्शन शक्ति जो प्रकृति दोनोंको एक जाननेको " अस्मिता " कहते हैं ।

पहले जो पुरुष और प्रकृतिकी एकता वर्णन करआये हैं उसमें अपने चेतन आत्मा और जड प्रकृति दोनोंको एक समान जानना अर्थात् ऐसा विचारना, कि मैं पापी हूं, दुःखी हूं इत्यादि । इसीको अस्मिता कहते हैं । तात्पर्य यह है, कि अपने शरीरमें जो अहंबुद्धि है वही अस्मिता है ।

३. रागः— " सुखानुशायी रागः " (योगसू० पाद २ सू० ७) पहले किसी विषयसे सुख उत्पन्न होचुका है उसीकी स्मृति अन्तःकरणमें बनी रहनेके कारण फिर उसी विषयके सम्मुख होनेसे अथवा उस की समान जातिका कोई अन्य विषय सम्मुख होनेसे जो उससे मिलनेकी इच्छा होती है उसे राग कहते हैं । जैसे एक बार किसी स्त्रीसे सुख मिलनेके पश्चात् फिर उसी स्त्रीसे अथवा दूसरी स्त्रीको देखकर जो कामसुख स्मरण होआता है इसलिये जो उससे मिलने की इच्छा होती है उसे राग कहते हैं ।

संक्षिप्त अर्थ यह है, कि किसी विषयसुखकी प्राप्तिकी इच्छाको राग कहते हैं ।

४. द्वेषः— "दुःखानुशायी द्वेषः"— (योगसू० पा० २ सू० ८)

जैसे ऊपर मिलनेका अर्थ कियागया उसीके प्रतिकूल जो किसी विषयको सम्मुख आनेसे द्वेष वा घृणा उत्पन्न हो उसे 'द्वेष' कहते हैं । जैसे किसी व्याघ्र, सर्प इत्यादि अथवा अपने शत्रुके सम्मुख होनेसे जैसी दशा होती है ।

५. अभिनिवेशः-- " स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः " (पात० पा० २ सू० ६)

अर्थ— विद्वान वा मूढ सब जीवोंको जो स्वरसवाही मृत्युका त्रास है उसीको अभिनिवेश कहते हैं अर्थात यह मरणत्रास जिस प्रकार विद्वानको है उसी प्रकार मूर्खको भी है । इसलिये यह स्वरसवाही कहागया है क्योंकि अनेक जन्मोंके मरणदुःखके अनुभव से उत्पन्न जो वासनासमूह तिसीसे यह प्रवाहित होनेवाला है । दूसरे प्रकार यों भी अर्थ करसकते हैं, कि इसी अविद्याकी अँधियालीके कारण अपने निकलनेका द्वार जो ज्ञान तिसका पता नहीं लगता और संचितका नाश नहीं होता ज्ञानीके पांचों कर्मबीज ज्ञानाग्निके भडकते ही भस्म होजाते हैं जब बीज ही नष्ट होगया तो आगे उसके अंकुर कहांसे आवे, जब अंकुर ही नहीं हुआ तो उसमें डाल पत्ते कहांसे लगें, जब डाल पत्ते ही नहीं लगे तो फूल फल कहांसे उत्पन्न हों जब फूलफल ही उत्पन्न नहीं हुए तो उनका भोग किसे होगा । इसलिये यह सिद्धान्त है, कि क्षेत्र नहीं रहने से बीजका होना निरर्थक है और बीजके नहीं होनेसे क्षेत्रका होना निरर्थक है सो ज्ञानीके बीज और क्षेत्र दोनों नष्ट होजाते हैं इसलिये संचितका भोग ज्ञानीको नहीं होता। शंका मत करो !

अब बुद्धिमान विचारकर देखें, कि अविद्यासे लेकर अभिनिवेश पर्य्यन्त जो पांच क्लेश (कर्मोंके बीज) हैं ये एक दूसरेके साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं एकका दूसरा कारण होता चला जाता है । अविद्यासे अस्मिता, अस्मितासे राग द्वेष और राग द्वेषसे अभि-

निवेश। पर ये पांचों अज्ञानीको होते हैं ज्ञानीको नहीं ! अज्ञान-दशामें इन पांचोंका निवास इसी शरीरके अवयवोंमें रहता है। जिसके द्वारा इससे अनेकानेक शुभाशुभ कर्म होते चले जाते हैं और अज्ञानदशामें जितने जन्म होते हैं सबोंमें पाप और पुराय उत्पन्न होते चले जाते हैं। इसी कारण इस जीवने अनादिकालसे जितने कर्म किये हैं उनका नाम संचित है और उसी संचितसे जितने कर्मोंके ऊगनेके लिये शरीररूप क्षेत्र तयार होता है, उतने ही कर्म-बीज इसमें फलने लगजाते हैं और उनका भोग होने लगजाता है इसीको प्रारब्धके नामसे पुकारते हैं। यदि क्षेत्र न हो तो चाहे करोडों मन धानका बीज घरमें सहस्रों कल्प पर्य्यन्त रखे रहिये उनका कहीं अंकुर ही नहीं होवेगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जबतक अविद्या स्वप्नके गन्धर्वनगर के समान व्याप रही थी तब ही तक ये पांचों क्लेश जो कर्मोंके करने और भोगनेके बीज हैं वर्तमान थे और पाप पुराय घेरे हुए थे। भगवत्कृपासे प्राणीकी आंखें खुल गयीं और सब उपद्रव इस प्रकार उडगये जैसे वायुसे बादल आकाशमें उडजाते हैं। अभिनिवेशरूप मेघका गर्जना और अविद्यारूप पानीका बरसना उस शान्तिरूप प्रचंड वायुके वेगसे एकबारगी नष्ट होजाता है।

अथवा यों कहो, कि जैसे स्वप्नमें किसी साधुसे अनायास गो-हत्या होगयी अब वह साधु जबतक स्वप्नमें है उस गोहत्याके पापसे डरता कांपता प्रायश्चित्त निमित्त पण्डित और होताओंके द्वारपर मारा

फिरता है । प्रायश्चित्त करनेका विचार ही कररहा है इतनेमें सुनता है, कि गोहत्याका प्रायश्चित्त नहीं है । तब घबडाता है और थर २ कांपता है गोहत्या छुटनेका कोई उपाय वा विशेष यत्न उसे नहीं सूझ पडता पर जब ही उसकी आंखें खुल जाती हैं और जग पडता है तब ही गोहत्या आपसेआप भस्म होजाती है । इसी प्रकार मायाकी निद्रासे ज्ञानीकी आंखें खुल जानेके कारण स्वप्नगरके समान संपूर्ण संचितनगरका नाश होजाता है । प्रमाण—

" तदधिगम उत्तरपूर्वाद्धयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्"

(ब्रह्मसू० अ० ४ पा० १ सू० १३)

अर्थ— तिस ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होनेसे आगामी पापका सम्बन्ध नहीं होता है और संचितकर्मका नाश होजाता है क्योंकि ज्ञानी के पांचों क्लेश अर्थात् कर्मबीज चित्तसे हट जानेके कारण कोई पाप उसे छूता ही नहीं । तात्पर्य यह है, कि ज्ञानी कोई पापकर्म करता ही नहीं, यदि यह कहो कि यह संसार पापका मूल है सम्भव है, कि काजलकी कोठडीमें रहनेसे कभी न कभी कालिमा लगजावे अर्थात् किसी पापसे छुआछूत होजावे तो क्या वह उसको स्पर्श नहीं करेगा ? तो उत्तर यह है, कि नहीं स्पर्श करेगा ! जैसे संचित नहीं स्पर्श करता ऐसे आगामी भी नहीं स्पर्श करेगा । प्रमाण श्रु०—" **यथा पुष्करपलाशआपो न श्लिष्यन्त एवमेवं विदितपापकर्म न श्लिष्यते"**

अर्थ— जैसे कमलपत्रको जल नहीं स्पर्श करता है ऐसे ब्रह्मज्ञानीको पापकर्म स्पर्श नहीं करते पर इससे तुम ऐसा भी मत समझना, कि

ज्ञानी पाप करता जावे संसारके सर्वप्रकारके विषयोंको भोगता जावे और फिर भी मुक्त रहे ऐसा नहीं जितने पापकर्म हैं उनको ज्ञानी तो छूता ही नहीं पर हां शरीर वर्तमान रहनेके कारण किसी समय चूक जावे तो चूके हुए अश्वके समान फिर उससे सँभल जाता है और अपना मार्ग लेता है क्योंकि उस कर्ममें उसका अभिनिवेश नहीं होता इसी कारण वह पद्मपत्रवत् स्पर्शरहित रहता है ।

यदि शंका हो, कि केवल उस ज्ञानीके पाप ही उक्तप्रकार नष्ट होजाते हैं और स्पर्श नहीं करते तो क्या पुण्य भी नष्ट होजाते हैं और स्पर्श नहीं करते ? तो इस प्रश्नका भी उत्तर सुनो " इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु " (ब्रह्मसू० पा० १ सू० १४) अर्थात् ज्ञानीको जैसे पापका असम्बन्ध और विनाश है इसी प्रकार पुण्यकर्मोंका भी जानना चाहिये इसी कारण पुण्य और पापोंके नाश होजाने से शरीर पतन होनेके पश्चात् ज्ञानीको मुक्ति प्राप्त होती है। शंका मत करो !

शंका— संचितके नाश होनेके पश्चात् मुक्ति लब्ध होती है अथवा मुक्तिलाभ होनेके पश्चात् संचितका नाश और आगामीका असम्बन्ध होता है ?

समाधान— जैसे प्रथम प्रकाश होनेसे अँधियालीका नाश होता है इसी प्रकार ज्ञान उदय होनेसे कर्मोंका नाश होता है । यदि शंका हो, कि ज्ञान होनेसे कर्मोंके नाश पर्यन्त जो समय बीतता है उस समयमें ज्ञानीसे यदि कोई कर्म होजावे तो उस कर्मकी क्या दशा होगी ? तो उत्तर यह है, कि ज्ञानके उदय और कर्मोंके नाशके मध्यमें रंचकमात्र भी समय नहीं रहता । हाथमें दीपक लेकर अँधेले घरमें घुसते चलेजाओ

जैसे २ आगे बढते जावोगे प्रकाशके साथ-साथ अन्धकार दूर होता चलाजावेगा मध्यमें समयका अभाव है ।

बहुतेरे प्राणी जो ज्ञानी नहीं हैं केवल वाचा करके ज्ञान छांटा करते हैं और अपनेको ज्ञानी समझते हैं उनकेलिये उपर्युक्त सिद्धान्त नहीं है वे तो कर्मके फांसमें आप ही सदा फँसे रहेंगे ।

ज्ञानी किसे कहते हैं ? सो भी सुनो ! ज्ञानीके गुण और लक्षण श्रीसच्चिदानन्द कृष्णचन्द्र बार २ इस गीताशास्त्रमें कहते चले आरहे हैं । सबसे पहले भगवत्स्वरूपकी ओर प्रीति हो,भगवान्के प्राप्त करनेकी श्रद्धा हृदयमें हो, अनन्यचेता हो अर्थात् भगवत्को छोड अन्य किसी देवता देवीको भी नहीं जानता हो सो भगवान् पहले कह आये हैं, कि " अनन्यचेताः सततं यो मां " से " पुनर्जन्म न विद्यते " पर्य्यन्त ।

(अध्याय ८ श्लो० १४ से १६ तक)

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो सब आश्रय छोड भगवत्को भजता है उसे फिर जन्म नहीं लेना पडता । फिर बार-बार शंका मत करो !

कर्म भस्म होना बाजारकी हलवा पूरी मत समझो वाचक ज्ञानी मत बनो सच्चे ज्ञानी होनेकी चेष्टा करो ।

उपर्युक्त सिद्धान्तोंसे भगवान्का इस श्लोकमें यह कथन " न स भूयोऽभिजायते " उस प्राणीका फिर जन्म नहीं होता सर्वप्रकार शंका रहित है ॥ २४ ॥

अब जो ज्ञानीपुरुष संचितके नष्ट हुए मुक्त होजाते हैं उनके विशेष साधनोंका वर्णन भगवान् अगले श्लोकोंद्वारा करते हैं—

मू०— ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२५॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२६॥

पदच्छेदः— केचित् (उत्तमाधिकारिणः । अन्तर्मुखा यतयः) ध्यानेन (शब्दादिश्रोत्रादीनि करणानि मनस्युपसंहृत्य मनश्च प्रत्यगात्मन्येकाग्रं विधाय तैलधारावत् सततावि्छिन्नप्रत्ययेन) आत्मना (संस्कृतेन मनसा) आत्मानम् (अन्तर्यामिणं पुरुषम) पश्यन्ति (साक्षात्कुर्वन्ति) च (तथा) अन्ये (अपरे मध्यमाधिकारिणः सांख्ययोगिनः) सांख्येन (प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यदर्शनेन अर्थात् निदिध्यासनपूर्वभाविनां श्रवणमननरूपेण नित्यानित्यविवेकादिपूर्वकेण इमे गुणत्रयपरिणामा अनात्मानः सर्वे मिथ्याभूतास्तत्साक्षिभूतो नित्यो विभुर्निर्विकारः सत्यः समस्तजडसम्बन्धशून्य आत्माहमित्येवं चिन्तनेन) योगेन (चित्तैकाग्रतापादकेन) अपरे (मन्दाधिकारिणः कर्मयोगिनः) कर्मयोगेन (फलाभिसंधिरहितेन क्रियमाणेन कर्मणा ईश्वराराधनेन) [अन्तर्यामिणम् पश्यन्ति] अन्ये (अपरे मन्दतराधिकारिणः ऊहापोहकौशलहीनाः) तु, एवम् (उक्तं ध्यानाद्युपायम्) अजानन्तः (अनभिज्ञाः सन्तः) अन्येभ्यः (आचार्येभ्यः कारुणिकेभ्यो गुरुभ्यः) श्रुत्वा (याथातथ्योपायं कर्णगोचरं कृत्वा) उपासते (उपासनामार्गं चाधिगत्य यथोक्तप्रकारेण चिन्तयन्ति) ते, अपि, च, श्रुतिपरायणाः (श्रुति श्रवणं तदेव परं अयनं मोक्षसाधनं येषां ते श्रद्धा-

नतया गुरूपदेशश्रवणमात्रपरायणाः) मृत्युम (मृत्युयुक्तं संसारसागरम) एव (निश्चयेन) अतितरन्ति (अतिक्रामन्ति) ॥ २५, २६ ॥

पदार्थः— (केचित) कोई २ उत्तम अधिकारी (ध्यानेन) ध्यानयोग द्वारा (आत्मनि) अपने शरीरमें वा बुद्धिमें (आत्मना) अपने पवित्र मनसे (आत्मानम) उस अन्तर्यामी परमात्माको (पश्यन्ति) देखते हैं अर्थात् साक्षात्कार करते हैं (अन्ये) और दूसरे जो मध्यम अधिकारी हैं (सांख्येन योगेन) सांख्ययोगके साधनसे उसे देखते हैं फिर (अपरे) तीसरे जो मन्द अधिकारी हैं (च) वे भी (कर्मयोगेन) कर्मयोगके साधन द्वारा उस परमात्माका साक्षात्कार करते हैं फिर (अन्ये) इतर जो चौथे मन्दतर अधिकारी हैं (तु) वे तो (एवम) उक्तप्रकारके ध्यानयोगादि साधनोंको (अजानन्तः) स्वयं नहीं जानते हुए (अन्येभ्यः) दूसरोंसे अर्थात् अपने गुरुदेवसे (श्रुत्वा) उपदेश श्रवण करके (उपासते) उस महेश्वरकी उपासना करते हैं (तेपि च) वे भी एवम प्रकार सदा (श्रुतिपरायणाः) श्रुतिपरायण होकर अर्थात अन्य किसी साधनको न जानकर केवल गुरुमुखद्वारा श्रवण करना ही अपना परमपुरुषार्थ समझते हुए (मृत्युम्) इस मृत्युसे भरे हुए संसारसागरको (अतितरन्ति) तरजाते हैं ॥ २५, २६ ॥

भावार्थः— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द ब्रजचन्दने जो पूर्व श्लोकमें यों कहा, कि ज्ञानी फिर जन्म नहीं पाता तिस ज्ञानकी प्राप्ति निमित्त भिन्न २ प्रकारके साधनोंका वर्णन करतेहुए कहते हैं,

कि हे अर्जुन ! [ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना] कोई-कोई अधिकारी ध्यानयोग द्वारा अपने शरीर वा अन्तःकरणमें शुद्ध मनसे उस अन्तर्यामी परमात्माको देखते हैं अर्थात् अनेक जन्मोंके कर्मोंके संस्कारसे उनकी बुद्धि ध्यानयोगको पहुंच जाती है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियोंको अपने विषयकी ओरसे खैंचकर मनके साथ एकाग्र कर फिर उस मनको आत्मामें लगा जो निरन्तर उस परमात्माका चिन्तन करते हैं वे ही ध्यानयोगको प्राप्त करते हैं।

इसी ध्यानयोगके विषय महर्षि पतंजलि अपने योगदर्शनमें कहते हैं, कि "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम" अर्थात् उस साधकने गुरुके उपदेश द्वारा जिस स्वरूपमें धारणाका अभ्यास किया था उसी में सम्पूर्ण वृत्तियोंका सर्वत्रसे सिमटकर एक होजाना ध्यान कहलाता है अर्थात् अपनी मनोवृत्ति जो वाह्यमुख रहकर विजातीय पदार्थोंको स्वजातीय समझ रही थी अर्थात् अनात्माको आत्मा समझ रही थी उसी विजातीयसे हटाकर केवल अपनी स्वजातीय आत्माकार-वृत्तिमें लेआना ध्यान कहलाता है। इसी ध्यानके द्वारा प्राणी उन्नति करते-करते समाधि तक पहुंचजाता है अर्थात् भगवत्स्वरूपमें लय होजाता है फिर तो उसका कहना ही क्या है ? इसी साधककी गणना उत्तम अधिकारियोंमें है।

अब भगवान कहते हैं, कि [अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे] इनसे इतर जो दूसरे अधिकारी हैं वे सांख्ययोगसे

उस महेश्वरको अपनेमें देखते हैं और इनसे भी इतर जो मन्द अधिकारी हैं वे कर्मयोगद्वारा उस महेश्वरको अपनेमें पाते हैं अर्थात् प्रकृति और पुरुषकी जो विलक्षणता है उसे पूर्णप्रकार समझ कर सांख्ययोगवाले अपने स्वरूपको समझजाते हैं। तात्पर्य यह है, कि निदिध्यासनके अभ्याससे पहले जो श्रवण, मनन, चिन्तन इत्यादि साधन हैं, उनके द्वारा ऐसा जानलेते हैं, कि प्रकृतिके जितने कार्य ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त फैलेहुए हैं सब अनित्य हैं तिनका साक्षीभूत नित्य, विभु और निर्विकार सर्वसम्बन्धशून्य जो आत्मा सो मैं ही हूं। ऐसा अनुभव करतेहुए जो अपने स्वरूपको अपनेमें देखते हैं अथवा सांख्ययोग जो तत्वविचारे उस विचार ही द्वारा अपनी बुद्धिमें निर्मल मनसे उस अन्तर्यामी महेश्वरके साक्षात्कार करनेका यत्न करते हैं।

इन सांख्ययोगवालोंके लिये किन-किन साधनोंकी आवश्यकता है और उन साधनोंका अभ्यास किस प्रकार कियाजाता है? सो भगवानने इस गीताशास्त्रके दूसरे अध्यायमें विस्तारपूर्वक कहसुनाया है इस कारण यहां संक्षिप्तरीतिसे कथन कियागया सो सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय सांख्ययोगके नामसे ही पुकारा गया है।

अब भगवान् तीसरे प्रकारके अधिकारीके विषय कहते हैं, कि " कर्मयोगेन चापरे " इन सांख्ययोग वालोंसे इतर जो अधिकारी हैं वे कर्मयोगके द्वारा उस महेश्वरको अपने आपमें देखते हैं अर्थात् जप, तप, हवन, यज्ञ इत्यादि जितने कर्म हैं सबोंको उस महेश्वरमें अर्पण करनेका नाम कर्मयोग है। तात्पर्य यह है, कि निष्कामकर्मी

का सम्पादन करना ही कर्मयोग कहलाता है जिसके विषय भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " यत्करोषि यदश्नासि " (अध्याय ८ श्लोक २७) अर्थात् हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ आहार करता है, हवन करता है, दान करता है सब मेरेमें अर्पण करदे । फिर तीसरा अध्याय जो कर्मयोगके नामसे पुकाराजाता है तिसमें इस कर्मयोगका उपदेश पूर्णप्रकार करतेहुए भगवान् तीसवें श्लोकमें कहते हैं, कि " **मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा** .... " अर्थात् हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण कर्मोंको मुझ ही में समर्पण करके आत्मामें चित्त स्थिर कर निष्काम और ममतारहित हो सब शोकोंको परित्याग कर शत्रुओंसे युद्ध कर । तहां इस श्लोकमें " युध्यस्व " शब्दका दोनों ओर संकेत है उधर महाभारतके योद्धाओंसे युद्ध करना और इधर कामादि शत्रुओंसे युद्ध करना । तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाचुका है इसलिये यहां संक्षिप्त वर्णन किया ।

अब भगवान कहते हैं, कि [**अन्येत्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते**] ऊपर कथन कियेहुए अधिकारियोंसे इतर जो मन्दतर अधिकारी हैं वे दूसरोंसे सुनकर उपासना करते हैं अर्थात् जो अधिकारी ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग इत्यादिको नहीं समझ सकते हैं वे दूसरे से अर्थात् अपने आचार्य (गुरु) से नाना प्रकारकी शिक्षाओंको श्रवण कर उस अन्तर्यामी सर्वात्मा महेश्वरकी उपासना करते हैं तिनके विषय भगवान् कहते हैं, कि [**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः**] सो जो श्रुतिपरायण हैं अर्थात् श्रीदयासागर गुरु-

देवके समीप जाकर आत्मज्ञान तथा भगवत-स्वरूपका साक्षात्कार करने के निमित्त उनके मुखसरोजसे वचनोंको सुनना ही जो अपना मुख्य पुरुषार्थ समझते हैं वे गुरुवचनश्रवणद्वारा उस महेश्वरको प्राप्त कर इस घोर भवसागरको जिसमें मृत्युरूपी सुरसा जीवोंको निगलने केलिये मुँह पसार बैठीहुई है शीघ्र ही तरजाते हैं।

सो भगवानने भी पहले उपदेश करदिया है, कि " **तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः** " (अ० ४ श्लोक ३४) अर्थात दण्डवत् प्रणाम, प्रश्न और सेवासे तू इस ज्ञानको जानले जो लोग ज्ञानी और तत्त्वदर्शी हैं वे तुझको उपदेश करेंगे।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवानने जो इन दोनों श्लोकोंमें चार प्रकारके अधिकारियोंके भिन्न-भिन्न साधन बताये इन चारोंकी समाप्ति ज्ञान हीमें होती है तहां भगवान कहचुके हैं, कि " **सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते** " (अ० ४ श्लो० ३३) अर्थ— हे पार्थ ! जितने प्रकारके कर्म हैं सब ज्ञानमें जाकर समाप्त होजाते हैं अर्थात सबका अन्तिम फल ब्रह्मज्ञान (ब्रह्मकी प्राप्ति) ही है इस कारण सर्वप्रकारके अधिकारी चलते-चलते ज्ञानमें जाकरे लय करजाते हैं। जिस ज्ञानद्वारा संचित कर्मोंसे छूट भगवतस्वरूपमें प्रवेश करजाते हैं ॥ २५, २६ ॥

अब भगवान यहांसे इस अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त विद्या और अविद्याका भेद दिखलातेहुए विद्याद्वारा अविद्याकी निवृत्ति कर अर्जुनको पूर्ण ज्ञानी बनजानेका उपदेश करते हैं।

मू०— यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— [हे] भरतर्षभ ! (भरतकुलशिरोमणे । अर्जुन !) यावत्, किञ्चित्, स्थावरजङ्गमम् (जडचैतन्यस्वरूपम्) सत्वम् (वस्तु) सञ्जायते (समुत्पद्यते) तत्, क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (विषयविषयिणोः प्रकृतिपुरुषयोः संश्लेषात्) विद्धि (जानीहि) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें शिरोमणि अर्जुन ! (यावत् किञ्चित्) जो कुछ ये (स्थावरजङ्गमम्) स्थावर जो वृक्ष, पर्वत इत्यादि अचर पदार्थ हैं फिर मनुष्य और अश्व इत्यादि जो जंगम अर्थात् एक ठौरसे दूसरे ठौर चलनेवाले (सत्वम्) पदार्थ (सञ्जायते) उत्पन्न होते रहते हैं (तत्) उन सबोंको (क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोग से उत्पन्न हुआ (विद्धि) जान ॥ २७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो इस अध्यायके आरम्भ होते ही प्रकृति और पुरुषके विषय पूछा था उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवानने श्लोक १६ से २५ पर्यन्त प्रकृति पुरुषका भेद अर्जुनके प्रति वर्णन करदिया । अब भगवान् यहांसे इस अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त विद्या (प्रकृति पुरुषके ज्ञान द्वारा अविद्याकी निवृत्ति) का वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [यावत् सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्] इस सृष्टिमें ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने स्थावर जंगम

उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये जो ३३ कोटि इन्द्र, वरुण, कुबेरादि देवगण हैं तथा सूर्य चन्द्र और तारागण हैं फिर इस पृथ्वीपर भी जितने स्थावर तथा जंगम हैं इन सबोंको [**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ !**] हे भरतकुलशिरोमणि अर्जुन ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ जान अर्थात् प्रकृति और पुरुष जिनका वर्णन पहले करचुका हूं उनका परस्पर एकसाथ संयोग होनेसे ये सब उत्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है, कि सारी रचना इन ही दोनोंके सम्बन्धसे होती है।

यहां प्रकृति और पुरुषके कहनेसे भगवान्का तात्पर्य अपरा और परा प्रकृतिसे है जिसके विषय भगवान् अ० ७ में विस्तारपूर्वक वर्णन करआये हैं। क्योंकि क्षेत्रज्ञ कहनेसे जीव और ईश्वर दोनोंका बोध होता है सो इस रचनामें तीनों साक्षी हैं जीव ईश्वर और अष्टधा प्रकृति। जीव और ईश्वरको एकसंग करदेनेसे पुरुष वा क्षेत्रज्ञ कहना पडता है और केवल क्षेत्र वा प्रकृति कहनेसे यह अष्टधा प्रकृतिमात्र (अर्थात् पांचों महाभूत अपने कार्य इस शरीरसंघातके साथ) समझीजाती है। यदि प्रकृतिमें पुरुषका संश्लेश न हो तो केवल जड प्रकृतिसे कुछ भी रचना नहीं होसकती। यदि थोडी देरके लिये मानभी लियाजावे, कि अकेली प्रकृति ही सब कुछ बनाले पर इस बननेसे कुछ लाभ नहीं बिना पुरुष प्रकृतिका बनना न बनना दोनों एक समान हैं क्योंकि जो कुछ वस्तु है उसका देखनेवाला चेतन न हो तो इस रचनाका कुछ भी बोध नहीं होगा बिना चेतनके इसे कौन देखेगा। सूर्यमें प्रकाश है वा नहीं यह कौन समझेगा ? चन्द्रमाकी शीतलताका बोध

किसे होगा ? सुन्दर चमेली, बेला, मालती, मदनबान इत्यादि पुष्पोंकी गन्धका बोध बिना चेतन किसे होगा ? यह सारी रचना जडवत् पिशाच-नगरके समान पडीरहेगी । गंगा, यमुना इत्यादि नदियां लहरेंलेती हुई निरर्थक बहा करेंगी । तात्पर्य यह है, कि सारी रचना निरर्थक समझी जावेगी फिर तो उस महेश्वरका भी बोध करानेवाला कोई न होगा इस कारण विशेष कर एक द्रष्टा ❀ की आवश्यकता है । देखो धूमयानमें यदि चेतनका जडके साथ संयोग न हो तो धूमयान (रेलगाडी) का चलना रुकजावेगा। क्योंकि आग पानीके मिलनेसे एक वाष्प तयार होगया और लोहे लकडीकेमेलसे रेलकी सडकें और गाडियां भी तयार होगयीं पर ये सब आग पानी लोहा लकडी निरर्थक हैं क्योंकि इनसे कुछ भी नहीं बनसकता है जबतक किसी चेतन पुरुषका इनके साथ संयोग न हो ।

यदि किसी गाडीमें स्टीम (वाष्प) भरकर छोडदो पर उसका चलानेवाला चेतन न हो तो वह भागती-भागती जहां स्टीमकी शक्ति कम होगी रुकजावेगी अथवा लुढकतीहुई कहीं जाकर गिरजावेगी इसी कारण इनके साथ एक चैतन्य चलानेवाले (Driver) का संयोग होना अति ही आवश्यक है जो गाडीको ठीक-ठीक स्टेशनोंपर रोकताहुआ पथिकोंको घर पहुंचाता चलाजावे तभी रेलगाडीका बनना सार्थक होगा। इसी प्रकार बिना क्षेत्रज्ञके संयोगके केवल प्रकृतिसे कुछ भी नहीं बन

❀ इसी कारण योगशास्त्रमें दृग्शक्ति अर्थात् देखनेवाली शक्तिको पुरुष और दर्शनशक्तिको प्रकृति कहते हैं और इन दोनों शक्तियोंके संयोगको अस्मिता कहते हैं जो एक कर्मोंका बीज है " दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता " (पहले वर्णन करचुके हैं)

सकता । इसी तात्पर्यको जनानेके लिये सांख्यदर्शनमें कहा है, कि "संहतपदार्थत्वात् पुरुषस्य" (सांख्य० अ० १ सू० ६६) अर्थात् प्रकृतिके कार्योंका परके अर्थ होनेसे पुरुषका बोध होता है जो प्रकृतिके संयोगोंको देखता है और भोगता है । वह ऐसा कहना चाहिये, कि जड प्रकृतिको पुरुष अपनी सत्ता देकर कार्योंका सम्पादन करता है । इस विषयका वर्णन इस अध्यायके श्लोक २० और २१ में होचुका है । अब इस २७ वें श्लोकमें भगवानका यह कहना, कि जो कुछ स्थावर जंगम उत्पन्न होते हैं वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे होते हैं उचित है । पर अब यहां केवल इतना विचार करना है, कि यह जो प्रकृतिपुरुषका सम्बन्ध है वह किस प्रकारका सम्बन्ध है ? क्योंकि सम्बन्ध प्रतियोगी इत्यादिके भेदसे कई प्रकारके होते हैं प्रतियोगी, अनुयोगी, आधाराधेय, विषयविषयी तथा समवायसम्बन्ध इत्यादि (देखो प्रथमव्युत्पत्तिवादीय गदाधरीपुस्तक) सो यहां संयोग (सम्बन्ध) शब्दके उच्चारण करनेसे भगवानका यह अभिप्राय है, कि इन दोनों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञोंका परस्पर जो सम्बन्ध है वह विषयविषयीके नामसे कहा जासकता है अन्य किसी सम्बन्धका यहां प्रवेश नहीं है ।

इसी कारण भगवानका मुख्य अभिप्राय यह है, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञमें जो विषयविषयी सम्बन्ध है वही इस संपूर्ण सृष्टिका कारण है तात्पर्य यह है, कि प्रकृति जो जड उसका जाननेवाला, देखनेवाला जो चेतन आत्मा है सो ही इसका चलानेवाला है एवम्प्रकार इन दोनोंके परस्पर सम्बन्धसे सब कार्य होते हैं । यदि यह कहो, कि प्रकृति तो जड है और पुरुष चेतन है इन दोनों विजातीय पदार्थोंका सम्बन्ध

कैसे बने ? सम्बन्ध तो सजातीय पदार्थोंमें होता है आग और पानी का एक संग संयोग नहीं होसकता क्योंकि दोनोंमें प्रतिकूल धर्म हैं फिर जहां प्रतिकूलता है तहां सम्बन्ध कैसे बने ? ।

तो उत्तर यह है, कि यथार्थ पूछो तो इनमें कोई भी सम्बन्ध नहीं है यह संबन्ध मिथ्या है पर भगवन्नमायाकी कलासे यह सत्य प्रतीत होता है " **जड चेतनहि ग्रन्थि पडिगयी । यद्यपि मृषा छुटत कठिनयी** " (तुलसी) इसी प्रकारके संयोगको " **सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकसंयोग** " कहते हैं अर्थात् सत्य जो क्षेत्रज्ञ आत्मा और मिथ्या जो यह प्रकृतिनिर्मित संसार इन दोनोंका संबन्ध जो यथार्थमें नहीं है, पर अविद्याके कारण भान होता है । जैसे स्वप्नमें जो स्वप्न देखनेवाला गन्धर्वनगर ( ) देखता है उस देखनेवालेको उस गन्धर्वनगरसे कोई संबन्ध नहीं है। इसी प्रकार इस चैतन्य आत्माको जड प्रकृतिका कार्य जो यह संसार तिससे तनक भी संबन्ध नहीं है पर संबन्ध हुआ ऐसा भासता है क्योंकि अविद्या के कारण इस चैतन्य आत्माको अपने स्वरूपके विस्मरण पर्यन्त मोह-निद्राके कारण स्वप्नवत् जगत्की सत्यता प्रतीत होती हैं । पर जग जानेसे अर्थात् अपने स्वरूपके बोध होजानेसे न कहीं प्रकृति है और न कहीं यह संसार है जैसे जगजानेवालेको स्वप्ननगर मिथ्या प्रतीत होता है इसी प्रकार आत्मज्ञानीको यह जगत् मिथ्या प्रतीत होता है ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि इस मिथ्या संसारमें जितनी मिथ्या वस्तु सत्य भास रही हैं सो केवल क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सत्यानृतमिथुनीकरणसंयोगसे भासती हैं ॥ २७ ॥

यहांतक भगवान् अविचाररचितसंसारकी उत्पत्तिका परिचय देकर अब उस संसारसे छूटनेका अर्थात् संसारनिवृत्तिका उपाय जो विद्या तिसका वर्णन करते हैं।

मू०— समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २८

पदच्छेदः— सर्वेषु (ब्रह्मादितृणपर्यन्तेषु) भूतेषु (स्थावरजंगमादिषु परस्परमत्यन्तविषमेषु) समम् (निर्विशेषम्) तिष्ठन्तम् (स्थितिं कुर्वन्तम्) [तथा] विनश्यत्सु (रज्जूरगादिवत् कल्पितत्वाददर्शनं गच्छत्सु) अविनश्यन्तम् (सर्वास्ववस्थास्वदर्शनमगच्छन्तम्) परमेश्वरम् (अन्तर्यामिणम् । सर्गस्थित्यन्तकर्त्तारम्) यः, पश्यति (ज्ञानचक्षुषावलोकयति) सः, पश्यति (यथार्थरूपेणावलोकयति) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (सर्वेषु) ब्रह्मासे लेकर तृण पर्यन्त (भूतेषु) सब स्थावर जंगमोंमें (समम्) समान रूपसे (तिष्ठन्तम्) निवास करनेवाले तथा (विनश्यत्सु) सारी सृष्टिके नाश होनेसे (अविनश्यन्तम्) नहीं नाश होनेवाले (परमेश्वरम्) परमेश्वरको (यः) जो ज्ञानी (पश्यति) देखता है (सः पश्यति) वही यथार्थका देखनेवाला है अर्थात् अन्य देखनेवाले भ्रमात्मक चक्षुसे देखते हैं और वह यथार्थ चक्षुसे देखता है इसलिये वही ज्ञानी-भक्त सच्चा देखनेवाला है ॥ २८ ॥

भावार्थः— भगवान्‌ने जो पिछले श्लोकमें इस संसारकी सारी रचनाको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे निर्माण कियाहुआ कहा

उसकी सत्यतामें ज्ञानियोंको भ्रम न होजावे इस दोषके हटानेके तात्पर्यसे अर्थात् विद्यावालेको अविद्याकी निवृत्ति जतानेके तात्पर्यसे कहते हैं, कि [**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**] जो सब स्थावर जंगमोंमें समानरूपसे निवास करनेवाले परमेश्वरको सदा स्थित देखता है वही यथार्थ देखनेवाला है । अर्थात् ऊपर कथन किये-हुए वाक्यके अनुसार जितनी वस्तु क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे भास-रही हैं उनमें परस्पर भिन्नता देखीजाती है तथा एक दूसरेसे प्रतिकूल धर्म देखाजाता है अर्थात् विषमता देखीजाती है । विचारकर देखो, कि उसी एक क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे तो आग भी बनी है फिर उससे प्रतिकूल पानी भी बना है, उधर आकाश है तो इधर उससे विषम पाताल है, उधर अमृत है तो इधर उससे विषम विष है, उधर सुख है तो इधर दुःख है, उधर सुन्दर स्वरूप देवगण हैं तो इधर घोर भयंकर कुरूप राक्षस भी हैं । मुख्य अभिप्राय यह है, कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञके संयोगसे जितने पदार्थ भास रहे हैं सबोंमें परस्पर विषमता है पर इनमें विषमताहोनेपर भी श्यामसुन्दर सबोंमें अपनी मनोहर मूर्तिसे एक समान भासरहा है और एकरस वर्त्तमान है ।

शंका— एक रस वर्त्तमान होना तो कहनेमात्रही देखाजाता है पर यथार्थमें तो एक रस वर्तमान रहना तब समझाजाता, कि यदि आग और पानी दोनोंसे समान व्यवहार वा समान कार्य साधन होता सो ऐसा देखा नहीं जाता है । आगसे सारी वस्तु जब जलने लग-जाती हैं तो पानी उसे बचालेता है, अमृत प्राणीको जिलाता है और विष मारडालता है, हिमऋतुमें अग्नि अच्छी लगती है जल दुःख-

दायी होता है इसी प्रकार ग्रीष्मऋतुमें जल सुखदायी होता है अग्नि दुःखदायी होती है कहांतक अधिक कहूं आकाशमें स्थित वस्तुओंमें भी विषमता देखीजाती है। देखो सूर्य कितना उष्ण और चन्द्रमा कितना शीतल है इन दोनों कारणोंसे भी आकाशकी रण-भूमिमें सदा झगडा ही बना रहता है .इनके भी परस्पर सम विषम होनेके कारण ग्रहण, अमावस, पौर्णमासी परिवा, दूज और तीजका बखेडा लगा ही रहता है फिर जहां इस प्रकारकी विषमता बढीहुई है तहां सम होना कैसे समझाजावे ?

समाधान— यहां जो भगवानने सर्वत्र सब वस्तुवस्तुओंमें अपनी समता कथन की है सो वह वस्तुओंकी जाति, रूप, गुण और क्रियाके भेदसे नहीं कही है । क्योंकि इन चारोंके भेदसे तो इनमें विषमता होती है और इसी भेदका मुख्य कारण अविद्या है। जहां तक अविद्या भास रही है तहां तक यह विषमता बढती चली गयी है पर यथार्थमें अस्तित्वके भेदसे ये सब समरूप हैं जैसे जलधि (समुद्र) जीमूत (मेघमाला) तथा हिम इत्यादि देखनेमें विषमरूप हैं पर यथार्थमें पूछो तो जल सबमें समानरूपसे स्थित है केवल रूपान्तर का ही भेद है । इसी प्रकार जितनी वस्तुओंमें विषमता दिखलायी सो केवल अविद्याकी दृष्टिसे दिखलायी यह पहले कहआये हैं, कि अवि-द्याके कारण अस्मिता होती है जिस अस्मितासे अपने शरीरका अभि-मान होता है और तिस अभिमानसे हानिलाभका विचार होता है। केवल अपने शरीरकी उपाधिसे आगमें उष्णता और जलमें शीतलता

वा आगमें जलने और जलमें डूबनेका भ्रम होता है । पर वह देखो मछलियां बड़े आनन्दसे जलमें डूबीहुई कल्लोलें मचारही हैं समुद्रकी तलहटीमें जाकर आनन्दपूर्वक सोजाती हैं पर मनुष्य समुद्रके जलके एक हाथ बीचमें भी जाकर नहीं रहसकते डूबकर मरजाते हैं । इसी प्रकार वह देखो अग्निनिवासी जीव अग्निमें और सूर्यनिवासी जीव सूर्यमें प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं पर यदि मनुष्य इनमें जावें तो जल भुनकर भस्म होजावें ।

इन प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे देखाजाता है, कि अपने २ शरीरके भेद से रूप, गुण इत्यादि करके विषमता है पर इनके अस्तित्वमें जो चेतन आत्मा मुख्य कारण है सो सबोंमें समान है । इसी कारण जो प्राणी सम्यग्दर्शन, लक्षण और ज्ञानसे अर्थात् ज्ञान विज्ञानके नेत्रोंसे इनको देखता है वह इन सबोंमें उस चेतन आत्मा परमेश्वरको समानरूपसे वर्त्तमान देखता है अर्थात् चित् संवितका स्फुरण सबमें एक रस है । जिस कारण ये सब वर्त्तमान होरहे हैं इसी कारण भगवानने अर्जुन से "**समं तिष्ठन्तं परमेश्वरम्**" का प्रयोग किया है।

अपने शरीरका अभिमान उठादो फिर सबमें भगवानको समान प्रकारसे व्यापता हुआ देखलो क्योंकि वह परमेश्वर अन्तरात्मा होकर सब जड चेतनमें एक समान वर्त्तमान है । सो इन भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें वा शरीरधारियोंमें शरीर होकर नहीं निवास करता वरु शरीरहीन होकर सबोंमें समानरूपसे निवास करता है । तहां प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अश-

रीरेऽशरीरे ष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति "। (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रु० २२)

अर्थ— सब शरीरोंमें शरीररहित होकर तथा सब अवस्थारहित पदार्थोंमें अवस्थित होकर जो यह महान् विभु चैतन्य आत्मा निवास करता है उसे जानकर ज्ञानी किसी प्रकारका शोच नहीं करता अर्थात् विषमदृष्टिको हटाकर समदृष्टिसे सबोंमें एक रस उस आत्माको देखता है।

पर यह समानरूपसे स्थित हुआ भी साधारण दृष्टिवालेसे नहीं देखाजाता। श्रुतिः— " ॐ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः"(कठो० अ० १ वल्ली३ श्रु० १२)

अर्थ— यह आत्मा सब भूतोंमें गुप्तरूपसे निवास करताहुआ सर्वसाधारणकी दृष्टिमें प्रकाशमान नहीं होता केवल सूक्ष्मबुद्धिवाले की बुद्धिके अग्रभागसे देखाजाता है। इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि [विनेश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति] इस सम्पूर्ण सृष्टिमात्रके नाश होतेहुए भी जो नाशको प्राप्त नहीं होता ऐसे नाशरहित परमेश्वरको जो देखता है वही सच्चा देखने-वाला है। अर्थात् वही प्राणी उस परमात्माको सबोंमें समानरूपसे वर्तमान तथा इनके नाशसे भी अविनाशी देखता है।

तात्पर्य यह है, कि सृष्टिमें जो ६ विकारे हैं " जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति " इन छवों विकारोंमें

जो सबसे बडा विकार नाश होना है तिस विकारके साथ भगवान् लिप्त नहीं होता अर्थात नाश होते नाश नहीं होता वरु तीनों कालमें एकरस वर्त्तमान रेहता है।

जैसे किसी वृक्षके उपजने, बढने, घटने वा एकबारगी नाश होजानेसे आकाशमें उपजना वा बढना घटना इत्यादि धर्म्म नहीं लिपटते इसी प्रकार आकाशवत वह परमेश्वर सबके भीतर बाहर वर्त्तमान है पर उनके घटने, बढने वा नाश होनेसे विकारको नहीं प्राप्त होता।

शंका— इस सृष्टिका उत्पन्न होना तो अवश्य नहीं देखाजाता पर इसके अन्तर्गत जितने जड चेतन हैं सबोंका उत्पन्न होना, बढना, घटना, नाश होजाना तो सर्वसाधारणको एकरस देखनेमें आता है फिर भगवानने ऐसा क्यों कहा, कि " यः पश्यति स पश्यति " जो देखता है वही देखता है।

समाधान— साधारण प्राणीके और ज्ञानीके देखनेमें बहुत कुछ अन्तर है साधारण तो वस्तुको कुछका कुछ देखता है अविद्याके कारण रज्जुको सर्प देखता है पर सम्यग्दर्शनज्ञानवाली दृष्टिसे यथार्थ देखनेवाला ही ठीक २ देखता है जैसे नेत्ररोगवाला एक चन्द्रमाको अनेक देखता है पर जो विकाररहित निर्मल नेत्रवाला है वह एक चन्द्रको एक ही देखता है दो चार दस चन्द्र नहीं देखता। इसी प्रकार एक चन्द्र देखनेवालेको लोग कहते हैं, कि यही ठीक २ देखता है, ऐसेही अज्ञानी इस सृष्टिके विकारसे बंधा हुआ यथार्थ नहीं देखता केवल ज्ञानी ही यथार्थ देखता है। क्योंकि वह देखता

इस चर्मचक्षुसे सम्बन्ध नहीं रखता इसको केवल विवेक और विज्ञानके नेत्रोंसे सम्बन्ध है।

प्रमाण श्रु०—" ॐ अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः " (मुण्ड० ३ खं० १ श्रु० ५) अर्थात् शरीरके भीतर जो ज्योतिर्मय अत्यन्त शुभ्र प्रकाशमान परमेश्वर है उसको केवल वेही देखते हैं जो क्षीणदोष अर्थात् सर्वप्रकारके दोषोंसे रहित यत्नशील हैं। लो और सुनो— " ॐ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः " (मुण्ड० ३ खं० १ श्रु० ८) अर्थ-- जब इन्द्रियविषयसंसर्गजनित जो रागद्वेषादि विकार और मल हैं वे गुरुकृपासे नष्ट होजाते हैं और शुद्ध निर्मल आकाशके समान जब हृदय सब विकारोंसे रहित होजाता है तो उसे ज्ञानप्रसादके नामसे पुकारते हैं और जिस प्राणीको ज्ञानप्रसाद लाभ होता है तिस ज्ञानप्रसादसे ब्रह्मदर्शनके योग्य विशुद्ध अन्तःकरण की प्राप्ति होती है तिस अन्तःकरणसे प्राणी ध्यान करता हुआ उस निष्कलब्रह्मको अर्थात् सर्वावयवभेदवर्जित जो समस्वरूप सर्वत्र समान-रूपसे स्थित तथा अवयवरहित होनेके कारण " विनश्यत्स्वविनश्यन्तम् " नाश होते हुए नहीं नाश होनेवाली कलाओंसे रहित ब्रह्मको देखता है।

इसी प्रकार देखनेको भगवान् कहते हैं कि " यः पश्यति स पश्यति " शंका मत करो ॥ २८ ॥

अब उक्तप्रकार देखनेवालेकी क्या गति होती है? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं।

मू०— समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥
॥ २६ ॥

पदच्छेदः— सर्वत्र (सर्वस्मिन् जडचेतनात्मकभूतानामन्तरे) समम् (अतीतानन्तरम् । जन्मादिविनाशान्तरभावे विकारशून्यतया) समवस्थितम् (सम्यक्प्रकारेणावस्थितम्) ईश्वरम् (परमात्मानम्) पश्यन् (विज्ञानचक्षुषा साक्षात् कुर्वन्) हि (यस्मात्) आत्मना (स्वेनैव । आत्मैक्यज्ञानेन) आत्मानम् (परमानन्दरूपमात्मानम्) न, हिनस्ति (नानायोनिसंकटेषु यातनेन न पीडयति) ततः (तस्मात् कारणात्) पराम् (प्रकृष्टाम् । मोक्षाख्याम्) ❀ गतिम् (स्वरूपम् । परिणतिम् । ज्ञानम् । मार्गम् । देशम्) याति (प्राप्नोति)
॥ २६ ॥

❀ गतिः— १. "गम् कर्मणि क्तिन्" स्वरूपम् यथा किरातार्जुनीये— "चरतस्तपस्तव वनेषु सदा । न वयं निरूपयितुमस्य गतिम्" यहां मल्लिनाथने गतिका अर्थ स्वरूप किया है ।

२. मार्गः— "गम् अधिकरणे क्तिन्" शुक्लकृष्णे गती ह्येते ।

३. परिणतिः— (गम् भावे क्तिन्) यथा "मदनमुपदधे स एव तासां दुरधिगमा हि गतिः प्रयोजनानाम्" (किरातार्जुनीये १० । ४०) यहां मल्लिनाथने गतिका अर्थ परिणति किया है ।

४. ज्ञानम्— (गम् करणे क्तिन् गम्यते ज्ञायतेऽनया) श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध अ० ५ के इकत्तीसवें श्लोकमें जो गति शब्द है तिसका अर्थ श्रीधरस्वामीने ज्ञानस्वरूपम् ऐसा किया है । देखलो ।

पदार्थः— (सर्वत्र) सब जड चेतनके अन्तर्गत (समम्) उत्पत्ति और विनाशकालमें समानरूपसे (समवस्थितम्) एकप्रकार अवस्थान कियेहुए (ईश्वरम्) ईश्वरको (पश्यन्) विज्ञानके नेत्रोंसे साक्षात्कार करता हुआ (हि) जब निश्चय करके प्राणी (आत्मना) अपनेसे (आत्मानम्) अपनेको (न हिनस्ति) नहीं मारता है (ततः) तब वह (परां गतिम्) परम श्रेष्ठ गति को (याति) प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

भवार्थः— इससे पूर्वश्लोकमें जो श्रीआनन्दकन्द गोकुलचन्दने अर्जुनके प्रति यों कहदिया, कि जो सर्वत्र उस परमेश्वरको समानरूपसे सबमें वर्त्तमान देखता है वही यथार्थ देखने वाला है उसी तात्पर्य्यको लेकर अब इस श्लोकमें ऐसे देखने वालोंको क्या लाभ होता है ? अर्थात् उनकी अन्तिम दशा कैसी होती है ? उसे स्पष्टरूपसे जनातेहुए कहते हैं, कि [**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानम्**] सब भूतोंमें समानरूपसे स्थित परमात्माको देखनेवाला कभी भी अपनेसे अपनेको नहीं मारता । मुख्य अभिप्राय भगवान्के कहनेका यह है, कि जो प्राणी सर्वत्र उस परमात्माको समानरूपसे व्यापक नहीं देखता वह मानों अपनेसे अपनी हिंसा करता है अर्थात आपसेआप अपनेको नाना-प्रकारकी योनियोंमें जन्मलेने और मरनेके दुःखसे पीडित करता है । क्योंकि विषम-दृष्टिके कारण उसके अन्तःकरणमें रागद्वेषका मल भरा रहता है अविद्याकी रस्सीसे जकड़ा हुआ बंधा रहता है । इसलिये जैसे कोई अन्धा किसी खम्भमें बांधे जानेके कारण अपनेसे आप वह रस्सीकी

गांठको खोलकर नहीं निकलसकता क्षुधा पिपासासे पीडित चिल्लाता कराहता मरजाता है । इसी प्रकार अविद्याके खम्भमें रागद्वेषके रस्सोंसे जकड कर बंधेहुए प्राणी ज्ञान विज्ञानके नेत्रोंसे विहीन अपनेको आप मारते हैं अर्थात अपनी अज्ञानतासे अपने आत्माका उद्धार न करके चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमते फिरते हैं यही उनका हिंसा करना समझाजाता है । एवम् प्रकार वे केवल अपनी ही हिंसा नहीं करते वरु अपने संगके प्राणियोंकी भी हिंसा करते हैं । क्योंकि " **अन्धेन नीयमाना यथान्धाः** " अन्धा जैसे अन्धोंको अपने साथ लिये हुए कूपमें गिरकरे नष्ट होजाता है ऐसे ये अविद्याग्रस्तप्राणी परमात्माको सर्वत्र न देखकरे अपने संगी साथियोंके साथ भवसागरमें डूबजाते हैं मानों सबोंकी हिंसा करते हैं। तहां श्रु०— " **ॐ असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः** " (ईश)

अर्थ— वे घोर नरकलोक जो बडे-बडे अहंकारी दम्भी पाखण्डी ज्ञानान्ध अविद्याग्रस्त आसुरीसम्पदावालोंकेलिये बने हुए हैं तथा जो घोर अन्धकारसे घिरेहुए हैं तिन लोकोंको वे पुरुष प्राप्त होते हैं जो आपका आप हनन करनेवाले हैं । अर्थात् जिन्होंने ज्ञानचक्षुसे परमात्माके सर्वत्र समानरूपसे वर्त्तमान नहीं देखा ।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जो सर्वत्र उस ईश्वरको सब जड चेतनमें एकरस व्यापक देखता है अथवा सब सम विषमपदार्थोंको उसी ईश्वरसे एकरस व्याप्त देखता है सो आपसे अपनी हिंसा नहीं करता । आत्महत्यारा नहीं होता ।

वह ब्रह्म किस प्रकार समानरूपसे व्यापक है ? सो श्रुति कहती है

श्रु०--"ॐ एष एव वीर एष हि व्याप्ततम एष एव महानेष हि व्याप्ततम एष एव विष्णुरेष हि व्याप्ततम एष एव ज्वलन्नेष हि व्याप्ततम एष एव सर्वतोमुख एष हि व्याप्ततम एष एव नृसिंह एष हि व्याप्ततम एष एव भीषण एष हि व्याप्ततम एष एव भद्र एष हि व्याप्ततमः" (नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् खण्ड ५)

इस श्रुतिने सर्वत्र व्यापकता दिखला दी अर्थात् "एष एव भीषणः" तथा "एष एव भद्रः" कह कर विषमतामें भी समता दिखला दी है। इसी प्रकार निर्मल ज्ञानचक्षुवाला जो उसे सर्वत्र समानरूपसे देखता है वह अपनी हिंसा न करके अपना उद्धार करता है इसी कारण भगवान् आगे कहते हैं, कि [ततो याति परां गतिम्] एवम्प्रकार जब आत्महिंसा अर्थात् नरकादिमें पडनेकी दुर्गतिसे बचगया तो परमगतिको प्राप्त होजाता है अर्थात् भगवत्स्वरूपमें जामिलता है यह सर्वत्र भगवत्को सम देखनेका महान् फल है जो प्राणी एवम्प्रकार सर्वत्र उस भगवानको अर्थात् अपने इष्टदेवको समानरूपसे व्यापक देखनेका अभ्यास करेगा वह किसी न किसी दिन भगवत्को अवश्य प्राप्त होजावेगा ॥ २१ ॥

सर्वसाधारणको यदि यह शंका होवे, कि पुण्यात्मा और पापात्मा तो भिन्न २ उग्र पुण्य तथा घोर पाप करते हुए देखे जाते हैं इनके कर्म्मोंमें भिन्नता देखी जाती है फिर सर्वत्र पुण्यात्मा और पापात्माको देखते हुए भी समता मान लेना अयोग्य है ? इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं।

मू०— प्रकृत्यैव च कर्म्माणि क्रियमाणानि सर्व्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ ३०

पदच्छेदः— यः, च, कर्म्माणि प्रकृत्या (देहेन्द्रियाकारेण परिणतया त्रिगुणात्मिकया भगवन्मायया) एव, सर्व्वशः (सर्वैः प्रकारैः) क्रियमाणानि (निर्वर्त्यमानानि) तथा, आत्मानम् (क्षेत्रज्ञम्) अकर्त्तारम (कर्तृत्वाभिमानशून्यम् । सर्वोपाधिवर्जितम । क्रियारहितम) पश्यति (अवलोकयति) सः (प्रकृतिपुरुषविवेकी) पश्यति (यथार्थरूपेण अवलोकयति) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (यः) वह पुरुष भी जो (कर्माणि) सब पुण्य पाप कर्मोंको (प्रकृत्या एव) प्रकृति ही से (सर्वशः) सर्व प्रकार (क्रियमाणानि) किये जाते हैं ऐसा देखता है तथा (आत्मानम्) आत्माको (अकर्तारम) सर्वप्रकार क्रिया रहित (पश्यति) देखता है (सः) वही प्रकृतिपुरुषका भेद जाननेवाला प्राणी (पश्यति) यथार्थरूपसे देखनेवाला है ॥ ३० ॥

भावार्थः— भगवान्‌ने जो पूर्वश्लोकमें यों कहा, कि जो प्राणी सर्वत्र सम देखता है वह मोक्षको प्राप्त होता है इसपर यह शंका हुई, कि पापात्मा पुण्यात्मा विलग-विलग भिन्न-भिन्न रूपसे पाप पुण्य करतेहुए तथा दुःखसुखरूप फलोंको भोगतेहुए देखेजाते हैं फिर सम देखना कैसे बने ? इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि [प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः] जितने कर्म इस सृष्टिमें देखेजाते हैं वे सर्वप्रकारसे प्रकृति

हीके द्वारा सम्पादित होते हैं अर्थात् पाप पुराय इत्यादि सबोंको सदा प्रकृति ही करती रेहती है सो भगवान पहले भी कहआये हैं, कि " विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् " (श्लोक १६) तथा " कार्य कारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते " (श्लोक २०) मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्रकृतिहीके कारण इन सब कर्मोंमें भेद देख पडते हैं प्रकृति हीके रज, सत्व और तम तीनों गुणोंकी भिन्नताके कारण असम्यग्दर्शियोंको अर्थात् अविद्यान्धप्राणियोंको कुछका कुछ देखनेमें भेद भासरहा है वस्तुतः आत्मत्व तो सबमें एकसमान है । इसी कारण श्यामसुन्दर कहते हैं, कि [यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति] जो विवेकी पुरुष एवम्प्रकार सर्वकर्मोको प्रकृतिजन्य देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है अर्थात् सब प्रकार की क्रियाओंसे रहित देखता है वही यथार्थरूपसे देखता है।

इसी विषयको भगवान इस गीतामें बार-बारे कहते चले आये हैं इसलिये यहां इस विषयपर अधिक कहनेकी आवश्यक्ता नहीं है।

यदि कहो, कि भगवानने फिर लौटकर उसी कथन कियेहुए विषयको क्यों कथन किया क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

तो उत्तर यह है, कि यह पुनरुक्ति नहीं है केवल जिज्ञासुओं के स्मरण करानेके तात्पर्यसे इसे पुनःपुनः कथन कियागया है क्योंकि जैसे छोटेछोटे बालकोंको पाठशालाओंमें जब गुरु किसी ग्रन्थको पढाता है तो बच्चोंका स्वभाव है, कि अपना अगला पाठ पढते और कंठ करतेहुए प्रायः पिछला पाठ भूलजाया करते हैं तो पढानेवाला फिर लौटकर उस

बच्चेको वह पाठ स्मरण कराता है इसी प्रकार जिज्ञासुरूप बच्चोंको जब कोई गूढ विषय उपदेश करते हैं तिसकी गूढताके कारण उसी विषयके समझनेमें जो कहीं शंका उत्पन्न होआती है तो भगवान् उसकी निवृत्तिके तात्पर्यसे फिर पीछे कथन किएहुए सिद्धान्तोंको स्मरण करादिया करते हैं। क्योंकि जिस समय इस गीताका उपदेश अर्जुनके प्रति हुआ है उस समय कठोर युद्धके उपस्थित होनेके कारण रथपर किसी प्रकारका पत्र वा लेखिनी नहीं थी जिसपरे अर्जुनको सब गूढ वचनोंके अंकित करलेनेका अवकाश मिले। इसलिये रथके ऊपर उपदेश करतेहुए भगवानने जिन सिद्धान्तोंको अर्जुनके हृदयसे विस्मरण होजाना सम्भव जाना उन्हें बार-बार स्मरण करादिया है।

शंका—पहले भगवान् इसी अध्यायके २६ वें श्लोकमें यों कहचुके हैं, कि "**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ !**" अर्थात् हे भरतर्षभ ! जो कुछ स्थावर वा जंगम पदार्थ होते हैं सो केवल इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुषके संयोगसे होते हैं और अब कहते हैं, कि जो कुछ होता है केवल प्रकृति ही द्वारा होता है ऐसा विरोध क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें विरोध कुछ भी नहीं है। दोनोंके अर्थमें कुछ गूढ रहस्य है वह यह है, कि पहले जो भगवानने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे पदार्थोंका बनना कहा है सो वस्तुओंकी उत्पत्तिके विषय कहा है और अब जो कहते हैं सो प्रकृतिकी

क्रियाओंको कहते हैं अर्थात् पाप, पुण्य इत्यादि जो कर्म होरहे हैं तिनके कर्तृत्वमें केवल प्रकृति ही कारण है। शंका मत करो!

यह विषय कई बार वर्णन होचुका है इस कारण यहां संक्षिप्त-रीतिसे कथन कियागया ॥ ३० ॥

पहले तो भगवान्‌ने प्रकृतिके कार्योंमें भेद और आत्मामें सर्वत्र समता दिखायी अब उस प्रकृतिके भेदोंको भी एक करके दिखलाते हैं सो सुनो!

मू०— यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३१ ॥

पदच्छेदः— यदा (यस्मिन् काले । यस्यामवस्थायाम) **भूतपृथग्भावम्** (विषयादीनां जरायुजादीनां नानाभावेनावस्थानम । परस्परभिन्नत्वम वा । देवमनुष्यतिर्यगादिवैचित्र्यम) **एकस्थम्** (एकस्मिन्नेवात्मनि कल्पितम् अथवा एकस्यामीश्वरशक्तिरूपायाम् प्रकृतौ) **अनुपश्यति** (स्वयमेवालोचति) **ततः** (तस्मात् भूतपृथग्भावैकस्थदर्शनात् एकस्मादात्मनः । तस्या एव प्रकृतेः सकाशाद्वा) **एव, च, विस्तारम्** (भूतपृथग्भावस्य व्युत्थानावस्थाम्) **तदा** (तस्मिन् काले । तस्यामवस्थायाम्) **ब्रह्म, सम्पद्यते** (ब्रह्मैव भवति) ॥ ३१ ॥

पदार्थः— (यदा) जिस समय वा जिस अवस्थामें (भूतपृथग्भावम) सर्वभूतोंके भिन्नभावको (एकस्थम) एक ठौर वा एक रूपमें स्थित (अनुपश्यति) यह प्राणी अवलोकन करता है

(ततः) फिर तिस प्रकार अवलोकन करनेसे (एव) निश्चयकरके (विस्तारं च) उसके विस्तारको भी अर्थात् सारी सृष्टिके कार्योंको भी अवलोकन करता है (तदा) तब तिस समय वा तिस अवस्थामें (ब्रह्म, सम्पद्यते) ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मरूप होजाता है ॥ ३१

भावार्थः— पहले भगवानने सर्वत्र आत्माकी समताको विषम कहकर प्रकृतिके कार्योंमें भेदका कथन किया अर्थात् प्रकृतिके कियेहुए कार्योंमें भेद दिखलाया अब अरुन्धतीदर्शनन्यायसे उस भेद को भी मिटानेके तात्पर्य से कहते हैं, कि [" **यदा भूतपृथग्भाव मेकस्थमनुपश्यति**] जब प्राणी इन भूतोंकी पृथकृताको भी एक करके अवलोकन करता है अर्थात् यह जो स्थावर, जंगम, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, पापात्मा, पुण्यात्मा इत्यादि नाना प्रकारके प्रकृति-जन्य भेदोंको एक प्रकृति ही में देखता है फिर उस प्रकृतिको भी आत्मा ही में एक ठौर देखता है अर्थात् जब प्रकृतिपुरुषका भेद मिटकर सर्वत्र समभावसे आत्मा ही आत्मा देखता है और भिन्नता को इस प्रकार मिटाडालता है जैसे जलधारा, सर्प, पृथ्वीकी दरार और रज्जुके भ्रमोंको यथार्थ रज्जुका ज्ञान ही मिटाडालता है और केवल अधिष्ठान रूप रज्जु ही रज्जु देखता है ऐसे ही जब प्राणीकी दृष्टिमें प्रकृतिके सब भेद मिटकर केवल एक अधिष्ठान रूप आत्मा ही आत्मा सर्वत्र दीखने लगजाता है और पृथग्भाव सब मिटजाते हैं [**तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तदा**] तब सबका एकीभूत जो आत्मा तिससे ही इस सारी सृष्टिका विस्तार देखता है और

परब्रह्मको प्राप्त होजाता है जैसे वृक्षके बीजसे सम्पूर्ण वृक्षका विस्तार देखनेमें आता है अथवा जैसे स्वप्नावस्थामें एक अपने ही आत्मामें सृष्टिकी सृष्टि बनजाती है ऐसे जो प्राणी एक आत्मासे इन सब भिन्न पदार्थोंको उत्पन्न देखता है तभी यथार्थ तत्त्वका द्रष्टा होता है। अर्थात् जब यह प्राणी सम्पूर्ण सृष्टिके भेदोंको प्रकृतिमें फिर तिस प्रकृतिको आत्मामें तिस आत्मा को परमात्मामें लय होताहुआ देखता है और फिर उसी परमात्मामें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका विस्तार देखनेको समर्थ होजाता है " ब्रह्म सम्पद्यते तदा" तब वह प्राणी ब्रह्मको प्राप्त होजाता है अर्थात ब्रह्मस्वरूप होजाता है।

जैसे सम्यग्दर्शी पुरुष भिन्न-भिन्न अलंकरणके भेदोंको मिटाकर केवल स्वर्णमात्र सबमें व्यापक देखता है। इसी प्रकार आत्मदर्शी प्रकृतिके सब भेदोंको मिटाकर एक ब्रह्म ही को सर्वत्र व्यापक देखता है उसमें अपने को भी लय करदेता है। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतन्नेतरेषाम्॥" (कठो० अ० २ वल्ली ५ श्रुति १२)

अर्थ— वह जो 'एकः' सब भूतोंका अन्तरात्मा है अर्थात् जो सबोंमें एक समान आत्मत्वभावसे निवास कररहा है सो अपने इस एक रूपसे नाना प्रकारसे सृष्टिका विस्तार करडालता है। वही एक सबोंको वशमें रखनेवाला है। जो धीर इसप्रकार सारी प्रकृतिके भेदों को उसी एकमें देखते हैं फिर उसी एकको अपनेमें भी देखते हैं अथवा अपनेको उसी एकमें देखते हैं वे ही सुखको प्राप्त होते हैं

अर्थात् ब्रह्मानन्दपदको लाभ करते हैं इनसे इतर जो भेददृष्टि-वाले हैं उनको सुख कदापि नहीं होसकता क्योंकि वे अपनेको बार-बार जन्म लेनेवाला और मरनेवाला देखते हैं और जो एवम्प्रकार सर्वत्र एकत्व देखता है वह सर्वप्रकारके शोक, रोग, मृत्यु इत्यादि से छूट जाता है। प्रमाण श्रुतिः—" ॐ तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति । " (छा० अ० ७ खं० २६ श्रु० २)

अर्थ— तब वह एवम्प्रकार उस आत्माको सर्वत्र सम देखने वाला जो मंगलरूप है सो न मृत्युको, न किसी प्रकारके रोगको देखता है और न तीनों प्रकारके दुःखोंको देखता है। क्योंकि वह आत्मदर्शी सर्वत्र ब्रह्मको ही देखता है इस कारण सर्वप्रकारसे ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। क्योंकि उसी एक आत्मासे इस जगत्का सारा विस्तार होजाता है। प्र० श्रु०— " ॐ स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिः " । (छां० अ० ७ खं० २६ श्रु० २)

अर्थ— वह परमात्मा पहले एक रहता है फिर एकसे तीन रूप बन अर्थात् ईश्वर, जीव और माया होकर फैलजाता है फिर वही आकाशादि पांचों महाभूत बनजाता है फिर वही भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् होकर सातों लोक बनजाता है। अथवा रोम, चर्म इत्यादि सातों प्रकारका धातु बनजाता है। फिर वही दश इन्द्रियां और एक मन अर्थात् ग्यारह बनजाता है। फिर वही एकसौ ग्यारह

अर्थात् ३ ब्रह्मा विष्णु महेश, ११ रुद्र, ८ वसु, १४ मनु, १४ यम, १२ आदित्य, ४६ मरुत ये सब मिलकर १११ होते हैं सो वही जब विस्तारको प्राप्त होता है तब १११ होजाता है फिर एक सहस्र होता है अर्थात् हजार चतुर्युगीका कल्प बनजाता है फिर बीसी बनता है अर्थात् देवताओंके वर्षसे बीस-बीस वर्षकी एक २ बीसी बनती है उसे विंशतिः + कहते हैं सो ये सारा विस्तार केवल एक आत्मा हीका है ।

इसलिये भगवान इस श्लोकमें अर्जुनके प्रति इसी श्रुतिका अर्थ सांगोपांग वर्णन कररहे हैं ।

कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जब यह प्राणी सारी रचनाकी एकता देखता हुआ यहां तक पहुंचता है, कि अपनेको भी उसी एकमें देखता है तथा ' मैं ' और ' तू ' ' मेरा ' और 'तेरा' 'यह' और 'वह' 'इसका' और 'उसका' भेद मिटाकर एक शांतस्वरूप होजाता है तभी वह साक्षात् आत्मानन्दको लाभ करता है । प्रमाण श्रुतिः—

" ॐ तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः

+ विंशतिः— आद्या तु विंशतिर्ब्राह्मी द्वितीया वैष्णवी स्मृता । तृतीया रुद्रदैवत्या श्रेष्ठा मध्याऽधमा भवेत् ॥ (इति ज्योतिषतत्त्वम्)

संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति" (छां० अ० ७ खं० २६ श्रु० १)

अर्थ— इस प्रकारसे देखनेवाले, मालनेवाले, जाननेवाले आत्मवेत्ताके ही आत्मासे ये प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल आविर्भाव हुए हैं। फिर युगोंका पलटना और तिरोभाव (नाश) होजाना। फिर अन्न, जल, विज्ञान, ध्यान, चित्तसंकल्प, मन, वाणी, नाम, मंत्र और कर्म सबके सब आत्मासे अविर्भाव हुए हैं। अर्थात यह संपूर्ण नामरूपात्मक जगत उसी आत्मासे उत्पन्न हुआ है।

इसलिये इस आत्माकी श्रेष्ठता दिखलातीहुई दूसरी श्रुति कहती है, कि "ॐ यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ (ईशो० श्रु० ६,७)

अर्थ— जो सब भूतोंको अर्थात् सारी प्रकृतिके भेदोंको केवल एक आत्मामें देखता है और सब भूतोंमें आत्माको देखता है वह किसीसे भी घृणा नहीं करता। जब मनुष्य जानता है, कि सारे भूतमात्र आत्मा ही हैं और एकत्व देखने लगजाता है तब फिर उसे क्या शोक है? और क्या मोह है? किसीकी भी कुछ परवा नहीं रहती अर्थात् वह ब्रह्मरूप होजाता है।

इस श्लोकमें भगवानके कहनेका भी सार तात्पर्य यही है ॥ ३१॥

इतना सुन अर्जुनके चित्तमें कदाचित् ऐसी शंका न होजावे, कि जब आत्मा ही से सब हैं और एक ही आत्मा पापात्मा और पुण्यात्मा सबोंमें स्थित है तो कर्मोंको करनेवाला और उनका फल भोगनेवाला भी वही अवश्य होगा ।

इसी शंकाके निवारणार्थ भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
॥ ३२ ॥

पदच्छेदः— [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्रार्जुन !) अनादित्वात् (उत्पत्यादिविकारहीनत्वात्) निर्गुणत्वात् (निर्धर्मकत्वात्) अयम, अव्ययः (न व्येति परिच्छिद्यते देशतः कालतो वस्तुतो यः सः) परमात्मा (परमेश्वरः) शरीरस्थः (अध्यासिकेन सम्बन्धेन शरीरेषु स्थितिर्यस्य सः) अपि, न, करोति, न, लिप्यते (न कर्मफलेन संस्पृष्टो भवति) ॥ ३२॥

पदार्थः— (**कौन्तेय !**) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (**अनादित्वात्**) अनादि होनेके कारण तथा (**निर्गुणत्वात्**) निर्गुण होनेके कारण (**अयम अव्ययः**) यह जो सर्वविकार-रहित (**परमात्मा**) परमेश्वर है सो (**शरीरस्थः अपि**) अध्यास-मात्र शरीरके साथ रहता हुआ भी (**न करोति**) न कोई कार्य करता है और (**न लिप्यते**) न उसके फलके साथ लिप्त होता है ॥ ३२

भावार्थ:— पहले जो शंका उठी है, कि जब वह परमात्मा सर्वत्र सब भिन्न-भिन्न भेदवाले शरीरोंके साथ स्थित है तो अवश्य वह इनके शुभाशुभ कर्मोंके साथ भी साक्षी होता होगा अर्थात् कर्म करता होगा और उसका फल भोगता होगा इस शंकाके निवारणार्थ भगवान् कहते हैं, कि [अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः] यह अव्यय परमात्मा अनादि होनेके कारण और निर्गुण होनेके कारण कर्मोंमें लिप्त नहीं होता। तात्पर्य यह है, कि जो वस्तु अनादि होगी वह किसी भी विकारसे युक्त नहीं होसकती। ये जो 'जायते' 'अस्ति' 'विपरिणमते' इत्यादि षड् विकार पहले कथन कियेगये हैं वे इस अव्यय परमात्मामें नहीं पायेजाते। ये विकार तो प्रकृतिजन्य पदार्थोंमें पायेजाते हैं। वह तो सदा व्ययरहित है। सो व्यय दो प्रकारका है— (१) धर्मिणः स्वंस्वरूपस्यैवोत्पत्तिमत्तया। (२) धर्म्मिस्वरूपस्यानुत्पाद्यत्वेऽपि धर्माणामेवोत्पत्त्यादिमत्तया" अर्थात् प्रथम तो यह, कि 'धर्म्मी' जिसमें किसी प्रकारका धर्म पायाजावे तथा उसकी स्वयं उत्पत्ति होनेके कारण जो उसमें व्यय अर्थात् विकार पायेजावें। दूसरा यह, कि धर्मी न भी उत्पन्न हुआ हो तो भी उसके सम्बन्धसे जितने धर्म हों उसमें व्यय पाया जाता हो।

सो इन दोनों प्रकारके व्ययोंमें एक भी जिसमें न हो उसे अव्यय कहते हैं। क्योंकि विकारवान् पदार्थमें ही दोनों प्रकारके व्यय पाये जाते हैं। इसीलिये उस परमात्माको अव्यय कहते हैं। इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें प्रथम 'अनादित्वात्' शब्दका उच्चारण करके आत्माको

प्रथम प्रकारके व्ययसे रहित अर्थात् उत्पत्तिसे रहित दिखलाते हैं और यह भी दिखलाते हैं, कि यह अनादि होनेके कारण कर्म करनेके विकारसे युक्त नहीं होसकता । पश्चात् ' निर्गुणत्वात् ' कहकरे दूसरे प्रकारके व्ययसे रहित करते हैं ।

इस परमात्मामें जो निर्मलता, व्यापकता इत्यादि गुण हैं वे भी तो अनादि ही हैं इसीलिये न अपनी उत्पत्तिसे और न अपने गुणसे यह परमात्मा विकारवान होसकता है । अर्थात् निर्गुण होनेके कारण भी यह किसी कर्ममें लिप्त नहीं होता ।

इसमें तो सन्देह नहीं है, कि इसके आभासहीसे सब कर्म होरहे हैं सो पहले बारे-बार दिखला आये हैं पर आभास किसी पदार्थ पर पडनेसे स्वयं उस पदार्थसे लिप्त नहीं होसकता । जैसे सूर्यका आभास जलपर पडनेसे थर्राता हुआ भासता है पर सो थर्राहट आभासमें नहीं है । इसी प्रकार प्रकृतिपर आत्माका आभास पडनेसे करना और भोगना आत्मामें भान होरहा है पर सच पूछो तो वह आत्मा करनेवाला और भोगनेवाला नहीं है सब धर्मोंसे रहित है इसी कारण भगवान कहते हैं, कि [**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! यह आत्मा शरीरस्थ अर्थात् शरीरके साथ रहनेपर भी न कुछ करता है न उसमें लिप्त होता है जैसे कमल जलके मध्य रहताहुआ भी जलके स्पर्शसे बिलग रहता है । इसी प्रकार शरीरस्थ रहनेपर भी इस आत्माको शरीरका कोई विकार स्पर्श नहीं करता । फिर कर्तृत्व इसे

कैसे स्पर्श करसके ? सो हे अर्जुन ! तुझे सदा स्मरण रखना चाहिये, कि अनादि और निर्गुण होनेके कारण इस आत्मामें करना वा किसी कर्ममें लिप्त होना नहीं बनसकता क्योंकि यह आत्मा अकर्ता है और निर्लेप है ॥ ३२ ॥

यह आत्मा शरीरमें रहता हुआ भी सदा निर्लेप है इसको भगवान् अब दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं—

मू०— यथा सर्व्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३३

पदच्छेदः— यथा, सर्व्वगतम् (सर्वेषु धूमादिषु गतमपि) आकाशम (खम्) सौक्ष्म्यात् (असंगस्वभावत्वात्) न, लिप्यते (धूमादिभिर्न सम्बध्यते) तथा, सर्वत्र (उत्तमे मध्यमे अधमे वा) देहे (शरीरे) अवस्थितः (विद्यमानः) आत्मा, न, उपलिप्यते (दैहिकैर्गुणदोषैर्वा युज्यते) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— (यथा) जिस प्रकारसे (सर्वगतम) धूम अथवा पंकादिमें प्राप्त जो व्यापक (आकाशम) आकाश है वह (सौक्ष्म्यात्) अत्यन्त सूक्ष्म अथवा अत्यन्त असंग होनेके कारण (न, उपलिप्यते) धूम वा पंक इत्यादिसे लिप्त नहीं होता (तथा) तिसी प्रकार (सर्वत्र) सब उत्तम मध्यम नीच (देहे) शरीरमें (अवस्थितः) सम्यक्प्रकारसे स्थित जो (आत्मा) परमात्मा है सो (न उपलिप्यते) शारीरिकविकारोंसे अर्थात् पापपुण्यसे लिप्त नहीं होता ॥ ३३ ॥

भावार्थः— यह आत्मा इस शरीरमें रहता हुआ भी पाप पुण्यादि शारीरिक विकारोंके साथ लिप्त नहीं होता इसका दृष्टान्त देते हुए भगवान् कहते हैं, कि [यथा सर्व्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते] जैसे आकाश अपनी सूक्ष्मताके कारण नाना प्रकारके धूम पंकादि विकारोंसे अथवा जलवर्षाके समय जलके सीकरोंसे वा नीले पीले लाल श्वेत बादलोंसे भरा हुआ भी किसी प्रकारके विकारसे लिप्त नहीं होता ज्योंका त्यों निर्म्मल रहता है [सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते] इसी प्रकार सर्वप्रकारके उत्तम, मध्यम, नीच तथा चौरासीलाख योनियोंके शरीरके साथ मिला हुआ भी अपने निःसंग होनेके कारण यह आत्मा पाप, पुण्य इत्यादि किसी भी विकारके साथ नहीं लिपटता है।

शंका— आकाशमें तो पंक वा धूम इत्यादि क्षणिक निवास करते हैं इसलिये आकाशमें विकार नहीं लिपटता पर आत्माको तो अनादिकालसे इस शरीरका सम्बन्ध है, चौरासीलाख योनियोंमें इसके संग बराबर दुःखसुखका संगी होता चला आता है, बानरकी योनिमें इस डालसे उस डालपर उछलजाना, मछलीकी योनिमें जलमें तैर जाना, पक्षीकी योनिमें आकाशमें पर मारते हुए कई योजन ऊपर चढ़जाना, सर्पकी योनिमें पृथ्वीके भीतर घुसकर निवास करना इत्यादि जो नाना प्रकारके कर्मोंके और भोगोंके सम्बन्ध हैं उनके संग यह आत्मा सदासे शरीरके साथ स्थित है। यहांतक, कि इस शरीरको छोड़नेकी तनक भी कभी चेष्टा नहीं करता, चाहे नीचसे नीच शूकर कूकर योनिमें क्यों न पड़ा हो पर उसे भी

छोडना नहीं चाहता उसीमें सदा निवास करनेको सुख मानता है छोडते हुए दुःख मानता है फिर इस आत्माको अकर्ता और निर्लेप कहकर भगवान्‌ने आकाशसे दृष्टान्त कैसे दिया? यदि आकाशसे दृष्टान्त थोडी देरके लिये मान भी लिया जावे तो आकाशमें भी तो नाना प्रकारके विकार देखे जाते हैं। यदि सूर्य्य एकवारगी इस दृष्टिसे उठा लिया जावे तो जिस आकाशको निर्म्मल और स्वच्छ कह रहे हो उसमें सर्वत्र अँधियाली होनेके कारण एक कृष्णवर्ण छाजावेगा। फिर तो सदाके लिये आकाश कृष्णवर्णके विकारसे लिपटा ही रहेगा। इस कारण न तो इस आत्माके सम्बन्धको आकाशसे उपमा देना बनता है और न इस आकाशको शुद्ध निर्म्मल और निर्विकार कहना बनता है फिर भगवान्‌ने इस आत्माको निर्लेप कहकर आकाशसे दृष्टान्त क्यों दिया?

समाधान—तुमने जो यह कहा, कि आकाशको पंक और धूम इत्यादिसे क्षणिक सम्बन्ध है और आत्माको शरीरोंसे चिरकालका सम्बन्ध है, सो ऐसा करनेसे किसी प्रकारका दोष दृष्टान्तमें नहीं प्रवेश करता, देखो जैसे चिरकालसे आत्माको शरीरका सम्बन्ध है ऐसे यदि चिरकाल पर्य्यन्त अर्थात् कई कल्प पर्य्यन्त तुम धूम और पंक भी इस आकाशमें स्थिर रखो तथापि यह आकाश स्वयं स्वरूपतः गदला नहीं होसकता। इसी प्रकार आत्मा भी शरीरके सम्बन्धसे कभी गदला नहीं हुआ, न होता है, न होगा जैसे इस आत्माको चिरकालसे नाना प्रकारकी भिन्न योनियोंसे सम्बन्ध है ऐसे इस आकाशको भी सूर्य्य, चन्द्र, तारागण भूलोक, भुवर्लोक इत्यादि सप्तलोकोंका सम्बन्ध सदासे है पर

इनके सम्बन्धसे आकाशमें किसी प्रकारका विकार नहीं लिपटता। इन सब लोकलोकान्तरोंका नाश करके देखलो आकाश ज्योंका त्यों निर्मल रहेगा ऐसे सब योनियोंके शरीरोंको नाश करके अनुभव करलो आत्मा ज्योंका त्यों बना रहता है उसमें कुछ भी विकार नहीं लिपटता, आकाश ही के कारण सब जीव जीवित हैं क्योंकि प्राणोंका प्रवाह बिना आकाश नहीं होसकता।

फिर तुमने जो यह कहा, कि सूर्य्य चन्द्रके उठालेनेसे आकाशमें सदा अँधियाली बनी रहेगी और अन्धकारके विकारसे दूषित रहेगा सो यह तुम्हारा कहना अयोग्य है क्योंकि अँधियाली वा उजियाली आकाशमें कुछ भी नहीं है। यह अँधियाली वा उजियाली तुम्हारे नेत्रोंकी उपाधिसे ही है तुम्हारे नेत्रोंकी बनावट इस प्रकारकी बनायी गयी है, कि आकाशमें सूर्य्यके सहारे तुम सर्वत्र देखसकते हो और बिना सूर्य्य नहीं देख सकते, यदि यथार्थमें अँधियाली और उजियाली आकाशमें होती तो उलूक, व्याघ्र, सिंह बिल्ली, कुत्तोंको रात्रिके समय अँधियाली और दिनको उजियालीका भान होता पर ऐसा न होकर इन जन्तुओंके लिये रात्रिके अन्धकारमें प्रकाश और सूर्य्यके प्रकाशमें अन्धकारका भान होता है। इससे सिद्ध होता है, कि आकाशमें कृष्णवर्ण वा श्वेतवर्णका कुछ भी विकार नहीं है आकाश सर्वविकारोंसे रहित सदा एकरस निर्म्मल और स्वच्छ है इसी प्रकार आत्माको भी एकरस निर्म्मल और स्वच्छ जानो!।

हां इतना तुमको अवश्य जानना चाहिये, कि सूक्ष्मता, निर्म्मलता और स्वच्छ तथा निर्विकार होना क्या है? इनके स्वरूप कैसे

हैं ? सो तुम सदा आत्माका ध्यान करो अपने मनको किसी एक लक्ष्य पर स्थिर कर प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि योगके अंगोंका अभ्यास करो तो ऊपर कथन कीहुई सूक्ष्मता, निर्म्मलता इत्यादिका अनुभव तुमको पूर्णप्रकार होजावेगा। यह विषय शब्दोंसे जनानेका नहीं है।

इसलिये भगवान्का इस आत्माको आकाशसे दृष्टान्त देना योग्य ही है अयोग्य नहीं है। आकाशसे आत्माका दृष्टान्त निर्लेप होनेके अंशमें तो अति ही श्रेष्ठ सोलहं आना उचित है इसमें तनक भी सन्देह नहीं। हां इन दोनोंके जड और चैतन्य होनेके कारण विभेद हो तो हो पर सूक्ष्मता और निर्लेपतामें तो तनक भी विभेद नहीं वरु आत्माको आकाशसे भी अधिक निर्म्मल और स्वच्छ तथा सूक्ष्म कहो तो सांगोपांग उचित है।

हां इतना तो भगवान् सदा कहतेही चले आरहे हैं, कि यह आत्मा अपनी सत्तासे तथा अभ्याससे सब शरीरोंके कर्मोंका पोषण करता है। प्रमाण श्रु०— " ॐ अतो हि सर्व्वाणि कर्म्माण्युत्तिष्ठन्ति " तथा " एतद्धि सर्व्वाणि कर्म्माणि बिभर्त्ति " (बृहदा० अ० १ ब्रा० ६ श्रु० ३).

इन श्रुतियोंके वाक्यसे भी सिद्ध है, कि इसी आत्मासे सब कर्म उठते हैं और यह आत्मा ही सब कर्मोंको पोषण करता है सब शरीरों की स्थिति इसीसे है पर इतना होनेपर भी यह लिप्त नहीं होता सो श्रुति भी कहती है, कि " ॐ स ब्रयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते " ॥ (छान्दोग्य०)

अर्थ— इस शरीरकी जरासे यह आत्मा जीर्ण नहीं होता और न इसके बध करनेसे वह बध होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि आकाशके समान यह सब देहोंमें स्थित हुआ भी निर्लेप है। शंका मत करो! ॥ ३३ ॥

अब भगवान् इस निर्लेपताको दूसरे प्रकारके दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—

मू०— यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत! ॥ ३४

पदच्छेदः— [हे] भारत! (अर्जुन!) यथा, एकः, रविः (आदित्यः। दिनमणिः) इमम्, कृत्स्नम (सम्पूर्णम्) लोकम् (प्रत्यक्षादिनाऽनुभूयमानं विश्वम्) प्रकाशयति (अवभासयति) तथा (तद्वत) क्षेत्री (क्षेत्रज्ञः। आत्मा) कृत्स्नम् (सम्पूर्णम) क्षेत्रम (शरीरसंघातम्। महाभूतानीत्यादिना चतुर्विंशतितत्त्वात्मकमिच्छाद्वेषादिविकारयुक्तं शरीरसंघातम्) प्रकाशयति (अवभासयति) ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (भारत!) हे भरतकुलमें उत्पन्न अर्जुन! (यथा) जैसे (एकः रविः) एक ही सूर्य्य (इमम्) इस (कृत्स्नम) सम्पूर्ण (लोकम्) विश्वको (प्रकाशयति) प्रकाशसे प्रकाशित करता है (तथा) तिसी प्रकार (क्षेत्री) यह आत्मा (कृत्स्नम्) सम्पूर्ण (क्षेत्रम्) क्षेत्र अर्थात् इस शरीरको (प्रकाशयति) प्रकाशमान करता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ:— अब भगवान् आत्माके निर्लेप होनेके विषय दूसरे प्रकारका दृष्टान्त देते हुए कहते हैं, कि [यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः] जैसे एक ही सूर्य्य इस सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करता हुआ सबसे निर्लेप रहता है अर्थात् दुर्गन्ध, सुगन्ध इत्यादि सर्व रसोंको प्रकाश करता हुआ सबोंको शोषण करता है तथा सर्वप्रकारके चाण्डाल और ब्राह्मणके घरोंको प्रकाशित करता हुआ उनके व्यवहारों को पोषण करता है पर किसीसे स्वयं लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् कहते हैं, कि [क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !] हे अर्जुन ! यह जो क्षेत्री आत्मा इस संपूर्ण शरीरके व्यवहारोंको प्रकाशमान करता है सब इन्द्रियोंको इसीके द्वारा व्यवहार करनेकी सत्ता प्राप्त होती है पर यह स्वयं किसीसे भी लिप्त नहीं होता है। तहां श्रुतिः " ॐ सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ " (कठो० अ० २ बल्ली २ श्रु० ११)

मुख्य अभिप्राय सूर्यसे दृष्टांत देनेका यह है, कि यदि सूर्यका उदय न हो तो सारी सृष्टिका व्यवहार रुकजावे। इसी प्रकार आत्मा यदि इस शरीरके संघातको प्रकाशित न करे तो शरीर पत्थरके समान जड़सा मृतक पड़ा रहजावे किसी प्रकारकी चेष्टा देखना, सुनना इससे न हो। आत्मा ही की सत्ता पाकर देखने, सुनने, करने, मारने, काटने इत्यादिकी शक्तियां उठखड़ी होती हैं पर क्या ही आश्चर्य है, कि यह आत्मा इन सब क्रियाओंको पुष्ट करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तहां श्रुतिः— " ॐ सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः "

अर्थ— यह आत्मा सर्व कर्मोंका करने करानेवाला है। सब प्रकारकी कामनाओंको हृदयमें उदय करदेनेवाला यही है। फिर दुर्गन्ध सुगन्ध तथा सब प्रकारका खट्टे, मीठे रसोंका ग्रहण करनेवाला, करानेवाला भी यही है। पर इतना सर्वमय होनेपर भी यह किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता।

प्रमाण श्रु०— " ॐ स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन॥ "

(बृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० ५)

अर्थ स्पष्ट है जिससे आत्माका सर्वमय होना सिद्ध होता है।

इसी तात्पर्यको भगवान इस श्लोकमें कहते हैं, कि जैसे सूर्य अपने प्रकाशसे संसारके सब व्यवहारोंमें मग्न रहनेपर भी किसी व्यवहारमें लिप्त नहीं होता ऐसे यह क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्र (शरीरसंघातको) प्रकाश करता हुआ और सर्वमय होनेपर भी सबसे निर्लेप है॥ ३४॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदोंके पूर्णप्रकार ठीक-ठीक जाननेवालोंको तथा माया के समझनेवालोंको क्या फल प्राप्त होता है?

मू०— क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३५

पदच्छेदः— ये (आत्मानात्मविवेकिनः) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (प्रकृतिपुरुषयोः) अन्तरम् (इतरेतरवैलक्षण्यविशेषम् । जडत्वाजडत्वकर्तृत्वाकर्तृत्वविकारित्वाविकारित्व कृतं वैलक्षण्यम्) [तथा] भूतप्रकृतिमोक्षम् (अविद्यालक्षणाऽव्यक्ताख्या या भूतानां प्रकृतिस्तस्याः अनुभावगमनम् । अथवा भूतप्रकृतेः सकाशान्मोक्षोपायम्) च, एवम्, ज्ञानचक्षुषा (शास्त्राचार्योपदेशजनितात्मज्ञानरूपेण नेत्रेण) विदुः (जानन्ति पश्यन्ति वा) ते (विवेकिनः) परम् (परमार्थतत्वम् । ब्रह्म) यान्ति (गच्छन्ति) ॥ ३५ ॥

पदार्थः—(ये) जो प्राणी (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरम) प्रकृति और पुरुषकी विलक्षणताको तथा (भूतप्रकृतिमोक्षम् च) भूतोंकी प्रकृतिके अभाव होजानेको अथवा भूतोंकी प्रकृति द्वारा मोक्षके उपाय को भी (एवम्) जिस प्रकार इस अध्यायमें कथन कियेगये हैं (ज्ञानचक्षुषा) ज्ञानके नेत्रोंसे अवलोकन कर (विदुः) सांगोपांग जानते हैं (ते) वे विवेकी पुरुष (परम्) परमपदको (यान्ति) प्राप्त होजाते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो इस अध्यायके आरम्भमें भगवान्‌से प्रकृति-पुरुष, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, और ज्ञान ज्ञेय इन बिषयोंके जाननेके निमित्त प्रार्थना की थी तहां भगवान् अपने प्रिय भक्त अर्जुनकी रुचि अनुसार इन प्रश्नोंका उत्तर देकर अर्जुनको तथा अर्जुनके मिससे

सर्वसाधारण जिज्ञासुओंको उक्त विषयोंका पूर्ण बोध कराकर इन विषयों को समाप्त करतेहुए इन विषयोंके जाननेवालोंको किस फलकी प्राप्ति होती है सो कहते हैं, कि [**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा**] ज्ञानके नेत्रोंसे अर्थात् शास्त्र और गुरु सेवा द्वारा जो जिज्ञासुने ज्ञान की प्राप्ति की है उस सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धि जनित ज्ञानके नेत्रोंसे ऊपर कथन कियेहुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति और पुरुषकी विलक्षणताको तथा [**भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्**] जो भूत-प्रकृति-मोक्षको जानते हैं वे परमपदको प्राप्त होतेजाते हैं अर्थात् वे ब्रह्मानन्दका लाभ करतेहुए अहर्निश भगवत्स्वरूपमें मग्न रहते हैं और अन्तकाल शरीर छोडनेके पश्चात् फिर किसी शरीरको न पाकर केवल भगवदाकार होजाते हैं ॥ ३५ ॥

पुमान् प्रकृतिरित्येष भेदः सम्मूढचेतसाम् ।
परिपूर्णास्तु मन्यन्ते निर्मलात्ममयं जगत् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामि हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥

शुद्धाशुद्धपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
पूरि	पूर	२८०१	३
ष्या	ष्याम्	२८०४	१
र्यं	ज	२८०४	१६
सर्वो	सर्वोंका	२८१०	२२
बीजमें	बीज	२८११	११
ता। है	ता है।	२८.८	११
भ	[illegible]	८८२६	४
वहि्न	वह्नि	२८३५	३
चक्रेस	चक्रसे	२८८७	२
जाता	जाता है	२८८७	४
ग्म्	गम	२६४८	५
परमेश्वरी	पारमेश्वरी	२६६४	५
जाग्रत्	जाग्रत्	२६७८	१
देह	देहे	२६८०	१
द्रुष्ट्वा	द्रष्टृत्वा	,,	१४
भर्ताम्	भर्ता	२६८४	१३
शार्यो	शर्यो	२६६५	८
शायी	सर्यो	,,	१८
अन.व	अभाव	३०००	२
संयो को	संयोगको	३००६	२०
गूढोत्मा	गूढात्मा	३०११	८
बुध्या	बुद्ध्या	,,	६
स्वेत	श्वेत	३०१६	६

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाख्ये तृतीयषट्के

चतुर्दशोऽध्यायः

प्रथम वार १०००	अलवरराजधान्याम श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये मुद्रितः	सम्वत् १९८५ विक्रमी । सन १९२८ ई०

❁ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❁

श्रीभवपयोनिधिपूतपोताय नमः ।

श्रीभक्तहृदयकमलोद्योताय नमः ।

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानाख्ये तृतीयषट्के

* चतुर्दशोऽध्यायः *

ॐ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

(ऋ० मण्डल १ अध्याय २१ सूक्त १५४ मन्त्र ४)
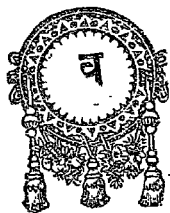
वन्दे श्रीकृष्णदेवं मुरनरकभिदं वेदवेदान्तवेद्यं, लोके भक्तिप्रसिद्ध्यै यदुकुलजलधौ प्रादुरासीद-पारः। यस्यासीद्रूपमेव त्रिभुवनतरणे भक्तिमच्च स्वतन्त्रं, शास्त्रं रूपञ्च लोके प्रकटयति मुदा यः स नो भूतिहेतुः॥ १॥

कर्त्ता ज्ञः सकलस्य यो निगमभूः सर्वस्वरूपो हि सन्,
सर्वस्यापि विधारणे विजयते निर्दोषसर्वेष्टदः।
यो लीलाभिरनेकधा वितनुते रूपं निजं केवलं,
सोऽयं वाचि ममास्तु पूर्णगुणभूः कृष्णावतारः पतिः॥ २॥

आज जो मैंने विचार-सागरमें एक डुबकी लगायी तो क्या देखता हूं, कि एक शून्य देशमें आनिकला हूं जहां न पृथ्वी है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है, न सूर्य है और न चन्द्र है किसी प्रकारकी रचना कहीं कुछ भी नहीं है, मैं निराधार स्थानमें स्थित हूं। इधर-उधर देखनेलगा, कि किसी ओरसे कोई आता तो उससे इस शून्य देशका वृत्तान्त पूछलेता इतनेमें क्या देखता हूं, कि एक अत्यन्त सुन्दरी कुमारी कन्या सामनेसे प्रकट होती है मैंने उससे इस शून्यदेशका वृत्तान्त पूछा, वह हँसकर बोली, कि थोडा आगे बढकर देखो जहां एक अद्भुत सरिता लहरें लेरही है जिसकी तीन धाराएं हैं जिनमें दो सूखीसाखी हैं और एकमें जल ही नहीं है, जिसमें जल नहीं है उसमें तीन तैराक पार होनेको तैरे हैं, जिनमें दो तो डूब-

डूबकर रहगये और तीसरेका कुछ पता ही नहीं है, जिसका कुछ पता ही नहीं है उसने बसाये तीन ग्राम जिनमें दो तो उजडे-पुजडे पडे हैं और एक बसता ही नहीं, जो बसता ही नहीं उसमें बसाये तीन कुलाल, जिनमें दो तो लंगडे लूले हैं एक को हाथ ही नहीं, जिसे हाथ नहीं है उसने गढडाले तीन पात्र, जिनमें दो तो फूटेफाटे हैं एकको पैंदा ही नहीं है जिसमें पैंदा ही नहीं, उसमें रांधे तीन चांवल जिनमें दो तो उछल कूदकर रहगये एक पकता ही नहीं, जो पकता ही नहीं उसमें नेवते तीन पाहुने, जिनमें दो तो आआकर फिरगये एक आता ही नहीं जो आता ही नहीं उसके हाथकी लगाई हुई एक अद्भुत बेली है जिसे तू फिरकर देख! मैं फिरकर जो देखता हूं तो एक बेली दृष्टिगोचर होरही है पर वह कन्या अन्तर्धान होजाती है।

क्या ही आश्चर्य है जो मैं पूर्ण दृष्टि लगाकर देखता हूं तो इस बेलीके मूलका कहीं भी पता नहीं है पर इसमें तीन लताएं निकलकर अध, ऊर्ध्व और मध्यमें फैलीहुई हैं प्रत्येक लतामें तीन ओरसे तीन-तीन पत्तियां निकलीहुई हैं और प्रत्येक पत्तीके बीच-बीचमें तीन २ पुष्पोंके गुच्छे खिलेहुए हैं फिर थोडी दूर आगे बढकर देखनेसे इन लताओंमें तीन २ फल एक अरुण, एक श्वेत और एक कृष्णवर्णके लगेहुए हैं जैसे मैंने इच्छा की, कि इनमेंसे एक तोडकर खाऊँ, कि इतनेमें आकाशबाणी हुई, कि अरे पथिक ! इन फलोंमें हाथ न लगाना देख ! जो इनको स्पर्श करता है वह मध्यमें अटका रहजाता है, जो खाता है वह नीचे गिरता चलाजाता है और जो इनको त्यागता है वह ऊपरको चलाजाता है। इतना शब्द सुनते ही मारे भयके मैंने

अपनी आंखें बन्द करलीं जो फिर थोडी देरके पश्चात् आंखें खोलीं तो क्या देखता हूं, कि जहांसे डुबकी लगायी थी वहां ही आखडा हूं।

प्यारे पाठको ! अब थोडा स्थिर होकर विचारनेसे ऐसा अनुभव होता है, कि वह कन्या साक्षात उस महाप्रभुकी परम प्रिय शक्ति माया थी जिसे प्रकृतिके नामसे पुकारते हैं और उसीकी लगायी हुई उस शून्यदेशमें यह तीन लतावाली बेलि थी जिसे सृष्टिके नामसे पुकारते हैं। जिसका यह संपूर्ण विस्तार फैलाहुआ है। अर्थात् तीन देव, तीन लोक, तीन अवस्था जो कुछ देखरहे हो सब इसीका त्रिगुणात्मक विस्तार है। अब यहां महाभारतकी रणभूमिमें रथपर आरूढ श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द अपने परम प्रिय भक्त अर्जुनसे इन ही तीनों गुणोंका भेद वर्णन करेंगे चलो हम तुम भी चलकर सुनें क्या कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

मू०— परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १

पदच्छेदः— ज्ञानानाम (परमात्मतत्वप्रतिपादकानां साधनानाम्) उत्तमम् (उत्तमफलदायकम् अथवा उद्गतं तमः तमोगुणः यस्मात् तत) परम् (सर्वोत्कृष्टम् । परमार्थनिष्ठम्) ज्ञानम् (संसारनिवर्त्तकं बोधम्) भूयः (पुनः) प्रवक्ष्यामि (प्रकर्षेण कथयिष्यामि) यत्, ज्ञात्वा (वेदान्तवाक्यजन्यया धीवृत्या अपरोक्षी कृत्य । स्वरूपत्वेन अनुभूय) सर्वे (समस्ताः) मुनयः (मननशीलाः यतयः)

इतः (संसारात् । अस्मात् देहबन्धनादूर्ध्वम्) पराम् (श्रेष्ठाम्) सिद्धिम् (मोक्षाख्याम) गताः (प्राप्ताः) ॥ १ ॥

पदार्थः— (ज्ञानानाम) परमार्थतत्वके प्रतिपादन करनेवाले जितने प्रकारके ज्ञान हैं उनमें (उत्तमम्) सबोंसे उत्तम फलका देनेवाला (परम) सबोंसे श्रेष्ठ (ज्ञानम) संसारनिवृत्ति करनेवाले बोधरूप ज्ञानको भूयः फिर मैं एकबार (प्रवक्ष्यामि) उत्तम रीतिसे बिलग-बिलग कर कथन करूंगा (यत् ज्ञात्वा) जिसको ज्ञानकर (सर्वे मुनयः) सब मननशील यतिगण (इतः) इस संसारबन्धनसे छूट (परां सिद्धिम) अति श्रेष्ठ सिद्धिको जिसे मोक्ष कहते हैं (गताः) प्राप्त होगये हैं ॥ १ ॥

भावार्थः— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द जगत्‌हितकारी गोलोकविहारीने अपने मुखसरोजसे इस गीताके चौथे अध्यायके सातवें श्लोकमें जो यों कहा है, कि, "यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति⋯" अर्थात् हे अर्जुन ! जब-जब इस संसारमें धर्मकी ग्लानि होती है और अधर्म उठना चाहता है अर्थात् पाप प्रबल होकर धर्मको दबालेना चाहता है तब-तब मैं स्वयं अवतार लेकर धर्मका संस्थापन करडालता हूं। सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि इस महाभारतके समय ऐसा ही कठोर और घोर अधर्मका प्रबल डंका बजना आरम्भ होगया था, कि सब छोटे बडोंकी बुद्धि नष्ट हो घोर अन्यायसे भरगयी थी न्याय न जाने कहां जाकर छिपगया था क्या ही अन्धेर था, कि बडे-बडे बुद्धिमान ज्ञानी वीर न्यायशील जिस सभामें सुशोभित होरहे थे

औरोंकी तो कौन चलावे जहां स्वयं भीष्मपितामहके सदृश महान् विचारशील विराजमान थे तहां एक सर्वाश्रयहीन सुशीला अबला द्रौपदीको नंगी कीजानेकी आज्ञा मिले, दुश्शासनसा कठोरहृदय जिसकी चोटी पकड मध्य सभामें घसीटता लावे, सहस्रों विनय करने पर भी कुछ न सुनाजावे, नंगी कर ही दीजावे, किसीकी बुद्धि इसके रोकनेमें काम न करे और किसीका भी साहस न पडे तो विचार करेने योग्य है, कि ऐसे समयको कलिका आरम्भ क्यों न कहाजावे ? अवश्य द्वापरकी समाप्ति तो थी ही परे जैसे किसी स्थानमें मलका ढेर दूर हीसे दुर्गन्ध करेता है ऐसे इस कलिने अपने आगमनसे वर्षों पूर्व ही वायुमें अपनी दुर्गन्ध फैलाना आरम्भ करदिया । यदि श्याम-सुन्दर स्वयं चीर बनकर धर्मकी नासिकाको उस समय न ढकलेते तो न जाने किस प्रकारकी दुर्दशा शीघ्र ही फैलजाती ? पर भगवान्ने अपने संकल्पानुसार अपना प्रण पूर्ण किया, कि अवतार धारण कर उस समय अधर्मके आक्रमणसे धर्मको बचालिया ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस समय रथपर खडेहुए भगवान् अधर्मियोंके संहारनेको तो तत्पर हो ही रहे हैं पर इधर एक अर्जुनका मिस लेकर महाभारतका कार्य सम्पादन करना और संपूर्ण संसारको ज्ञान उपदेश कर संसारसे मुक्त करदेना आपहीका काम था। एक अर्जुनके द्वारा दो कार्य सम्पादन कर "एका क्रिया द्व्यर्थ-करी प्रसिद्धा " इस वचनको चरितार्थ करदिया। क्यों न हो आपने अवतार भी तो इसी कारण लिया, कि संसारका कल्याण होवे । अब ऐसे सूक्ष्म समयमें उधर शत्रुओंकी भी पूरी सुधि लेनी और

इधर भक्तोंको संसृतितापसे बचाना वाहरे तेरी चतुराई ! जो तू एक ही रथपर बैठाहुआ दोनों कार्योंकी पूर्ति कररहा है ।

अध्याय तेरहवेंके श्लोक २ में भगवान् कहआये हैं, कि " **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम** " क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मुझको सम्मत है । तात्पर्य यह है, कि प्राणियोंको क्षेत्र जो अपना शरीर तथा दोनों प्रकारका क्षेत्रज्ञ जो जीव और ईश्वर इनके यथार्थभेदका प्रकाश करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान मेरे जानते सब ज्ञानोंमें श्रेष्ठ है ।

इतना कहकर भगवानने तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र और क्षेतज्ञकी विलक्षणता नाना प्रकारसे कह सुनायी और उसके साथ-साथ श्लोक ७ से ११ पर्यन्त " **अमानित्व** " से लेकर " **तत्वज्ञानार्थदर्शनम्** " पर्यन्त ज्ञानके २० लक्षण कथन कर अन्तमें कहा, कि " **एतज्ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा** " अर्थात् जो कुछ मैंने कहा वही यथार्थ ज्ञान है और जो इससे इतर है वह अज्ञान है । तात्पर्य यह है, कि यहांतक अमानित्वादि साधनोंको ज्ञानका स्वरूप कथन किया पर इतने कहनेपर भी भगवानके हृदयमें सन्तोष न हुआ; क्योंकि अर्जुन ऐसे प्रिय भक्तपर दया विशेष है । फिर जैसे परम उदार दानी चाहे कितना भी दान देवे पर उसे सन्तोष नहीं होता इसी प्रकार भगवान अर्जुनको ज्ञान-दान देतेहुए सन्तुष्ट नहीं होते हैं इसलिये फिर इस चौदहवें अध्यायका आरम्भ करतेहुए कहते हैं, कि [**परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्**] वह जो

परम श्रेष्ठ सब ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान है जिस ज्ञानसे सर्वोत्तम फल प्राप्त होता है वह मैं फिर तुझसे कहूंगा यहां जो भगवान्ने (भूयः) अर्थात फिर शब्द उच्चारण किया इसका कारण यह है, कि कोई अज्ञ पुरुष ऐसी शंका न करबैठे, कि जब भगवान् तेरहवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें यह कहचुके हैं, कि ज्ञानके इन अमानित्वादि बीसों अंगोंसे जो इतर है सो अज्ञान है तो अब अर्जुनको कौनसा उत्तम ज्ञान उपदेश करेंगे ? इसी शंकाके दूर करनेके तात्पर्यसे भगवान्ने (भूयः) शब्दका उच्चारण किया अर्थात् कुछ नवीन नहीं कहेंगे उसी ज्ञानका परिष्कार करेंगे जिसे १३ वें अध्यायमें कहआये हैं । यदि शंका हो, कि उसीको फिर दुबारा कहनेसे क्या लाभ है ? तो उत्तर यह है, कि बहुतसी बातें जो ज्ञानके सम्बन्धमें इस १३वें अध्यायमें कह आये हैं उनके सब अंगोंकी पूर्त्ति नहीं हुई है इसीलिये उन अंगोंकी पूर्त्ति करनेके तात्पर्यसे फिर उसी ज्ञानके तत्वोंको कहेंगे । जैसे १३ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें भगवानने कहा है, कि " यावत्सञ्जायते किञ्चित्······· " अर्थात हे अर्जुन ! जो कुछ स्थावर जंगम पदार्थ उत्पन्न होते हैं सबोंको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात प्रकृति और पुरुषके संयोगसे जानो । यहां प्रकृति और पुरुषको सब वस्तुओंके उत्पन्न होनेका कारण तो बतादिया पर ये दोनों भी जिस परमपुरुषके अधीन होकर कार्य करते हैं उसका बताना रहगया ।

फिर भगवान्ने यह कहा, कि " कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु " (अ० १३ श्लोक२१) अर्थात उत्तम वा नीचयोनियोंमें जन्म होनेका कारण इन तीनों गुणोंका ही संग है पर यहां किस गुणमें किस

प्रकारका संग होता है? और वे गुण उस चैतन्यको किस प्रकार अपनेमें फँसा लेते हैं ? सो पूर्णप्रकार कहना रहगया।

फिर भगवानने जो यह कहा, कि "भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्" (अ० १३ श्लो० ३५) अर्थात भूतोंकी प्रकृतिसे मोक्षको जो जानते हैं वे परम पदको प्राप्त होते हैं सो इन से किस प्रकार मुक्त होना चाहिये ? सो कहना रहगया। फिर जो इस भेद को जानकर मुक्त होजाते हैं उनके क्या लक्षण हैं ? यह भी कहना रहगया।

उक्त सब शेष वार्त्ताओंके पूर्ण करनेके तात्पर्यसे भगवानने इस चौदहवें अध्यायके १ श्लोकमें 'भूयः' शब्दका उच्चारण किया है तथा श्रोताओंकी रुचि बढ़ानेके तात्पर्यसे उस ज्ञानकी स्तुति करतेहुए कहते हैं, कि [**यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः**] मैं वह उत्तम ज्ञान, हे अर्जुन ! तुझसे कहूंगा जिसको जानकर पूर्व-कालमें अनेक मुनि, ऋषि, महर्षि जो मननशील थे परम सिद्धि जो मोक्षपद तिसे प्राप्त होगये अर्थात इस उत्तमज्ञानके अनुष्ठानसे अन्त में इस शरीरको त्यागकर ब्रह्मस्वरूप होगये ॥ १ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि इस ज्ञानके साधन करनेवालोंको मोक्षपद अर्थात भगवत्स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है ऐसा नियम है।

मू०— इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

पदच्छेदः— इदम् (यथोक्तम् । वक्ष्यमाणम्) ज्ञानम् (अध्यात्मज्ञानसाधनम् । ज्ञप्तिस्वरूपम्) उपाश्रित्य (अनुष्ठाय) मम, साधर्म्यम् (सर्वात्मत्वम् । सर्वनियन्तृत्वम् । सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् । मद्रूपतां वा) आगताः (प्राप्ताः) सर्गे (ब्रह्माद्युत्पत्तिकाले) अपि, न, उपजायन्ते (उत्पद्यन्ते । जन्मविक्रियां नानुभवन्ति) प्रलये (सृष्टिविनाशकाले) च, न, व्यथन्ति (व्यथां प्राप्नुवन्ति । चलन्ति) ॥ २ ॥

पदार्थः— (इदम्) यह जो इस अध्यायमें कथन किया जावेगा (ज्ञानम्) अध्यात्मज्ञान उसे (उपाश्रित्य) अनुष्ठान करके (मम साधर्म्यम्) जो मेरे साधर्म्यको अर्थात् मेरे समान रूप गुणको (आगताः) प्राप्त होते हैं वे (सर्गेऽपि) सृष्टि होनेके समय भी (न उपजायन्ते) नहीं जन्म लेते हैं (च) और (प्रलये) प्रलयकालमें भी (न व्यथन्ति) व्यथाको नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रलयकालकी आगमें नहीं जलते । तात्पर्य यह है, कि इस ज्ञानके अभ्यास करनेपर कभी भी न जन्मते हैं न मरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थः— भगवानने जो पूर्वश्लोकमें इस ज्ञानको उत्तम कहा इसका कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि [इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः] जो मेरे कथन किये इस ज्ञान का अनुष्ठान करके अर्थात् जिस ज्ञानकी पूर्ति मैं इस अध्यायमें करूंगा

तिस ज्ञानका साधन करके जो प्राणी मेरे साधर्म्यको प्राप्त होगये हैं तात्पर्य यह है, कि जितने गुण मुझमें हैं उन सबोंको प्राप्त करचुके हैं तथा मेरा ही स्वरूप बनगये हैं वे जन्मते मरते नहीं हैं। भगवानके यहां साधर्म्य कहनेका तात्पर्य यह है, कि जैसे वह स्वयं नित्य, निर्विकार, निर्मल, निर्लेप, निर्भय, निरभिमान, निर्मम, निर्गुण, सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी, सर्ववेत्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वमय, सर्वाधिष्ठान, अनादि, अनन्त, कृपासागर, आनन्दसागर और सर्वगुणआगर है ऐसे उसके भक्त भी इन गुणोंसे सम्पन्न होजाते हैं। प्रमाण श्रुतिः— "ॐ परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै + तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः॥" (प्रश्नो० प्रश्न० ४ श्रु १०)

अर्थ— यह प्रश्नोपनिषद्की श्रुति जीवात्मा और परमात्माकी एकताको कथन करतीहुई कहती है, कि जो प्राणी उस अच्छाय, अशरीर, अलोहित, अत्यन्त निर्मल, अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मको ब्रह्मज्ञानद्वारा जानता है वह उस अक्षरब्रह्मको प्राप्त होता है और वही निश्चय करके सोम्य, सर्वज्ञ और सर्व होजाता है उसके लिये यह श्लोक (मंत्र) साक्षी है।

+ अच्छायम्— तमोवर्जितम् (शंकरः) मायाके अन्धकारसे वर्जित।

अलोहितम्— लोहितादिसर्वगुणवर्जितम् (शंकरः) अर्थात् रज, सत्व, तम आदि गुणसे वर्जित।

इसी तात्पर्यको इस श्रुतिके आगेवाली ११ वीं श्रुति अधिक दृढ करती है —

" ॐ विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति "॥११

(प्र० ४ श्रु० ११)

अर्थ— जितनी (प्राणाः) इन्द्रियां तथा (भूतानि) पृथ्वी इत्यादि भूत हैं वे सब अपने-अपने अधिष्ठातृदेव सूर्य इत्यादिके साथ-साथ जिस परब्रह्ममें जाकर प्रतिष्ठित होते हैं उस अक्षरब्रह्मको जो विज्ञानात्मा जिज्ञासु जानता है वह हे सौम्य ! सर्वज्ञ होजाता है और सर्व होजाता है ।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो प्राणी ज्ञानके अभ्यास द्वारा मेरे साधर्म्यको प्राप्त होगये हैं अर्थात् मेरे समान होगये हैं मेरे रूपमें आमिले हैं वे [**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**] सृष्टिके आरम्भमें भी नहीं उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें नष्ट होते हैं नित्य होजानेके कारण उत्पत्ति और विनाशसे रहित होजाते हैं जैसे काकभुसुण्ड इत्यादि ॥ २ ॥

एवम्प्रकार भगवानने जो उपर्युक्त दो श्लोकोंमें ज्ञानकी उत्तमता और महत्व दिखलाया है उससे अर्जुनको इस ज्ञानके जाननेकी परम श्रद्धा उत्पन्न होआयी भगवानने भी उसे अधिकारी जान इस ज्ञान का स्वरूप वर्णन करना आरम्भ करदिया और कहा, हे अर्जुन ! प्रथम तो यह सुन, कि मैं किस प्रकार इस सृष्टिको उत्पन्न करता हूं ?

मू०— ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतकुलोत्पन्न अर्जुन) ! मम (मदधिष्ठिता नतु स्वतन्त्रा) योनिः (माया । शुद्धचिन्मात्रस्य प्रवेशस्थानम् । गर्भाधानस्थानं वा) महद्ब्रह्म (महत्तत्त्वस्य प्रथम-कार्यस्य वृद्धिहेतुरूपाद्बृंहत्वाद्ब्रह्म अव्याकृतम् । त्रिगुणात्मिका माया) अहम् (चिदात्मा । शक्तिमानीश्वरः) गर्भम् (भूतभौतिकविस्तार-हेतुम् हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं चिदाभासं स्वप्रतिबिम्बस्वरूपं तथा बहुस्यां प्रजायेय इतीक्षणरूपं संकल्पम्) दधामि (प्रक्षिपामि । धार-यामि । अर्थात विद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयो-जयामि) ततः (तस्मात क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात) सर्वभूतानाम् (स्थावरजंगमानां हिरण्यगर्भादिस्तम्बपर्यन्तानाम्) सम्भवः (उत्पत्तिः) भवति ॥ ३ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलमें उत्पन्न परम बुद्धिरत्न-रूप अर्जुन ! (मम) मेरे अधीन रहनेवाली मेरी जो (महद्ब्रह्म) महत्तत्त्वरूप माया मेरी चिन्मात्रसत्ताके प्रवेश करनेका (योनिः) गर्भस्थान है (तस्मिन्) उस मूलप्रकृतिरूप योनिमें (अहम्) मैं सर्वेश्वर (गर्भम्) गर्भको अर्थात् हिरण्यगर्भके जन्मनेका बीज जो चिदाभास तिसे (दधामि) डालदेता हूं अर्थात् क्षेत्रज्ञ जो पुरुष उसे क्षेत्र जो प्रकृति तिसके साथ जोडदेता हूं (ततः) तिस प्रकृतिपुरुषके संयोगसे (सर्वभूतानाम्) ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त

जितने स्थावर जंगम हैं सबोंकी (संभवः) उत्पत्ति (भवति) होती है । अर्थात् जब मैं सृष्टिकी इच्छा करता हूं तब यह सृष्टि उत्पन्न होजाती है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब भगवान् यहांसे अर्जुनके तथा सर्वसाधारण प्राणियोंके कल्याण निमित्त वह उत्तमज्ञान वर्णन करेंगे जिसके द्वारा इस सृष्टिके आरंभसे प्रलय पर्यन्त जितनी मुख्य वार्त्ताओंके जाननेकी आवश्यकता है सबकीसब ठीक-ठीक पूर्णरीतिसे जानी जावेंगी और प्राणी पूर्ण ज्ञानी होजावेगा । कैसे यह सृष्टि बनती है और बिनशती है ? तिसका पूर्ण परिचय होजावेगा। इसी तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि [**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्**] महद्ब्रह्म जो साक्षात् त्रिगुणात्मिका माया वही गर्भाधानका स्थान है उस माया अर्थात् मूलप्रकृतिमें मैं गर्भको डालता हूं अर्थात् सृष्टिके रचनेका जो प्रथम बीज अपना प्रतिबिम्ब चिदाभास तिसको प्रवेश करडालता हूं तात्पर्य यह है, कि क्षेत्रके साथ क्षेत्रज्ञका संयोग करडालता हूं ।

प्यारे पाठको ! यह विषय ऐसा सरल नहीं है, कि सुगमता से समझमें आजावे प्रथम तो इसके समझनेकेलिये गुरु और शास्त्र दोनोंकी आवश्यकता है केवल दो चार पत्रोंपर लिखडालनेसे समझना कठिन है इसके एक २ शब्द ऐसे गूढ हैं, कि इनपर विलग-विलग व्याख्यान करनेकी आवश्यकता है इसलिये जहांतक मेरी अल्पबुद्धिका इस विषयमें समावेश है पाठकोंके कल्याणार्थ यहां इस गूढ तत्त्वको प्रकाश करता हूं इतनेपर भी जिसकी समझ काम न करे वह अपने श्रीगुरुदयालुके समीप इस ग्रन्थको लेजाकर समझलेवें ।

इस श्लोकमें जो भगवानने गर्भाधानसे उदाहरण देकर अत्यन्त गूढ विषयका कथन किया है अर्थात् सृष्टि कैसे बनती है ? इस विश्वका आरम्भ कैसे होता है ? उसे वर्णन करते हैं । तहां महद्ब्रह्म को जो योनि अर्थात् गर्भ धारण करनेका स्थान कथन किया सो महद्ब्रह्म क्या है ? यहां वर्णन कियाजाता है ।

महत् शब्दका अर्थ है बहुत बडा अर्थात् जो सबसे बड़ा हो उसे महत् कहते हैं फिर यह तो सब जानसकते हैं, कि सबसे बड़ा वही कहाजावेगा जो सबसे पहले हो उसीको प्रधानके नामसे पुकारते हैं वैदिककोष निघण्टुके तीसरे अध्यायमें जहां *महत् शब्दके २५ नामोंकी गणना है तहां प्रधान शब्द भी लिखा है । इसलिये प्रकृति को महान् कहसकते हैं । फिर सांख्यशास्त्रने अपने प्रथम अध्याय के ६१ वें सूत्रमें " प्रकृतेर्महान " लिखकर यह सिद्ध किया है, कि प्रकृतिसे महान् जो महत्तत्त्व जिसे बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं उसे महान् कहते हैं ।

* महत् शब्दके वेदमें इतने पर्याय शब्द आते हैं सो वैदिक कोष निघंटुके अ० ३ से निकालकर लिखेजाते हैं— १. ब्रध्न, २. ऋष्वः, ३. बृहत्, ४. उक्षितः, ५. तवसः, ६. तविषः, ७. महिषः, ८. अभ्वः, ९ ऋभुक्षः, १०. उक्षा, ११. विहायाः, १२. यव्हः, १३. ववक्षिथ, १४. विवक्षसे, १५. अम्भृणः, १६. माहिनः, १७. गभीरः, १८. ककुहः, १९. रभसः, २०. व्राधनः २१. विरप्शी, २२. अद्भुतम्, २३. वंहिष्ठः, २४. वर्हिषत् ॥

तात्पर्य यह है, कि वैदिक अर्थसे तो प्रकृति ही को महान् कहते हैं और सांख्यने भी प्रकृतिसे जो निकला सबसे पहला महत्तत्त्व उसे महान् कहा है इसीको बुद्धिके नामसे भी पुकारते हैं। ये दोनों अर्थ महत् शब्दके हुए। अतएव भगवान्ने महत् शब्दके साथ ब्रह्म शब्द की योजना करके 'महद्ब्रह्म' ऐसा प्रयोग किया। तहां बृह्मशब्द 'वृंहि वृद्धौ' धातुसे बना है जिसका अर्थ है 'वृंहति वर्द्धते वा' जो बढे अर्थात् विस्तारको प्राप्त होवे। इस कारण महत्के साथ ब्रह्म शब्द के जोडदेनेसे यह अर्थ होता है, कि जो सबसे प्रथम महान् होकर आगे विस्तारको प्राप्त होवे। सो सबोंका मूल जो प्रकृति है वह स्वयं महान् होकर विस्तारको प्राप्त होती है। वेदान्ती उस प्रकृतिको मायाके नामसे पुकारते हैं। सो भगवान्के कहने का भी यही तात्पर्य है, कि जो मेरी त्रिगुणात्मिका शक्ति माया है वही योनि है जहांसे सब उत्पन्न होते हैं पर योनि जो उत्पन्न करने वाली शक्ति है उसमें जब तक बीज न डालाजावे तो वह शक्ति निरर्थक पडी रहेगी। जैसे पृथ्वीमें उपजानेवाली शक्ति तो तयार है पर जब तक बीज न डालाजावे तब तक वह कुछ भी नहीं उपजा सकती। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि इस महद्ब्रह्मरूप शक्तिमें मैं बीजको डालकर मानो गर्भाधान करता हूं अर्थात् इस मायामें अपने विश्वरूप चित् संवितको जोडडालता हूं। अब यह चित्सम्वित् क्या है? सो जानना चाहिये। तहां चित् कहिये चेतना अर्थात् ज्ञानको जिस के द्वारा सबकुछ जानाजाय उस शक्तिका नाम चित है। दुर्गादासने अपने कोषमें 'ज्ञानमिहजागरणाम्' ऐसा चित शब्दका अर्थ किया है

अर्थात् सोनेसे जागपडनेकी जो अवस्था है उस अवस्थासे जब तक फिर सोजावे तबतकके ज्ञानका नाम चित् है। यह वह शक्ति है जिस के द्वारा प्राणी सोनेसे जागपडता है। इसी चितसे संवेदना अर्थात् अपने स्वरूपका आप अनुभव करता है। ये चित और संवित् दोनों शक्तियां उस महाप्रभुमें ही हैं। तहां श्रुतियां प्रमाण हैं जैसे "सच्चिदानन्दोऽयं ब्रह्म" यह ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है। तहां सच्चिदानन्द शब्दका अर्थ दुर्गादासने अपने कोषमें यों किया है, कि "सँश्चासौ चिच्चासौ आनन्दश्चेति त्रिपदे कर्मधारयः" अर्थात् यह ब्रह्म नित्य, ज्ञान और सुखस्वरूप है। यहां सत्का अर्थ नित्य और चित्का अर्थ ज्ञान तथा आनन्दका अर्थ सुख किया है। अब यहांसे चित् निकाललो और श्रीधरस्वामीकी जो स्तुति "वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि। यस्यास्ति हृदये संवित् तन्नृसिंहमहं भजे" यहां भगवान्के हृदयमें जो संवित् है उसे निकाललो फिर इन दोनोंको एकसाथ जोड़दो तो "चित्संवित्" ऐसा शब्द होता है जिसका अर्थ होता है, कि चित्तमें जो सम्वेदना फुरे अथवा जिस शक्तिमें चित् और संवित् दोनों एकत्र हों उसे कहिये "चित्संवित्" यही चित्संवित् जो भगवान्का उत्तमोत्तम गुण है सो ही महद्ब्रह्मस्वरूप योनिमें गर्भाधानके लिये बीजरूप है अर्थात् महद्ब्रह्मरूप पृथ्वीमें जो चित्संवित्रूप बीजका डालना है सो ही सृष्टिका आरम्भ वा संकल्प है। तात्पर्य यह है, कि प्रलयकालसे सहस्र चतुर्युगी पर्य्यन्त सोयीहुई जो भगवान्की ईक्षणस्वरूप शक्ति है वह जिस समय जागपड़ती है उसी समय सृष्टिका आरम्भ होजाता है। जैसे

मनुष्य सोनेसे जब जागपडता है तब उसके शरीरमें व्यापक जो परमात्माकी चित्संवित्‌रूप शक्ति है वह फुरना आरम्भ होती है आंखें खुलते ही पहले उसे अपने स्वरूपका चेत होता है फिर वह इधर-उधर देखने लगता है तब उसे अपने हल और मूसलकी ओर जो घरमें रखे रहते हैं दृष्टि पडती है फिर उसे उस हलका कार्य स्मरण होआता है पश्चात् अपने कांधेपर हल ले अपने क्षेत्रमें बीज डालने जाता है ।

इसी प्रकार वह परमात्मतत्त्व जो प्रलयकालमें सुप्त और सृष्टिकालमें सदा जगा करता है एकाएक जब सोनेसे जगपडा और बोला " अहं ब्रह्मास्मि " अर्थात् जागते ही अपने स्वरूपको सँभाला फिर अपने आसपासकी अपनी परमशक्ति मायाकी ओर देखा यहां ही जो एवम्प्रकार ईक्षण हुआ उसे ही बीज कहते हैं । क्योंकि इसीको चित्संवित्‌का फुरना भी कहते हैं । यथा प्रमाण श्रुतिः—"तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय " अर्थात् मैं एक हूं बहुत होकर उत्पन्न होजाऊं । फिर इसी संकल्परूप बीजको अपने आसपासवाली शक्तिमें डालदिया यही गर्भाधान करना हुआ । तहांसे इस ईक्षण और संकल्परूप हल मूसलको ले अपने चित्संवित् रूप बीजको हाथ में लियेहुए महद्‌ब्रह्म जो प्रकृतिरूप क्षेत्र उसमें बोदिया वपन करनेके साथ ही आकाश, वायु आदि पांचों भूत दशों इन्द्रियां चार अन्तःकरण इत्यादि क्षेत्र फलना आरम्भ हुए अर्थात् सारी सृष्टि बनकरे बढ़चली बढ़ते-बढ़ते यह बेलि दशों दिशाओंमें फैलगयी ।

इसी इतने तात्पर्यको दिखलातेहुए भगवान् कहते हैं, कि मेरी माया जो महद्ब्रह्म है उसमें मैं गर्भाधान करता हूं अर्थात् चित्संवित्-रूप बीजको डालता हूं एवम्प्रकार गर्भाधान करनेसे [**संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत !**] ब्रह्मासे लेकर एक पिपीलिका पर्यन्त तथा सुमेरुसे लेकर एक तृण पर्यन्त सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। तहां मनु कहते हैं— " **मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं जायते तस्मात्** .... " अर्थात् उस महाप्रभुने जो सृष्टिके बनानेकी इच्छासे मैं सृष्टि करूं ऐसा जो संकल्प किया उससे सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ एवम्प्रकार आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी तककी उत्पत्ति हुई ।

तहां श्रुति भी कहती है, कि " **ॐ स ईक्षत लोकाननुसृजा इति** " " **स इमांल्लोकानसृजत** " (ऐतरेय० अ० १ श्रु० १, २)

अर्थ— उस महाप्रभुने ईक्षण किया, कि मैं सब लोकोंको रचूं ऐसे ईक्षण करते हुए उसने इन सब लोकोंको रचदिया । यही ईक्षण करना मानों प्रकृतिमें बीज डालना हुआ जिस बीजके पडते ही सब भूतोंकी उत्पत्ति होगयी ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब मैं अपनी मायाको आज्ञा देता हूं तब ही वह सृष्टि करना आरम्भ करती है अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों स्वाधीन नहीं हैं मेरे अधीन हैं इनका स्वयं कुछ भी वल नहीं है, कि ये कुछ करें जब मैं इनको अपनी सत्ता प्रदान करता हूं अर्थात् इनको आज्ञा देता हूं तब इनके संयोगसे सारी सृष्टि बनजाती है ॥

सो यह भगवानकी आज्ञा सदासे प्रकृतिके ऊपर चली आरही है कैसी भी घनघोर घटा आकाशमें क्यों न उमडआयी हो पर बिना उस महाप्रभुकी आज्ञाके एक बूँद जल भी पृथ्वीपर नहीं छोडसकती उसीकी आज्ञामें सूर्य, चन्द्र, तारागण, सब लोकलोकान्तर सदा आकाशमें चक्कर लगारहे हैं ॥ ३ ॥

अब भगवान इसी विषयको और अधिक स्पष्ट करनेके तात्पर्यसे अगला श्लोक कहते हैं—

मू०— सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तय: संभवन्ति या: ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहंबीजप्रद: पिता ॥ ४ ॥

पदच्छेद:— कौन्तेय ! (हे कुन्तीपुत्रार्जुन !) सर्वयोनिषु (देवपितृमनुष्यपशुपक्षिकीटपतंगादिषु सर्वासु योनिषु) या:, मूर्तय: (सुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकानि यानि जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जादिभेदेन विविधशरीराणि) संभवन्ति (उत्पद्यन्ते) तासाम्, ब्रह्ममहत् (प्रकृति:) योनि: (मातृस्थानीया) अहम् (वासुदेव:) बीजप्रद: (गर्भाधानकर्त्ता) पिता ॥ ४ ॥

पदार्थ:— (कौन्तेय !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (सर्वयोनिषु) देव, पितर, मनुष्य इत्यादि सब योनियोंमें (या:, मूर्तय:) जो भिन्न-भिन्न मूर्तियां (संभवन्ति) उत्पन्न होती हैं (तासाम्) उनकी (योनि:) योनि अर्थात् मातृस्थान यह (ब्रह्ममहत्) मेरी प्रकृति ही है और (अहम्) मैं वासुदेव (बीजप्रद:) बीजका डालनेवाला (पिता) उनका पिता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थः— पहले जो भगवान् यों कहचुके हैं, कि मैं सृष्टि-कालमें अपनी प्रकृतिमें अपना चित्संवित्रूप बीज डालता हूं उससे सारी सृष्टि उत्पन्न होती है यह इतना भगवानका कहना तो सम्पूर्ण विराट्के विषय हुआ अर्थात् समष्टि-सृष्टिकी एक मूर्ति बनकर विराट् वा विश्वके नामसे पुकारी जाती है उस सारी सृष्टिके विषय भगवान् ने एक सिद्धान्तवाले इस तात्पर्यसे श्रवण करादिया, कि बहुतेरे प्राणी जो यों समझगये होंगे वा समझरहे हैं, कि केवल क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ जो प्रकृतिपुरुषका संयोग है उसीसे सृष्टिका बनना आरम्भ होजाता है पर ऐसा नहीं इन दोनोंके संयोगमें भगवान् अपना बिम्ब डालते हैं तब इन दोनोंमें प्रथम विराट् प्रकट होनेकी शक्ति प्रवेश करती है फिर संकल्पमात्र ही से एक बार पल मारते सारा ब्रह्माण्ड उदय होजाता है । इस सिद्धान्तको भगवानने उपर्युक्त चौथे श्लोक में कहा अब इस सृष्टिके अन्तर्गत जो भिन्न-भिन्न देव, पितर इत्यादि की मूर्तियां बनती हैं उनके बिलग-बिलग स्वरूपोंके बननेका बीज भी भगवान् वासुदेव ही है इस तात्पर्यको जनातेहुए कहते हैं, कि [**सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः सम्भवन्ति याः**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! सुन ! ये जो इस ब्रह्माण्डमें देव, पितर, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लता, बेलि, मंजर, फूल, फल, तथा नाना प्रकारके तृणोंको तू देखता है अर्थात ये जितनी मूर्तियां इस विश्वमें प्रकट होती चलीआती हैं जिनकी ओर दृष्टि करनेसे बुद्धिमान् परम सुख और आनन्द लाभ करतेहुए कर्त्ताकी शक्तिको धन्यवाद देते हैं, कि जिसके चित्संवित्रूप भण्डारमें न

जाने कितने प्रकारकी मूर्तियां भरीहुई हैं जिन मूर्तियोंका भेद ब्रह्माको भी ज्ञात नहीं है ।

देखो ! किसी एक रचनाको संमुख रखलो फिर बिचारो, कि इसमें कितने प्रकारकी मूर्तियां बनीहुई हैं देवताओंमें जो ३३ कोटि और इधर मृत्युलोकमें जो ८४ लक्ष योनियां तथा अन्य भिन्न-भिन्न लोकों में जो नाना प्रकारकी योनियां हैं इनकी मूर्तियोंका कहीं भी अन्त नहीं है। एक पक्षीकी ओर आंख उठाकर देखो ! वह मयूर जो तुम्हारे सामने नृत्य कररहा है कैसा रूपवाला है ? उसकी मूर्ति कैसी सुन्दर है ? मस्तक पर तीन कलंगियां लगीहुई हैं मानों प्रकृति उसे रचकर उसके मस्तक होकर अपनी तीन अँगुलियां निकाल बुद्धिमानोंको सूचना देरही है, कि यह तीन गुणोंके मेलसे उस ब्रह्मबीजको लेकर मैंने सारी सृष्टि बनाली है । फिर देखो बुलबुल चहक-चहक कर शोर मचाता हुआ इस प्रकृतिरूप माता चित्संवित् रूप पिताका गुणगान करता फिरता है जिसने उसका स्वरूप ऐसा सुन्दर बनाकर कैसी मधुरताके साथ चहकनेकी शक्ति प्रदानकी है । एवम्प्रकार चातक, कोकिल, कपोत, कमेरी इत्यादि पक्षीगण इस बुलबुलके कथनका (Second) अनुवाद कररहे हैं । किसीने कहा है, कि " सांझसवेरे चिड़ियां मिलकर चूँ चूँ चूँ चूँ करती हैं । चूँ चूँ चूँ चूँ समझो तो सब जिक्रे * बेचूँ करती हैं " अर्थ स्पष्ट है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि एक पक्षी ही में इतने प्रकारकी मूर्तियां हैं, कि इनका पता आजतक बुद्धिमानोंको कुछ भी न लगसका।

---

* बेचूँ— फारसी भाषामें भगवान्को कहते हैं ।

इसी प्रकार गुलाब, जुही, चमेली, मालतीरूप मंजरी इत्यादि पुष्पोंकी मूर्तियोंकी ओर अवलोकन करो, कि जिनमें हरे, पीले, नीले, लाल इत्यादि रँगोंसे विचित्र प्रकारकी चित्रकारियां बनीहुई दीख-पडती हैं इन पुष्पोंकी रचनाका भी कहीं अन्त नहीं है। कहां तक कहूं ग्रन्थविस्तारे होनेके भयसे संक्षिप्त कर कहता हूं, कि मूर्तियोंका कहीं भी अन्त नहीं है फिर एक-एक मूर्तिमें ऐसी सुन्दरता है, कि जिसे देख बुद्धिमानोंका चित्त क्षुब्ध होजाता है और वाचाशक्ति मूक होजाती है।

इनही मूर्तियोंके विषय भगवान् कहते हैं, कि जितनी मूर्तियां देवताओंसे लेकर कीट पतंग पर्यन्त तथा कल्पवृक्षसे लेकर तृण पर्यन्त जो नाना प्रकारकी योनियोंमें बनीहुई हैं [**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता**] तिन सबोंकी योनि अर्थात् उत्पन्न होनेका स्थान जो मातृस्थान सो यह मेरी त्रिगुणात्मिका माया है जिसे ब्रह्ममहत्के नामसे पुकारते हैं और मैं साक्षात् पूर्णपरब्रह्म जगदीश्वर इस योनिमें बीजका डालनेवाला पिता हूं।

यहां पिता शब्दके प्रयोग करनेका यही तात्पर्य है, कि जैसे किसी स्त्रीमें जब पिता बीज डालता है तब उससे पिताके स्वरूपानुकूल ही मूर्ति उत्पन्न होती है अर्थात् मनुष्यसे मनुष्य, गन्धर्वसे गन्धर्व और पशुसे पशु ही उत्पन्न होता है ऐसा नहीं होसकता, कि पशुसे मनुष्य और मनुष्यसे पशु उत्पन्न होवे। तात्पर्य यह है, कि पिताका आकार प्रधान रहता है सो एक-एक मूर्तिमें जो स्वरूप अर्थात् आकार

है उस आकारका कारण वह महाप्रभु स्वयं है प्रकृतिमें आकार बनाने की शक्ति नहीं है वरु बीजानुकूल बनीबनाई मूर्तिके आकारको केवल फोडकर निकालने तथा वृद्धि करनेकी शक्तिमात्र प्रकृतिमें है। इसलिये जितने आकार दीखपडते हैं सब उसी ब्रह्मरूप पिता के हैं।

इसी कारण श्रीश्यामसुन्दर अर्जुनसे कहरहे हैं, कि इन मूर्तियों का बीजप्रद पिता मैं ही हूं। प्रमाण श्रु०—"ॐ कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्ण्वर्चिर्वपुषामिदेकम्" (ऋ० मण्डल ४ अ० १ सू० ७ मं० ६)

अर्थ—हे भगवन्! हमलोग आपके कृष्णस्वरूपकी शरण प्राप्त हों, कैसा वह स्वरूप है? जिसका परमप्रकाशरूप तेज सर्वत्र 'पुरोभाः' स्वरूपोंके आगे शोभायमान होताहुआ जो "चरिष्णु" धीरे २ सर्वत्र ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त आगे बढनेवाला रूपवानोंके रूपमें रूपका एक विशेष कारण है। फिर दूसरा मंत्र सुनो! "ॐ रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (ऋ० मण्डल ६ अ० ४ सू० ४७ मं० १८)

अर्थ—वह इन्द्र जो परमेश्वर अपनी माया करके "पुरुरूप ईयते" बहुतसी मूर्तियोंको धारण करता है ऐसे धारण करताहुआ वह महाप्रभु "रूपंरूपम्" इस संसारमें जितने रूप हैं उनमें एक-एक रूपके प्रति अपने चित्संवित्‌को प्रवेश कर उसी-उसी रूपके अनुसार बनगया अर्थात् पंचभूतोंमें अपने रूपोंको डालदिया इसलिये मानो वह स्वयं सब रूप बनगया। किस कार्यके लिये बना?

तो कहते हैं, कि अपने रूपको सर्वत्र " प्रतिचक्षाणाय " अपने भक्तजनोंसे गान करवानेके लिये जिससे उन भक्तोंका उद्धार होवे ।

अब सामवेद भी मायाको माता तथा स्वयं उस महाप्रभुको पिताके समान सृष्टिको उत्पन्न करनेवाला जानकर यों स्तुति करता है– " ॐ कृष्णां यदेनीमभिवर्चसाभूज्जनयन् योषां बृहतः पितुज्र्जाम् । ऊर्ध्वं भानुं सूर्यस्य स्तभायन्दिवो वसुभिररतिर्विभाति "

(सामवेद उत्तरा० अ० १५ खं० २ सू० १ मं० ६)

अर्थ— (वर्चसा) हे भगवन् ! आप अपने इस सुन्दर स्वरूपसे (एनीं कृष्णाम्) यह जो प्रलयकालकी रात्रिमें (अभि भूत्) प्रलयके समय जो प्रवेश कर प्रसुप्त होजाते हो सो फिर सृष्टिके समय अपने अंगसे "योषां जनयन् " अपनी योषा जो माया उसे उत्पन्न करतेहुए प्रकट होते हो सो माया कैसी है ? " बृहतः पितुज्र्जाम् " वृद्धपितामह ब्रह्माको सबसे पहले उत्पन्न करनेवाली है तत्पश्चात् हे भगवन ! " ऊदूर्ध्वभानुस्तभायन् " अत्यन्त ऊँचाई के ऊपर आकाशमें सूर्यकी मूर्ति स्थिर करतेहुए "सूर्यस्य दिवो वसुभिः" इस सूर्यकी प्रकाशमान किरणोंके साथ " विभाति " आप स्वयं सुशोभित होते हो पर फिर भी आप कैसे हो, कि सब रूपोंमें रूप बनकर निवास करतेहुए " अरतिः " किसीमें रति नहीं रखते अर्थात् सबमें निवास करतेहुए भी आप निर्लेप हो ॥ ४ ॥

अब भगवान् इस पांचवें श्लोकसे १९ वें श्लोक पर्यन्त इस अपनी त्रिगुणात्मिका माया अर्थात् सृष्टिकी जो योनि (माता) है

तिसके तीनों गुणोंके पूर्ण वृत्तान्तका वर्णन करेंगे और दिखलावेंगे, कि इन गुणोंका संग कैसे होता है ? और किस गुणके संगसे क्या-क्या हानि और लाभ होते हैं तथा ये तीनों गुण प्राणियोंको कैसे फांस लेते हैं ? ।

मू०— सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

पदार्थः— महाबाहो ! (महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बोधने हे महाबाहो) +सत्वम् (प्रकृतेर्गुणानां मध्ये प्रसादहर्षप्रीत्यसन्देहधृतिस्मृतीत्यादयः सुखजनकगुणः) रजः (गुणानां मध्ये कामक्रोधलोभमानदर्पादिदुःखजनकगुणः) तमः (प्रमादालस्यशोकमोहादिजनकगुणः) इति, प्रकृतिसंभवाः (प्रकृतितः सम्भव उद्भवो येषां ते । त्रयाणां गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिर्माया भगवतस्तस्याः सकाशात् परस्परांगांगिभावेन परिणताः) गुणाः, अव्ययम् (अविकारिणम्) देहिनम् (देहवन्तम् । जीवम् । साधिष्ठानं चिदाभासम्) देहे (प्रकृतिकार्ये शरीरेन्द्रियसंघाते) निबध्नन्ति (निर्विकारमेव सन्तं विकारवद्दर्शयन्त स्वकार्यैः सुखदुःखमोहादिभिः संयोजयन्ति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (महाबाहो !) हे जानुतक विशालभुजावाला अर्जुन ! (सत्वम) सत्वगुण प्रकृतिके गुणोंमें जो उत्तम गुण है

+ मोक्षधर्म ग्रन्थमें प्रमाद, हर्ष, प्रीति, असन्देह, धृति और स्मृति ये सत्व गुणके षड्धर्म हैं ।

फिर (रजः) रजोगुण जो उसी प्रकृतिका मध्यम गुण है तथा (तमः) तमोगुण जो उसीका अधमगुण है (इति) ये तीनों जो (प्रकृतिसम्भवाः) प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं वे (अव्ययम) इस अविनाशी तथा अविकारी (देहिनम) आत्मसत्ताको (देहे) इस शरीरमें (निबध्नन्ति) बांधदेते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब सर्वगुणनिधान परमसुजान भगवान कृष्णचन्द्र यहांसे गुणोंका वर्णन आरम्भ करते हुए कहते हैं, कि [**सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**] सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं अर्थात् मेरी दुरत्यया माहेश्वरी मायासे ही ये तीनों गुण उत्पन्न हुए हैं। जैसे कोई चित्रलेखक जब चित्रोंको बनाना चाहता है तब पहले श्वेत, अरुण, कृष्ण इत्यादि रंगोंको बनाता है इसी प्रकार प्रकृतिनें सबसे पहले इन तीन रंगके गुणोंकी रचना की।

प्रश्न— प्रकृतिमें तो ये तीनों गुण अनादिकालसे हैं फिर भगवानने इनको ऐसा क्यों कहा, कि प्रकृतिने इनकी रचना की ?

उत्तर— जो गुण किसी विशेष व्यक्तिमें होता है उसे जब वह अपनेसे निकाल बाहरकी ओर लोगोंके सम्मुख प्रकटकर दिखलाता है तो उसको उसीकी रचना बोलते हैं। इस कारण प्रकृतिको अपने गुप्त गुणोंका प्रकट कर दिखलाना ही उसकी रचना कहीजाती है।

यदि यह शंका हो, कि साक्षात् भगवत्की प्रकृति जो सारे ब्रह्माण्ड को रचडालती है उसमें केवल तीन ही गुण क्यों ? उससे तो चार,

पांच, सात, दश, बीस सहस्रों अगणित गुण प्रकट होने योग्य थे तो उत्तर यह है, कि प्रकृतिमें तीन ही गुणोंके प्रकट होनेका मुख्य कारण यह 'काल' है इसीलिये कालके जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य ये तीन भेद हैं उनमें प्रकृति कार्य करती है। और काल कहते हैं समयको किसी वस्तुके प्रकट होनेसे पहले जो समय है उसका नाम भूत है, आगे जो समय है उसका नाम भविष्यत् है और जो मध्यका समय है वह वर्त्तमान कहाजाता है।

प्रकृतिमें जो केवल तीन गुण हैं वे उत्पत्ति, पालन और संहार के कारण ही हैं जितनी वस्तु-तरतु देखनेमें आती हैं सबोंमें रचना, पालन, और संहार ये तीन ही अवस्था हैं इसलिये प्रकृतिके तीन ही गुणोंके प्रकट होनेका अवकाश मिलता है। शंका मत करो!

अब भगवान अर्जुनके प्रति कहरहे हैं, कि [**निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्**] ये तीनों इस अव्यय अर्थात् सर्वविकारोंसे रहित अविनाशी जीवको इस प्रकार इस नश्वर विकारवान् शरीरके साथ जकड़कर बांधलेते हैं जैसे किसी अपराधी (कैदी) को एक खम्भेमें जकड़कर बांधदिया जावे।

अब यहां ऐसा न समझना चाहिये, कि इसके बांधदेनेके लिये सचमुच किसी रस्से डोर वा खम्भकी आवश्यकता है नहीं-नहीं परमार्थदृष्टिसे जो देखाजावे तो यह निर्विकार अव्यय अविनाशी जीवात्मा सचमुच नहीं बँधता है पर अविद्याके कारण बँधाहुआ भासता है क्योंकि पहला अंग इस प्रकृतिका रजोगुण है जिससे सृष्टिका आरम्भ

होता है और उसका प्रधान कारण मन है सो यह मन ही केवल बन्धनका कारण है । इस कारण भ्रमात्मकबुद्धिकी उपाधिसे यह जीव इन गुणोंके विकारके साथ मिलाहुआ ऐसे भासता है जैसे जल में सूर्यका विम्ब मिलकर जलके कम्पके साथ कम्पायमान भासता है पर बिम्बमें कांपनेका धर्म नहीं है जलमें कांपनेका धर्म है पर उस जलपर विम्ब पडनेसे किरणें कांपतीहुई भासती हैं । इसी प्रकार यह जीव गुणोंके विकारके साथ विकारवान् भासने लगजाता है यथार्थ-दृष्टिसे पूछो तो बँधाहुआ नहीं है पर अविद्याके भ्रमसे बँधाहुआ भासता है । क्योंकि पहले कहआये हैं, कि जो महान् होकर विस्तार को प्राप्त हो उसे महद्ब्रह्म (प्रकृति) कहते हैं सो सत्वादि तीनों गुणों की जहां साम्य अवस्था है तहां प्रकृति शान्तरूपसे है । पहले जो भगवान् इन गुणोंकी उत्पत्ति प्रकृतिसे कहआये हैं तिसका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि जैसे बछडे अपनी मैया गऊके पेटसे जन्म लेते हैं ऐसे ये तीनों गुण प्रकृतिसे जन्म नहीं लेते हैं वरु ये तीनों गुण तो प्रकृतिरूप ही हैं तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं।

सांख्य भी ऐसा ही कहता है " **सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः** " फिर जब तीनोंकी समान अवस्थाको प्रकृति कहते हैं तो इससे सिद्धान्त होता है, कि ये तीनों गुण उस प्रकृतिके अंग हैं इस लिये इन गुणोंको प्रकृतिसे अंगांगीभावका सम्बन्ध है सो जबतक ये तीनों गुण समानरूपसे उस प्रकृतिमें स्थित रहते हैं तबतक कहीं कुछ भी रचना इत्यादि नहीं होती पर जहां इनमें विषमता हुई तो जो

गुण आगे बढ निकला तदाकार यह जीव भासने लगगया इसलिये गुणोंके सम्बन्धसे यह जीव विकारवान सुख दुःखका भोगनेवाला भासने लगता है । इन गुणोंकी विषमताको ही इन गुणोंका प्रकृति से उत्पन्न होना कहते हैं । इस कारण स्थिर और शान्तरूप प्रकृति में गुणोंकी विषमता ही इस जीवका बन्धन है जो परमार्थदृष्टिसे मिथ्या है पर हुआ ऐसा भासता है यही भ्रमात्मकबुद्धि इस प्राणीका घोर बन्धन है । श्रीअष्टावक्रजी राजा जनकसे कहते हैं, कि "मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः । एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु," ।

अर्थ— विषय जो तीनों गुणोंके कार्य हैं उनसे नीरस होकर रहना मोक्ष है और उन विषयोंमें लिपटना बन्धन है इसीको हे जनक! तू मोक्ष और बन्ध जानताहुआ जैसी इच्छा हो कर! ॥ ५ ॥

अब ये गुण किस प्रकार इस देहीको देहके साथ बांधडालते हैं सो भगवान अगले श्लोकमें कथन करते हैं—

मू०— तत्र सत्वं निर्मलत्वात्‌ प्रकाशकमनामयम्‌ ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥६ ॥

पदच्छेदः— [हे] अनघ ! (अघशून्याव्यसनिन् !) तत्र (तेषु त्रिषु गुणेषु) निर्मलत्वात्‌ (दुःखमोहाख्यमलराहित्यात्‌ । स्फटिकवत्‌ स्वच्छत्वात्‌) प्रकाशकम्‌ (आलोकवत्सर्वार्थद्योतकम्‌) अनामयम्‌ (निरुपद्रवम्‌) सत्वम्‌ (सत्वगुणः) सुखसंगेन, च (तथा) ज्ञानसंगेन (ज्ञायते अनेनेति सत्वपरिणामो ज्ञानम्‌ तेन सहितेन) बध्नाति (असंगं सक्तमिव करोति) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (अनघ !) हे सर्व पापोंसे रहित अर्जुन ! (तत्र) इन तीनों गुणोंमें (निर्मलत्वात) निर्मल होनेके कारण (प्रकाशकम) सर्व अर्थोंका प्रकाश करनेवाला तथा (अनामयम्) सर्व प्रकारके दुःख और उपद्रवोंसे रहित जो (सत्वम) सत्वगुण है वह (सुखसंगेन) सुखके साथ (च) फिर (ज्ञानसंगेन) ज्ञानके साथ भी इस जीवको (बध्नाति) बांधडालता है ॥ ६ ॥

भावार्थः— भगवान् जो पहले कहआये हैं, कि मेरी प्रकृतिके तीनों गुण इस जीवको बांधलेते हैं सो इनमें सबसे जो उत्तम सत्वगुण वह कैसे इसको बांधलेता है? सो वर्णन करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [तत्र सत्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्] इन तीनों गुणोंमें जो श्रेष्ठ सत्वगुण है वह अत्यन्त निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला है तथा सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे रहित है ।

शंका— भगवानने इस सत्वगुणको निर्मल तथा प्रकाशक और निरुपद्रव क्यों कहा ? क्योंकि जब यह भी जीवोंको बांध ही लेता है तब इसमें बांधनेका विकार स्थित है फिर जो निरपराध दूसरोंको बांधलिया करे उसे निर्मल, प्रकाशक और निरुपद्रव कैसे कह सकते हैं ?

समाधान— यह सत्वगुण निर्मल प्रकाशक तथा निरुपद्रव इस कारण कहा जाता है, कि इसके संगी जो रज और तम हैं ये बड़े अन्धेर मचाने वाले हैं ये जीवोंको बांधकर अत्यन्त दुःख देते हैं तथा घोर अँधियालीमें डालदेते हैं इसमें तो सन्देह नहीं है, कि बांध-

नेका बिकार इन तीनोंमें कहाजासकता है बांधलेनेकी अपेक्षा ये तीनों गुण समान हैं पर यह जो सत्व गुण है वह बांधकर दुःख वा क्लेश नहीं देता। जैसे इन दिनों कारागारोंमें दो प्रकारके दण्डसे युक्त बन्दी बांधेजाते हैं एक केवल बंदीसारमें बैठालदियाजाता है, सुखपूर्वक अपने बिछावन पर सोया रहता है, समयपर बिना परिश्रम भोजन पाता है और दूसरा तेल पेरने, आटा पीसने इत्यादि कठोर दुःखोंमें डाला जाता है जिसको कठिन दण्ड कहते हैं।

इसी प्रकार रज और तमसे बांधेहुए जीव कठिन दुःख सहते हैं और इस सत्वके बांधेहुएको सुखकी तथा ज्ञानकी प्राप्ति रहती है इसलिये इस गुणको निर्मल, प्रकाशक ज्ञानप्रद कहसकते हैं, जैसे कसाई और ब्राह्मण दोनों अपनी २ गौको खूटेमें बांधरखते हैं तहां कसाई तो गौको मार ही डालता है पर ब्राह्मण उस गौकी सेवा पूजा करता है। इसी प्रकार इन गुणोंके बांधनेमें भी भेद है अतएव सर्वविकारोंसे रहित होनेके कारण तथा सब कुछ जनादेनेके कारण इस सत्वगुणको रज और तमकी अपेक्षा निर्मल कहा। जैसे स्फटिक वा आलोकयन्त्र (Lens) अत्यन्त निर्मल होनेके कारण अपने सम्मुख हुए प्राणीकी छायाको बांध प्लेटपर स्वच्छकर उसके अंगोंको भिन्न २ प्रकाशित करदेता है। इसी प्रकार यह सत्वगुण प्राणीको अपने साथ बांधकर उसको सुखी करदेता है अर्थात् उसके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश करता है जिससे वह यथार्थ तथा परमतत्वको जाननेके लिये समर्थ होता है इसी कारण भगवानने इस सत्वगुणको प्रकाशक और अनामय कहा। शंका मत करो!

इसी तात्पर्यको प्रकाश करते हुए भगवान् कहते हैं, कि [**सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ !**] हे पापरहित अर्जुन ! यह सत्वगुण एवम्प्रकार प्राणियोंको सुखके साथ तथा ज्ञानके साथ बांधडालता है इस कारण इसका बांधना साधारण प्राणियोंको दुःखदायी नहीं वरु सुखदायी है। जैसे किसी कामीपुरुषको कोई प्राणी सुन्दर स्त्रीके अंगसे जकडकर बांधदेवे तो ऐसा बांधना उसके सुखको कारण होगा। इसी प्रकार सत्वगुणका बन्धन जीवोंके लिये सुखका कारण है पर इस सुख और ज्ञानको ब्रह्मसुख वा ब्रह्मज्ञान नहीं समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मसुख और ब्रह्मज्ञान तो तीनों गुणोंसे रहित मन वालेको प्राप्त होते हैं बिना गुणातीत हुए इस अपूर्व सुख वा अलौकिक ज्ञानका लाभ नहीं होता यह सुख वा ज्ञान 'जिसका' इस श्लोकमें भगवान् वर्णन कररहे हैं वह तो क्षेत्ररूप है जिसका वर्णन इस शरीररूप क्षेत्रके इच्छादिके साथ किया है " इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः " (अ० १३ श्लो० ६) अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात और चेतना (ज्ञान) इनकी भी गणना क्षेत्रके धर्म्ममें है आत्माके धर्म्ममें नहीं।

हां! इतना तो अवश्य कहना ही पड़ेगा, कि सत्वगुणवालेकी सात्विकबुद्धि रहती है इसलिये उसे परमात्मज्ञानकी ओर तथा अक्षय सुखकी ओर भी रुचि होजाती है और ऐसा ही सात्विक पुरुष जिज्ञासु कहलाता है सात्विक पुरुषसे उसके आसपासके लोक सन्तुष्ट रहते हैं और उसका संग करना चाहते हैं। क्योंकि सत्वगुणके जो धर्म हैं वे आकर्षण रखते हैं कारण, कि प्रसाद, हर्ष, प्रीति, असन्देह, धृति

और स्मृति ये सत्वगुणके विशेष धर्म हैं इसलिये सात्विकगुणवाला अवश्य सबोंसे प्रीति रखता है और सदा सबोंका कल्याण करता है और स्वयं हर्षित रहता है इत्यादि २ इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि यह गुण प्राणियोंको सुख और ज्ञान अर्थात् चेतनाके साथ बांध देता है।

सात्विक पुरुषोंमें प्रीति अवश्य होती है क्योंकि यह प्रीति सत्व-गुणका विशेष धर्म है सो सांख्यसे भी सिद्ध है। " प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योन्यवैधर्म्यम् " (सां० अ० १ सू० १२७] अर्थात् प्रीति अप्रीति तथा विषादादि भेदोंसे गुणोंमें परस्पर वैधर्म्य है। अभिप्राय यह, कि सत्वगुणमें प्रीति, रजोगुणमें अप्रीति और तमोगुणमें विषाद ये परस्पर विरुद्ध धर्म तीनों गुणोंमें निवास करते हैं इस सूत्रसे भी सत्वगुणमें प्रीतिका होना सिद्ध है इसी कारण भगवानने इसको सुखस्वरूप और प्रकाशक कहा है ॥ ६ ॥

अब रजोगुणका बन्धन कैसा होता है ? सो भगवान् अगले श्लोक में कहते हैं—

मू०—रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— (हे) **कौन्तेय !** (कुन्तीपुत्रार्जुन !) **रजः** (रजः संज्ञकं गुणम्) **तृष्णासंगसमुद्भवम्** (प्राप्यमानेषु अर्थेष्वतृप्तिः " तृष्णा " प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः तथा तस्य विनाशे संरक्षणाभिलाषा ' आसंगः ' तयोः सम्भवो यस्मात्तत्)

रागात्मकम् (अनुरंजनरूपम् । रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः स एवात्मा स्वरूपं यस्य तद्रागात्मकम्) विद्धि (जानीहि) तत् (रजः) देहिनम् (देहाभिमानिनम्) कर्मसंगेन (दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसंगस्तेन । अहमिदंकरोम्येतत्फलं भोक्ष्य इत्यभिनिवेशविशेषेण) निबध्नाति (जननीजठरवासादिरूपां संसृतिं विस्तारयति) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (**कौन्तेय** !) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! (**रजः**) यह जो दूसरा रजोगुण है तिसे तू (**तृष्णासंगसमुद्भवम्**) तृष्णा और आसंग दोनोंकी उत्पत्तिका स्थान तथा (**रागात्मकम्**) प्राणीको अनुरंजन करनेवाला (**विद्धि**) जान (**तत्**) सो रजोगुण (**देहिनम्**) इस शरीराभिमानी जीवको (**कर्मसंगेन**) नाना प्रकारके कर्मोंके साथ (**निबध्नाति**) बांध डालता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— अब रजोगुण प्राणियोंको कैसे बांध लेता है ? तिसे भगवान् कहते हैं, कि [**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्**] यह जो रजोगुण मेरी प्रकृतिका मध्यम गुण है उसे रागात्मक जाने ! अर्थात् विषयोंकी सुन्दरता सम्मुख लाकर जो मनको अनुरंजन करे अपनी ओर खींच जीवात्माको तद्रूप बना लेवे उसे रागात्मक कहते हैं सो यह रजोगुण रागात्मक है इसी गुणके द्वारा यह प्राणी शब्द, रूप, रस इत्यादिके वशीभूत रहता है, काम, क्रोध इत्यादि सब इसी गुणसे निकलते हैं । सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि " **काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः** " (अ० ३ श्लो० ३७) अर्थात् यह जो काम है और यह जो क्रोध है ये

रजोगुणसे उत्पन्न हैं जो इस जीवके पूर्ण बैरी हैं । अर्थात् विषयोंकी ओर दृष्टि देनेसे मन इनको ग्रहण करना चाहता है और जब इनकी प्राप्तिमें किसी प्रकारकी बाधा होने लगती है तब क्रोध उत्पन्न होजाता है फिर इसके अतिरिक्त भगवान् कहते हैं, कि तृष्णा और आसंग इसी रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं तृष्णा तो मनकी उस दशाको कहते हैं, कि चाहे कितनी भी कामनाएं पूर्ण होती जावें पर तृप्ति न होवे वरु जैसे २ पूर्त्ति होती जावे तैसे २ और भी दूसरी अप्राप्तवस्तुओंकी चाह बढती चली जावे इसी तृष्णारूप स्त्रीका पुरुष असन्तोष है । ये दोनों स्त्री पुरुष जहां जिसके हृदयमें निवास करते हैं उसके हृदयमें सातों समुद्रोंके रत्न भी भरदो तो भी रीता ही रहेगा इसी दशाको तृष्णा कहते हैं यह रजोगुणसे उत्पन्न होती है ।

आसङ्ग उसे कहते हैं, कि जो वस्तु प्राप्त होजाती है उसमें मनकी अधिक प्रीति हो जैसे अपुत्र प्राणीको जो कदाचित् कभी पुत्रका लाभ होजावे तो उस पुत्रमें उसकी इतनी प्रीति होती है, कि दिनरात उसे गलेमें लटकाये फिरता है इसीको आसंग कहते हैं अथवा उसका नाश होतेहुए भी देखकर उसकी रक्षाके निमित्त जो दिनरात यत्न करता रहता है उसे भी आसंग कहते हैं । इसी प्रकार किसी कृपणको जो कभी कुछ द्रव्य हाथ आजाता है तो वह निन्यानवेके फेरमें पडकर उसे सात तहके भीतर ऐसा बन्द करडालता है, कि कोई उसे देखने न पावे आप उसे बार-बार खोलकर देखाकरता है और गिनाकरता है इसीको धनका आसंग कहते हैं । इसी प्रकार स्त्री, घर तथा अन्य नाना प्रकारकी वस्तुओंका संग भी आसंग कहलाता है ।

भगवान् कहते हैं, कि [**तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम्**] हे कुन्तीका परमप्रिय पुत्र अर्जुन ! सो रजोगुण इस देहीको अर्थात् देहाभिमानीको कर्मके साथ बांध डालता है । तात्पर्य यह है, कि इस लोक तथा परलोकमें स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति के निमित्त जो नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक कर्म हैं उन कर्मों में बांधे रखना इसी रजोगुणका कार्य है । इसी रजोगुणके प्रभावसे जब प्राणी यों संकल्प करने लगता है, कि आज मैं अमुक कर्म करूंगा और इस कर्मका यों फल भोगूंगा, यों लाभ उठाऊँगा इसी को कर्मसंग कहते हैं सो प्राणी लौकिक और पारलौकिक कामनाओंके कारण कर्मसंगमें पडकर फँसजाता है दिनरात कुछ न कुछ करता ही रहता है और करनेका अभिनिवेश सदा रजोगुणी पुरुषमें बनाही रहता है।

इन ही कर्मोंमें फँसकर देवीके मन्दिरोंके सम्मुख सहस्रों बकरोंको लेजाकर मारडालता है श्रीगंगाजीके अगाध जलमें जाकरं बकरीके बच्चों और मेमनोंको डुबादेता है ।

रजोगुणी मूर्ख ऐसे-ऐसे महाघोर कर्मोंको भी शुभकर्म समझते हैं औरोंको कौन गिने भीलोंका राजा, जडभरत ऐसे महात्मा को देवीके सामने वलिदान देने लेगया था ।

इन वार्त्ताओंसे स्पष्ट होता है, कि रजोगुण अपनी तृष्णा और आसंगरूप रस्सोंको लिये रागात्मकरूप बडे मोटे खम्भमें इस जीवको बांधडालता है ।

बहुतेरे प्राणी जो नाना प्रकारके विषयसुखोंकी प्राप्तिके निमित्त अहर्निश भगवद्भजन भूल नाना प्रकारके व्यवहार करते॰

कराते हैं उन्हें पुरुषार्थके नामसे पुकारते हैं पर इन कर्मोंको पुरुषार्थ नहीं कहना चाहिये वरु देहाभिमानके कारण कर्मोंके संगका अभिनिवेश कहना चाहिये। जैसे कामी पुरुष वेश्या इत्यादिके प्रेममें फँसकर प्रेमकी निन्दा करवाते हैं ऐसे लोभी लोभवश नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसकर पुरुषार्थकी निन्दा करवाते हैं पर पुरुषार्थका स्वरूप एकबारगी नहीं जानते पुरुषार्थका यथार्थ स्वरूप सांख्य शास्त्रमें यों लिखा है, कि " अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः " (सांख्य० अ० १ सू० १)

अर्थ— आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति जिससे हो उसे अत्यन्त पुरुषार्थ कहते हैं पर इन दिनों रेलगाडी, वायुयान, स्टीमर, तोप, बडे-बडे राजमहल और दुर्गोंको बनाकर परस्पर युद्ध करनेको अत्यन्त पुरुषार्थ समझरहे हैं।

तात्पर्य यह है, कि रजोगुणी पुरुष तृष्णा, कामना, लोभ, असंग इत्यादि रागात्मक कर्मोंका करना पुरुषार्थ समझते हैं यह उनकी भूल है पुरुषार्थमें और कर्मसंगमें पृथ्वी और आकाशका अन्तर है पुरुषार्थ बन्धनोंसे जीवको छुडानेवाला है और कर्मसंगका अभिनिवेश बन्धनोंमें बांधनेवाला है दोनोंमें परस्पर विरोध है इस कारण यह भेद यहां जनादिया गया, कि कर्मसंगके अभिनिवेशको कोई अज्ञानी पुरुषार्थ न समझजावे और पुरुषार्थको कर्मसंग न समझजावे।

भगवान् अर्जुनके प्रति कहरहे हैं, कि हे कुन्तीपुत्र ! तू विशालबाहु है इसलिये तू कदापि कर्मोंके संगमें न पड हां यदि कर्म करना

तुझे अभीष्ट हो तो राजस तामस कर्मोंको त्याग निरहंकार हो सात्विक कर्मोंका सम्पादन किया करे रागात्मक तृष्णा और असंग-भरे रजोगुणी कर्मोंके बन्धनमें मत पड ये तुझको ऐसे बांधलेवेंगे जैसे बलिदानका बकरा यूपमें बांधदेते हैं।

मोक्षधर्म नामक ग्रन्थमें जो रजोगुणके विशेषधर्म लिखे हैं सो यहां लिखेजाते हैं । " कामः क्रोधः लोभः मानः दर्पश्च " अर्थात् विषयोंकी प्राप्तिकी जो तृष्णा तथा तिसके नहीं प्राप्त होनेसे चित्तका घोर दुःखमें पडकर खीझना फिर उन विषयोंके बढानेकी चेष्टामें नीतिको बिगाड डालना, नाना प्रकारके अन्यायोंके करनेमें तत्पर होना फिरे अपनी बडाईकी इच्छा तथा दंभ ये सब रजोगुणके धर्म हैं।

विषयोंके भोगनेकी जो प्रबल इच्छा है विशेषकर सुन्दर स्त्रियोंके संग रमण करनेकी जो अभिलाषा है उसे काम कहते हैं इसे सभी छोटे बडे पूर्णप्रकार जानते हैं । यह काम भोग उपभोगसे शमन नहीं होता बस दिन दूना रात चौगुना बढता ही जाता है विशेषकर विषयी पुरुषोंमें जो रजोगुणकी मूर्ति ही होते हैं यह काम अधिक होता है और इसके अधिक भडकनेका कारण जो सुन्दर-सुन्दर स्त्रियां, वे उन्हें अधिक मिलती हैं।

" न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥"

(मनुः अ० २ श्लो० ९४)

अर्थ— कामनाओंके उपभोगसे यह काम कभी भी शान्त नहीं होता जैसे घीकी आहुतिसे अग्निकी ज्वाला बार २ बढती ही जाती है।

क्रोधः— " प्रतिकूले सति तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः " अपने प्रतिकूल विषयके सम्मुख होनेसे जो चित्तकी तीक्ष्णताका प्रबोध होता है उसे क्रोध कहते हैं। इस क्रोधसे आठ प्रकारके व्यसन उत्पन्न होते हैं—

" पैशुन्यं साहसं द्रोहः ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डञ्च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः "

(मनुः) अर्थ स्पष्ट है।

लोभः— द्रव्य तथा अन्य प्रकारकी सम्पत्तियोंकी इच्छाकी न्याय-रहित वृद्धिको लोभ कहते हैं। इसका लक्षण यह है— " परवित्तादिकं दृष्ट्वा नेतुं यो हृदि जायते। अभिलाषो द्विजश्रेष्ठः स लोभः परिकीर्तितः " (पाद्मेक्रियायोगसारे अध्याय १६)

संक्षिप्त अर्थ यह है, कि परायेके वित्तको देखकर उसे लेलेने की जो अभिलाषा उसे लोभ कहते हैं।

" लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥
मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरम्॥ "

(अर्थस्पष्ट है)

मानः— " मत्समो नास्तीति मननं मानः " तथा "आत्मनि पूज्यताबुद्धिः " अर्थात् मेरे समान कोई दूसरा नहीं है ऐसा मनमें

मानना तथा अपनेको दूसरोंसे पुजवानेकी जो बुद्धि उसे मान कहते हैं। जो ज्ञानी हैं उनका प्रथम लक्षण भगवानने अमानित्व कहा है अर्थात मानसे रहित होना। फिर मनु कहते हैं— "द्वेषं दम्भञ्च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यञ्च वर्जयेत्" (मनुः अ० ४ श्लो० १६३)

अर्थात् द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और तीक्ष्णताको त्याग कर देना चाहिये।

दर्पः— 'उच्छृंखलत्वम्' तथा 'अहंकृतिः' अर्थात् उच्छृंखलता और विशेष प्रकारके अहंकारको दर्प कहते हैं। गर्व, अभिमान, ममता, मान और स्मय ये सब इसीके पर्याय शब्द हैं। भगवान् ब्रह्मवैवर्त्तपुराण कृष्णजन्मखण्डमें कहते हैं, कि "येषां भवेद्दर्पो ब्रह्माण्डेषु परमात्परे। विज्ञाय सर्वं सर्वात्मा तेषां शास्ताहमेव च। क्षुद्राणां महतां चैव येषां गर्वो भवेत्प्रिये। एवं विधमहन्तेषां चूर्णीभूतं करोमि च" इस ब्रह्माण्डमें जिन्हें २ दर्प होता है उन सबोंको जानकर मैं सर्वात्मा उनका शासन करदेता हूं। छोटे हों चाहे बड़े हों जब जिनको जहां दर्प होता है मैं उनको चूर २ करडालता हूं अर्थात् उनके गर्वको तोड़डालता हूं इस वचनसे सिद्ध होता है, कि दर्प महा निन्दनीय और नरक लेजानेवाला होता है,।

उपरोक्त काम, क्रोध, लोभ, मान और दर्प जो रजोगुणके विशेष धर्म हैं ये प्राणियोंको कर्ममें फांस लेते हैं ॥ ७ ॥

अब तमोगुण इस जीवको कैसे फांसलेता है? सो भगवान् कहते हैं।

मू०— तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥८

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशोद्भवार्जुन !) तमः (तमोगुणः) तु (निश्चयेन) अज्ञानजम् (अज्ञानाज्जातम् । मायाया विशेषरूपेण या आवरणशक्तिस्तत उद्भूतम्) [अतएव] सर्वदेहिनाम् (सर्वेषां देहवताम) मोहनम् (भ्रान्तिजनकम् । हिताहितादिविवेकप्रतिबन्धकम । स्वरूपाच्छादकम्) विद्धि (जानीहि) तत (तमोगुणः) प्रमादालस्यनिद्राभिः (कार्यान्तरासक्ततया चिकीर्षितस्य कर्तव्यस्याकरणम् प्रमादः निरीहतयोत्साहप्रतिबन्धकत्वालस्यम् स्वापो निद्रा ताभिः) निबध्नाति (नितरां बध्नाति । निर्विकारमेवात्मानं विकारयति) ॥ ८ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतवंशोत्पन्न अर्जुन ! (तमः) यह तमोगुण (तु) जो विशेष करके (अज्ञानजम्) अज्ञानसे उत्पन्न है इसलिये इसको (सर्वदेहिनाम्) सब देहधारियोंका (मोहनम्) मोहनेवाला अर्थात् भ्रममें डालनेवाला (विद्धि) जान (तत्) सो तमोगुण (प्रमादालस्यनिद्राभिः) प्रमाद, आलस्य और निद्रासे जीवोंको (निबध्नाति) बांध डालता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— अब भगवान् तीसरे गुण तमोगुणका जो सब से अधिक दुःखदायी है वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्] इस तमोगुणको अज्ञान से उत्पन्न तथा सब प्राणियोंको मोहमें डालनेवाला जान । तात्पर्य

यह है, कि यद्यपि सत्वादिक तीनों गुण मायासे ही उत्पन्न हैं पर इन तीनोंमें तमोगुणको मायाका परम प्रिय पुत्र भी कहना चाहिये । अथवा यों कहसकते हैं, कि जैसे सृष्टि प्रकृतिके सत्वगुणसे पाली-जाती है ऐसे " अज्ञान " मानो इस तमोगुणसे पलरहा है । जैसे शरीरमें प्राण सम्पूर्ण देह और इन्द्रियोंके स्थिर रखनेका कारण है ऐसे प्रकृतिरूप शरीरका अर्थात् अविद्या वा अज्ञानरूप शरीरका पालन करनेवाला यह तमोगुण ही है । इसके विलग होनेसे अविद्याके घरका मध्य खम्भ उखडजाता है । अविद्या अधिकांश इसीपर अपना जीवन व्यतीत करती है । अविद्या जो माया तिसके पास यही एक वशीकरण महामंत्र है जिससे सब छोटे बडोंको अपने वशमें रखती है क्योंकि इसी तमोगुणने देहको आत्मा समझरखा है इसी कारण भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि " मोहनं सर्वदेहिनाम् " यह तमोगुण सब देहधारियोंको मोहमें डालनेवाला है भ्रमके जालमें फँसानेवाला है । यह तमोगुणरूप मोहिनी मंत्र जाननेवाला खिलाडी एक ही बार ' छूः ' कहनेसे सहस्रों जीवोंको अपनी ओर करलेता है उनको हित और अहितका विचार नहीं रहनेदेता । जैसे मद्यपी मद्यके नशेमें हानिलाभका विचार नहीं रखता ऐसे यह जीवोंको अपने हाथसे उन्मत्तताका प्याला पिलाकर अचेत करदेता है और निषिद्ध कर्मोंको करवा डालता है। अब भगवान् कहते हैं, कि [**प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत**] हे भरतवंशावतंस अर्जुन ! यह तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्रा इन तीन बन्धनोंसे देहधारियोंको बांधलेता है । इनमें जो पहला प्रमाद है वह किसी वस्तु

वा किसी तत्त्व वा किसी व्यवहारको ठीक २ समझने नहीं देता । अतएव उसे प्रमाद कहते हैं तहां श्रीअभिनवगुप्ताचार्यजीकी यह सम्मति है, कि " दुर्लभस्यापि चिरसंचितपुण्यस्य लब्धस्याप-वर्गप्राप्तावेककारणस्य मानुष्यकस्य वृथा वाहनं प्रमादः " अर्थात् यह जो मानुषी शरीर अत्यन्त दुर्लभ अनेक जन्मोंके बहुतेरे संचित पुण्योंकी प्राप्ति द्वारा लाभ होता है तथा जो यह एक मानुषी शरीर अपवर्गकी प्राप्तिका कारण है तिसे मिथ्या बितादेना प्रमाद है। फिर कहते हैं, कि " **आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते । स वृथा नीयते येन स प्रमादी नराधमः** " अर्थात् इस आयुका एक क्षणमात्र भी बहुमूल्य सर्वरत्नोंके देनेसे भी नहीं मिलसकता है उसे जो वृथा गँवादेवे वही प्रमादी और नरोंमें अधम कहा-जाता है।

यह प्रमाद घोर नरकका कारण है क्योंकि यह प्रमाद आत्म-ज्ञानको नहीं प्राप्त होनेदेता । इसीको अनवधानता भी कहते हैं ।

अब दूसरा " आलस्य " उसे कहते हैं जो उत्साहका प्रति-बन्धक होता है; यह प्राणीको खाटसे उठने नहीं देता; कैसा भी कार्य नष्ट होरहा हो यह तनक भी हाथ पैर हिलाने नहीं देता, चाहे घरमें आग लगजावे सारा घर भस्म होजावे पर पानीका कभी नाम भी नहीं लेनेदेता; कभी किसी समय किसी काज करनेका साहस भी करना चाहता है तो विछावनसे उठतेहुए आह ऊह करके घटोंमें नीचे पांव रखता है पर फिर लेटजाता है सूखी रोटी खाकर सोजाता

है पर उसपर लवण या शाकके लानेका यत्न नहीं करता। इसी आलस्यके कारण मनुष्यकी सब इन्द्रियां निरर्थक होजाती हैं सारा शरीर ज़कड़कर काष्ठके समान जड़वत होजाता है इसके कारण किसी भी कर्म करनेका उत्साह नहीं होता मनुष्य घरसे बाहर निकल कर कोई व्यवसाय नहीं करता इसी कारण सदा दरिद्र बना रहता है।

अब तीसरी " निद्रा " भी इसी आलस्यकी परम प्रिया भार्या है। जहां आलस्य है वहां ही निद्रा देवी भी सुखपूर्वक निवास करती है। आलस्य और निद्रा इन दम्पतियोंको जहां देखिये तहां एक-साथ हैं जिस प्राणीमें यह निद्रा विशेष होती है वह कुम्भकर्णके समान भगवानसे छः महीनेकी नींद बरदान मांगता है। " **निद्रालुः क्रूरकृल्लुब्धो नास्तिको याचकस्तथा । प्रमादवान् भिन्नवृत्तो भवेत्तिर्यक्षु तामसः** "। (याज्ञवल्क्य ३ । १३९)

अर्थ— अधिक निद्रा लेनेवाला, क्रूर कार्य करनेवाला, लोभी, नास्तिक, याचक, प्रमादी, भिन्नवृत्त ये तमोगुणवाले सबके सब तिर्यग् योनि अर्थात् पशु पक्षीकी योनिमें उत्पन्न होते हैं।

भगवानके कहनेका अभिप्राय यह है, कि तमोगुण प्राणियोंको इन तीन विशेष अवगुणोंसे अर्थात् प्रमाद, आलस्य और निद्रासे बांध लेता है जिस कारण प्राणी अधोगतिको प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें संक्षिप्तरूपसे उक्त तीनों गुणों के मुख्य कार्योंका एक ठौर वर्णन करते हैं।

मू०— सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशावतंस !) सत्वम् (सत्वगुणः) सुखे, सञ्जयति (संश्लेषयति) रजः (रजोगुणः) कर्मणि [सञ्जयति] उत (अपि एव) तमः (तमोगुणः) तु (निश्चयेन) ज्ञानम् (विवेकम्) आवृत्य (आच्छाद्य) प्रमादे (प्राप्तकर्त्तव्यताऽकरणे । सदुपदिश्यमान-ज्ञानावधाने) सञ्जयति (संयोजयति) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतकुलभूषण अर्जुन ! (सत्वम) इन गुणोंमें जो सत्वगुण है सो (सुखे) प्राणियोंको सुखके साथ (सञ्जयति) मिलादेता है (रजः) रजोगुण (कर्मणि) कर्मके साथ जोडदेता है (उत) और (तमः, तु) तमोगुण तो (ज्ञानम) प्राणियोंके ज्ञानको (आवृत्य) आवरणकरके (प्रमादे) प्रमादके साथ (सञ्जयति) संयुक्त करदेता है ॥ ९ ॥

भावार्थः— अब भगवान् संक्षेप करके तीनों गुणोंके मुख्य-मुख्य कार्योंका एकठौर वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [सत्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत !] इन तीनों गुणोंमें सबसे उत्तम जो सत्वगुण है वह देहधारियोंको सुखके साथ मिलाता है और रजोगुण कर्मोंके साथ जोडदेता है। अर्थात् यह सत्वगुण प्राणियोंकी बुद्धिको ऐसी प्रेरणा करता है, कि जिससे प्राणी अपने सुखकी प्राप्तिका यत्न करता हुआ अपनी इच्छानुसार नाना प्रकारके सुखकी वस्तुओंको प्राप्त

करता है। क्योंकि इस गुणवालेकी बुद्धि निर्मल, स्वच्छ और प्रकाश-युक्त होती है इसी कारण बुद्धिमें प्रसाद (प्रसन्नता) हर्ष, प्रीति इत्यादि जिनका वर्णन श्लोक ६ में करआये हैं उत्पन्न होते हैं और ये सब लक्षण सुखजनक हैं इस कारण यह सत्वगुण सुखका उत्पन्न करनेवाला है।

और यह जो रजोगुण है वह कर्मके साथ संयुक्त करेता है अर्थात् उसी ऊपर कथन कियेहुए संसृतिसुखकी प्राप्ति निमित्त नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसादेता है तात्पर्य यह है, कि इसी रजोगुणके कारण मनुष्य ऐसा समझता है, कि जब मैं अमुक लौकिक कर्म करूंगा तब मुझे सुख होगा। जैसे छोटे-छोटे विद्यार्थी पाठशालामें जब विद्योपार्जन करते हैं तो वे ऐसा समझकर, कि मैं बहुत बडा उत्तम विद्वान् होजाऊंगा तो मेरा सब छोटे-बड़े राजा महाराजा आदर करेंगे, पूज्य होजाऊंगा और पुष्कल धन लाभ करूंगा तो मुझे सुख प्राप्त होगा ऐसा विचार विद्याके उपार्जनमें अहर्निश लगजाते हैं। अर्थात् अध्य-यनरूप कर्मका पूर्णप्रकार सम्पादन करते हैं फिर ब्रह्मचर्य आश्रममें विद्या उपार्जन कर जब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं तब उनका अर्थ सिद्ध होजाता है फिर इस आश्रममें भी स्वर्गकी कामनासे यज्ञादिका सम्पादन करते रहते हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि सदा कर्ममें ही फंसे रहते हैं भला ये कर्म तो कुछ उत्तम और श्रेष्ठ भी हैं पर बहुतेरे प्राणी इससे भी मध्यम और नीच कर्ममें लगे रहते हैं । कोई वाणिज्यमें, कोई

युद्धादि कर्ममें, कोई राजा महाराजा इत्यादिकी सेवा शुश्रूषामें अह-निंश फँसे रहते हैं। अर्थात् चारों वर्ण और चारों आश्रमवाले जो अपने-अपने कर्मोंमें फँसे रहते हैं उनको यह रजोगुण ही इन कर्मोंमें फँसाये रखनेका कारण है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत**] तीसरा गुण जो तमोगुण सब गुणोंमें निकृष्ट है वह प्राणियोंके ज्ञानरूप प्रकाशको अपने घोर अन्धकारसे ढककर प्रमादादि विकारोंकी घोर धारमें डुबाडालता है।

शंका— भगवान् इन तीनों गुणोंके विषय तो ६,७ और ८ तीनों श्लोकोंमें सुख, कर्म तथा प्रमादके साथ बन्धनका वर्णन कर ही चुके थे फिर इस श्लोकमें उसीकी पुनरुक्ति करनेका क्या प्रयोजन ?

समाधान— ६, ७ और ८ श्लोकोंमें इन तीनों गुणोंके अनेक प्रकारके बन्धनोंका वर्णन किया। जैसे सुख, ज्ञान, कर्म, प्रमाद, आलस्य, निद्रा इत्यादि पर नवें श्लोकमें फिर करनेका तात्पर्य यह है, कि ये तीनों गुण किसी बन्धनमें डालें वा न डालें पर इन तीनों गुणोंके जो तीन प्रधान बन्धन हैं उनमें ये अवश्य बांधते हैं अर्थात् सत्वगुणका सुख रजोगुणका कर्म तमोगुणका प्रमाद ये प्रधान हैं। तात्पर्य यह है, कि तमोगुणका कुछ भी न करना, रजोगुण का करना और सत्वगुणका सुख प्रदान करना ये धीरे २ मानों गुणों का निकृष्ट, मध्यम और उत्तम होना सिद्ध करते हैं यह पुनरुक्ति नहीं है। शंका मत करो! ॥ ६ ॥

अब भगवान् पुण्डरीकायताक्ष शोकमोहविध्वंसकारी मुकुन्द मुरारी श्रीआनन्दकन्द कृष्णचन्द्र अगले श्लोकमें इन तीनों गुणों के व्यापारका समय दिखलाते हैं अर्थात् कब? किस समय? ये तीनों गुण अपना-अपना प्रभाव देहधारियोंपर डालते हैं सो कहते हैं—

मू०— रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत !।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा ॥ १०॥

पदच्छेदः— [हे] भारत ! (भरतवंशावतंस !) [क्वचित] सत्वम् (सत्वगुणः) रजः (रजोगुणम्) तमः (तमोगुणम) च, अभिभूय (तिरस्कृत्य) भवति (वर्द्धते) [क्वचित] रजः (रजोगुणः) सत्वम (सत्वगुणम) तमश्च (तमोगुणञ्च) एव [अभिभूय उद्भवति] तथा (तेन प्रकारेण) तमः (तमोगुणः) सत्वम (सत्वगुणम) रजः (रजोगुणम) [अभिभूय उद्भवति] ॥ १० ॥

पदार्थः— (भारत !) हे भरतवंशके भूषण अर्जुन! कभी कभी (सत्वम्) यह जो सत्वगुण है वह (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुणको (अभिभूय) तिरस्कार करके अर्थात् निर्बल करके प्राणीके शरीरमें (भवति) प्रकट हो वृद्धिको प्राप्त होता है। इसी प्रकार कभी-कभी (रजः) रजोगुण भी (सत्वम्) सत्वगुण और (तमः च) तमोगुणको (एव) भी जीतकर वृद्धिको प्राप्त होता है (तथा) इसी रीतिसे कभी कभी (तमः) यह जो तमोगुण है वह (सत्वम) सत्व और (रजः) रजोगुण इन दोनोंको जीतकर वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

भावार्थः— अब भगवान् इन तीनों गुणोंके न्यून और अधिक होनेके विषय अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि तू अवश्य इन गुणोंके यथार्थभेदको समझजावेगा इस कारण मैं तुझसे कहता हूं, कि इन तीनों गुणोंकी वृद्धि और न्यूनता इन देहधारियोंके शरीरोंमें समय-समयपर होती रहती हैं ये कैसे होती हैं ? सो सुन!

[रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत !] कभी-कभी इस जीवका जब उत्तम प्रारब्ध उदय होता है तब यह सत्वगुण जो सब गुणोंमें उत्तम गुण सदा सुख और ज्ञानका देनेवाला है वह अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुणके बलको कम कर इनको दाबलेता है और आप वृद्धिको प्राप्त होजाता है।

इसी प्रकार कभी-कभी **[रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा]** रजोगुण जो सदा देहाभिमानियोंको कर्मकी डोरीमें बांधनेवाला है सत्वगुण और तमोगुण दोनोंको निर्बलकर आप वृद्धिको प्राप्त होजाता है। इसी प्रकार कभी २ अपना समय पाकर यह जो महा घोर अन्धकारस्वरूप तमोगुण है वह अन्य दोनों सत्वगुण और रजोगुणको ऐसा दाबलेता है जैसे घोर मेघमण्डल सूर्यके प्रकाशको दाबकर बढना आरम्भ होता है और बढते २ सर्वत्र दशों दिशाओंमें अन्धकार ही अन्धकार. करदेता है। इसके सम्मुखसे सत्व और रज़ दूर भागकर ऐसे सिकुडजाते हैं जैसे, व्याघ्र वा सिंहका घोर गर्जना सुनकर बनके क्षुद्र जन्तु जिधर-तिधर झाडियोंमें तितर-बितर होकरके छिपजाते हैं।

यदि शंका हो, कि ये तीनों गुण एक ही प्रकृतिसे उत्पन्न हैं इनको तो परस्पर सम रहना चाहिये फिर इनमें न्यूनाधिक्य क्यों होता है ?

तो उत्तर यह है, कि जहां इनकी समता होगी वहां तो स्वयं प्रकृतिका रूप ही स्थिर रहेगा फिर तो प्रकृति शान्तस्वरूपमें पडी रहेगी क्योंकि इन तीनों गुणोंकी समताको ही प्रकृति कहते हैं। प्र०— "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" (सांख्य० अ० १ सू० ६१) अर्थात सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके सम होनेकी जो अवस्था है वही प्रकृति है। तात्पर्य यह है, कि प्रकृतिने जिस अवस्थामें अपने तीनों गुणोंको सम रखा है उस अवस्थामें स्वयंस्वरूप उस परब्रह्मकी परमानन्ददायिनी त्रिगुणात्मिका माया कहलाकर अपने महाप्रभुके साथ निवास करती है पर जब सृष्टिका आरम्भ होता है तब इन तीनों गुणोंमें विषमता उत्पन्न होती है। तहां सबसे पहले रजोगुणकी वृद्धि होती है उससे सृष्टि आरम्भ होने लगजाती है अर्थात् ब्रह्मा इस रजोगुणका अधिष्ठातृहोकर सृष्टि रचने लगजाता है। अथवा इसे यों समझलो, कि उस महाप्रभुकी परम शक्ति मायामें जो सृष्टि रचनेकी प्रभुता है उसे ब्रह्माके नामसे पुकारते हैं जो सृष्टिका रचनेवाला कहा जाता है इसी प्रकार जब सत्वगुणकी वृद्धि होती है तब उससे विष्णुदेव उत्पन्न होकर सृष्टिका पालन करता है अर्थात उस महाप्रभुकी पालन करनेकी जो प्रभुता है उसके अधिष्ठातृदेवको विष्णु कहते हैं। फिर जब तमोगुणकी वृद्धि होती है तब उसका अधिष्ठातृदेव शिवशंकर प्रकट होकर नाश करना आरम्भ करता है और प्रलयकालमें सारी सृष्टिको

नाश करडालता है फिर जब इन तीनों शक्तियोंकी एक संग सम अवस्था होती है तब वह प्रकृति जो माहेश्वरी माया है अपनी त्रिगुणात्मिका शक्तिको समेट कर उस महाप्रभुमें शयन करजाती है।

मुख्य तात्पर्य यह है; कि जब तक यह माहेश्वरी माया शान्तस्वरूपसे अपने परमपुरुष महेश्वरके स्वरूपमें सुप्तके समान शान्त पड़ी रहती है तब तक ये तीनों गुण सम रहते हैं और उसीको माया कहते हैं। पर जब वह महेश्वर इस अपनी मायाको सृष्टि रचनेकी आज्ञा देता है तभी इसमें विषमता उत्पन्न होती है। शंका मत करो!

एवम्प्रकार इन तीनों गुणोंसे सृष्टिका सम्पूर्ण व्यवहार होता है। जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवोंमें एक-एक गुणकी प्रधानता है इसी प्रकार इन तीनोंसे नीचे अन्य जितने देव, देवी, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि हैं सबोंमें उनके कर्मानुसार इन तीनों गुणोंका न्यूनाधिक्य है।

अर्थात सारी सृष्टिमें जितने जड चेतन हैं सब इनही तीनों गुणोंके मेलसे बने हैं पर सबोंमें ये तीनों गुण विषमरूपसे हैं। किसीमें सत्वगुणका अंश अधिक और रज तमके अंश थोडे हैं; किसीमें रजोगुणका अंश अधिक और सत्व तमके अंश थोडे हैं। इसी प्रकार किसीमें तमोगुणका अंश अधिक और सत्व रजके अंश थोडे हैं। एवम्प्रकार गुणोंकी न्यूनता और अधिकता होनेके भेदसे अगणित योनियोंके मस्तिष्क बने हैं। देव, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट,

पतंग, सूर्य, चन्द्र, नदी, नद, पर्वत, सागर, बन, बनस्पति आदि सबोंमें इन तीनों गुणोंका मेल है ।

जैसे गाय, बकरी, शुक, पिक, सारस, हंस इत्यादि जीवोंमें सत्वगुण की अधिकता है और रज तम थोडे हैं । इसके प्रतिकूल व्याघ्र, भेडिये, काक, बाज, सर्प इत्यादि जीवोंमें रज और तम अधिक हैं और सत्वगुण थोडा है । ऐसे ही देवताओंमें सत्वगुण अधिक और रेज तम थोडे हैं । राक्षसोंमें रज तम अधिक और सत्वगुण थोडा है । अभिप्राय यह है, कि सब जीवोंके मस्तिष्क इन तीनों गुणोंके मेलसे तयार किये गये हैं ।

अब यहां भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि चाहे किसी जीवमें कितना भी किसी गुणका अंश न्यून वा अधिक क्यों न हो पर अवकाश पाकर जब जिस गुणके फल भोगनेका समय उदय होआता है तब वह गुण अधिक बल पाकर बढना आरम्भ करता है और शेष दोनोंको दाबलेता है । जैसे ग्रीष्म ऋतुमें गरमीकी अधिकता होनेसे सरदी नीचे दबजाती है वा हिमऋतुमें शीतकी अधिकता उष्णताको दबालेती है इसी प्रकार प्रारब्धके नियममें बँधाहुआ जिस गुणके बढनेका समय इस शरीरमें पहलेसे नियत है उस समय वही गुण बढता है । अथवा जैसे शीतज्वरके रोगमें पहले शीतका उदय होकर सम्पूर्ण शरीरको कम्पायमान करदेता है पश्चात ज्वरकी उष्णता बढते २ शीतको इतना दाबलेती है, कि कम्पका कहीं नाम भी नहीं रहता ज्वर ही ज्वर बढकरे सारा शरीर उष्ण करदेता है इसी प्रकार गुणोंके भेदको भी समझना चाहिये ॥ १० ॥

अब अगले श्लोकमें भगवान इन तीनोंकी न्यूनता वा अधि· कतासे क्या हानि और लाभ होते हैं सो दिखलाते हैं।

मू०— सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत ॥ ११

पदच्छेदः— अस्मिन्, देहे (पांचभौतिकभोगायतने शरीरे) सर्वद्वारेषु (श्रोत्रादिषु सर्वेषु वाह्याभ्यन्तरकरणेषु) यदा (यस्मिन्· काले) ज्ञानम् (शब्दादिविषयबोधविशेषः) प्रकाशः (स्वविषया· वरणविरोधिदीपवत् अन्तःकरणस्य बुद्धेर्वृत्तिविशेषः प्रकाशः) उपजा· यते (उत्पद्यते) तदा (तस्मिन् काले) उत (अपि) सत्वम् (सत्वगुणः) विवृद्धम्, इति, विद्यात् (जानीयात) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (अस्मिन् देहे) इस पांचभौतिक शरीरमें (सर्व· द्वारेषु) श्रवण इत्यादि सब इंद्रियोंके मध्य (यदा) जिस समय (ज्ञानम्) इन इंद्रियोंका यथार्थ ज्ञानस्वरूप (प्रकाशः) प्रकाश (उपजायते) उत्पन्न होता है (तदा) तिस समय (उत) ही (सत्वम्) सत्वगुणकी (विवृद्धम्) विशेषरूपसे वृद्धि हुई है (इति) ऐसा (विद्यात) जानना चाहिये ॥ ११ ॥

भावार्थः— बुद्धिमानोंको और ज्ञानियोंको कब समझना चाहिये, कि अब सत्वगुणकी वृद्धि होरही है और अन्य गुण दबते चलेजारहे हैं इसका चिन्ह बतातेहुए भगवान् कहते हैं, कि [सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा]

जिस समय बिना किसी यत्नके आपसे आप इस शरीरमें इंद्रियोंके मध्य ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न होता है अर्थात् यह शरीर जो पांचों महाभूतोंका विकार है सर्वप्रकारके सुख दुःख भोगने का स्थान है और जो तीनों गुणोंसे फेंटकर एक पिण्ड बनाहुआ है जिस त्रिगुणात्मक पिण्डके बाहरके दश द्वार हैं और भीतरके चार द्वार हैं। अर्थात् श्रवणादि जो दश इंद्रियां वाह्यकरणके नामसे पुकारी जाती हैं और मन, बुद्धि इत्यादि चारों करण जो अन्तःकरणके नाम से पुकारे जाते हैं इन चौदहों करणोंमें जब इस प्रकारका बोध उत्पन्न होता है, कि इंद्रियोंका यह उत्तम कार्य है, उनको उचित प्रकार काममें लानेकी यही रीति है इनसे अनुचित काम लेनेसे कितनी हानि होगी और कितना दुःख होगा? तात्पर्य यह है, कि इनका उचित व्यवहार कहां तक है और अनुचित व्यवहार कहांतक है क्या विधि है? और क्या निषेध है? इस प्रकारका प्रकाश जब इंद्रियों के द्वारेपर दीपकके समान बलताहुआ भीतर और बाहर दोनों ओरके व्यवहारोंकी बुद्धिवृत्तिको प्रकाश करने लगजाती है तब वही इन्द्रियात्मक ज्ञान कहाजाता है सो जब इस प्रकारका ज्ञान बुद्धिको प्राप्त होने लगजावे अर्थात् शब्दादि प्रकाशक यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने लगे और जब बुद्धि ऐसी सूक्ष्म होजावे कि न्यायकी दृष्टि से हंसकी चोंचके समान दूधका दूध और पानीका पानी विलग करदेवे [तदा विद्याद्विवृद्धं सत्वमित्युत] तब जानना चाहिये; कि अब इस मेरे शरीरमें सत्वगुणकी वृद्धि होरही है।

ऊपर जो कथन किया, कि श्रवण इत्यादि इंद्रियोंको उचित व्यवहारमें लगाना इंद्रियोंका ज्ञानरूप प्रकाश है इसे अधिक समझाने के लिये अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है यह सभी जानते हैं, कि उसी एक उपस्थ इंद्रियका व्यवहार अपनी धर्मपत्नीके संग पुत्र-प्राप्तिके लिये करना उचित व्यवहार है इसलिये इसे इंद्रियप्रकाशक-ज्ञान कहसकते हैं और इसी कर्मको परस्त्रीमें सम्पादन करना अनुचित व्यवहार कहाजाता है ।

यदि शंका हो, कि तुमने ऐसा भी तो कहा है, कि जब सुख का चिन्ह इन्द्रियोंके व्यवहारसे जानाजावे तब जानना, कि सत्त्वगुण की वृद्धि होरही है तो परस्त्रीमें भी तो समान ही सुख होता है ? फिर परस्त्रीमें उसी व्यवहारको सत्वगुणकी वृद्धि क्यों नहीं कहते हो ? तो उत्तर यह है, कि परस्त्रीमें जो सुख है वह सुख ज्ञानीको सुखरूपसे नहीं अनुभव होता अज्ञानीको होता है, ज्ञानके ऊपर अज्ञान का आवरण पडा रहता है इस कारण वह सुख अज्ञानीको बोध होता है पर ज्ञानीको परस्त्रीमें भोगविलास करते समय भी दुःख ही बोध होता है और पश्चात् भी दुःख ही बोध होता है । क्योंकि ज्ञानी समझता है, कि यह अनुचित कररहा हूं, इसके परिणाममें कहीं न कहीं दुःख भोगना ही पडेगा ऐसे दुःखकी पूर्वस्मृति उसके हृदयमें बनी रहती है इस कारण वह अवस्था सुखजनक नहीं है दुःखदायी है । इसलिये परस्त्रीमें जब सुखका अनुभव हो तो जानना चाहिये, कि इस समय फिर रजोगुणकी वृद्धि होरही है न, कि सत्वगुणकी । सो भगवान् स्वयं आगे कहेंगे ।

इस श्लोकमें भगवानने जो " उत " शब्दका प्रयोग किया है उसका तात्पर्य यह है, कि जैसे इन ज्ञान और सुखके उदयके चिन्हों से सत्त्वगुणकी वृद्धिका अनुमान करे ऐसे ही रज और तम इन दोनों गुणोंसे अपनी बुद्धिकी क्षीणताका भी अनुमान करे ॥ ११ ॥

अब भगवान् रजोगुणकी वृद्धिका लक्षण कहते हैं—

मू०— लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

पदच्छेदः— [हे] भरतर्षभ ! (भरतेभ्यः ऋषभः श्रेष्ठस्त्वमर्जुन !) **लोभः** (धनादिबाहुल्येऽपि पुनःपुनर्वर्द्धमानोऽभिलाषः । परद्रव्यादिषु लुब्धता) **प्रवृत्तिः** (प्रवर्त्तनं सामान्यचेष्टा । निरन्तरं प्रयतमानता) **कर्मणामारम्भः** (काम्यनिषिद्धलौकिकमही गृहादिविषयाणां व्यापाराणामुद्यमः) **अशमः** (इदं कृत्वा इदं करिष्यामीत्यादिसंकल्पविकल्पानुपरमः) **स्पृहा** (सर्वसामान्यवस्तुविषयिणी तृष्णा) **एतानि** (उपर्य्युक्तानि रागात्मकानि लिंगानि) **रजसि** (रजोगुणे) **विवृद्धे** (वृद्धिं गते) **जायन्ते** (उत्पद्यन्ते) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (**लोभः**) पुष्कल धन होनेपर भी धनके बढ़ानेकी इच्छा फिर (**प्रवृत्तिः**) जिसी-तिसी कार्यमें सदा वर्त्तमान रहनेकी प्रकृति फिर (**कर्मणामारम्भः**) लौकिक वैदिक किसी प्रकारके कर्मका आरम्भ जो उद्यम तथा (**अशमः**) कार्यकरनेसे उपराम न होना वह करनेकी

इच्छाका बढता चलाजाना और (स्पृहा) सर्वसामान्य वस्तुओंकी प्राप्तिकी तृष्णा (एतानि) ये सबके सब (रजसि) रजोगुणकी (विवृद्धे) वृद्धि होनेपर (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब निखिलजगदाधार भगवान् कृष्णचन्द्र रजोगुणकी वृद्धिहोनेका चिन्ह वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा**] लोभ, प्रवृत्ति, कर्मोंका आरम्भ, अशम और स्पृहा ये जो पांचों रागात्मक विकार हैं ये रजोगुणकी वृद्धिके चिन्ह हैं जिनमें सबसे प्रथम लोभ है मानों इन सब विकारोंमें यही मुख्य है इसीके पीछे २ अन्य चारों भी चलते हैं ।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ पहले इन पांचोंका वर्णन संक्षिप्तरूपसे यहां करदिया जाता है—

लोभः— " धनादिबाहुल्येपि पुनःपुनर्वर्द्धमानोऽभिलाषः " अर्थात् प्राणीको चाहे कितना भी अर्ब, खर्ब लों धन प्राप्त हो तो भी बार २ उस धनके बढानेकी अभिलाषा करते जानेको " लोभ " कहते हैं । फिर श्रीशंकराचार्य्य कहते हैं, कि " परद्रव्यादित्सा " अर्थात् परायेका द्रव्य देखकर उसे लेलेनेकी जो मनमें तृष्णा उत्पन्न होती है वह भी घोर लोभका स्वरूप है, इसके निमित्त प्राणी न जाने क्या २ उद्योग करता है इसी लोभके वश होकरे नाना प्रकारके कर्मोंमें फँसता है देश २ भ्रमण कर वाणिज्य बढाना अहर्निश सूद बट्टाके जोडनेमें तथा बही खाताके लिखनेमें कचहरियोंमें लेनदेनका अभियोग सुधारनेमें एवम्प्रकारे नाना प्रकारकी झंझटोंमें उसकी प्रवृत्ति

बनी रहती है यहांतक, कि इस लोभके कारण चोरी, डांका, हिंसा तथा विविध दुष्कर्मोको करता हुआ अपने पैरोंमें लोहेकी बेडी डलवाकर बन्दीसारमें जा पडता है इतना तो लोभका स्वरूप जानो अब प्रवृत्तिको कहते हैं।

प्रवृत्तिः— दशों इंद्रिय और चारों अन्तःकरणोंको सदा संसृतिव्यवहारोंमें लगाये रखना। लोभकी यह छोटी भार्या है यह प्रवृत्ति जो ज्ञानके अपायोंमें गणना कीगयी है इसलिये मोक्षकी विरोधिनी है। यथा— " दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः " (गौतमसूत्र)

अर्थ— दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान ये सब उत्तरसें उत्तर ज्ञानके उपद्रव अर्थात् बाधक हैं इन बाधाओंकी शान्तिसे अपवर्ग लाभ होता है। इस सूत्रसे भी प्रवृत्तिका रागात्मक होना सिद्ध है। यह प्रवृत्ति सदा राग, द्वेष, असूया, ईर्षा, माया, लोभ, मिथ्या, परद्रोह, नास्तिक्य इत्यादि दोषोंको उत्पन्न करनेवाली है। फिर " इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः " (गौतमसूत्र) इच्छा और द्वेषपूर्वक धर्म और अधर्म दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति होती है तहां " विहितकर्मणि रागनिबन्धना निषिद्धकर्मणि हिंसादौ द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः। तत्र रागनिबन्धना यागादौ प्रवृत्तिर्धर्मं प्रसूते द्वेषनिबन्धना हिंसादौ प्रवृत्तिरधर्मम् "

अर्थ— धर्म और अधर्म जो दो प्रकारकी प्रवृत्ति हैं तिनमें विहित कर्मोंमें अर्थात् वेदोक्त वा शास्त्रोक्त कर्मोंमें जो प्रवृत्ति है वह

इच्छापूर्वक रागात्मक प्रवृत्ति है और हिंसा आदि निषिद्ध कर्मोंमें जो प्रवृत्ति है वह द्वेषात्मक है तहां रागकरके जो यागादि कर्मोंमें तथा इष्ट, पूर्त, दत्त इत्यादि अर्थात् कूप, बावडी, तडाग, धर्मशाला इत्यादि बनवानेमें जो प्रवृत्ति है वह धर्मको उत्पन्न करनेवाली धर्मरूपा है और द्वेष करके हिंसादिमें जो प्रवृत्ति है वह अधर्मरूपा है। जो हो किसी प्रकारकी प्रवृत्ति क्यों न हो चाहे लौकिक व्यवहारोंकी हो चाहे स्वर्गकी कामनासे वैदिक व्यवहारोंमें हो दोनों रजोगुणसे ही उत्पन्न होती हैं।

कर्मणामारम्भः— किसी प्रकारके कर्मका आरम्भ अर्थात लौकिक जो गृह इत्यादिके बनानेमें उद्यम है तथा अन्य किसी निषिद्ध कर्मके करनेमें जो उद्यम है उसे **कर्मारम्भ** कहते हैं। प्रवृत्ति और इस **कर्मारंभमें** इतना ही अन्तर है, कि कर्मारम्भका परित्याग होसकता है पर प्रवृत्तिका त्याग होना किंचित् कठिन है। जैसे किसीने मद्य पीना वा जूआ खेलना आरम्भ किया हो और इन कर्मोंमें उद्यम करने लगगया हो इतनेमें उसे किसी इष्टमित्रने इन कर्मोंको निषिद्ध हानिकारक बताकर रोकदिया, तो वह रुकजासकता है पर जिसकी प्रवृत्ति इन कर्मोंमें बहुत दिनोंतक होगयी है उसे रोकना कठिन है। सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि मेरा भक्त सर्वारम्भपरित्यागी होता है।

अशमः— पहले जो प्रवृत्ति और कर्मारम्भ कहआये हैं इन दोनोंकी अधिकता होजानेसे "**अशम**" उत्पन्न होता है अर्थात जब इन कर्मोंमें किसी प्रकार प्रलोभन मिलजाता है और उसमें चित्त रमजाता है तो प्राणीकी ऐसी इच्छा होती है, कि "इदं

कृत्वा इदं करिष्यामि" आज यह करके कल्ह यह करूंगा अर्थात् कर्म को किये चलाजाता है पर उससे उसके चित्तको उपराम प्राप्त नहीं होता उसके संकल्पविकल्प बढते ही चलेजाते हैं ।

स्पृहा— इसके विषय अध्याय २ श्लोक ५६ में वर्णन हो चुका है देखलो । विस्तारके भयसे यहां नहीं लिखागया ।

इसलिये भगवान कहते हैं, कि [**रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ !**] हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इन लोभ इत्यादि पांचों विषयोंको जो मैंने तेरे प्रति कहसुनाया है ये सबके सब रजोगुणकी वृद्धिमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब इस पांचभौतिक शरीरमें सत्व और तम क्षीणताको प्राप्त होते हैं और रजोगुणकी वृद्धि होती है तब ये उपर्युक्त पांचों विकार इस शरीरमें उत्पन्न होना आरम्भ करते हैं ।

शंका— भगवान्ने पहले अ० ३ श्लोक ८ में अर्जुनके प्रति यों कहा है, कि "नियतं कुरु कर्मत्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः" हे अर्जुन! तू अवश्य कर्म किया कर क्योंकि कुछ नहीं करनेसे कर्मोंका करना श्रेष्ठ है और अब इस श्लोकमें कर्मोंका आरम्भ तथा उसकी प्रवृत्ति इत्यादिको रागात्मक कहकर विकारोंमें गणना करते हैं और रजोगुणको अधर्म तथा बन्धनका कारण बताते हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवान्ने जो पहले कर्म करनेकी आज्ञा दी है उससे निष्काम-कर्मोंका प्रयोजन है और यहां जो कहरहे हैं, उससे

सकाम-कर्मोंका प्रयोजन है । भगवानके कहनेका यह तात्पर्य है, कि सकामकर्मोंका आरम्भ वा सकाम-कर्मोंमें प्रवृत्ति तथा स्पृहा इत्यादि निन्दनीय हैं पर भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्मोंका करना निन्दनीय नहीं है सो भगवान बार-बार इस गीताशास्त्रमें कहते चले आरहे हैं । उसी तीसरे अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान फिर कहते हैं, कि "**यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर**" अर्थात भगवानकी आराधना निमित्त जो कर्म हैं उनसे इतर जितने कर्म हैं सब बन्धनके कारण हैं । इसलिये हे अर्जुन ! तू मुक्तसंग अर्थात् निष्काम होकर कर्मों का सम्पादन कियाकर ।

यहां इस श्लोकमें जो कर्मारम्भ है वा प्रवृत्ति इत्यादिका कथन है सब सकाम-कर्मोंके विषय हैं इसलिये शंका मत करो ॥ १२ ॥

अब भगवान आगे तमोगुणकी प्रवृत्तिका चिन्ह बताते हुये कहते हैं—

मू०— अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३

पदच्छेदः— कुरुनन्दन ! (हे कुरुकुलानन्दवर्द्धनार्जुन !) **अप्रकाशः** (सत्वकार्यप्रकाशानुदयः । कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकाभावः । विवेकभ्रंशः) **च, अप्रवृत्तिः** (अनुद्यमः । प्रवृत्त्यभावः) **प्रमादः** (अनवधानता । तत्कालकर्तव्यत्वेन प्राप्तस्यार्थस्यानुसन्धानाभावः । कर्तव्येऽकर्तव्यताबोधेन ततो निवृत्तिः । अकर्तव्ये कर्तव्यताबोधेन तत्र प्रवृत्तिश्च) **च, मोहः** (देहगेहादौ मिथ्याभिनिवेशः । मूढता) **एव**

(निश्चयेन) एतानि, तमसि (तमोगुणे) विवृद्धे (वृद्धिं गते) जायन्ते (उत्पद्यन्ते) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (कुरुनन्दन !) हे कुरुकुलावतंस अर्जुन ! (अप्रकाशः) अविवेकरूप अन्धकार (च) तथा (अप्रवृत्तिः) अनुद्यम अर्थात् मारे आलस्यके किसी प्रकारका उद्यम न करना (प्रमादः) कर्तव्य कार्यको तत्काल करनेका अनुसन्धान न रखना (च) फिर (मोहः) घर बार, शरीर इत्यादिमें मिथ्या अभिमान (एव) निश्चय करके (एतानि) ये सबके सब (तमसि, विवृद्धे) तमोगुणकी वृद्धि होनेमें (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थः— अब जगज्जाड्यविनाशक भगवान् श्रीकेशव तमोगुणके चिन्होंका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च**] अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह ये चारों सदासे एकसाथ तमोगुणियोंके शरीरमें निवास करते हैं। जैसे शयन करनेकी खाटके चार पाये होते हैं इसी प्रकार तमोगुण रूप खाटके ये चार मुख्य पाद हैं सो आलसीका शरीर इसी चार पादवाली खाटपर मृतकके समान पडा रहता है।

पाठकोंके कल्याणार्थ ये चारों यहां स्पष्टरूपसे वर्णन करदिये जाते हैं सुनो !

१. अप्रकाशः— सत्वगुणके लक्षणोंमें जो प्रकाशका वर्णन करआये हैं उसीके प्रतिकूल इस अप्रकाशको समझना चाहिये अर्थात् इंद्रियोंमें जो उचित अनुचित कार्यके समझनेका प्रकाश है जिसके द्वारा

विधि और निषेध पाप, पुण्य, धर्म, अधर्मका बोध होता है तिस प्रकाशका जब अभाव होजाता है तब उसी मूढ और अविवेकमय दशाको अप्रकाश कहते हैं। जैसे अन्धकारमें ऊंचे वा खाली स्थान अथवा सर्प, विच्छू इत्यादि क्रूर जीव देखनेमें नहीं आते अथवा अपने हाथसे अपने घरमें रखीहुई वस्तु नहीं सूझती इसी प्रकार इन्द्रियोंपर यह अप्रकाशका आवरण पडजानेसे भले बुरे कर्म कुछ भी समझमें नहीं आते।

जैसे अमावस्याकी घोर अन्धकाररात्रिमें न सूर्यका ही प्रकाश रहता है और न चन्द्रमाका ही प्रकाश रहता है। इसी प्रकार सर्वप्रकाशोंसे शून्य दशाको अप्रकाशके नामसे पुकारते हैं। मनुष्य इस अप्रकाशमें पडकर " **बोधका** " एक पग भी आगे नहीं धरता, किसी इन्द्रियसे कुछ भी उचित व्यवहार नहीं करसकता, अनुचित व्यवहारोंकी भी परवा नहीं करता ऐसी ही दशाका नाम **अप्रकाश** है यह तमोगुणरूप खाटका पहला पाया है।

२. **अप्रवृत्तिः**— पहले जो प्रवृत्तिका वर्णन कर आये हैं उसके अभावको अप्रवृत्ति कहते हैं। बहुतेरे प्राणी इस अप्रवृत्तिको निवृत्ति समझते होंगे पर ऐसा नहीं इन दोनोंमें पृथ्वी आकाशके समान अन्तर है। प्रवृत्तिकी एक वारगी जो प्रतिकूल दशा है अर्थात् सकामकर्मोंमें नहीं प्रवृत्त होना है उसे निवृत्ति कहते हैं जो मोक्ष-तक पहुंचानेवाली है। पर अप्रवृत्ति तो प्रवृत्तिके अभावको कहते हैं जहां न तो कर्मोंसे निवृत्ति होती है और न कर्मोंके करनेमें स्फूर्ति होती

है। जैसे किसी कुष्टग्रस्तके पीछे मिष्टान्नका टोकरा धरा हो तो उसे मिष्टान्न खानेकी अभिलाषा तो बनी रहती है पर वह मारे आलस्य और व्यथाके थोड़ा भी पीछे मुड़कर उस टोकेरेसे मिष्टान्नका एक कण भी निकाल कर नहीं खासकता सो विना कुष्टग्रस्त हुए जिसकी ऐसी दशा हो उसी दशाको अप्रवृत्ति कहते हैं। यह तमोगुणरूप खाटका दूसरा पाया है।

३. प्रमादः— अनवधानताको कहते हैं अर्थात् "कर्तव्येऽकर्तव्यताबोधेन ततो निवृत्तिः। अकर्तव्ये कर्तव्यताबोधेन तत्र प्रवृत्तिश्च प्रमादः" (वाचस्पतिः) अर्थात् जो कार्य करने योग्य है उसे अकर्तव्य जानकर त्यागदेना तथा जो अकर्तव्य है उसे कर्तव्य जानकर करना प्रमाद कहलाता है। "कर्तव्याकरणं यत्राकर्तव्यस्याथवा क्रिया। उच्यते द्वितयं तत्र प्रमादोऽनवधानता" अर्थ स्पष्ट है। यह तामसी खाटका तीसरा पाया है।

४. मोहः— अपने शरीरमें तथा अपने पुत्र, कलत्र, धन और सम्पत्तिमें ऐसा अभिमान होना, कि ये सब मेरे हैं और मैं इनका हूं इसीको मोह कहते हैं यही मूढता है यह तामसी खाटका चौथा पाया है।

ये चारों सदा एक साथ निवास करते हैं और तामसी हैं इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन!**] हे कुरु ऐसे वीरको स्वर्गमें हर्षित करनेवाला अर्जुन! ये जो अप्रकाश, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह कथन कियेगये हैं ये

तमोगुणकी वृद्धिमें उत्पन्न होते हैं अर्थात् जब इस शरीरमें तमोगुण बढ़ने लगजाता है तब ये चारों दशाएं उत्पन्न होने लगजाती हैं। तमोगुणके खेतके उपजेहुए नाज ये ही चारों हैं जिनसे तामसी शरीर पुष्ट होता है।

पाठकों तथा अन्य सर्वसाधारण प्राणियोंको यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये, कि जितने शरीर इस ब्रह्माण्डमें प्रकृतिद्वारा उत्पन्न हैं सबोंमें ये ही तीनों गुण जो श्लोक ११ और १३ में कथन किये गये वर्त्तमान रहते हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणीके इस शरीररूप पिण्डमें ये ही तीनों गुण मिलेहुए हैं। पूर्वजन्मार्जित पाप पुण्यके प्रभावसे किसीमें सत्वगुणकी किसीमें रजोगुणकी और किसीमें तमोगुणकी अधिकता होती है। बुद्धिमान् उपर्युक्त तीनों श्लोकोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे ऐसा समझ सकता है, कि उसके शरीरमें किस गुणका अधिक अंश है? इसी कारण कोई सात्विक, कोई राजसी और कोई तामसी स्वभाववाला कहाजाता है।

यों तो कर्मानुसार तीनों गुणोंकी वृद्धि और क्षीणता अपने २ समयपर होती ही रहती है पर जिसमें जिस गुणका अधिक अंश होजाता है वह गुण उसके साथ सदा बनारहता है उसके सब व्यवहार, बातचीत, रहन-सहन, चालचलन, मिलन-जुलन, खानपान सब अपने गुणके अनुसारही होते हैं और उसका स्वभाव भी अपने गुणके अनुसार ही होता है। सो भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि प्राणी अपने स्वभावहीके अनुसार कर्मोंको करता है। अर्थात् जैसी उसकी प्रकृति होती है तदनुसारही कर्मोंका सम्पादन करता है।

पर इस दशामें भी यह विशेषता है, कि किसी भी गुणवाला स्वभाव क्यों न हो अर्थात किसी गुणकी प्रधानता उसमें क्यों न हो पर जब तीनोंमेंसे किसी एक गुणकी वृद्धि होती है तब वह गुण उसकी प्रधानताको भी दाबकर उस समय उससे भला बुरा करवा हीं लेता है। तात्पर्य यह है, कि कैसा भी सात्विक स्वभाववाला प्राणी क्यों न हो पर जब उसके शरीरमें किसी समय अवकाश पाकर रजोगुणकी वृद्धि होगी तब उसका स्वाभाविक सत्वगुण दाबकर नीचे लेजावेगी। जैसा, कि इतिहासोंमें सुनाजाता है, कि नारद, पाराशर इत्यादि ऐसे सात्विक स्वभाववाले महात्माओंके शरीरमें अकस्मात् रजोगुणकी वृद्धि होनेसे कामने अपनी प्रबलता दिखायी और सत्वगुणको दबा॰ लिया। इसी प्रकार अन्य गुणोंकी दशाको भी जानना ॥ १३ ॥

अब भगवान अगले दो श्लोकोंमें यह विषय कथन करेंगे, कि इन तीनों गुणोंमें किसी एक गुणकी वृद्धिके समय यदि प्राणी मृत्युको प्राप्त हो तो उसकी क्या गति होती है ?

मू०— यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— देहभृत् (देहाभिमानी जीवः) यदा (यस्मिन् मरणावसरे) तु (निश्चयेन) सत्वे (सत्वगुणे) प्रवृद्धे (उद्भूते) प्रलयम (मरणम्) याति (गच्छति) तदा (तस्मिन् काले) उत्त॰ मविदाम् (महदादितत्वविदाम्। हिरण्यगर्भाद्युपासकानाम्। देवा॰ नाम) अमलान (मलरहितान्। निर्दुःखान्। रजस्तमःप्रतिबन्ध॰

राहित्येन सत्वाधिक्यात् प्रकाशमयान्) लोकान् (सुखोपभोगस्थान-विशेषान्) प्रतिपद्यते (प्राप्नोति) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (देहभृत) यह देहाभिमानी जीव (यदा) जिस समय (तु) निश्चय करके (सत्वे प्रवृद्धे) सत्वगुणकी वृद्धि में (प्रलयम्) मृत्युको (याति) प्राप्त होता है (तदा) तब यह जीव (उत्तमविदाम्) महत्तत्व अथवा हिरण्यगर्भकी उपासना करनेवालोंके (अमलान्) निर्मल प्रकाशमान (लोकान्) लोकोंको अर्थात देवादि लोकोंको (प्रतिपद्यते) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थः— आनन्दनिकेतन भगवान् श्रीव्रजेन्द्र पहले कथन करआये हैं, कि कर्मानुसार अवकाश पाकर शरीरधारियोंके शरीरमें इन तीनों गुणोंकी वृद्धि क्रमशः हुआ करती है अब ऐसी वृद्धिके समय यदि प्राण छूटजावे तो प्राणियोंकी क्या गति होती है ? सो वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्**] कोई प्राणी यदि सत्वगुणकी वृद्धिके समय मृत्युको प्राप्त होवे अर्थात ये तीनों गुण जो एकके पश्चात् दूसरे अपने-अपने समयपर इस शरीरधारीके शरीरमें बलपूर्वक उदय होआया करते हैं इनमें सत्वगुण जो सब गुणोंमें ज्ञानरूप तथा प्रकाशमान है तिसकी वृद्धि जब इस शरीरमें होने लगजावे और उसी समय मृत्यु पहुंचजावे तो मरनेवालेकी क्या गति होगी ? सो भगवान कहते हैं, कि [**तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते**] तब मरनेवाला उत्तमविद् प्राणियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है। अर्थात

वे पुरुष उत्तमविद् हैं। उत्तम जो हिरण्यगर्भ तिसके जाननेवाले हैं तिनके लोकोंमें अथवा उत्तम जो भगवान् साक्षात् नारायण तिनके जाननेवालोंके लोकोंमें अर्थात् ध्रुवादि भक्तोंके लोकोंमें प्राप्त होते हैं ये लोक कैसे हैं, कि अमल हैं अर्थात् रज और तमके विकारोंसे रहित, परम शुद्ध और प्रकाशमान हैं जहां नाना प्रकारके अलौकिक-सुखोंके भोगोंकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

अब भगवान् रज और तमके उदयमें प्राण छूटजानेवालोंकी गति कहते हैं।

मू०— रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥१५॥

पदच्छेदः— [देहभृत्] रजसि (रजोगुणे) प्रलयम् (मरणम्) गत्वा (प्राप्य) कर्मसंगिषु (कर्मासक्तियुक्तेषु मनुष्येषु) जायते (उत्पद्यते) तथा (तद्वदेव) तमसि (तमोगुणे) प्रलीनः (मृतः) मूढयोनिषु (पश्वादियोनिषु) जायते (उत्पद्यते) ॥ १५ ॥

पदार्थः— देहाभिमानी जीव (रजसि) रजोगुणकी वृद्धि होनेमें (प्रलयम्) मरणको (गत्वा) प्राप्त होकर (कर्मसंगिषु) कर्मोंमें आसक्त मनुष्ययोनिमें (जायते) उत्पन्न होता है (तथा) इसी प्रकार (तमसि) तमोगुणकी वृद्धि होतेसमय (प्रलीनः) मृत्युके मुखमें लय होजानेवाला प्राणी (मूढयोनिषु) पशु, पक्षी, कीट पतंग तथा स्थावर वा चाण्डालयोनिमें (जायते) उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः— जैसे सर्वगुणातीत आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रने पूर्वश्लोकमें सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मरनेवालोंकेलिये उत्तम लोकोंकी प्राप्ति बतायी है ऐसे अवशेष दोनों गुणोंकी वृद्धिमें मरनेवाले प्राणियोंकी गति वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते**] रजोगुणकी वृद्धिमें यदि यह देहाभिमान रखनेवाला जीव मृत्युको प्राप्त होजाता है तब पंचाग्निके * पांचों स्थानोंसे फिरताहुआ किसी ऐसे मनुष्यकी योनिमें प्राप्त होता है जिसको कर्मोंसे बहुत ही प्रीति होती है अर्थात् लौकिक वैदिक जितने कर्म इस गीताके प्रथम षट्कमें वर्णन करआये हैं उनमें किसी विशेष कर्ममें उसकी प्रीति होती है और सदा उनहीं कर्मोंमें उनके फलकी इच्छासे अर्थात् इस लोकके वा स्वर्गलोकके विषयभोगकी इच्छासे वाणिज्य इत्यादि लौकिककर्म अथवा श्रौत, स्मार्त इत्यादि वैदिककर्मोंमें सदा जन्मसे मरण पर्यन्त लगा रहता है कारण यह है, कि पूर्वजन्ममें वह रजोगुणकी वृद्धिमें मरणको प्राप्त हुआ है।

भगवान् कहते हैं, कि [**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते**] इसी प्रकार जो प्राणी तमोगुणकी वृद्धिमें पंचत्व (मरण) को प्राप्त होता है वह पंचाग्नि होताहुआ किसी मूढ योनि (चाण्डालादि) में अथवा पशु, पक्षी, स्थावर इत्यादि योनियोंमें उत्पन्न होता है।

---

* **पांचों स्थान**—आकाश, पर्जन्य, अन्न, रेत, गर्भ ये ही पांचों स्थान हैं। देखो अ० २ श्लो० २२।

शंका— यहां जो भगवान्‌ने १४, १५ दोनों श्लोकोंमें यों कहा, कि मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धि होती है अर्थात् तीनों गुणोंमें जो गुण वृद्धिको प्राप्त होता है तदाकार देहधारियोंकी ऊंची नीची गति होती है तहां शंका यह है, कि जो प्राणी अपने जन्मभर सत्वगुणका आचरण करताआया है जिसके शरीरमें सात्विक व्यवहारोंकी अधिकता होती है अर्थात् अधिकांश जिस मनुष्यमें सत्वगुणकी वृद्धि होती रही है उसमें किसी विशेष कारणसे यदि मरते समय तमोगुणकी वृद्धि होजावे और वह किसी चाण्डालयोनिमें वा पशु, पक्षीमें जन्म लेलेवे तो आयुष्पर्यन्त सत्वगुणी आचरणका उसे क्या फल हुआ ? इसीके प्रतिकूल जिसकी आयुभरमें रजोगुण और तमोगुणकी अधिकांश वृद्धि होतीरही है अर्थात जो राजसी और तामसी प्रकृतिवाला है उसमें अनायास मरणकालमें क्षणिक सत्वगुणकी वृद्धि होगयी तो क्या वह पापी देवलोकमें जाकर देवताओंके सुखोंको भोगने लगजावेगा? तब तो यह महा अनर्थ होजावेगा ऐसा क्यों ?

समाधान— जैसा, कि तुमने इन श्लोकोंका अर्थ समझा है वैसा नहीं है और यदि यही तात्पर्य हो तो भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है ।

अब दोनों वार्ताओंको तुम्हें समझाता हूं सुनो ! प्रथम तो यह, कि भगवान् ऐसा नहीं कहते, कि आयुष्पर्यन्त रज और तममें रहनेवालों को मरणकालमें सत्वगुणकी वृद्धि हो तो देवलोकोंके सुखको प्राप्त करें । वह भगवान् तो इतना ही कहते हैं, कि मरणकालमें यदि सत्वगुणकी वृद्धि हो तो उत्तम गति हो । मरणकाले एक ऐसा विशेष

काल है, कि आयुष्पर्यन्त जो प्राणी जिस वृत्तिमें अधिक विहार करेगा उसी वृत्तिकी वृद्धि मरणकालमें उपस्थित होगी और वैसा ही स्वरूप मरणके समय उसके सम्मुख आखडा होगा। अर्थात जिस गुणकी वृद्धि अधिकांश आयुष्पर्यन्त हेगी उसी गुणकी वृद्धि मरण-कालमें होगी अन्यथा उसके प्रतिकूल कदापि नहीं होसकती।

इस कारण ऐसा नहीं होसकता, कि पुण्यात्मा नरक और पापात्मा स्वर्ग चलाजावे। इसी विषयको पुष्ट करनेके निमित्त भगवान् पहले भी अ० ८ श्लोक ६ में कहआये हैं, कि "यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्" इस श्लोकमें तुम्हारी शंकाका पूर्ण प्रकार समाधान करदियागया है उसे देखलो और शंका मत करो।

इसी कारण इन दोनों श्लोकोंका भाष्य करते हुए श्रीस्वामी अभिनवगुप्ताचार्यने स्पष्टकर जो कुछ कहदिया है पाठकोंके बोधार्थ इस स्थानमें ज्योंकात्यों लिख दिया जाता है "यदेति— यदा समग्रेणैव जन्मनानवरतसात्विकव्यापाराभ्यासात्सत्वं विवृद्धं भवति तदा प्राप्यप्रलयस्य शुभलोकावाप्तिः। एवं जन्माभ्यस्तराजसकर्मणः प्रयाणाद्दि (शिष्टे) मिश्रोपभोगाय मानुष्याप्तिः। तथा तेनैव क्रमेण यदा समग्रेण जन्मना तामसमेव कर्माभ्यस्यते तदा नरतिर्य्यग्वृक्षादिदेहेषूत्पद्यते" इसका अर्थ ज्योंका त्यों वही है जो पूर्वमें कह आये हैं। अर्थात् जन्म पर्यन्त जिस गुणका अधिक संग रहेगा मरणकालमें वही सम्मुख आवेगा और तदाकार गति होगी।

यह तो मैंने तुमको भगवानका अभिप्राय अपने मतके अनुसार एक आचार्यको अपना साक्षी देकर वर्णन किया।

अब यदि भगवान्के कहनेका तात्पर्य ऐसा भी समझा जावे, कि चाहे जन्मपर्यन्त किसी भी गुणका अभ्यासी क्यों न हो पर मरणकालमें जिस गुणकी वृद्धि होगी तदाकारे ही गति होगी तो ऐसा अर्थ होनेसे भी किसी प्रकारकी हानि नहीं है एकाग्रचित्त होकर सुनो!

बार २ इस गीताशास्त्रमें तथा अनेक शास्त्रोंमें संचित, प्रारब्ध और आगामी (क्रियमाण) ये तीनों प्रकारके कर्म वर्णन किये गये हैं और श्रुतियोंसे तथा स्मृतियोंसे यह सिद्ध किया गया है, कि यह शरीर जो वर्तमानकालमें प्राप्त है वह "**यावत् चिरं स्यादथ सम्पत्स्यते**" इस श्रुतिके बचनानुसार उतने ही कालतक वर्त्तमान रहता है जबतक प्रारब्धकर्मोंका भोग है। प्रारब्धके भोगोंकी समाप्ति होनेके साथही यह शरीर पतन होता है इसके पात होते समय इसकी तीन गति होति हैं साक्षान्मुक्ति, क्रममुक्ति और पुनर्जन्मके लिये पञ्चाग्नि। यदि ज्ञान प्राप्तकर भगवत्स्वरूपका जीते २ लाभ किया है तो उसे दोनों मुक्तियोंमें किसी एक मुक्तिकी प्राप्ति होती है और वह परमपदको प्राप्त होता है पर जो कर्मबन्धनोंमें पडा हुआ अनेक जन्मोंसे कर्मोंके झकोडेमें डांवाडोलहोरहाहो उसके मरणके समय प्रारब्धकी समाप्ति और संचितका उदय होता है क्योंकि अगला शरीर जो इसे प्राप्त होगा वह संचितकर्मोंसे जितने उग्र वा मन्द कर्म निकलकर प्रारब्ध बनते हैं उन कर्मोंके अनुसार मरनेवालेकी बुद्धिकी प्रेरणा क्षणमात्र इसी शरीरमें होजाती है अर्थात सात्विक, राजस वा तामस तीनोंमेंसे

संचितके सम्मुख हुए प्रथम जिस गुणकी प्रेरणा हुई तदाकार मृतकको गति आरम्भ होजाती है। इसी कारण यह निश्चय है, कि मरनेवाला इस जन्ममें जन्मभर चाहे किसी प्रकारका आचरण करचुका हो पर यदि संचित उस गुणके प्रतिकूल शरीरकी प्रेरणा करेगा तो उस समय जन्मभरके गुणकी वृद्धिको बांधकर उसी गुणकी वृद्धि होगी जिसकी संचितने प्रेरणा की है। यदि इस जन्मभरके आचरणकिये हुए गुणके साथ संचितके गुणकी प्रेरणाका मेल होजावे तब तो उस गुण को अधिक बल मिले अर्थात् मरनेवालेके जन्मभरके गुणकी वृद्धि भी सात्विक हो पर ऐसा होना सर्वकालमें निश्चय नहीं है। क्योंकि श्रुति स्मृतियोंसे ऐसा निश्चय नहीं किया हुआ है, कि प्राणियोंका अगला शरीर इस वर्त्तमान शरीरके कर्मानुसार बनेगा ऐसा नहीं वरु श्रुति स्मृतियोंका तो यों सिद्धान्त है, कि इस वर्त्तमान शरीरके पाप पुण्य जो कुछ कर्म हैं वे इस जीवके संचितकर्ममें जा जुटते हैं, उस संचितसे जिस किसी पिछले जन्मका कर्म उग्र होता है वह आगे आकर प्रारब्ध बनकर प्राणीके शरीरमें किसी गुणकी प्रेरणा मरणकालमें कर उसे उस शरीरमें लेजाता है। जैसे किसी जन्मभरके कामी वा लोभी जीवको अपने संचितके अनुसार आगे देवयोनिमें जाना है तो यद्यपि आयुष्पर्यन्त उसके शरीरमें रजोगुण ही की वृद्धि होरही थी तथापि मरणके समय सञ्चितके बलसे रजोगुणकी समाप्ति और सत्वगुणकी वृद्धि हो ही जावेगी पश्चात् सत्वगुणकी वृद्धिमें उसका मरण होनेसे वह देवलोकको प्राप्त होजावेगा। सो देवलोक उसके इस वर्त्तमान जन्मके कर्मोंका फल नहीं है वरु अनेक पिछले

जन्मोंके कर्मोंमें किसी एक वा दो चार जन्मोंके शुभ कर्मोंके मेलका फल । है शंका मत करो ॥ १५ ॥

किस गुणकी वृद्धिसे किस प्रकारका फल इस प्राणीको अगले जन्ममें लाभ होता है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०—कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥

पदच्छेदः— सुकृतस्य (सात्विकस्य) कर्मणः (कार्यस्य) सात्विकम् (सत्वगुणप्रधानम) निर्मलम् (दुःखाज्ञानमलशून्यम । ज्ञानवैराग्यादिकम । प्रकाशबहुलम्) फलम (परिणामम) आहुः (कथयन्ति) [परमर्षयः] रजसः (राजसस्य कर्मणः) फलम्, तु, दुःखम (क्लेशम) [आहुः] तमसः (तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य) फलम्, अज्ञानम् (मूढत्वम) [आहुः] ॥ १६ ॥

पदार्थः— (सुकृतस्य कर्मणः) जितने सात्विक पुण्यात्मक कर्म हैं तिनका (सात्विकम) सत्वगुणी अर्थात सुखदायी तथा (निर्मलम्) रज तमके विकारोंसे रहित परम शुद्ध (फलम्) फल होता है ऐसा शिष्ट और परमर्षिगण (आहुः) कथन करते हैं इसी प्रकार (रजसः) रजोगुणी सकाम कर्मोंका (फलम) फल (तु) निश्चय करके (दुःखम) दुःख ही महर्षियोंने कथन किया है, कि (तमसः) तमोगुणी कर्मोंका (फलम्) फल (अज्ञानम्) मूढता है ऐसे कपिलादिकोंने कथन किया है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब देवाधिदेव भगवान् कमलापति मरणकाल के पश्चात् इस जन्मके त्रिगुणात्मक कर्मोंमें किस गुणके कर्मोंका क्या फल अगले जन्ममें होता है ? सो संक्षिप्तरूपसे वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्**] सुकृत कर्मोंके निर्मल सात्विक फल होते हैं।

अब सुकृत किसे कहते हैं ? सो सुनो ! ज्ञान वैराग्यादिकी प्राप्ति निमित्त क्या-क्या उचित व्यवहारोंका करना ? इस शरीरयात्राकी पूर्ति कैसे करनी ? स्त्री, पुत्रादिके संग किस व्यवहारसे रहकर निस्संग रहना ? किस इंद्रियसे क्या उचित कार्य लेना ? पुरजन, परिजन तथा अपने कुटुम्बियोंके मध्य कैसे नम्रतापूर्वक निवास करना ? निज और 'पर' को समानभावसे देखतेहुए किस प्रकार सन्तुष्ट रखना ? दरिद्रोंके दुःखोंपर दयाकर कैसे उनको सुख पहुंचाना ? जो कोई अपनेसे कुछ मांगबैठे उसे कैसी उदारता दिखलाकर उसकी अभिलाषाकी पूर्ति करनी ? भगवत्प्राप्ति निमित्त जो श्रुति स्मृतियोंने नाना प्रकारके यत्न कहे हैं उनमेंसे दो एकके लाभके लिये किन महात्माओंकी शरण जाकर पूछना ? यदि एक ही रोटी कर्मवश किसी दिन खानेको मिलजावे तो उसकी आधी किस प्रकार भूखोंको खिला आधी आप खाकर सन्तुष्ट रहना ? बहुतसे कोट, बूंट, हैट, सूट इत्यादिको अथवा रेशमी सुनहरी लेहरदार चादरोंको न ओढकर सीधेसादे कपडोंसे आवश्यकमात्र सरदी गरमीके अनुसार शरीर ढककर कैसे समय बितादेना ? दूसरोंकी गाडी, हस्ती, अश्व, शिबिका इत्यादि देखकर उनकी अभिलाषा न करके किस प्रकार चींटियोंको बचातेहुए पांव-पांव चल-

कर मार्ग काटना ? दूधके फेनके समान श्वेत तोशकोंसे सजे सजाये पर्यंकपर सुख चैनसे लेटनेकी इच्छा न करके अपनी फटी कमली तानकर बरगदके वृक्षके नीचे घासपर लेटकर अपनी भुजाका तकिया बनाये हुए सुखपूर्वक कैसे नींद लेना ? हानि, लाभ, मान, अपमानमें समबुद्धि रहकर किस प्रकार आनन्दपूर्वक समय बिताना ? ऐसे सात्विक कर्मोंका जो साधन है उसे **सुकृत** कहते हैं । सो जिसने आज इस जन्ममें सात्विक कर्मोंका साधन किया है उसे मरणके समय सात्विक गुणोंकी वृद्धि होगी और उसी वृद्धिमें प्राण छूटनेसे सम्भव है कि अगले जन्ममें उसको सात्विक फल प्राप्त होवे अथवा अन्य किसी आगे आनेवाले जन्ममें सात्विक फल मिले ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्**] राजसी कर्मोंका फल दुःख और तामसी कर्मोंका फल अज्ञान है अर्थात् जो प्राणी जन्मभर राजसी कर्मोंको करताहुआ आयु बितावेगा अर्थात्, काम क्रोधादि विकार जो रजोगुणसे उत्पन्न हैं इनके वशीभूत होकर नाना प्रकारकी कामनाओंमें फँसकर भिन्न-भिन्न प्रकारके लौकिक कर्मोंका ही अनुष्ठान करता रहेगा । विषयानन्द में मग्न राग, तान, वेश्यादि गमन, मद्यपान, द्यूत (जूआ) दंगे, झगडे, राग, द्वेष करके किसीको अपना और किसीको बिराना समझनेमें समय बितावेगा क्रोधवश किसीका घर फूंकेगा तथा किसीको विष देगा अपने लाभ और परायेकी हानिमें दिन बिताता रहेगा वह तमोगुणके फल जो दुःखसमूह तिनका भागी होगा ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि उसके समीप कहीं भी निवृत्तिका नाम नहीं होगा केवल प्रवृत्तिमें बँधा रहेगा। उसीके साथ २ लोभ अशम और स्पृहा इत्यादि भी बनी रहेंगी । लोभवश किसीका धन लूटेगा वा चुरालावेगा, बहुत धन होनेपर भी शान्ति न पावेगा । ऐसे प्राणियोंको मरणके समय रजोगुणकी वृद्धि होगी और उसी वृद्धिमें प्राण छोड जो अगला कोई जन्म पावेगा तिसमें भी उसे दुःख ही दुःख भोगना पडेगा यही भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय है।

शंका—रजोगुणका फल तो सुख भी है सो वैदिककर्मोंके अनुष्ठानसे स्वर्गादि जो सुख लाभ होते हैं वे तो रजोगुणके फल हैं फिर इसका फल केवल दुःख ही क्यों कहते हो ?

समाधान— प्राणी स्वर्गसुख भोगलेनेके पश्चात् फिर नीचे गिरादिया जाता है और यदि सुख हो भी तो यह सुख बहुत दुःख के साथ मिश्रित रहता है, अर्थात् सुख तो थोडा ही रहता है पर दुःख बहुत रहता है। जैसे एक बोरी रेतीमें कहीं २ आधा रत्ती वा एक माशा वा एक तोला शक्कर मिलीहुई हो और उसे फांकना पडे ऐसाही रजोगुणी सुखको जानना।

अब कहते हैं, कि " अज्ञानं तमसः फलम " तामसी कर्मों का फल अज्ञान है । सो प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि जो लोग तमोगुणी होनेके कारण सदा प्रमाद, आलस्य, निद्रा इत्यादिमें पडे रहते हैं उन को न तो कहीं सत्संग ही लाभ होता है और न विद्वान ही होते हैं वरु उनका मस्तिष्क पशुओंके समान जडवत् बना रहता है । इसी कारण वे तमोगुणकी वृद्धिमें प्राण छोडनेके पश्चात पशु, पक्षी

इत्यादि योनियोंमें जन्म पाकर अज्ञानताका फल भोगते हैं। क्योंकि पशु पक्षियोंको ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यदि किसी कर्मके संयोगसे तामसी प्राणी मनुष्य योनिमें पड़-गया तो चाण्डालादिके घरमें जन्म लेनेसे वह मूढ ही बना रहता है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि तमोगुणका फल "अज्ञान" है ॥ १६ ॥

अब भगवान् यह दिखलाते हैं, कि पूर्वजन्मकी किस वृद्धिके अनुसार परजन्ममें कौनसा विशेषफल उत्पन्न होता है ?

मू०— सत्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

पदच्छेदः— सत्वात् (सत्वगुणात्) ज्ञानम् (संसार-विवेकनैपुण्यम्) सञ्जायते (उत्पद्यते) च, रजसः (रजोगुणात्) लोभः (विषयकोटिप्राप्त्याऽपि निवर्त्तयितुमशक्योऽभिलाषविशेषः) एव (निश्चयेन) तमसः (तमोगुणात्) प्रमादमोहौ (अनवधा-नता च अहं ममेति मिथ्याभिनिवेशश्च तौ द्वौ प्रमादमोहौ) भवतः (उत्पद्येते) अज्ञानम् (अप्रकाशः। मूढता) च, एव (निश्चयेन) भवति ॥ १७ ॥

पदार्थः— (सत्वात्) सत्वगुणसे (ज्ञानम्) सब वस्तु तत्त्वोंका यथार्थ बोध अर्थात् भले बुरेका विवेक (सञ्जायते) उत्पन्न होता है (च) फिर (रजसः) रजोगुणसे (लोभ एव)

निश्चय करके लोभ उत्पन्न होता है तथा (**तमसः**) तमोगुणसे (**प्रमादमोहौ**) प्रमाद और मोह ये दोनों विकार (**भवतः**) उत्पन्न होते हैं (**अज्ञानञ्च**) और इसी तमोगुणसे अज्ञानता भी (**एव**) निश्चय करके उत्पन्न होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ— पूर्वजन्मके किस गुणके अभ्याससे परजन्ममें क्या २ सुख दुःख होते हैं? सो वर्णन करते हुए सर्वान्तर्यामी भगवान् करुणानिधान कहते हैं, कि [**सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम् रजसो लोभ एव च**] सत्वगुणसे सांसारिक वस्तुवस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है और रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है अर्थात् सत्वगुणसे इन्द्रियों तथा अन्तःकरणमें एक प्रकारका ऐसा प्रकाश उत्पन्न होता है जिससे सब पदार्थोंका यथार्थ विवेक और भला, बुरा, पापपुण्य, धर्माधर्मका पूर्ण परिचय हृदयमें उत्पन्न होजाता है। ऐसा होते-होते अर्थात सत्वगुणका बरम्बारे अभ्यास होते-होते प्राणीका स्वभाव सात्विकी होजाता है और उसके मनमें आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी अभिलाषा उत्पन्न होती है। एवम्प्रकारे ज्ञानियोंकी मण्डलीमें बैठनेका अधिकारी होता है तहां इसको प्रथम सत्संगका सुख लाभ होता है जिससे यह प्राणी सुखी होजाता है।

फिर भगवान् कहते हैं, कि " **रजसो लोभ एव च** " रजोगुणका अभ्यास करते-करते प्राणी लोभी होजाता है फिर उस लोभके बढनेसे यद्यपि वह देखनेमात्र सुखी जान पडता है पर यथार्थमें मारे लोभके धन बढानेकी अभिलाषासे दिनरात घोर चिन्ता- और असार व्यवहारमें पडा रहता है तहां दुःख ही दुःख भोगता है इन्द्रायतनके

फलके समान उसका मुख बाहरसे तो अत्यन्त प्रसन्नताजनक जान पडता है पर यथार्थमें वह भीतरसे अत्यन्त कडुआ रहता है।

जैसे किसी अत्यन्त प्यासेको किसी गढेमें अटका हुआ बरसातका पानी अत्यन्त प्रिय लगता है पर यथार्थमें उससे शीतज्वर तथा खांसी इत्यादि रोगोंकी वृद्धि होती है। इसी प्रकार लोभीके लिये ये विषयसुख प्रथम प्रसन्नताके कारण होते हैं पर यह प्रसन्नता आकाशके विद्युत्के समान स्थिर नहीं रहती झट मिटजाती है और घोर अन्धकार सामनेसे दीखने लगजाता है इस कारण यह रजोगुण लोभद्वारा दुःखहीका कारण है।

अब भगवान कहते हैं, कि [**प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च**] तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञानता उत्पन्न होती है इसी कारण प्राणी मूढ बना रहता है। जैसे घोर अन्धकारमें मार्ग चलनेवाला खड्डोंमें जा गिरता है ऐसे इस गुणका अभ्यासी घोर अज्ञानतारूप अन्धकारमें शरीरयात्रा करता हुआ भवसागरके खड्डेमें जागिरता है और गान्धारनगरके राजकुमारके समान मुश्कोंसे बंधाहुआ तथा आंखोंपर पट्टी बंधी हुई इधर-उधर अकेला भयंकर बनमें फिरा करता है।

प्रमाद और मोह तथा अज्ञानता तीनोंका वर्णन पिछले पृष्ठोंमें होचुका है ॥ १७ ॥

अब भगवान इन तीनों गुणवालोंकी गति स्थानभेदसे वर्णन करते हैं।

मू०— ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— सत्वस्थाः (सत्ववृत्तिस्थाः) ऊर्द्ध्वम् (अभ्युदयलक्षणं स्वर्गम्) गच्छन्ति (यान्ति) राजसाः (तृष्णाद्याकुलाः रजोगुणयुक्ताः) मध्ये (मनुष्यलोके) तिष्ठन्ति, जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (निन्द्यं यद्गुणवृत्तं निद्राऽलस्यप्रमादादि तत् स्थाः) तामसाः, अधः (निकृष्टां योनिम् । तामिस्रादि नरकेषु वा) गच्छन्ति ॥ १८ ॥

पदार्थः— (सत्वस्थाः) जो लोग सत्वगुणके व्यवहारोंमें स्थिर रहते हैं वे (ऊर्द्ध्वम्) ऊर्द्ध्वको अर्थात स्वर्गलोकादि लोकोंको (गच्छन्ति) जा प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार जो लोग (राजसाः) राजस हैं अर्थात रजोगुणमें जिनकी स्थिति होचुकी वे (मध्ये) बीचमें अर्थात मनुष्यलोकमें मनुष्य होकर (तिष्ठन्ति) निवास करते हैं फिर (जघन्यगुणवृत्तिस्थाः) जो लोग निकृष्ट तमोगुणकी वृत्ति निद्रा, आलस्य इत्यादिमें सदा स्थिर रहचुके हैं ऐसे (तामसाः) तमोगुणी पुरुष (अधः) नीचेको अर्थात पशु, पक्षी, शूकर, कूकर इत्यादि जघन्य योनियोंमें तथा तामिस्र इत्यादि नरकोंमें (गच्छन्ति) गिरजाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब अगम अखिलेश श्रीव्रजेश भगवान संक्षेप करके स्थानभेदसे पूर्वजन्मके त्रिगुणात्मक पुरुषोंकी भिन्न-भिन्न गति

वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**] जो लोग सत्वगुणके व्यवहारोंमें स्थित रहते हैं वे ऊर्द्ध्वस्थानमें और जो राजसी व्यवहारोंमें स्थिर रहते हैं वे मध्यस्थानमें निवास करते हैं अर्थात् सत्वगुणवाले प्रकाशसे प्रकाशित होकर अपनी बुद्धि द्वारा यथार्थ वस्तुओंका विवेक करने लगजाते हैं। वे मरणके पश्चात् गन्धर्व, पितर, अजानजदेव, कर्मदेव, बृहस्पति, प्रजापति इत्यादि सत्वगुणके लोकोंकी ओर चढते चलेजाते हैं एवम् प्रकार एक लोकसे उन्नति कर जब दूसरे उच्चलोकको प्राप्त होते हैं और वहां भी सत्वगुणहीमें स्थित रहते हैं तब वे उससे ऊपरवाले लोकों के सुखोंके अधिकारी होतेहुए ऊपर चढते चलेजाते हैं तो संभव है, कि ये भी ब्रह्मलोक तक चढजावें। इसी प्रकार "**मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः**" जो रजोगुणी हैं वे नाना प्रकारके सुखोंका प्रलो-भन सुनकर दिनरात सकामकर्मोंमें प्रवृत्त रहते हैं। क्योंकि उनके कर्मोंमें पाप पुण्य दोनोंका फेंट रहता है इसलिये वे दुःखमिश्रितसुखका स्थान जो यह मनुष्यशरीर स्वर्ग और नरकके मध्यमें है अथवा ऊर्द्ध्व वा अधः के बीचमें है तिसे प्राप्त कर दुःखमिश्रितसुखोंको भोगते हैं। इस मनुष्यशरीरमें जहां अधिक दुःख और स्वल्प सुख है लटके रहजाते हैं अर्थात् इस भवसागरकी लहरोंमें पडे-पडे झकोडे खाते रहते हैं।

शंका— इस मनुष्यशरीरकी स्तुति अनेक ग्रन्थोंमें कीगयी है और इसको मुक्तिका द्वार बताया गया है। जैसे "**विमुक्ति हेतुकान्या तु नरयोनिः कृतात्मनाम्। ना मुञ्चति हि संसारे विभ्रान्त-**

मनसो गताः ॥ जीवा मानुष्यतां मन्ये जन्मनामयुतैरपि । तदीदृक् दुर्लभं प्राप्य मुक्तिद्वारं विचेतसः” (वन्हिपुराणे शुद्धिव्रतनामाध्याये) अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रमाणसे सिद्ध होता है, कि यह मनुष्य शरीर दुर्लभ है और मुक्तिका कारण है फिर वेदोंमें भी मनुष्यकी स्तुति कीगयी है । प्रमाण-

“ होता मनुष्यो न दक्षः ” (१ । ५९ । ४)

“ दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः ” (२ । १८ । १)

“ प्रमिनाति मनुष्या युगानि ” (१ । ९२ । ११)

इन मन्त्रोंसे मनुष्य योनिका श्रेष्ठ होना सिद्ध है । फिर मनुष्यको ऐसी नीची दृष्टिसे क्यों देखाजाता है और रजोगुणके सम्बन्धसे इसे दुखी क्यों बतायाजाता है ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि मनुष्य सब योनियोंमें श्रेष्ठ है पर इसकी श्रेष्ठता उसी दशामें है जब यह उस महाप्रभुके स्वरूपकी ओर अपना तन, मन, धन लगा सर्वआश्रय छोड केवल भगवच्चरणोंका आश्रय लेकर भगवत्के ही स्वरूपमें निमग्न रहता है और तीनों गुणोंसे अतीत होकर सर्वप्रकारके व्यवहारोंको इन्द्रजालके सदृश समझताहुआ सबसे न्यारा रहता है अर्थात् जिस मनुष्यको भगवद्भक्ति लाभ हुई उसीका शरीर मुक्तिका द्वार है पर जिस मनुष्यको भगवद्भक्ति लाभ न हुई वह तो केवल दुःख ही का कारण है अर्थात् यह मनुष्य शरीर बिना भगवद्भक्ति घोर नरक ही का द्वार है “ को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः ” घोर नरक क्या है ? यही जो अपना शरीर चर्म, रुधिर, मांस, कफ, पित्त, मल, मूत्र इत्यादिका

भंडार है, घोर नरक है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवद्भक्ति सहित मनुष्य शरीर सराहनीय है और विषयभक्ति सहित निन्दनीय है । एवम्प्रकार कुयोग सुयोगके भेदसे यह शरीर कुवस्तु और सुवस्तु होता है। प्रमाण—" **ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुयोग सुयोग । होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छण लोग** " (तुलसी) अर्थ--जैसे शनैश्चर, राहु, केतु इत्यादि ग्रह सुयोग पाकर प्राणीको सुन्दर फल देते हैं और कुयोग पाकर बुरे फल देते हैं, जैसे भेषज्ञ (औषधि) सुयोग कुयोग पाकर रोगीको बनाते और बिगाडते हैं । संखिया विष है प्राणियोंको मारदेता है पर औषधियोंके साथ सुयोग पानेसे अमृत का गुण करता है महीनोंके खाटपै पडे मृतकके समान रोगीको चंगा करदेता है। जैसे एक कूपसे एक लोटा जल निकाललो और उसके फिर दो भाग करडालो आधेको तो मन्दिरमें लेजाकर भगवान्को स्नान करादो तो उसी जलको बडे २ आचार्य चरणामृत कहकर पान करजावेंगे और शेष जो आधा बचाहुआ जल है उसे दन्तधावन वा मुखप्रक्षालन करके भूमिपर नालीमें गिरादो तो उस जलको कोई स्पर्श भी नहीं करेगा । इसी प्रकार पवन जो वाटिका होकर चला तो सुगन्ध कहागया और जो मलमूत्र होकर चला तो दुर्गन्ध कहागया । ऐसे ही पट जो एक गज वस्त्र उससे आधा फाडकर ठाकुरजीकी टोपी बना प्रतिमाको पहनादो तो बडे-बडे बुद्धिमान उसे नमस्कार करेंगे और उसी बचेहुए आधे टुकडेसे किसीका शोथ (घाव) चीरकर रुधिर और पीप पोंछकर फैंकदो तो उसे देखते ही घृणा उत्पन्न होगी इसी प्रकार मनुष्य शरीरको भी जानना । यदि भगवद्भक्तिके साथ सुयोगमें पडगया तब तो

इसके समान सुखदायी स्तुति करने योग्य अन्य कोई शरीर नहीं है। और जो विषयोंके साथ इसका कुयोग पडगया तो यह साक्षात् नरकका मूल और सदा निन्दनीय है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि रजोगुणी कर्म करनेवालोंको दुःख ही दुःख फल मिलता है दोनोंपर स्वल्पसुखका अवकाश कभी २ अनायास किसी शुभकर्मके उदय होनेपर प्राप्त होजाता है। अतएव भक्तिसहित शरीर स्वर्गका द्वार है और भक्तिरहित शरीर नरकका द्वार है। शंका मत करो!

इस मनुष्यशरीरकी गणना जो मध्यस्थानमें कीगयी है इसका मुख्य कारण भी तो यही है, कि इसी शरीरसे स्वर्गको अर्थात् उद्र्ध्वको चला जाता है अर्थात् देवयोनियोंको प्राप्त होता है और इसीसे फिर नरकको अर्थात् नीचेको चलाजाता है इस कारण वह एक अद्भुत शरीर मध्यमें स्थित है। रजोगुणी जीव इसीमें आकर अधिकांश निवास करते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः**] अर्थात् वे लोग जो तामसी हैं प्रमाद, मोह, अज्ञानता इत्यादिसे भरे हुए हैं इसी कारण वे सदा निकृष्ट गुण जो तमोगुण तिससे उत्पन्न नीच प्रकारकी वृत्तियोंमें स्थित हैं वे अवश्य नीचेको नरकमें पतन होते हैं फिर नरकसे निकल कर शूकर, कूकर योनियोंको प्राप्त होते हैं।

इस विषयको भगवान् बारम्बार कहते चले आरहे हैं बहुतेरे टीकाकारोंने १६, १७ और १८ इन तीनों श्लोकोंको पुनरुक्ति कहकर किसी अन्यका रचित समझकर त्याज्य लिखदिया है पर ये त्याज्य

नहीं हैं। पहले जो श्लोक ६ से ६ पर्यन्त इन तीनोंका फल कहा वह केवल वर्त्तमान जन्मके लिये कथन किया और अब जो कहते हैं अगले जन्मके लियेकहते हैं अर्थात् एकजन्मके गुणानुसार दूसरे जन्ममें कर्मोंका सम्पादन करना और तदाकार फल भोगना। इस कारण यहां न तो पुनरुक्ति है और न ये श्लोक त्याज्य हैं। यदि त्याग दिये जावें तो श्रीमद्भगवद्गीताके प्रसिद्ध ७०० श्लोकोंमें ३ श्लोकोंकी कमी होजावेगी ॥ १८ ॥

यहां तक तो भगवान्ने जीवमात्रके तीनों गुणोंका भेद, स्वरूप और फल वर्णन किया तथा ब्रह्मासे कीट पर्यन्त त्रिगुणात्मक संसारका स्वरूप दिखलाया। अब भगवान् अगले श्लोकमें तीनों गुणोंसे अतीत प्राणीकी गति अर्थात् संसारकी निवृत्तिका उपाय वर्णन करते हुए कहते हैं—

मू०— नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— यदा (यस्मिन्नवसरे) द्रष्टा (विविक्तात्मदर्शी विद्वान्। विचारकुशलः) गुणेभ्यः (कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्यस्त्रिगुणेभ्यः) अन्यम् (इतरम्। भिन्नम्। अपरम्) कर्त्तारम् (कायिकवाचिकमानसानां विहितप्रतिषिद्धानां कर्मणां सम्पादकम्) न, अनुपश्यति (नावलोकयति) च (पुनः) गुणेभ्यः (सत्वादि गुणेभ्यः) परम् (गुणव्यापारव्यतिरिक्तम्। साक्षिमात्रम्) वेत्ति

(जानाति) सः (आत्मदर्शी) मद्भावम् (प्रत्यग्ब्रह्मैकलक्षणां मद्रूपताम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (यदा) जिस समय (द्रष्टा) आत्मदर्शी विवेकी पुरुष (गुणेभ्यः) इन तीनों गुणोंसे (अन्यम्) इतर किसी दूसरेको (कर्तारम्) सृष्टिके व्यवहारोंका कर्ता (न अनुपश्यति) नहीं देखता है (च) फिर जो विवेकी आत्माको (गुणेभ्यः) इन तीनों गुणोंसे (परम्) परे अर्थात् विलग साक्षीमात्र (वेत्ति) जानता है (सः) सो विचारशील ज्ञानी (मद्भावम्) मेरे स्वरूपको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् मुझमें प्रवेश करजाता है ॥ ॥ १९ ॥

भावार्थः— श्रीसच्चिदानन्द आनन्दकन्द व्रजचन्दने जो इस अध्यायके आरंभ होते ही अर्जुनके प्रति यह प्रतिज्ञा की है, कि " **परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्** " हे अर्जुन! मैं फिर ज्ञानोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ और उत्तम ज्ञान हे अर्जुन! तुझसे कहूंगा इसी अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके तात्पर्यसे भगवान्‌ने यहांतक इस सृष्टिकी रचना तथा इस सृष्टिमें तीनों गुणोंके फैलावसे संसारका प्रवाह विस्ताररूपसे दिखलाया । इस प्रकार दिखलानेकी आवश्यकता यह थी, कि जबतक प्राणी किसी वस्तुके दोष और गुणोंको पूर्णप्रकार न जानले और उसके स्वरूपको पूर्णप्रकार न पहचानले तबतक उसे संग्रह त्यागकी बुद्धि नहीं होसकती अर्थात् इतना नहीं समझ सकता है, कि यह वस्तु त्यागने योग्य है वा संग्रह करने योग्य है पर जब प्राणी मिश्री और संखिया दोनोंकी डलियोंको देखकर समझ जाता है, कि

यह अमृत है और यह विष है तब एकका ग्रहण और दूसरेका त्याग करता है।

भगवान्का भी यही अभिप्राय था, कि पहले अर्जुनको सृष्टि अर्थात् इस असार संसारेका स्वरूप समझा दूं, कि यह संखियाकी डली है इसे हाथसे फेंकदे। इसी कारण सब ज्ञानोंमें उत्तम और श्रेष्ठ ज्ञानको समझाते हुए कहते हैं, कि [**नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति**] जब द्रष्टा अर्थात् आत्मतत्वको देखनेवाला विचारमें सर्व प्रकार कुशल तेरहवें अध्यायमें कथन किएहुए अमानित्वसे तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्तके ज्ञान-साधनोंमें परम कुशल जो आत्मदर्शी भगवद्भक्त है वह जिस समय इन गुणोंका विचार करते-करते तथा इन गुणोंके व्यवहारोंसे विलग होनेका उपाय साधन करते २ जब पूर्णप्रकार हिलाडुलाकर ज्ञानकी कसौटी-पर कसकर देखलेता है, कि इस संसाररूप मिथ्या स्वर्णकी लालिमा यथार्थमें धोखेकी टट्टी है, केवल सत्व, रज, और तम इन ही धोखा देनेवाले खिलाडियोंने यह सारा जाल फैला रखा है, इन तीनों गुणोंसे भिन्न अन्य कोई दूसरा कारण इस धोखेकी टट्टीके इतना विस्तार रूपसे फैलनेका नहीं है, कोई दूसरा इसका कर्ता नहीं है जो कुछ है वह इनही तीनों गुणोंका विस्तार है प्रकृतिरूप नटीने यह भानमतीकी पिटारी रचडाली है और अपने त्रिगुणात्मक मन्त्रों द्वारा सम्पूर्णसृष्टिको एक 'छुः' कर ऐसा मत्त करडाला है, कि ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्यन्त सब उसके तेताले तानपर नृत्य कररहे हैं कोई भी अपनी सुधिमें नहीं है। क्योंकि ये जितनी मूर्तियां वा जितने

शरीर बने हैं इनका बनना इनही तीनों गुणोंसे है। जैसे आकाशमें फैलाहुआ जलका अंश एक ठौरे सिमट कर बहुत विशाल बादलका टुकडा बनकर घिर आता है और वह घनघोर बादल जैसे अग्नि, वायु और जलके परमाणुओंके मेलसे बनाहुआ होता है इसी प्रकार जितने शरीर महान् विस्तार वा अत्यन्त छोटेसे छोटे जो इस संसारमें देखपडते हैं सब इन तीनों गुणोंहीके मेलसे देखपडते हैं ऐसा जो जानता है तथा ज्ञानके नेत्र खुलनेसे जगकर जो इस त्रिगुणात्मक संसारको स्वप्नवत देखता है [**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति**] इस आत्मा अर्थात् अपनेको इन गुणोंके साथ विहारकरताहुआ भी विलग जानता है वही मेरे भावको प्राप्त होता है। जैसे बहुरूपिया भिन्न-भिन्न रूपोंको धारण करनेपर भी अपना रूप नहीं भूलता है ऐसे ज्ञानी अपनेको इन तीनोंसे परे मानता है।

जैसे सूर्यके प्रकाशसे ही कमल खिलता है अन्धकार फटता है और रात्रि भागती है पर सूर्य स्वयं सबसे रहित है ऐसे जो विवेकी अपने को तीनों गुणोंसे परे तथा तीनोंका साक्षी समझता है पर सबसे विलग रहता है उसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि ऐसा द्रष्टा मेरे भावको प्राप्त होता है अर्थात् मेरे स्वरूपमें प्रवेश कर मेरे समान होजाता है।

इसलिये प्राणीमात्रको उचित है, कि इन तीनों गुणोंके न्यूनाधिक्यसे चैतन्य रहे तथा स्वयं समझता रहे, कि इस समय कौन गुण मेरे सम्मुख उदय है! तदनुसार उस गुणके व्यवहारोंका साक्षीमात्र रहे और आप सबसे विलग रहकर भगवत्स्वरूपकी ओर चित्त लगावे॥ १९॥

अब तीनों गुणोंसे अतीत प्राणी कैसे मोक्षको प्राप्त होता है? सो भगवान आगे कहते हैं।

मू०— गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

पदच्छेदः— देहसमुद्भवान (देहोत्पत्तिबीजभूतान्) एतान् (यथोक्तान्) त्रीन् (सत्वरजस्तमोनाम्नः) गुणान्, अतीत्य (जीवन्नेवातिक्रम्य) जन्ममृत्युजरादुखैः (जन्मना मृत्युना जरया दुःखैराध्यात्मिकादिभिर्मायामयैः) विमुक्तः (सम्बन्धशून्यः) [सन्] देही (देहसाक्षीभूतो विद्वान्) अमृतम् (मोक्षम् । भगवद्भावम् । ब्रह्मानन्दम्) अश्नुते (प्राप्नोति) ॥ २० ॥

पदार्थः— (देहसमुद्भवान्) इस शरीरके उत्पन्न होनेके मुख्य कारण (एतान्) ऊपर कथन कियेहुए (त्रीन् गुणान्) सत्वादि तीनों गुणोंको (अतीत्य) उल्लंघन करके (जन्ममृत्युजरादुखैः) जन्म, मरण तथा वृद्धता इत्यादिके दुःखोंसे (विमुक्तः) छूटकर (देही) यह देहधारी चेतन आत्मा (अमृतम) कैवल्य परमपदको अर्थात भगवद्भावको (अश्नुते) प्राप्त होजाता है ॥ २० ॥

भावार्थः— यह सिद्धान्त किया जाचुका है, कि जो प्राणी सत्वादि तीनों गुणोंके झकोडेमें पडा रहेगा वह चिरकाल पर्यन्त कालके मुखमें बारम्बार पडता चला जावेगा इसलिये जो विद्वान है, ज्ञानी है और भगवद्भक्त है वह इन तीनोंके फन्दे नहीं फँसता फिर

उसकी क्या गती होती है ? सो वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं, कि [**गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्**] ये जो तीनों गुण ऊपर कथन कियेगये हैं ये ही तीनों इस शरीरकी उत्पत्तिके बीज हैं अर्थात् इन ही तीनों गुणोंसे पञ्चमहाभूत, दशों इन्द्रियां, चार अन्तःकरण, पंच प्राण, साढे तीन लक्ष नाडियां, पञ्च कोश, सप्तधातु इत्यादि उत्पन्न होते हैं जिसका एक पिण्ड तय्यार होकर देहके नामसे पुकारा जाता है। इसी कारण इन तीनों गुणोंका विशेषण श्रीआनन्दकन्दने 'देहसमुद्भव' कहकर जनाया है अर्थात् जिनसे देहोंकी उत्पत्ति होवे सो ये देहसमुद्भव तीनों गुण इस देहीको इस संसारबन्धनमें बांधने वाले हैं।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो द्रष्टा इन तीनों गुणोंसे अपनेको विलग देखता है वह धीरे २ इन तीनों गुणोंके बन्धनोंको तोड तीनों प्रकारके व्यवहारोंसे बिलग हो तीनों गुणोंके जलसे लहराते हुए इस अथाह भवसागरको पार करे [**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते**] जन्म, मरण, वृद्धता इत्यादि जो आध्यात्मिकादि त्रिताप हैं इन सबोंसे छूटकर अमृतरूप जो कैवल्य परमपद तिसे लाभ करता है अर्थात् यह जीवात्मा इन तीनों गुणोंके सम्मुख हुए जो तापत्रयका कष्ट झेल रहा था, बार २ शूकर, कूकरादि योनियोंमें उत्पन्न होता हुआ परम अपवित्र मलमूत्रादिके आहारको ग्रहण करताहुआ परम प्रसन्न होता था, कभी २ बिराना बैल बनकर वैशाख ज्येष्ठके महीनोंके तापोंको सहता हुआ बेंतोंकी मार खाताहुआ दिनभर हलको कन्धोंपर रख खेत कोडा करता था, कभी

मृगा बन बहेलियोंके जालमें फंसकर प्राणदेताथा, कभी भ्रमर होकर कमलपुष्पसे स्नेह कर हस्तीके शुण्डका आहार होता था सो इन गुणोंको पार करते २ जब सम्पूर्ण सागरको पार करजाता है तब प्राणी जन्मके समय जिस किनारे खडा था उससे दूसरे किनारेपर आ पहुंचता है जैसे पक्षी पिंजरेसे छूट आकाशमें गमन करता है ऐसे इस त्रिकोण पिंजरसे एक वारगी निकल जाता है और तभी यह देही जीता हुआ अमृतपदको प्राप्त होता है अर्थात् भगवद्भावमें प्राप्त हो परमानन्द लाभ करता है ॥ २० ॥

गुणातीतोंको जीवित रहते २ भगवत्स्वरूपका लाभ होता है इतना सुन अर्जुनको ऐसे गुणातीतपुरुषोंके लक्षण, आचरण तथा इसके साधन करनेकी श्रद्धा उत्पन्न होआयी और भगवान्से यों प्रश्न किया ।

अर्जुन उवाच—

मू०— कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो !
किमाचारः कथञ्चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ॥ २१

पदच्छेदः— प्रभो ! (हे सर्वसमर्थ !) एतान् (पूर्वव्याख्यातान्) त्रीन्, गुणान् (सत्वादीन्) अतीतः (अतिक्रम्य वर्त्तमानः । अतिक्रान्तः) [यः सः] कैः (कीदृशैः) लिङ्गैः (चिन्हैः) [विशिष्टः] भवति, किमाचारः (कोऽस्याचारः ?) च, एतान् (उक्तान्) त्रीन्, गुणान् (सत्वादीन्) कथम (केनोपायेन) अतिवर्त्तते (अतिक्रामति) ॥२१ ॥

पदार्थः— (प्रभो !) हे सर्वप्रकार समर्थ मेरे परमप्रिय रक्षक ! (एतान्) ये जो कथन किये (त्रीन् गुणान्) तीनों गुण तिनको (अतीतः) अतिक्रमण करके अर्थात् पार करके जो विलग (भवति) होजाता है वह (कैर्लिङ्गैः) किन २ प्रकारके चिन्होंसे पहचाना जाता है, कि यह गुणातीत है फिर (किमाचारः) ऐसे पुरुषोंके कैसे आचरण होते हैं? (च) फिर (एतान्) इन (त्रीन्) तीनों (गुणान्) गुणोंको (कथम्) किस उपायसे (अतिवर्त्तते) अतिक्रमण करके वह प्राणी वर्त्तमान रहता है ॥ २१ ॥

भावार्थः— अर्जुनके प्रति श्रीजगतहितकारी गोलोकविहारी ने जो यों कह सुनाया, कि सारा संसार तो सामान्यरीतिसे इन तीनों गुणोंके फंदेमें फँसाहुआ नाना प्रकारके दुःखसुखका भागी हो जन्मता और मरता रहता है पर जो पुरुष इन तीनों गुणोंसे अतीत होजाता है वह जीते २ परमपद अर्थात् भगवतस्वरूपको लाभ करता है। इतना सुनकर अर्जुनको तीन बातोंके जाननेकी अभिलाषा उत्पन्न होआयी इसलिये भगवान्से तीन प्रश्नोंको करताहुआ संपुटाञ्जलि हो प्रार्थना करता है, कि [**कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो !**] हे प्रभो ! जो प्राणी इन तीनों गुणोंको अतिक्रमण करके वर्त्तमान रहता है उसको किन २ चिन्होंसे पहिचानना चाहिये ? अर्थात् उसके शरीरमें वा स्वभावमें ऐसी क्या विशेषता होती है जिससे समझाजाता है, कि वह प्राणी गुणातीत है ।

दूसरा प्रश्न यह है, कि [**किमाचारः**] ऐसे गुणातीत प्राणियोंका कैसा आचरण होता है ?

तीसरा प्रश्न यह है, कि [**कथञ्चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते**] वे कौनसे उपाय हैं ? जिनके साधन करनेसे प्राणी शीघ्र इन तीनों गुणोंसे विलग होजाता है अर्थात् किस यत्नके करनेसे यह देही गुणातीत होजाता है ?

अर्जुनने जो यहां भगवान्को प्रभो ! कहकर सम्बोधन किया इसका अभिप्राय यह है, कि प्रभु स्वामीको कहते हैं सो जैसे स्वामी अपने भृत्यको अज्ञानी जानकर धीरे २ अपने घरके सब आचार व्यवहार समझाकर बडी सावधानताके साथ उससे काम लेता है ऐसे हे नाथ ! तुम मेरे ऐसे अज्ञानीको अपना भृत्य जान अपने घरके आचार व्यवहारको ठीक-ठीक समझादो तो मैं तुम्हारी आज्ञानुसार ही सेवाका सम्पादन करूं। अर्जुनका आन्तरिक तात्पर्य यह है, कि जब गुणातीत होकर परमानन्द लाभ करना अर्थात् जीवन्मुक्ति प्राप्त करना उत्तमोत्तम है तो फिर यह युद्ध जो रजोगुणी व्यवहार है इसे छोड मैं भी क्यों न गुणातीत होजाऊं ॥ २१ ॥

भगवान् अर्जुनके हृदयकी गति जानकर इन गुणोंकी झंझटके बीच रहते हुए भी प्राणी गुणातीत कैसे होजाता है ? वर्णन करते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—

मू०— प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव! ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥ २२

पदच्छेदः— पाण्डव ! (पाण्डुकुलभूषण!) सम्प्रवृत्तानि (सम्यग्विषयाभावेनोद्भूतानि । स्वतः प्राप्तानि । मनसि आविर्भूतानि) प्रकाशम् (सत्वकार्यम) च (पुनः) प्रवृत्तिम (रजः कार्यम) च, मोहम (तमःकार्यम) एव (निश्चयेन) च [यः] न द्वेष्टि (द्वेषं न करोति) निवृत्तानि (अप्रवृत्तानि) न कांक्षति (न कामयते) सः गुणातीतः, उच्यते [चतुर्थ श्लोकेन सहान्वयः] ॥ २२ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! (संप्रवृत्तानि) आपसे आप प्राप्त होनेवाले (प्रकाशम) सत्वगुणके 'कार्य' प्रकाशको (च) फिर (प्रवृत्तिम्) रजोगुणके कार्य प्रवृत्ति को (च) और (मोहम) तमोगुणके 'कार्य' मोहको (एव) निश्चय करके जो प्राणी (न द्वेष्टि) द्वेषदृष्टिसे नहीं देखता है (च) तथा जो (निवृत्तानि) इन गुणोंके उपस्थित होनेपर इन की निवृत्तियोंको (न कांक्षति) नहीं चाहता है अर्थात इनके दुःख सुखको देख इनसे रागद्वेष नहीं करता वही गुणातीत है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे तीन प्रश्न किये हैं उनमें प्रथम प्रश्न जो गुणातीतके लक्षण तिसे भगवान इस श्लोकमें

वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव !] हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! देख ! सत्वगुणका कार्य इंद्रियोंमें प्रकाश, रजोगुणका कार्य्य इन्द्रियोंमें व्यहारोंकी प्रवृति तथा तमोगुणका कार्य मोहमें अनुरक्ति है ये ही तीनों गुण प्राणियोंको अपनेमें फँसालेते हैं । ये तीनों जब अपने-अपने समयपर इस शरीरमें उदय होआते हैं तब [न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति] जो प्राणी इनसे द्वेष नहीं करता तथा इनसे निवृत्त होनेकी भी इच्छा नहीं करता अर्थात् जब रजोगुण वा तमोगुणके कार्य इनके सम्मुख आकर भयंकरस्वरूपसे इसे डराने लगजाते हैं तो भी जो इनसे द्वेष नहीं करता तथा इनसे निवृत्त होनेकी भी इच्छा नहीं करता तात्पर्य यह है, कि सुख हो वा दुःख किसी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता है। कोई कर्म सफल हो चाहे निष्फल इसकी तनक भी चिन्ता नहीं करता, न सत्वगुणकी वृद्धिसे हर्ष, न रजोगुणसे अभिमान वा तमोगुणकी वृद्धिका विषाद कुछ भी जिसके शरीरको नहीं छूता । जैसे क्षीरसागर खटाईके छींटेसे नहीं फटता और हिमालय पर्वत हिम ऋतुमें हिमसे भरजानेपर तनक भी कम्पायमान नहीं होता ऐसे जो प्राणी इन तीनों गुणोंके किसी भी कार्यसे विचलित नहीं होता अर्थात् जो तीनों गुणोंकी वृद्धि और ह्रासमें एक रस रहता है वही यथार्थ " गुणातीत " है ।

इस विषयको भगवान्ने अ० २ श्लोक ५५में अर्जुनके प्रति स्थितप्रज्ञोंका लक्षण वर्णन करते हुए कहदिया है (देखलेना) पर यहां फिर अर्जुनके पूछनेपर भगवानने दूसरी रीतिसे कथन करे-

दिया है। क्योंकि गुणातीत और स्थितप्रज्ञमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी कारण जितने लक्षण स्थितप्रज्ञोंके द्वितीय अध्यायमें कथन होचुके हैं वे सब ज्योंकेत्यों गुणातीतोंके भी जानने चाहियें।

ग्रन्थविस्तारके भयसे फिर उन अर्थोंका यहां कथन नहीं किया गया इस श्लोकमें भगवानने अर्जुनके प्रथम प्रश्नका उत्तर अर्थात् गुणातीतोंका लक्षण कह सुनाया।

अब एक विशेष रहस्य यहां जानने योग्य यह है, कि जो पुरुष गुणातीत है वा स्थितप्रज्ञ है उसे दूसरा प्राणी एक बारगी नहीं पहचान सकता। कारण इसका यह है; कि इस गुणातीतका स्वार्थलक्षण है।

लक्षण दो प्रकारके हैं एक स्वार्थलक्षण और दूसरा परार्थ-लक्षण जिनको स्वसंवेद्य और परसम्वेद्य भी कहते हैं।

स्वार्थलक्षण वा स्वसम्वेद्यलक्षण उसे कहते हैं जो अपनेहीको जान पडे जैसे गुणातीत और स्थितप्रज्ञका लक्षण दूसरेको कुछ भी भान नहीं होता। और परार्थलक्षण वा परसंवेद्य उसे कहते हैं जो परायेको भी जानपडे जैसे हर्ष और शोक। क्योंकि मुख देखने हीसे हर्ष, शोक, चिन्ता इत्यादिका बोध परायेको होजाता है। अथवा अश्वमें जो अत्यन्त शीघ्र गमनका लक्षण है वह परार्थ वा पर-संवेद्य लक्षण है जो दूसरा पहचान सकता है पर गुणातीत पुरुष स्वार्थ और स्वसंवेद्यलक्षणसे युक्त होनेके कारण किसी दूसरेसे नहीं पहचाना जासकता ॥ २२ ॥

अब भगवान् अर्जुनके दूसरे प्रश्नका उत्तर अर्थात् "किमाचारः?" गुणातीतका क्या आचरण है अगले तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

मु०— उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

पदच्छेदः— यः (गुणातीतपुरुषः) उदासीनवत् (वासनाशून्यत्वाद्गुणारम्भके शरीरे उदासीन इव) आसीनः (अवस्थितः सन्) गुणैः (सत्वादिभिः) न, विचाल्यते (प्रच्याव्यते स्वरूपं विहाय गुणतादात्म्यं गच्छति) [किन्तु] गुणाः (सत्वादयः) एव (निश्चयेन) वर्त्तन्ते (तिष्ठन्ति) इति (एवं प्रकारेण) यः (विवेकी। कौटस्थज्ञानेन निवृत्तकर्तृत्वाभिमानात्मवित्) *अवतिष्ठति (स्तब्ध इव वर्त्तते) [तथा] न इंगते (गुणकृतैरिष्टानिष्टस्पर्शैर्न चलति) [गुणातीतः स उच्यते इति त्रिभिः श्लोकेन सहान्वयः] ॥ २३ ॥

पदार्थः— (यः) जो गुणातीत पुरुष (उदासीनवत्) उदासीनके समान (आसीनः) बैठाहुआ (गुणैः) तीनों गुणोंके व्यवहारोंसे (नविचाल्यते) चलायमान नहीं होता है और ऐसा अपने मनमें दृढ कर रखता है, कि (गुणाः) ये जो तीनों गुण हैं वे ही

---

* अवतिष्ठति— छन्दोभंगके कारण आत्मनेपदको परस्मैपदमें दिया। क्योंकि 'अनुष्टुप्छन्दसि पंचमस्य लघुत्वनियमात्' इसी कारण किसी २ गीतामें "अनुतिष्ठति" भी पाठ है।

(एव) निश्चय करके (वर्त्तन्ते) आपसे आप वर्त्तमान रहते हैं (इति) इस प्रकार (यः) जो आत्मवेत्ता (अवतिष्ठति) दृढ निश्चयकर पत्थरके समान स्थिर रहता है तथा (न इंगते) जो इनके डुलाये तनक भी नहीं डोलता सो ही गुणातीतके आचरणसे युक्त कहाजाता है ॥ २३ ॥

भावार्थः— ऊपरके श्लोकोंमें कृष्णमुरारी अच्युतानन्द अर्जुनके प्रथम प्रश्नका उत्तर देचुके, कि गुणातीतके कौन २ से लक्षण हैं अब इस श्लोकसे लेकर २५ वें श्लोकतक अर्जुनके दूसरे प्रश्नका उत्तर देंगे। अतएव गुणातीतोंके आचरणका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते] जो प्राणी सदा उदासीनकें ऐसा स्थित रहकर किसी भी गुणके व्यवहारोंके वर्त्तमान होनेसे चलायमान नहीं होता अर्थात सत्वगुणके द्वारा कितना भी सुख उसे प्राप्त क्यों न हो पर तनक भी हर्षका लेश उसके हृदयपर नहीं होता। इसी प्रकार रजोगुण वा तमोगुणके व्यवहारोंके प्राप्त होनेपर जिसके हृदयमें भी किसी कर्ममें प्रवृत्त होनेके संकल्प अथवा दुःख और मोह इत्यादि अपाय नहीं होता वरु इसके प्रतिकूल ऐसा समझ-जाता है, कि [गुणावर्त्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते] ये जो तीनों गुण हैं ये आपसे आप उदय होकर अपने व्यवहारोंका सम्पादनकर विनश जाते हैं ऐसा जो आत्मवित् सर्वसंकल्पशून्य होकर अपने स्वरूपमें स्थित रहता है पर्वत समान किसीके डोलाये नहीं डोलता सदा ब्रह्मज्ञानमें स्थिर रहता है वही गुणातीत वा स्थितप्रज्ञ है ॥ २३ ॥

लो और भी सुनो !

मू०— समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
॥ २४, २५ ॥

पदच्छेदः— [यः] समदुःखसुखः (रागद्वेषानुत्पादकतया स्वीयत्वाभिमानास्पदे समे दुःखसुखे यस्य) स्वस्थः (द्वैतदर्शनशून्यत्वात् स्वात्मनि स्थितः । प्रसन्नः) समलोष्टाश्चकाञ्चनः (लोष्टंश्चाश्मा च कांचनं च समानि यस्य सः विरक्तः) तुल्यप्रियाप्रियः (समे सुखदुःखहेतुभूते यस्य सः हितसाधनत्वाहितसाधनत्वबुद्धिविषयत्वाभावेनोपेक्षणीयत्वात् समे प्रियाप्रिये यस्य सः) धीरः (धीमान् धृतिमान् वा) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (समे दोषकीर्तनगुणकीर्तने यस्य सः) मानापमानयोः (सत्कारतिरस्कारयोः) तुल्यः (समः । एकरसः) मित्रारिपक्षयोः तुल्यः, सर्वारम्भपरित्यागी (देहधारणमात्रव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागी) सः (एवम्भूताचारयुक्तः) गुणातीतः (सत्वादिगुणरहितः) उच्यते ॥ २४, २५ ॥

पदार्थः— जो विवेकी (समदुःखसुखः) दुःखसुखमें समान भावसे रहता है (स्वस्थः) अपने आत्मामें शान्तरूपसे स्थित प्रशान्त चित्त रहता है फिर (समलोष्टाश्मकांचनः) लोहा, पत्थर और स्वर्णको एकसमान देखता है (तुल्यप्रियाप्रियः) प्रिय और अप्रिय दोनों

में जो समान दृष्टि रखता है इसी कारण जो (धीरः) सदा एकरस रहकर किसी अवस्थामें व्याकुल नहीं होता (तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः) जो अपनी निन्दा और स्तुतिको एक समान समझता है (**मानापमानयोस्तुल्यः**) जो मान और अपमानसे हर्षविषादको न प्राप्त होकर सम रहता है (**मित्रारिपक्षयोः तुल्यः**) मित्र और शत्रुके पक्षमें एकरूप रहता है (**सर्वारम्भपरित्यागी**) जो सर्वप्रकारके लौकिक वैदिक सकाम कर्मोंका परित्याग करदेता है (सः) वही (गुणातीतः) तीनों गुणोंसे अतीत (उच्यते) कहलाता है ॥ २४, २५ ॥

भावार्थः— अब यदुकुलपूर्णनिशेष भगवान् हृषीकेश गुणातीत पुरुषोंके सब आचरणोंको इन दोनों श्लोकोंमें समाप्त करतेहुए कहते हैं, कि [**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः**] जो पुरुष चाहे कितना भी दुःखसे घिरगया हो सुदामा के समान परम दरिद्र अवस्थासे क्यों न विदग्ध होगया हो, भिक्षा शिल्प वा उञ्छवृत्तिसे अपने उदरको पूर्ण क्यों न करलेता हो, वृक्षके नीचे बिना किसी गृहके शीत उष्ण सहताहुआ समयको क्यों न बिताता हो प्रारब्धानुसार किसी प्रकारके रोगसे क्यों न पीडित होरहा हो, व्याघ्रके मुखके भीतर क्यों न चलाजारहा हो और सारा शरीर भीष्म पितामहके समान बाणोंसे क्योंन बिंधगया हो पर इतने दुःखोंके प्राप्त होनेपर भी जो तनक " उफ " न करे तथा इसके प्रतिकूल सम्पूर्ण विश्वका राज्य क्यों न मिलजावे, स्वर्ग भी जिसके करतलगत क्यों न होगया हो, दिन रात अप्सराओंके संग दूधके फेन

के समान श्वेत शय्यापर विहार करताहुआ नन्दनवनकी वाटिकाके शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुका वसन्त ऋतुमें सुख क्यों न लेरहा हो, सारा शरीर रोगरहित होकर कंचनके समान क्यों न चमक रहा हो और शीतल चन्दनके लेपसे सारा शरीर शीतलताके सुखको क्यों न भोग-रहा हो तथापि तनक भी हर्षका लेश जिसके मुखपर न हो वरु ऐसी अव-स्थामें भी हर्षसे रहित उदासीन रहे तो ऐसे विवेकीको 'समदुःख-सुखः' कहना चाहिये। सो भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी एवम्प्र-कार दुःख सुखमें समान भाववाला है तथा " स्वस्थः " जो सुख दुःखमें एक रस रहनेके कारण केवल अपने आत्मामें स्थिर है फिर जिसकी दृष्टिमें लोहा, पत्थर और सुवर्ण एक समान भासरहे हैं अर्थात् जो मणि, माणिक इत्यादि रत्नोंके भण्डारोंको फूल, मिट्टी, गोबर, कंकरे, पत्थरका ढेर समझरहा हो ऐसा जो वैरागी हो जिसको किसीसे एक कौडीका भी प्रयोजन न हो ऐसा जो महाराजोंका भी महाराज हो " जाको कुछ नहिं चाहिये सो शाहन पतिशाह " इस वचनके अनुसार द्रव्यकी इच्छासे रहित बादशाहोंका भी बादशाह हो वही यथार्थ त्रिगुणातीत है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्य-निन्दात्मसंस्तुतिः] जिसकी बुद्धिमें प्रिय और अप्रिय अर्थात् इष्ट वा अनिष्ट एक समान देख पडते हैं। और जो हिमालय पर्वतके समान सुख दुःखमें स्थिर और अटल तथा निन्दा और स्तुति दोनोंको तुल्य समझ रहा हो।

फिर आनन्दकन्द कहते हैं [**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः**] मान और अपमानोंमें भी तुल्य हो अर्थात् उसके चेले चांटी उसकी स्तुति करनेवाले उसका मान करें वा उसके निन्दक उसका अपमान करें तो दोनों अवस्थाओंमें एकसमान रहकर अपने मित्र और शत्रुके पक्षमें भी तुल्य हो। तात्पर्य्य यह है, कि सदा उदासीन रहकर जो यथार्थ वार्त्ता हो तदनुसार न्यायशील हो अर्थात् न्याय करते समय अपने मित्रोंका पक्षपात न करे [**सर्वारम्भ-परित्यागी गुणातीतः स उच्यते**] सर्वारम्भपरित्यागी हो अर्थात् लौकिक वैदिक कर्मोंका परित्यागकर केवल भगवत्परायण होकर भगवत्प्राप्तिनिमित्त कर्मोंसे अतिरिक्त किसी कर्मकी ओर न देखे, चाहे उस कर्मके सम्पादनसे सहस्रों स्वर्गकी प्राप्ति क्यों न होती हो पर उस सुखको कूकरके उवान्तके समान जानकर उसके लिये तनक भी किसी कर्मका अनुष्ठान न करे उसीको **सर्वारम्भपरित्यागी** कहते हैं एवम्प्रकार जो सदा सर्वारम्भपरित्यागी हो उसीको गुणातीत कहते हैं।

अर्जुनने जो भगवानसे दूसरा प्रश्न किया, कि '**किमाचारः**' गुणातीतपुरुषोंका क्या आचरण है? सो भगवान्ने इसका उत्तर इन दोनों २४ और २५ श्लोकोंमें कहकर समाप्त करदिया॥

॥ २४, २५ ॥

अब भगवान् अर्जुनके तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं अर्थात् गुणातीत होनेका क्या उपाय है? उसे वर्णन करते हैं।

मू०— माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
॥ २६ ॥

पदच्छेदः— यः (गुणातीतत्वप्रयत्नसाधकः) माम् (महेश्वरम् । सर्वभूतहृदयाश्रितं नारायणं परमानन्दघनं भगवन्तं वासुदेवम्) च, अव्यभिचारेण (वृत्त्यन्तरानन्तरितेन परमप्रेमलक्षणेन) भक्तियोगेन (तैलधारावदविच्छिन्नवृत्तिप्रवाहिमनः प्रणिधानरूपेण) सेवते (विषयचिन्तां विहाय सदानुसंदधाति ध्यायति वा) सः (मदनुग्रहकृतसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो मद्भक्तः) एतान् (प्रागुक्तान) गुणान (सत्वादीन) समतीत्य (सम्यगतिक्रम्य) * ब्रह्मभूयाय (ब्रह्मभावाय । मोक्षाय ।) कल्पते (योग्यो भवति । समर्थो भवति) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (यः) जो गुणातीत होनेकेलिये प्रयत्नकरनेवाला (माम च) मुझ परमानन्द महेश्वरको (अव्यभिचारेण) व्यभिचार रहित अर्थात् अन्य किसीमें भी आश्रय नहीं करनेवाले (भक्तियोगेन) भक्तियोगसे (सेवते) सेवन करता है (सः) सो मेरा भक्त (एतान) इन पूर्वोक्त (गुणान) सत्वादि तीनों गुणोंको (समतीत्य) सम्यक् प्रकारसे अतिक्रमण करके (ब्रह्मभूयाय) ब्रह्मभाव अर्थात् मोक्षकेलिये (कल्पते) समर्थ होजाता है ॥
॥ २६ ॥

* भुवो भावो इति भुवतेर्भावे क्यप् ।

भावार्थः— अब श्रीआनन्दकन्द गोकुलचन्द अपने परम भक्त अर्जुनके तीसरे प्रश्नका उत्तर देतेहुए अर्थात् गुणातीत होनेका उपाय बतातेहुए कहते हैं, कि [**माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते**] जो प्राणी गुणातीत होनेका प्रयत्न करनेवाला है वह इन गुणोंकी कुछ भी परवा न करताहुआ अर्थात् ये गुण आपसे आप वर्तमान हैं इनसे मेरी कुछ भी हानि नहीं है ऐसा समझताहुआ मुझ सर्वेश्वर वासुदेवको जो व्यभिचाररहित भक्तियोगसे सेवन करता है अर्थात् जिस भक्तिका वर्णन बारहवें अध्यायमें करतेहुए यों दिखला आये हैं, कि जो दिन रात अन्य सब आश्रयोंको त्याग सर्वतसे अपनी वृत्तियोंको हटा केवल एक सर्वेश्वर वासुदेवमें लगाता है अन्य किसी देव देवीको ध्यानमें नहीं लाता ऐसी भक्ति व्यभिचाररहित कहीजाती है । भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो अन्य सर्व प्रकारके कर्म धर्मका तथा अपने किसी योग वा तपोबलका भरोसा त्याग करे केवल एक मेरी शरण होरहता है अपना परमपुरुषार्थ मुझ ही को जानता है तैलधाराके समान एक रस नित्य मेरे ही प्रेममें जिस का मन प्रवाह कररहा है ऐसे भक्तियोगसे जो मुझको भजता है [**स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते**] वही मेरा भक्त इन सत्व, रज और तम तीनों गुणोंकी प्रबलता जीतकर जैसे व्याघ्र बकरीके बच्चोंको दाबलेता है ऐसे इन गुणोंको इनकी सारी सेना सुख, दुःख, लोभ, मोह, प्रमादादि सहित दाबकर ब्रह्मभाव जो मोक्षपद तिसके प्राप्त करनेको समर्थ होजाता है अर्थात् गुणातीत होनेका यही एक मुख्य उपाय है, कि अहर्निश भगवत्के प्रेममें मग्न रहे और

भक्तियोगमें समयको व्यतीत करे। अन्य जो नाना प्रकारके हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग, जपयोग, तपयोग इत्यादि योग हैं इनके करनेवाले कभी भूलकर इन गुणोंके धोखेमें फँसजावे तो सम्भव है पर भक्तियोग-वालेसे तो ये तीनों गुण ऐसे कांपते हैं, जैसे बिल्लीको देखकरे चूहे।

इसी कारण गुणातीत होनेका उपाय केवल भक्तियोग है अन्य कुछ नहीं ॥ २६ ॥

इस भक्तियोगसे भगवत्की आराधना करताहुआ प्राणी गुणोंसे अतीत क्यों होजाता है तिसका कारण अगले श्लोकमें कहतेहुए भगवान् इस अध्यायको समाप्त करते हैं।

मू०—ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याऽव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७

पदच्छेदः— हि (यस्मात्) अमृतस्य (विनाशरहितस्य। मोक्षस्य। कैवल्यस्य) च, अव्ययस्य (सर्वविकाररहितस्य) च, शाश्वतस्य (मोक्षाख्यशाश्वतफलहेतुत्वान्नित्यस्य) धर्मस्य (ज्ञानसंयुक्तभक्तिनिष्ठालक्षणधर्मप्राप्यस्य) च, एकान्तिकस्य (अव्यभिचारिणः। विषयरहितस्य) सुखस्य (परमानन्दस्य) ब्रह्मणः (परमात्मनः) अहम् (वासुदेवः) प्रतिष्ठा (पर्य्यवसा-नस्थानम्) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (हि) क्योंकि (अमृतस्य) विनाश रहित-कैवल्यरूप (च) फिर (अव्ययस्य) वृद्धिह्रासरहित निर्विकार-

रूप (च) फिर (शाश्वतस्य) नित्य सनातन (धर्मस्य) धर्म-स्वरूप (च) फिर (एकान्तिकस्य) विषयरहित अव्यभिचारी (सुखस्य) सुखस्वरूप (ब्रह्मणः) ब्रह्मका (अहम) मैं ही (प्रतिष्ठा) अर्थात् वास्तविकस्वरूप हूं क्योंकि इन सब गुणोंका निवासस्थान मैं ही हूं इसलिये मेरा सेवन करनेवाला गुणातीत होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

भावार्थः— पहले जो उक्त श्लोकोंमें भगवान् कहआये हैं, कि मेरी अनन्यभक्ति करनेवाला गुणातीत होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है । अब तिसका मुख्य कारण बतातेहुए कहते हैं, कि [**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**] उस पूर्णपरब्रह्मके भिन्न-भिन्न भावोंकी × प्रतिष्ठा मैं ही हूं अर्थात निवास करनेका स्थान हूं । जिस ब्रह्मके विषय सर्वत्र ब्रह्मासे लेकर पाताल लोक पर्यन्त हल-चल मचारहा है । तात्पर्य यह है, कि जिसके रूपमें ब्रह्मादि देव भी समाधि लगाये बैठे हैं, जिसके लिये ऋषि, मुनि, तपस्वी वनमें जा वर्षा, आतप, वात सहन करते हैं, नाना प्रकारके स्वादु अन्नोंको परि-त्याग कर केवल वारि और बयार तथा सूखी पत्तियां और घासका आहारकर समय बिताते हैं, जिसके लिये बहुतेरे पुरुष नाना प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करते रहते हैं, जिसकेलिये योगीजन अष्टांग-योगका साधन कर समाधि तक पहुंचते हैं जिसके लिये कृच्छ्र, पाद,

× प्रतिष्ठा = प्रतितिष्ठतीति प्रति+स्था+ आतश्चोपसर्गे ३ । ३ । १०६ स्थानम्, स्थितिः Residence, Situation. Position

चान्द्रायण तथा मौनव्रतका अनुष्ठान करते हैं, जिसके लिये बहुतेरे नरेश राजसुखका परित्यागकर बनमें जा नाना प्रकारके दुःखोंको झेलते हैं, जिसके लिये दानी अपना सर्वस्व दान करते हैं, जिसके लिये काशीमें जा अपना प्राण संकल्प करदेते हैं, जिसके लिये ग्रीष्म ऋतुमें पंचाग्नि तापते हैं, हिम ऋतुमें जलशयन साधन करते हैं, जिसकेलिये प्रहलाद ऐसे भक्त शूलीपर चढजाते हैं, जिसके द्वारा बारम्बार इस संपूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन तथा संहार होते रेहते हैं, जिसके भयसे सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि सब ही थर-थर कांपते रहते हैं, जिसकी आज्ञामें प्रकृति सदा हाथ बांधे खडी रेहती है, जिसकी स्तुति शेष सहस्रमुखसे नित्य गान करते रहते हैं, जिसके लिये चारों वेद नेति-नेति कहकरे पुकाररहे हैं, जो ब्रह्म ' तत्वमसि ' वेदवाक्य में तत्पदका वाच्य है ऐसा जो सर्वत्र व्यापक सच्चिदानन्द घन ब्रह्म है तिसके मुख्य २ ऐश्वर्योंकी प्रतिष्ठा मैं ही हूं।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे सूर्यकी किरणें सिमटकरें जब सूर्यकान्तमणिमें इकट्ठी होजाती हैं तब उससे साकार आग निकल पडती है। अथवा जैसे इक्षुदंडके रसके सिमटकर एक स्थानपर निकल पडनेसे रूपान्तर होते-होते मिसरी वा कन्द वा ओला बनजाता है अथवा जैसे वायुकी भिन्न-भिन्न शक्तियां एक ठौर सिमटकर शरीरमें प्रतिष्ठित हो प्राण बनजाती हैं अथवा जैसे आकाश में जो व्यापक जल देख नहीं पडता वह जब एक स्थानमें स्थिर होजाता है तो श्यामघन होजाता है इसी प्रकार उस पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वरके जितने महत्व हैं सब एक ठौर सिमटकर प्रतिष्ठित हो

श्रीआनन्दकेन्द कृष्णचन्द्रके स्वरूपमें स्थित हैं। इसीलिये भगवान कहते हैं, कि " ब्रह्मणोऽहि प्रतिष्ठाऽहम " मैं उस पूर्णपरब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूं अर्थात् निवासस्थान हूं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि उस ब्रह्मके असंख्य गुण हैं जिसकी प्रतिमा साक्षात श्यामसुन्दर स्वयं रथपर खडे अर्जुनसे बातें कररहे हैं पर इनमें भी वे कौन-कौनसे विशेष गुण हैं ? जिनकी एक जमावट साक्षात् इस वासुदेवस्वरूपमें है सो भगवान स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहते हैं [**अमृतस्याऽव्ययस्य च । शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च**] अर्थात् अमृतस्य, अव्ययस्य, शाश्वतस्य, धर्मस्य एकान्तिकस्य, सुखस्य इन पांचों विशेष गुणों का एक स्वरूप साक्षात् मैं ही हूं। जैसे घृत, शक्कर, मूंग, बादामकी गिरी और चौघडे इलायचीको एकठौर मिलाकर मोतीचूर का लड्डू बनाते हैं ऐसे मानों श्यामसुन्दरका स्वरूप अमृतमय मोतीचूरका लड्डू है जो भक्तोंके हृदयरूप जिह्वाको परम स्वादका प्रदान करनेवाला है अथवा भगवान्के स्वरूपको पञ्चमेल मिष्टान्नका रूप भी कहलो तो भी उत्तम है।

अब वे पांचों गुण कैसे हैं उनका विलग-विलग वर्णन किया जाता है।

१. **अमृतस्य**— उस ब्रह्मदेवका स्वरूप जो अमृत है अर्थात अमृतका पान करनेसे जैसे प्राणी अमर होकर विनाश रहित होजाता है उसे फिर जन्म मरणका भय कभी नहीं होता ऐसे जो

प्राणी ब्रह्मभावको प्राप्त होता है सो अमृतस्वरूप होजाता है क्योंकि वह ब्रह्म स्वयं अमृतस्वरूप है विनाशरहित है तहां श्रुतियां भी उसे बारम्बार अमृत कहकर पुकारती हैं—

(१) " ॐ तदेतत्सत्यं यदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि " (मुं० २ खं० २ श्रु० २)

(२) " ॐ ब्रह्मैवेदममृतम् " (मुं० २ खं० २ श्रु० ११)

(३) " ॐ स एवोऽकलोऽमृतो भवति " (प्रश्नो० प्रश्न ६ श्रु० ४)

(४) "ॐ यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः " (बृह० अ० ३ श्रु० २२)

(५) " ॐ अथामृतोऽयमात्मा " (मैत्र्यु० श्रु० २)

(६) " ॐ तदमृतं हिरण्मयम् " (तैति० ब० १ श्रु० १३)

(७) " स मृत्युं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति " (नृसिंहता० तृतीय व० श्रु० १)

अर्थ— १. सो यह सत्य है सो अमृत है जो जानने योग्य वा मनसे वेध करने योग्य है हे सौम्य ! उसे ऐसा जान।

२. यह ब्रह्म अमृत है।

३. जो इसको जानता है वह भी दिव्य और अमृत होजाता है।

४. जो विज्ञानके भीतर निवास करताहुआ विज्ञानको भी अपनी आज्ञामें रखता है वही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है।

५. ऐसे प्राणीका आत्मा अमृत होजाता है।

६. ऐसा प्राणी अमृत है और हिरण्यरूप है।

७. सो मृत्युको तरजाता है और अमृतत्वको प्राप्त होता है अर्थात् अमर होजाता है

एवम्प्रकार अनेकानेक श्रुतियां उस ब्रह्मको अमृत तथा उसके ध्यान करनेवालोंको भी अमृतके नामसे कथन करती हैं इसी कारण उस ब्रह्मका नाम मृत्युमृत्यु भी है। प्रमाण श्रु०— " ॐ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्यु यस्मात् स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युञ्च मारयति " (नृसिंहता० द्वितीo उ० श्रु०४)

अर्थ— उस महाप्रभु श्रीसच्चिदानन्दको मृत्युमृत्यु क्यों कहते हैं तहां उत्तर यह है, कि वह अपनी महिमासे अपने भक्तोंको अपने स्मरणमात्रसे उनकी मृत्यु और अपमृत्युको मारडालता है इसीलिये उसको मृत्युमृत्यु कहते हैं।

सो इस श्लोकमें अमृतस्य शब्दके प्रयोगसे भगवानका यह तात्पर्य है, कि उस ब्रह्ममें जो अमृतत्व है वह एक ठौर सिमटकर मेरे इस वासुदेवस्वरूपमें प्रतिष्ठित है।

२. अव्यय— उसे कहते हैं, कि " नास्ति व्ययो यस्य " जिसका व्यय अर्थात् घटना बढना कभी भी न होवे सदा एकरस वर्तमान रहे देश, काल, स्थान, किसी भेदसे भी जिसके स्वरूपमें अदल बदल न होवे सो यह गुण केवल उसी ब्रह्मदेवमें है उससे इतर जितने हैं सबोंका कालादि किसी न किसी भेदसे व्यय होता ही रहता है इस कारण वही महाप्रभु अव्यय है, आदि और अन्तसे रहित, सर्वविकारशून्य है। तहां श्रुतियां भी उसे अव्यय कहकर पुकारती हैं " * ॐ अव्यया

* जो अव्यय अर्थात् सर्वविकारोंसे रहित है; अव्यय अर्थात् अजरअमर फलका देनेवाला है तथा मोक्षका देनेवाला है। (छां०)

अव्ययफलदा मोक्षदा" (छान्दो०)" + ॐ अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" (कठो०) "÷ ॐ यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा" (मु०)

इन श्रुतियोंने उस परब्रह्मको अव्यय अर्थात् षड्विकाररहित कह कर पुकारा है । पहली श्रुतियों द्वारा वह अमृत कहागया है और अब इन श्रुतियों द्वारा वह अव्यय कहाजाता है । इन दोनोंमें यद्यपि स्थूलदृष्टिद्वारा देखनेसे कुछ अन्तर नहीं देखपडता क्योंकि अव्यय में जो छै विकारोंसे शून्यता है उसके अन्तर्गत एक विकार 'विनश्यति' नाश होना भी है सो अमृतत्व भी उसीको कहते हैं जो नाश न हो पर संभव है जो वस्तु नाशमान नहीं है उसमें किसी प्रकारका दूषण हो और दूषण सहित अमर हो। इसी दूषणके हटानेके तात्पर्यसे भगवान्‌ने इस श्लोकमें 'अमृतस्य' के साथ 'अव्ययस्य' शब्दका प्रयोग किया है अर्थात् वह ब्रह्मदेव सब दूषणोंसे रहित है फिर अमर है ।

३. **शाश्वतस्य**— शाश्वत कहिये नित्यको जो तीनों कालोंमें एकरस है, जिसका कभी अभाव नहीं होता क्योंकि वह अनादि और अनन्त है इसलिये नित्य है । प्रमाण श्रुतिः— "ॐ अतो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः" (कठो० अ० १ बल्ली २ श्रुति १८)

अर्थ— यह नित्य है, शाश्वत है, पुराण है यहां नित्य और शाश्वत कहकर उस ब्रह्म वा आत्माकी नित्यताको अधिक दृढ कर-

---

+ जो, शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अव्यय है अर्थात् षड्विकारोंसे रहित है । (कठो०)

÷ अमृत है सो पुरुष निश्चय करके अव्यय है । (मुंड०)

दिया । सो शाश्वतत्व अर्थात नित्यत्व सब ओरसे सिमटकर वासुदेव-स्वरूपमें प्रतिष्ठित है ।

४. धर्मस्य– भगवानके कहनेका तात्पर्य यह है, कि इस शरीर के संघात द्वारा अर्थात् दशों इन्द्रियां और चारों अन्तःकरणोंके द्वारा जो लौकिक वैदिक धर्मोंका अनुष्ठान है सो अनुष्ठान संचित होकर भागवतधर्म कहाजाता है सो धर्म भी हे अर्जुन ! मुझमें प्रतिष्ठित है इसलिये धर्मकी प्रतिष्ठा भी मैं ही हूं ।

अब उक्त भगवद्वचनको श्रुतिसे भी सिद्ध करते हैं । प्रमाण श्रु०— "ॐ अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु" (बृह० अ० २ ब्राह्म० ५ श्रु० ११) अर्थ– यह धर्म सामान्यरूपसे इस सृष्टिमें विचारपूर्वक गुरु और शास्त्रोंके वचनानुसार साधन करनेसे सब प्राणियोंका 'मधुरूप' कहाजाता है अर्थात् जैसे मधु सर्वप्रकारके पुष्पोंका सार है। इसी प्रकार सामान्यरूपसे यह धर्म सब भूतोंका मधु अर्थात् मधुर, स्वादु और कल्याणकारक है। जब यह श्रुति सामान्यधर्मको मधु कहकर पुकारती है तो ज्ञानसंयुक्त जो भगवद्भक्ति धर्म है उसके मधुत्व अर्थात् मधुरताके विषय तो कहना ही क्या है । सो भगवान् कहते हैं, कि यह धर्मरूप मधु भी मुझमें प्रतिष्ठित है अर्थात् इस धर्मकी प्रतिमा भी मैं ही हूं ।

५. एकान्तिकस्य सुखस्य— अब भगवान कहते हैं, कि जो एकान्तिकसुख है उसकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् निवासस्थान मुझ ही में है तात्पर्य यह है, कि व्यभिचारसे रहित जो एकान्तिकसुख जिसे ब्रह्मसुखके नामसे भी पुकारते हैं सो सारा ब्रह्मसुख मानों एक ठौर सिमटकर प्रतिमा

होकर मेरा स्वरूप होगया है। जो प्राणी मेरे इस स्वरूपकी उपासना करता है वह गुणातीत होकर सर्वविकाररहित निर्मल सुखोंको लाभ करता है।

भगवानने जो इस श्लोकमें **अमृत, अव्यय, शाश्वत, धर्म और सुख** ब्रह्मके इन पांचों गुणोंको एक संग मिलाकर अपने इस पञ्चामृतकी प्रतिष्ठा बतलायी है सो सांगोपांग उचित ही है क्योंकि वे सच्चिदानन्द आनन्दकन्द पूर्णब्रह्मकी साक्षात् प्रतिमा ही हैं जो रथके ऊपर अर्जुनके सम्मुख उसके कल्याणार्थ रथवान् बनेहुए खड़े हैं।

यह अर्जुनके तीसरे प्रश्न अर्थात् गुणातीत होनेका उत्तर श्रीगोलोकविहारीने संक्षिप्तरूपसे देकर इस अध्यायकी समाप्ति करदी ॥ २७ ॥

प्रिय पाठको ! अब यहां सारी कलई खुलगयी जो निराकारवादी इस गीताशास्त्रके माननेवाले हैं वे यदि केवल निराकार ब्रह्मका ही डंका बजातेहुए तीनों लोकोंमें फिरें और साकारकी ओर दृष्टि न देवें तो उनसे यों कहना चाहिये, कि यदि तुम श्रीमद्भगवद्गीताके माननेवाले हो तो इस श्लोकको ध्यानदेकर पढो बारहवें अध्यायमें तो भगवानने अर्जुनके पूछनेपर सामान्यरीतिसे यों कहदिया, कि "**मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ताः**" (अ० १२ श्लो० २) अर्थात् जो प्राणी अपने मनको मेरे स्वरूपमें प्रवेशकरके नित्ययुक्त होकर मेरे साकारस्वरूपकी उपासना करते हैं वे मेरे जानते श्रेष्ठ हैं। एवम्प्रकार "**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**" (अ० १२ श्लोक ८) "**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः**" (अ० ११ श्लोक ५५) इत्यादि।

फिर "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्" उस ब्रह्मको जिसे निराकार-वादी निराकार कहकर अमर, अव्यय, शाश्वत, धर्मस्वरूप तथा सुख-स्वरूप बताते हैं तिसकी प्रतिष्ठा मैं ही हूं अर्थात इस मेरे साकारस्व-रूपमें उस निराकारके सर्वगुण सिमटकर एक ठौर जमगये हैं इसलिये मुझको ही उस ब्रह्मकी प्रतिष्ठा (निवासस्थान) जानकर मेरी सेवा-पूजा करता हुआ गुणातीत होजा !

यदि अपना कल्याण चाहते हो तो इस मनमोहनरूपसे मित्रता करलो ! अवसर मत चूको ! आयु पक्षीके समान पल-पल उडी जारेही है, चेतो ! मिथ्या समय वाद-विवादमें मत गंवाओ मनुष्य शरीर बार २ नहीं मिलनेका ॥

नमस्त्रिभुवनोत्पत्तिस्थितिसंहारहेतवे ।
विष्णवेऽपारसंसारपारोत्तरणसेतवे ॥ १ ॥
आदिमध्यान्तरहितं दशाहीनं पुरातनम् ।
अद्वितीयमहं वन्दे मद्वस्त्रसदृशं हरिम् ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिहंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्याख्यटीकायां गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ।

महाभारते भीष्मपर्वणि तु अष्टत्रिंशोऽध्यायः ॥

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठम्	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
३०४७	५	पैं	पें
३०४९	१	र्ध्व	र्द्ध्व
३०७२	१०	स्था	स्थाएं
३०८४	११	ष्ठः	ष्ठ !
३०८७	१५	जो	जी
३०९४	२०	का	की
३१२८	२	वन्हि	वह्नि
३१४३	१२	स्पर्शे	स्पर्शें
३१४६	९	शेष	शेश